हिन्दी वैष्णव साहित्य में
रस-परिकल्पना

डॉ० प्रेमस्वरूप
एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी०, डी० लिट्०
साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ

मूल्य . पैंतीस रुपए

प्रथम सस्करण, १९६९

o o

आवरण : एस० के० वे[illegible]

o o

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

२/३५, अन्सारी रोड, दरियागज, दिल्ली-६

मुद्रक शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-३२

पुण्य स्मृति में—

जिन्होंने माँ का ममतामय आँचल दिया

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ० प्रेमस्वरूप के डी० लिट्० शोध-प्रबन्ध का मुद्रित सस्करण है। प्रबन्ध का शीर्षक है 'हिन्दी वैष्णव-साहित्य (मोलहवी-सत्रहवी शती) मे रस-परिकल्पना'। यह एक सयोग ही रहा है कि विषय के चयन-निर्धारण मे, आगरा विश्वविद्यालय की शोध-समिति द्वारा उमके स्वीकरण-पजीकरण मे, फिर परीक्षण मे मेरा इसके साथ साक्षात् सम्बन्ध रहा हे, और, आज भूमिका के रूप मे भी दो शब्द इसके लिए लिख रहा हूँ।

प्रस्तुत अध्ययन उभयपक्षीय हे—सैद्धान्तिक भी, व्यावहारिक भी। हिन्दी का वैष्णव साहित्य अपनी नानामुखी विशेषताओ के कारण एक स्वर्ण-निधि है, जिसका प्राण उसकी अपनी विशिष्ट रस-परिकल्पना है। इसे आत्मसात् किये बिना इस साहित्य के मर्म मे अवगाहन करना कठिन ही होना हे। डॉ० प्रेमस्वरूप ने अपने इस ग्रन्थ मे वैष्णव-साहित्य की इस रस-परिकल्पना को विभिन्न सैद्धान्तिक पहलुओ से देखने-समझने का प्रयास करते हुए साहित्य के व्यावहारिक धरातल पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है।

वैष्णव रस-परिकल्पना का सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्ययन करने के लिए डॉ० प्रेमस्वरूप ने त्रिदिक् प्रयास किया हे एक—'रस' का भारतीय काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि मे दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन। इस अध्ययन मे उन्होने अपनी पी-एच० डी० की उपलब्धियो का उपयोग करते हुए कतिपय नवीन स्थापनाए भी प्रस्तुत की हे, उदाहरणस्वरूप महिमभट्ट पर बौद्ध न्याय का प्रभाव, धनजय-धनिक के रस-मत की मीमासा दर्शन की सापेक्षता मे व्याख्या आदि।

दूसरी दिशा है 'रस' को वैष्णव दर्शना की सापेक्षता मे देखने की। वैष्णव रस-परिकल्पना को समझने के लिए यह दिशा भी नितान्त अपेक्षित थी। डॉ० प्रेमस्वरूप का यह अध्ययन भी विभिन्न वैष्णव दर्शनो के आधारभूत मूल ग्रन्थो पर आश्रित हे। रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ के ग्रन्थ इस अध्ययन के मूल आधार हे। यो इन दर्शनो के सैद्धान्तिक पक्ष मे कोई सर्वथा नई बात कहने का अवसर नही होता, सिद्धान्त पक्ष का अनाविल प्रस्तुतीकरण ही अपेक्षित होता है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में अध्येता ने अनेक सूक्ष्म-स्थूल सैद्धान्तिक मान्यताओ को विशिष्ट दृष्टिकोण से परखकर निजी व्याख्यान से नवीकृत किया है। जो लोग वैष्णव दर्शनो में रुचि रखते है, उन्ह नि.सन्देह यहाँ काफी सामग्री मिलेगी। यह विवेचन ग्रन्थ के दूसरे अध्याय 'भक्ति-दर्शन और रस' मे समायोजित किया गया है।

वैष्णव रस को परखने की तीसरी दृष्टि है चैतन्य सम्प्रदायी आचार्य रूपगोस्वामी-जीवगोस्वामी की। प्रस्तुत ग्रन्थ के तृतीय अध्याय मे 'भक्ति-काव्यशास्त्र और रस' शीर्षक से

यह अध्ययन सन्निहित है। यहाँ भी एक ओर तो मूल ग्रन्थो पर आवृत रहकर उनके सिद्धान्त पक्ष का अनाविल प्रस्तुतीकरण है, दूसरी ओर ऐसे अनेक सूक्ष्म तथ्य प्रासगिक रूप मे सामने लाये गये है जिन पर अन्य अध्येताओ की दृष्टि नही गई।

काव्यशास्त्र, भक्ति-दर्शन और भक्ति-काव्यशास्त्र की पीठिका के साथ वैष्णव रस और उसकी विविध समस्याओ पर अनुसधाता ने विचार किया है। वैष्णव रस के साम्प्रदायिक तथा सैद्धान्तिक स्वरूप को ध्यान मे रखते हुए कवि, साम्प्रदायिक भक्त और सामान्य सहृदय पाठक की दृष्टि से इस काव्य मे अनुभूति का क्या स्वरूप रहता है तथा उसके सन्दर्भ म क्या-क्या समस्याए उठती है, इसका विवेचन भी अत्यन्त स्थिर मति से किया गया है।

डॉ० प्रेमस्वरूप के इस शोध-ग्रन्थ मे अनेग प्रसग अत्यन्त गभीर और रोचक है, साथ ही अनेक स्थलो पर मै उनके निष्कर्षों अथवा तर्को से सहमत नही हो सका। यह सहज सभव है कि मेरे समान ही अनेक विद्वान् उनके अनेक विचारो, तर्को अथवा मान्यताओ से सहमत न हो, पर चिन्तन और ज्ञान मार्ग मे यही स्वाभाविक है। उदाहरणस्वरूप डॉ० प्रेमस्वरूप का साधारणीकरण-सम्बन्धी दृष्टिकोण मुझे ग्राह्य नही है। मेरे प्रति आदर-भाव रखते हुए भी वे इस प्रसग मे मेरे विचारो से असहमत रहे है। मेरी मान्यताओ के विरोध मे अपने पी-एच० डी० के प्रबन्ध मे भी उन्होने कुछ तर्क प्रस्तुत किये थे, प्रस्तुत प्रबन्ध मे भी उन्होने कुछ प्रौढतर तर्क दिये है। मै ज्ञान-क्षेत्र मे सद्भावना से प्रस्तुत किये गये इस प्रकार के विपक्षीय तर्कों का स्वागत करता हूँ। अपने 'रस-सिद्धान्त' ग्रन्थ मे साधारणीकरण का विवेचन करते हुए, उत्तर देने के लिए मैने दो विद्वानो के आक्षेपो को चुना था। उनमे एक तो स्वर्गीय डा० गुलाबरायजी का आक्षेप था और दूसरा डॉ० प्रेमस्वरूप का जिसमे उन्होने साम्प्रदायिक भक्तिकाव्य के 'सहचरीभाव' मे साधारणीकरण का प्रश्न उठाया था।

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध मे राम-काव्य और कृष्ण-काव्य को लेकर विद्वान् लेखक ने अपने सैद्धान्तिक अध्ययन को व्यावहारिक भूमिका प्रदान की है। प्रबन्ध का परीक्षक होने के नाते मैने यह अनुभव किया था कि यह अध्ययन कुछ और अधिक आगमनात्मक होना चाहिए था। फिर भी यहाँ अध्येता की मौलिकता एव विश्लेषक प्रतिभा के दर्शन होते है, इसमे सन्देह नही।

मै वर्षो से डॉ० प्रेमस्वरूप के अध्ययनशील व्यक्तित्व से परिचित हूँ। इन्होने मात्रा मे कम लिखा है, पर जो लिखा है उसमे इनके गभीर अध्ययन और अन्वेषण-वृत्ति की स्पष्ट छाप है।

मुझे विश्वास है कि काव्यशास्त्र, वैष्णव-दर्शन तथा वैष्णव-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वागत करेंगे।

आचार्य एव अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
शिवरात्रि, २०२६ वि०

विषयानुक्रमणिका

२ भक्ति-दर्शन एव रस

३. भक्ति-काव्यशास्त्र मे रस

४ हिन्दी वैष्णव कवियो की रस-विषयक आचार्य-चेतनाएँ

५ कृष्णभक्ति-काव्य मे रस परिकल्पना

६ रामभक्ति-काव्य मे रस-परिकल्पना

७ उपसहार

परिशिष्ट

संकेतिका

ना० शा०—नाट्य-शास्त्र
अ० भा०—अभिनव भारती
का० प्र०—काव्यप्रकाश
व्य० वि०—व्यक्ति-विवेक
शृ० प्र०—शृंगार-प्रकाश
द० रू०—दशरूपक
सा० द०—साहित्य-दर्पण
र० गं०—रसगंगाधर
स० द० स०—सर्वदर्शनसंग्रह
शां० भा०—ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य
अ० भा०—ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य
त० दी० नि०—तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
ह० भ० र०—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु
उ० नि०—उज्ज्वलनीलमणि
प्र० वा०—प्रमाणवार्तिक
ई० प्र० वि० वि०—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति विमर्शिनी
त० सा०—तन्त्रसार
रा० सु०—राधासुधानिधि
यु० त० स०—युग्मतत्त्वसमीक्षा
हि० सं० पो०—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स
सू० सा०—सूरसागर
न० ग्र०—नन्ददास ग्रन्थावली
नि० मा०—निम्बार्क माधुरी
मानस—रामचरितमानस
पत्रिका—विनय पत्रिका
क० ग्र०—कबीर ग्रन्थावली
र० शा० अ०—रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन
क० र०—कवित्तरत्नाकर
अ० व० स०—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय की हिन्दी डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। इसका विषय है—'हिन्दी वैष्णव-साहित्य (सोलहवी-सत्रहवी शती) मे रस-परिकल्पना'।

यहा 'परिकल्पना' शब्द का अग्रेजी शब्द 'इमैजीनेशन' के पर्याय मे हिन्दी मे प्रयुक्त 'कल्पना' शब्द से विशेष सम्बन्ध नही है। परिकल्पना शब्द 'परि' उपसर्ग-पूर्वक 'क्लृप्' धातु से 'ल्युट्' तथा 'टाप्' प्रत्ययो से बना हुआ है।[1] इसमे रचना या निर्माण का भाव निहित है। सस्कृत काव्यशास्त्र का यह एक बहु-प्रचलित शब्द रह चुका है। भरत ने बिना किसी उपसर्ग के तथा 'प्र', 'वि' और 'परि' आदि उपसर्गों के साथ अपने नाट्यशास्त्र मे इस शब्द का क्रिया और सज्ञा के रूप मे न जाने कितने बार प्रयोग किया है।[2] यो भरत के प्रयोगो मे उपसर्गों के आधार पर विशिष्ट निश्चित अर्थ निर्धारित नही किया जा सकता, किन्तु फिर भी अधिकाश मे उन्होने बाह्य और स्थूल रचना-विधान के लिए निरुपसर्ग या 'प्र' उपसर्ग सहित इसका प्रयोग किया है, 'वि' उपसर्ग के साथ निर्धारण या निरूपण के लिए अधिक प्रयोग हुआ है, और मानसी रचना, उद्भावना से मिलते-जुलते अर्थों मे 'परि' उपसर्ग के साथ। इस प्रकार 'परिकल्पना'

---

१ बी० एस० आप्टे 'दी स्टुडेण्ट्स सस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी', पृ० १६२।

२ नाट्यशास्त्र भरत

(क) "वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।
विनोदकरण लोके नाट्यमेतद्भविष्यति।" भा० १, अ० १, श्लो० १२०।
"यादृश दिशि यस्या तु दैवत परिकल्पितम्।
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मन्त्रपुरस्कृत।" भा० १, अ० २, श्लो० ४०–१।
"बाह्य वा मध्यम वापि तथैवाभ्यन्तर पुन।
दूर वा सन्निकृष्ट वा देश तु परिकल्पयेत्।" भा० २, अ० १३, श्लो० ८।
"देशादिभेद कल्पयित्वा तत्र दूरादिभेद परिकल्पयेत्" अभि० भा० भा० २, पृ० १९९।
"आर्याणा तु चतुर्मात्राप्रस्तार परिकल्पित।" भा० २, अ० १४, श्लो० १२२।
"यस्यार्थानुप्रवेशेन मनसा परिकल्प्यते।
अनन्तरप्रयोगस्तु सार्थव्यक्तिरुदाहृता।" भा० २, अ० १६, श्लो० १०९।

(ख) "अपूजयित्वा रग तु प्रेक्षा य कल्पयिष्यति।" अ० १, श्लो० १८३।
"सममर्धविभागेन रगशीर्ष प्रकल्पयेत्।" अ० २, श्लो० ३४।
"अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत्।" अ० २, श्लो० ९३।
"एव व्यायामयोगे कार्यं मण्डलकल्पनम्।" अ० १२, श्लो० १।

(ग) "पूर्वरगे मया ख्यात तथा चागविकल्पनम्।" अ० ५, श्लो० ५३।
"प्रत्युवाच पुनर्वाक्य रसभावविकल्पनम्।" अ० ६, श्लो० ४।
"विकल्पयन्ते निश्चीयन्ते नेन तादृग्वाक्य।" अभि० भा०, पृ० २६२, भा० १।
"अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मण्डलाना विकल्पनम्।" अ० १०, श्लो० १०४।
"इति श्रीभारतीये नाट्यशास्त्रे मण्डलविकल्पन नामैकादशोऽध्याय।"
अ० ११, ना० शा०, भा० २, पृ० १२८।

शब्द अपने लिए विदेशी अर्थ से युक्त नही है। इसके मूल धात्वर्थ को ध्यान मे रखते हुए 'रस-परिकल्पना' का मुख्य अर्थ हुआ काव्य मे कवि द्वारा रस-सृष्टि। इस प्रकार वैष्णव-काव्य मे रस-परिकल्पना के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य हुआ इस काव्य मे यह देखना कि कवि ने किस दृष्टि से, किस रस-तत्त्व की, किस रूप मे तथा किस ढग से सृष्टि की है ? किन्तु काव्य-निष्ठ कवि-कृत रस-परिकल्पना यदि सहृदय-निरपेक्ष है तो उसका कोई अर्थ नही। अत पूर्वोक्त निर्मातृ-पक्ष के साथ रस का भोग-पक्ष भी रस-परिकल्पना मे आनुषगिक रूप से अध्येय हो जाता है। वैष्णव-साहित्य मे निहित रस-परिकल्पना का हमे इन्ही दोनो दृष्टियो से, अर्थात् रस-विधान के निर्माण-पक्ष को प्रमुख बनाकर भोक्तृ-पक्ष की सापेक्षता मे रखते हुए अध्ययन करना है।

इसी विशिष्ट दृष्टि से हमारा अध्येय विक्रम की सोलहवी-सत्रहवी शती का हिन्दी वैष्णव साहित्य है। विक्रम की ये शतिया हिन्दी के विविध भक्ति-काव्य के कारण साहित्य के इतिहास मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है। उक्त रस-दृष्टि से यह समूचा भक्ति-साहित्य इस शोध का विवेच्य विषय नही है। जैसा कि हम अभी विचार करेगे, इसकी परिधि मे केवल राम-भक्ति एव कृष्ण-भक्ति का सगुण काव्य ही आता है। प्रेम-मार्गी सूफी काव्य एव निर्गुण सन्त-काव्य दोनो इसकी परिधि मे नही आते।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे इसी दृष्टिकोण मे अपने काल के उक्त साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यहा इस अध्ययन की प्रस्तावना के रूप मे कुछ बाते निवेदन करनी है जिनसे इस शोध-प्रबन्ध मे किये गये अध्ययन की दिशा, परिधि एव दृष्टिकोण स्पष्ट हो सके।

आलोच्यकालीन हिन्दी वैष्णव साहित्य

सक्षिप्त परिचय, वर्गीकरण एव रस-परिकल्पना के लिए अध्येय साहित्य का चयन

सोलहवी-सत्रहवी शती हिन्दी साहित्य के लिए स्वर्ण-युग है। यद्यपि इस युग का वैष्णवेतर साहित्य भी मात्रा मे नगण्य नही है, तथापि वैष्णव साहित्य ही इस युग का प्राण एव प्रतिनिधि साहित्य है।

इस युग के वैष्णव साहित्य को प्रभावित करने वाले प्रेरणा-स्रोत कई दिशाओ से प्रवाहित होकर आते है, इसीलिए यह साहित्य मूलत भक्ति-साहित्य होते हुए भी विविध-रगी हो गया है। इस युग की भक्ति-भावना प्राय सम्प्रदाय-निष्ठ होकर प्रसृत हुई है। कई सम्प्रदाय पहले से ही पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुके थे, कई इस युग मे प्रवर्तित हुए। यो तो इस युग के कई कवि इस प्रकार के है जिन्हे या तो किसी सम्प्रदाय का अनुयायी नही कहा जा सकता, या जिनका सम्बन्ध एकाधिक सम्प्रदायो से जोडा जा सकता है, तथापि इन शतियो का साहित्य एक बडी दूरी तक सम्प्रदाय-चेतना को स्वीकार करके चला है। इसी कारण इस युग के साहित्य का अनुशीलन उसकी मूल सम्प्रदाय-चेतना के सापेक्ष्य मे ही उचित भी होता है, सरल भी।

इस युग मे प्रचलित प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय निम्नलिखित है .

१ रामानुज सम्प्रदाय
२ माध्व सम्प्रदाय
३ निम्बार्क सम्प्रदाय
४ वल्लभ सम्प्रदाय
५ चैतन्य सम्प्रदाय
६ हरिदासी सम्प्रदाय

७ राधावल्लभीय सम्प्रदाय
८ रामानन्दी सम्प्रदाय

ये सम्प्रदाय एक-दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र नही । ये सभी एक प्रकार से अपने परिनिष्ठित रूप मे शाकर अद्वैत के विरोध मे खडे हुए है, और उपास्य-रूप, उपासना-दृष्टि तथा सेवा-पूजा की प्रक्रिया आदि के आधार पर अपना स्वतन्त्र स्थान भी बनाते है । सभी अपनी स्वतन्त्र दर्शन-पीठिका नही बनाते । मूल रूप मे चार वैष्णव सम्प्रदायो का नाम लिया जाता है—श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनक । इन्ही चार से क्रमश रामानुज, मध्व, वल्लभ और निम्बार्क का सम्बन्ध जोडा जाता है । सामान्य धारणा के अनुसार परवर्ती काल मे विकसित सम्प्रदायो को इन चार से ही सम्बद्ध करके देखा जाता है । श्रीसम्प्रदायी रामानुज का ही विकसित रूप रामानन्दी सम्प्रदाय के रूप मे आया है, माध्व सम्प्रदाय का विकसित रूप चैतन्य सम्प्रदाय है, रुद्र सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रवर्तित विष्णुस्वामी सम्प्रदाय ही वल्लभ के पुष्टि सम्प्रदाय के रूप मे विकसित हुआ है तथा हरिदासी सम्प्रदाय निम्बार्क सम्प्रदाय का ही विकसित रूप है, ऐसी मान्यता अनेक विद्वानो की भी है, और कई सम्प्रदायो के पुराने लोग भी अपना सम्बन्ध उनके पूर्ववर्ती कहे जाने वाले सम्प्रदायो से जोडते है । साथ ही परवर्ती सम्प्रदायो मे, विशेषकर आधुनिक युग मे, अपने सम्प्रदाय को पूर्ण, स्वतन्त्र विकसित सिद्ध कहने की भी प्रवृति पायी जाती है । इस प्रवृत्ति का समर्थन कुछ साहित्यिक समालोचक भी करते हे । 'राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य' मे डॉ० स्नातक ने अपनी मान्यता इसी रूप मे प्रस्तुत की है । उनके अनुसार ये सभी सम्प्रदाय अपनी स्वतन्त्र आधार-भूमियो पर खडे हुए है । उनकी ऐसी मान्यता मे बहुत कुछ उद्देश्य यह भी है कि उनके अध्येय राधावल्लभ सम्प्रदाय को स्वतन्त्रतया विकसित-प्रतिपादित किया जा सके, और उस सम्प्रदाय के लोगो की भावना की अधिकतम सुरक्षा हो सके ।

दर्शन की दृष्टि से इन सम्प्रदायो मे पाँच ही उल्लेखनीय है—रामानुज, निम्बार्क, माध्व, वल्लभीय और चैतन्य । यद्यपि चैतन्य ने स्वय कोई दार्शनिक ग्रन्थ, या वेदान्त-भाष्य आदि नही लिखा, तथापि उनके शिष्य-प्रशिष्यो ने विशाल दार्शनिक साहित्य की प्रतिष्ठा की है । यह दार्शनिक साहित्य सस्कृत की निधि है । हिन्दी की दृष्टि से रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, हरिदासी और राधावल्लभीय सम्प्रदायो का महत्त्वपूर्ण योग है । इधर बाबा कृष्णदास और श्री प्रभुदयाल मीतल के श्रम से कुछ चैतन्य सम्प्रदाय का हिन्दी साहित्य भी प्रकाश मे आया है । माध्व सम्प्रदाय के हिन्दी भक्त-कवि बहुत थोडे है, और वे अन्य सम्प्रदायो मे घुल-मिल गये हे । रामानन्दी सम्प्रदाय का हिन्दी काव्य कम तो नही है, किन्तु वह सब अभी साम्प्रदायिक महन्तो के यहा बन्द है । इधर राम-भक्ति के रसिक उपासको के साहित्य को भी प्रकाश मे लाने के कुछ प्रयास हुए है । इस प्रकार राम और कृष्ण की सेवा मे समर्पित एक विशाल साहित्य-राशि सोलहवी-सत्रहवी शतियो मे निर्मित हुई है, जो साम्प्रदायिक अनुदारता के कारण अभी तक भी समूची प्रकाश मे नही आ सकी है । कृष्ण-काव्य मे अब तक सर्वाधिक अध्ययन और प्रचार वल्लभ सम्प्रदाय के साहित्य का हुआ हे । इधर आकर अन्य सम्प्रदायो का साहित्य भी कुछ-कुछ विद्वानो की नज़र पडने लगा है । सबसे बडी कठिनाई यह है कि जो भी सामग्री काल के पजो से अवशिष्ट रह गयी है, आज ऐसे लोगो के पास है जो उसे प्रकाश मे लाने के लिए तैयार नही हैं । यदि यह समूचा साहित्य प्रकाश मे आ जाए तो निस्सन्देह मध्यकालीन साहित्य के विषय मे अनेक स्थापनाओ मे परिवर्तन करना पड जाए।

भक्तिकाल के साहित्य को प्राय समालोचको द्वारा चार शाखाओ मे वर्गीकृत किया गया

है—प्रेम-मार्गी निर्गुण शाखा, ज्ञान-मार्गी निर्गुण शाखा, राम-भक्ति की सगुण शाखा और कृष्ण-भक्ति की सगुण शाखा। इनमे राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का वैष्णवता से सीधा सम्बन्ध है। कहना चाहिए, इस युग की वैष्णव चेतना हिन्दी-काव्य मे राम और कृष्ण के प्रतीको को लेकर ही नाना-रूपो मे प्रसृत हुई है। प्रेम-मार्गी शाखा की चेतना वैष्णव नही है, न उसके प्रेमादर्श मे वैष्णव संस्कार। ज्ञान-मार्गी निर्गुण शाखा भी मुख्यत कुछ ऐसे बौद्धिक एव क्रियात्मक संस्कार लेकर चली है कि उसमे वैष्णव चेतना अत्यन्त ही धुधली रह गयी है। यद्यपि ज्ञान-मार्गी सत वैष्णव आदर्शों मे से कुछ के प्रति अपनी आस्था प्रकाशित करते रहे है, तथापि उनका मूल स्वर भगवान् के सगुण-साकार रूपो के प्रति अनास्था रखने के कारण वैष्णव चेतना के मौलिक स्वर से विपरीत ही हो गया है। जिस प्रकार राम-भक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि तुलसी है, उसी प्रकार ज्ञान-मार्गी निर्गुण सम्प्रदाय के प्रतिनिधि कबीर है। यदि निर्गुण सन्तो मे कही कुछ उल्लेखनीय दूरी तक वैष्णव चेतना पायी जाती है, तो वह कबीर मे। किन्तु कबीर की वैष्णवता भी एक सीमित अर्थ मे ही स्वीकार की जा सकती है। अत हमारे वैष्णव साहित्य की परिधि सगुण भक्तो तक ही मुख्यत जाती है।

कबीर के सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वे वैष्णव थे या नही ? यदि वे वैष्णव भक्त नही थे तो वे हमारे शोध-विषय की सीमा मे नही आते। इस सम्बन्ध मे पक्ष और विपक्ष दोनो मे ही कई बाते कही जा सकती है। वे रामानन्द के शिष्य थे, वे अपने को स्पष्टत वैष्णव न कहकर भी वैष्णवो के प्रशसक है। कबीर ने जगह-जगह हरि, राम, कृष्ण, गोविन्द आदि वैष्णव नामो का प्रयोग किया है और इनके प्रति अपना निर्मल प्रेम प्रस्तुत किया है। ये सब बाते उनके वैष्णवत्व के पक्ष मे है। अपने को कही भी खुलकर वैष्णव स्वीकार न करना, राम-कृष्ण के अवतारी रूप को साफ तौर पर अस्वीकार करना, चिन्तन की आधार-भूमि के रूप मे शकर के अद्वैतवाद को स्वीकार करना, नाथो और सिद्धो के प्रभाव से हठयोगी धारणाओ मे विश्वास तथा सूफी प्रभाव आदि ऐसी बाते है जो उनको वैष्णव स्वीकार करने मे बाधक है। हम किसी भक्त के वैष्णव होने की तीन प्रमुख कसौटिया स्वीकार कर सकते है

१ ब्रह्म के पर-रूप की स्वीकृति। यह रूप निर्गुण एव उपनिषत्प्रतिपादित है। सभी वैष्णव भक्तो ने इसे स्वीकार किया है, भले ही सुग्राह्य होने के कारण वे सगुण रूप के गायक रहे है। प्रमुख-प्रमुख भक्ति-सम्प्रदायो मे वेदान्तसूत्र के भाष्य मिलते है, और उनकी व्याख्या मे इस उपनिषत्प्रतिपादित निर्गुण रूप को भी स्वीकार किया गया है।

२ पुराण-प्रतिपादित अवतारवाद मे पूर्ण आस्था। वैष्णव भक्तो की प्रमुखत यही चेतना आधार रही है। उपनिषत्प्रतिपादित निर्गुण रूप को सिद्धान्त रूप से स्वीकार करके भी उनकी भाव-साधना और आराधना का यही लीलामय सगुण रूप रहा है। इन रूपो मे हमारे आलोच्य युग मे राम और कृष्ण दो रूप ही भक्ति-भावना के क्षेत्र मे छाये रहे। इस अवतारी रूप मे बिना आस्था रखे कोई भी भक्त सच्चे अर्थों मे वैष्णव नही स्वीकार किया जा सकता।

३ भारतीय भाव-साधना मे अत्यन्त प्राचीन काल से प्रवाहित अनुराग-तत्त्व। इस अनुराग-तत्त्व की सगुण रूप के प्रति जितनी गहरी और सच्ची अनुभूति होती है, व्यक्ति उतना ही उच्च कोटि का वैष्णव स्वीकार किया जाता है। इसी अन्तर के कारण तुलसी और केशव दोनो वैष्णव कवि तो हैं किन्तु समान रूप से वैष्णव भक्त

नही। यह अनुराग चाहे जिस रूप मे हो, पर उसमे लीलामय सगुण रूप की माधुरी का आकर्षण अवश्य होता है।

यदि कबीर को हम इन कसौटियो पर कसे तो उन्हे वैष्णव नही कहा जा सकता। इनमे से एक तत्त्व तो उनमे पूरा मिलता है—वे उपनिषत्प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म रूप मे पूर्ण आस्थावान् है। वस्तुत उन्हे इसी तत्त्व की स्वानुभूति है। दूसरा तत्त्व अनुराग का उनमे भारी मात्रा मे है, पर वह पूरे अर्थ मे वैष्णव अनुराग नही है। उनके प्रेम-तत्त्व के विषय मे यह तो विवाद उठाया जा सकता है कि वह सूफी पद्धति का है या भारतीय पद्धति का, किन्तु यह निर्विवाद है कि उस प्रेम मे भगवान् के सगुण लीलामय रूप के प्रति आसक्ति नही है। राम और कृष्ण के नाम पर अभिव्यक्त होने के कारण यह प्रेम वैष्णवी न रहकर वैष्णवाभासी रह गया है। अत इस तत्त्व को उनमे आधी मात्रा मे ही स्वीकार किया जा सकता है। तीसरा तत्त्व है पुराण-प्रतिपादित अवतारी भगवद्रूप मे विश्वास। कबीर इस रूप मे आस्था नही रखते। उनका राम स्पष्टत दशरथ-सुत राम नही है, भले ही वे भूले-बिछुडे कोई ऐसी बात कह गए है जिसमे अवतारी रूप की स्वीकृति हो। इस प्रकार उक्त तीन कसौटियो मे से आधी ही कबीर को वैष्णव कह सकती है, आधी स्पष्टत इसके विरोध मे है। अत कबीर और उनके अनुयायी सन्त इस शोध-प्रबन्ध के विषय नही रह जाते। फिर भी उनमे एक हलके वैष्णव प्रभाव को स्वीकार कर हम यह कर सकते है कि उनकी रस-परिकल्पना का परिचय अत्यन्त सक्षेप मे इस प्रबन्ध के परिशिष्ट रूप मे रख ले। इससे हम उनकी और उनके अनुयायी सन्तो की, जिनमे कि कबीर से अधिक अन्तर नही है, रस-परिकल्पना का स्वरूप मोटे तौर पर समझ सकेगे।

इस युग मे रामभक्ति शाखा के निम्न कवि आते है

महाकवि तुलसीदास, मुनिलाल, केशवदास, स्वामी अग्रदास, नाभादास, सेनापति, हृदयराम, प्राणचन्द चौहान, बल ..स तथा लालदास।

ये नाम डॉ० रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' के आधार पर है। कोई एकाध सामान्य कोटि का नाम इधर-उधर और भी मिल सकता है, जैसे एक रायमल्ल पाडे का उल्लेख आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास मे किया है। पर इन सब नामो मे तीन ही नाम ऐसे है जिन्हे रस-परिकल्पना की दृष्टि से महत्त्व दिया जा सकता है। य नाम है—तुलसीदास, केशवदास और सेनापति। इनके अतिरिक्त अग्रदास और नाभादास के नाम राम-भक्ति की मधुर धारा की दृष्टि से उल्लेखनीय हो सकते है।

यहा रामभक्ति शाखा के उपर्युक्त कवियो का समय और रचनाओ का उल्लेख डॉ० रामकुमार वर्मा के उक्त इतिहास के ही आधार पर किया जा रहा है

१	तुलसीदास	स० १५८९?—१६८०	रामचरितमानस, रामललानहछू, वैराग्य-सदीपनी, बरवै रामायण, पार्वतीमगल, जानकीमगल, रामाज्ञाप्रश्न, दोहावली, कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्णगीतावली, विनयपत्रिका, कलिधर्माधर्म-निरूपण?।
२	मुनिलाल	स० १६४२ रचनाकाल	रामप्रकाश।
३	केशवदास	स० १६१२—	विज्ञानगीता, रतनबावनी, जहागीर-जसचन्द्रिका, वीरसिंहदेवचरित, रसिक-

			प्रिया, कविप्रिया, रामचन्द्रिका।
४	स्वामी अग्रदास	स० १६३२ आविर्भावकाल	हितोपदेश उपाख्यान बावनी, ध्यान-मजरी, अष्टयाम, पदावली।
५	नाभादास	स० १६५७ आविर्भावकाल	भक्तमाल, रामाष्टयाम।
६	सेनापति	स० १६४६—अठारहवी श० प्रथम चरण	कवित्तरत्नाकर।
७	हृदयराम	स० १६२३ रचनाकाल	हनुमन्नाटक।
८	प्राणचन्द चौहान	स० १६६७ आवि० काल	रामायण महानाटक।
९	बलदास	स० १६८७ आवि० काल	चित्ताववोधन।
१०	लालदास	स० १७०० आवि० काल	अवधविलास।

रामभक्ति-शाखा के इन कवियो को दो धाराओ मे विभक्त करके चला जा सकता है। एक धारा को मर्यादा और आदर्श का पालन करने के कारण हम आदर्शवादी धारा कह सकते है, दूसरी को कृष्णभक्ति की मधुरोपासना के मेल मे होने के कारण मधुर धारा कह सकते है। इन दोनो धाराओ से उपर्युक्त कवियो का सम्बन्ध इस प्रकार निर्धारित होता है

आदर्शवादी धारा	**मधुर धारा**
तुलसीदास	अग्रदास
मुनिलाल	नाभादास
केशवदास	लालदास
सेनापति	
हृदयराम	
प्राणचन्द चौहान	
बलदास	

इन दोनो धाराओ मे पाँच नाम ही रस-परिकल्पना की दृष्टि से उल्लेखनीय है—तुलसीदास, केशवदास, सेनापति आदर्शवादी धारा मे, और अग्रदास, नाभादास मधुर धारा मे। मुनिलाल का 'रामप्रकाश' उपलब्ध नही है। रचना सामान्य कही जाती है। हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' सस्कृत के इसी नाम के नाटक पर लिखा हुआ कवित्त-सवैयो मे एक सामान्य ग्रन्थ है। उसमे तुलसी की भावनाओ का ही आदर्श सामने है। रस-परिपाक न नाटक के नाते, और न ही काव्य के नाते बहुत अच्छा हुआ है। प्राणचन्द चौहान का 'रामायण-महानाटक' भी अत्यन्त सामान्य कोटि की रचना है। ये रचनाए वस्तुत नाटक नही है। नाटक के नाम पर इनमे केवल सवाद-तत्त्व है। रस-परिकल्पना भी उल्लेखनीय नही है। बलदास का 'चित्ताववोधन' तो ब्रह्म-सृष्टि-साधन पर एक विचार-प्रधान एव योग-साधन-परक अत्यन्त साधारण कोटि की रचना है, जिसमे रस-परिकल्पना का अवकाश तिरोहित-प्राय है। लालदास का 'अवध-विलास' मधुरोपासना की सामान्य रचना है। इस प्रकार रस-परिकल्पना के अध्ययन के लिए प्रथम धारा के तीन और द्वितीय धारा के दो कवि ही उल्लेखनीय है।

कृष्ण-भक्ति मे हिन्दी-काव्य की दृष्टि से केवल पाँच सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं—निम्बार्क सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय और राधावल्लभीय सम्प्रदाय। माध्व सम्प्रदाय के भक्त प्राय गौडीयो मे या अन्य सम्प्रदाय के कवियो मे घुल-मिल गये हैं। यद्यपि हरिदासी सम्प्रदाय निम्बार्क सम्प्रदाय का ही एक विकसित रूप है, किन्तु रस-कल्पना की

दृष्टि से उसके साहित्य पर अलग से ही विचार करना उपयुक्त है। वस्तुत रस-दृष्टि की विशेषता के कारण ही तो हरिदासी सम्प्रदाय ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया है। काल-क्रम की दृष्टि से निम्बार्क सम्प्रदाय प्रथम आता है, मात्रा और महत्त्व की दृष्टि से वल्लभ सम्प्रदाय। मात्रा की दृष्टि से चैतन्य सम्प्रदाय का हिन्दी साहित्य अधिक नही है।

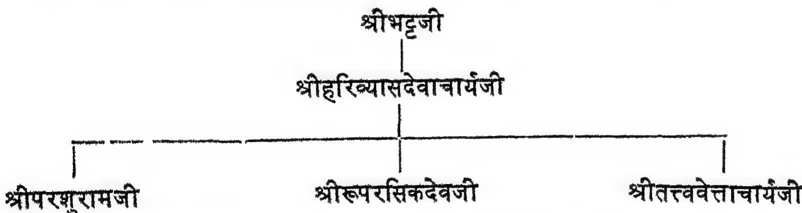
निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत हमारे आलोच्य काल मे निम्न प्रमुख कवियो के नाम आते है

१ श्रीभट्टजी, २ श्रीहरिव्यासजी, ३ श्रीपरशुरामदेवजी,
४ श्रीरूपरसिकदेवजी, ५ श्रीतत्त्ववेत्ताचार्यजी।

'निम्बार्क-माधुरी' मे इनका समय एव रचनाए इस प्रकार है

श्रीभट्टजी	कविताकाल स० १३५०-१४५०	श्रीयुगलशतक
श्रीहरिव्यासदेवजी	जन्म स० १३२०	महावाणी
श्रीपरशुरामदेवजी	सोलहवी शती	परशुरामसागर
श्रीरूपरसिकदेवजी	सोलहवी शती	१ श्रीहरिव्यासयशामृत २ श्रावृहदुत्सवमणिमाल ३ श्रीनित्यविहारपदावली
श्रीतत्त्ववेत्ताचार्यजी	सोलहवी-सत्रहवी शती	वाणी-सग्रह

इस प्रकार साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार श्रीभट्टजी तथा श्रीहरिव्यासजी का स्थिति-काल चौदहवी-पन्द्रहवी शती है। किन्तु यह मान्यता समालोचक विद्वानो को मान्य नही है। 'ब्रज-माधुरीसार' मे तथा आचार्य शुक्ल के इतिहास मे श्रीभट्टजी का समय जन्म स० १५९५ दिया गया है, तथा कविताका० १६२५। इन आचार्यों की परस्पर गुरु-शिष्य परम्परा पर दृष्टि रखते हुए भी यही समय उचि . प्रतीत होता है। इनमे गुरु-शिष्य क्रम इस प्रकार है



श्रीपरशुरामदेवजी तथा तत्त्ववेत्ताचार्यजी का समय सोलहवी-सत्रहवी शती के साथ सम्बद्ध किया गया है, तब उनके दो पीढी पूर्व के श्रीभट्टजी को चौदहवी शती मे कैसे रखा जा सकता है, और भट्टजी के शिष्य श्रीहरिव्यासजी को तो स्वय गुरु से भी प्राचीन कहा गया है। अत श्रीभट्टजी तथा श्रीहरिव्यासजी का सम्बन्ध भी सोलहवी शती से ही उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार ये सभी लोग हमारे आलोच्य काल की परिधि मे ही आते हैं।

श्रीहरिदासजी की परम्परा मे अनेक भक्त कवियो ने जन्म लिया है। जिस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय मे सूर आदि आठ अष्ट-छापी भक्त प्रसिद्ध है, उसी प्रकार हरिदासी सम्प्रदाय मे अष्ट आचार्य। इनके नाम और समय इस प्रकार है

१	श्रीविट्ठलविपुलदेवजी	पन्द्रहवी-सोलहवी शती	४० पद
२	श्रीविहारिनदेवजी	स० १५६१-१६५६	७०० साखिया, २०० पद
३	श्रीनागरीदासजी	स० १६००-१६७०	२० साखिया, ७० पद

४	सरसदासजी	स० १६११-१६८३	कुछ कवित्त, सवैये और पद
५	नरहरिदासजी	स० १६४०-१७४१	कुछ पद ओर दोहे
६	श्रीरसिकदेवजी	स० १६६२-१७५८	११ ग्रन्थ
७	ललितकिशोरीदासजी	स० १७३३-१८२३	फुटकल वाणी
८	ललितमोहिनीदासजी	स० १८२३-१८५८	फुटकल वाणी

इनमे से हमारे आलोच्य काल मे केवल ये ही आते है —श्रीविट्ठलविपुलदेवजी, श्रीविहारिनदेवजी, श्रीनागरीदासजी, श्रीसरसदासजी, श्रीनरहरिदासजी तथा श्रीरसिकदेवजी। इनके अतिरिक्त श्रीहरिराम व्यास के छोटे पुत्र और स्वामी हरिदासजी के शिष्य श्रीकिशोरी-दासजी, श्रीनागरीदासजी के शिष्य श्रीकृष्णदासजी, श्रीनागरीदासजी के ही भतीजे और शिष्य श्रीनवलसखीजी, श्रीरसिकदेवजी के शिष्य श्रीरूपसखीजी भी इन्ही शताब्दियों के भक्त है। परवर्ती काल मे हरिदासी भक्तो की परम्परा मे ये नाम विशेष उल्लेखनीय है श्रीरूपरसिकजी के शिष्य श्रीपीताम्बरदासजी (जन्म स० १७३४), श्रीपीताम्बरजी के शिष्य श्रीकिशोरदासजी (अनुमानत १७७०), श्रीललितमोहिनीदासजी के शिष्य श्रीभगवतरसिकजी (अनुमानत १७९५), श्रीसीतलदासजी (उन्नीसवी शती उत्तरार्ध), श्रीसहचरिशरणजी (स० १८३०)। हरिदासी सम्प्रदाय के भक्तो के समय भी अन्य सम्प्रदाय के भक्तो के समान प्राय विवादास्पद हैं। ऊपर के समय प्राय श्रीकिशोरदास के 'निजमतसिद्धान्त' के आधार पर निर्धारित किये हुए है। स्वय स्वामी हरि-दासजी के समय के सम्बन्ध मे आज भारी विवाद है। उनके अनुयायी ही स्वय आज दो वर्गों मे विभाजित है। विरक्त सन्तो की परम्परा उनका समय 'निजमतसिद्धान्त' के अनुसार स० १५३७ भाद्रपद शु० ८, बुधवार—स० १६३२ आश्विन शु० १५ मानती है। दूसरी गृहस्थ गोस्वामियो की परम्परा जो अपने को स्वामीजी का वशज कहती है, उनका समय स० १५६९-१६६४ मानती है। 'सिद्धान्त-रत्नाकर' की भूमिका मे प्रो० गोविन्द शर्मा ने विरक्त परम्परा द्वारा मान्य समय को ही तर्कसम्मत स्वीकार किया है। स्वामीजी के समय के अनिश्चित होने से विट्ठलविपुलदेव आदि के समय भी विवादास्पद हो जाते है, किन्तु इन विवादो से हमारे विषय पर कोई बहुत बडा प्रभाव नही पडता। स्वामी हरिदासजी की रचनाओ मे 'सिद्धान्त के पद' और 'केलिमाल' है। सिद्धान्त के १८ पद है, केलिमाल मे १०८ या ११० पद। दोनो ही प्रकाशित हो चुके है।[1]

/राधावल्लभीय सम्प्रदाय की छाया मे विशाल ब्रज-भाषा साहित्य की सृष्टि हुई है, जिसमे से बहुत बडा भाग अप्राप्य होता जा रहा है, तथा बहुत बडा भाग साम्प्रदायिक अधिकारियो के अधिकार मे अप्रकाशित पडा है। थोडी-सी कृतिया प्रकाशित भी हो चुकी है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने इस साहित्य का एक वैज्ञानिक शोधपूर्ण अध्ययन 'राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य' के नाम से प्रस्तुत किया है। श्रीललिताचरण गोस्वामी कृत 'श्रीहितहरिवश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य' नामक एक परिचयात्मक एव समीक्षात्मक ग्रथ 'वेणु प्रकाशन, वृन्दावन' से प्रकाशित हो चुका है। इस प्रकार इस साहित्य के अनुशीलन और अध्ययन की ओर विद्वानो की प्रवृत्ति बढती जा रही है। श्री गोस्वामी ने राधावल्लभीय सम्प्रदाय के साहित्य को

---

१ श्रीकिशोरदास कृत निजमतसिद्धान्त, श्रीविहारीशरणजी-सम्पादित निम्बार्कमाधुरी, श्रीविश्वेशशरण-सम्पादित सिद्धान्तसार की श्री गोविन्द शर्मा की भूमिका तथा श्रीप्रभुदयाल मीतल की 'स्वामी हरि-दासजी जीवनी और वाणी' तथा अष्टाचार्यों एव भक्त कवियों की जीवनी और रचनाएं आदि ग्रन्थों के आधार पर।

निम्न कालो मे विभाजित करके रखा है

१	श्रीहितहरिवश काल	स० १५९० से १६५० तक।
२	श्रीध्रुवदास काल	स० १६५० से १७७५ तक।
३	श्रीहितरूपलाल काल	स० १७७५ से १८७५ तक।
४	अर्वाचीन काल	स० १८७५—

इन कालो के प्रमुख भक्त कवि उनके अनुसार निम्न है

१ श्रीहितहरिवशजी, श्रीहरिराम व्यास, नागरीदास, लाल स्वामी, श्रीकृष्णचन्द्र गोस्वामी, श्रीदामोदरदास 'सेवकजी', स्वामी चतुर्भुजदासजी।

२ श्रीध्रुवदासजी, श्रीदामोदर स्वामी, सहचरि सुखजी, श्रीकल्याण पुजारीजी, श्रीरसिकदासजी, हित अनूपजी, श्रीअनन्यअलीजी, श्रीकृष्णदासजी भावुक, श्रीसदानन्द गोस्वामी, श्रीदामोदरचन्द्र गोस्वामी, श्रीकमलनयन गोस्वामी, श्रीसुखलाल गोस्वामी, श्रीगुलाबलाल गोस्वामी, श्रीरसिकलाल गोस्वामी, श्रीजोरीलाल गोस्वामी, श्रीब्रजलाल गोस्वामी, श्रीगोविन्द-लाल गोस्वामी, श्रीहरिलाल गोस्वामी, श्रीसेवा सखी, श्रीचन्द्र सखी, श्रीअतिवल्लभजी, श्रीमोहनमत्तजी, श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीमुकुन्दलाल गोस्वामी, श्रीकुजलाल गोस्वामी।

३ श्रीहित रूपलालजी, चाचा हित वृन्दावनदासजी, श्रीचन्द्रलाल गोस्वामी, श्रीप्रेमदासजी, श्रीलाडिलीदासजी, श्रीब्रजजीवनजी, श्रीकिशोरीलाल गोस्वामी, श्रीरसिकानन्द-लाल गोस्वामी, वृन्दावनदासजी, रतनदासजी, प्रियादासजी, मीठाजी, भजनदासजी, श्रीचतुर शिरोमणिलाल गोस्वामी, श्रीसर्वसुखदासजी, श्रीरगीलाल गोस्वामी।

४ श्रीभोलानाथजी हितभोरी आदि।

इनमे से सोलहवी-सत्रहवी शती से सम्बद्ध विशिष्ट व्यक्तित्व से युक्त वाणीकार निम्न है। इनके समयो के सम्बन्ध मे प्राय निश्चित सूचनाए नही उपलब्ध होती। डॉ० स्नातक ने अन्त -साक्ष्य और बहि साक्ष्य के आधार पर इनके जो समय निर्धारित किये हे, उन्हे यहा दिया जा रहा है

१	श्रीहितहरिवशजी	स० १५५९-१६०९	सस्कृत—राधासुधानिधि, यमुनाष्टक। हिन्दी—हितचौरासी, स्फुट वाणी।
२	श्रीदामोदरदास 'सेवकजी'	स० १५७७?-१६१०	सेवकवाणी।
३	श्रीहरिराम व्यास	स० १५४९-१६५०	व्यासवाणी—७५८ पद, १४८ दोहे। रागमाला—सगीतशास्त्र सम्बन्धित
४	श्रीचतुर्भुजदास	स० १५८५-१६९०	द्वादशयश फुटकल पद
५	श्रीध्रुवदास	स० १६३०-१७००	ब्यालीसलीला
६	श्रीनेही नागरीदास	स० १५९०-सत्रहवी शती मध्य	सिद्धान्त दोहावली—९३५ दोहे। पदावली—१०२ पद। रस पदावली—२३२ पद।
७	श्रीकल्याणपुजारीजी	स० १६००—	फुटकल वाणी—२०० पद।

इन कवियो की पूरी रचनाए अभी प्रकाशित नही हुई है।

श्रीचैतन्य सम्प्रदाय का साहित्य

चैतन्य सम्प्रदाय का ब्रजभाषा का साहित्य मात्रा मे अधिक नही है। साहित्य के इतिहास-ग्रन्थो मे बहुत थोडे ही कवियो के नामो के सामान्य उल्लेख मिलते है। हम पीछे कह चुके है कि अभी बाबा कृष्णदास ने कतिपय कवियो की वाणिया प्रकाशित करायी है, और श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य' नामक एक ग्रन्थ बाबा कृष्णदास की सामग्री का उपयोग करते हुए तथा अन्य उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ मे उन्होने कोई सौ से ऊपर चैतन्य मतानुयायी हिन्दी कवियो का परिचय प्रस्तुत किया है। प्राय सभी कवियो का समय विवादास्पद है। श्रीमीतल ने प्राय सभी का समय विभिन्न तथ्यो और प्रसगो को ध्यान मे रखकर निर्धारित करने का प्रयास किया है। उनका प्रयास स्तुत्य है, भले ही परवर्ती शोध इन निर्णयो मे कुछ परिवर्तन करे। हम यहा इसी सामग्री के आधार पर चैतन्य सम्प्रदाय के ब्रजभाषा कवियो की तालिका इस रूप मे रख सकते है

सोलहवीं-सत्रहवीं शती के कवि और उनका साहित्य

१	माधवनाथ जगन्नाथी	स० १५४०—	इतिहास कथा-सार खडित अश नारायनलीला जगन्नाथ माहात्म्य ग्वालिन झगरो मदालसा आख्यान परतीति परीच्छा एक हस्तलिखित प्रति मे अन्य ७ लघु रचनाए।	इनका प्रारम्भिक सम्बन्ध माध्व सम्प्रदाय मे माना गया है।
२	आनन्दघन	स० १५५०-१६००	कतिपय पद	
३	श्रीरामराय	स० १५४०-१६२५	आदिवाणी गीतगोविन्द भाषा	इन्हे वल्लभ और चैतन्य दोनो सम्प्रदायो मे सम्बद्ध माना गया है।
४	श्रीसूरदास मनमोहन	स० १५७०—	दशमस्कन्ध अनुवाद ? स्फुट पद	
५	गदाधर भट्ट	स० १५८०—	स्फुट पद लगभग १००	
६	चन्द्र गोपाल	स० १५७२—	चन्द्र चौरासी अष्टयाम-सेवासुधा गौराग-अष्टयाम ऋतु-विहार राधा-विरह	
७-१८	रामरायजी के १२ शिष्य— भगवानदास		इधर-उधर बिखरे लगभग १०० पद	

गरीबदास	शृंगारशतक, आनन्दशतक, वृन्दावनशतक
विष्णुदास	वैराग्यविज्ञान
जुगलदास	भक्तियोग
राधिकानाथ	महावाणी, प्रेमसपुट, राधासुधानिधि, रसबिन्दु
किशोरीदास	कामकलेवर
केशवदास	गुरुपूर्णिमा, वैष्णवभेद, भक्तिवर्धिनी, लोक-दीपिका, क्रोधक्रूरता, तत्त्वत्रयी
मनोहरदास	
लाखादास	श्रीवृन्दावनकल्पद्रुम
मधुसूदनदास	सत्सगपचीसी, प्रेमदर्शन
हरिदास पटेल	
तीर्थराम	द्रव्यदोष, त्याग-तरणी, श्रीहरिलीला, श्रीरसिकाचार्य-चर्चा, ब्रजवास ।

इनमे भगवानदास और राधिकानाथ ही महत्त्वपूर्ण है । इन सबका समय सोलहवी शती का उत्तरार्ध और सत्रहवी शती का पूर्वार्ध है ।

१९	रसिकमोहनराय	सत्रहवी शती पूर्वार्द्ध	रसिक-सेवक वाणी	
२०	नारायणदास	१६००—	एक पद	
२१	नागरीदास ?			
२२	नाथ भट्ट		एक सवैया	
२३	हरिदास	१६१०-१६८०	युगल रस बोधिका	
२४	माधव मुदित	१६२५—		
२५	माधुरी	१६५०-१७१५	सकलन—'श्रीमाधुरी वाणी'	
२६	कृष्णदास	१६४०-१७००	श्रीगोरनाम रस चपू, लघुगोपाल चम्पू भाषा	
२७	भगवत मुदित	१६५०-१७२०	वृन्दावनशतक-टीका, हित चरित्र, सेवक चरित्र, रसिक अनन्य माल	इनका सम्बन्ध राधावल्लभीय सम्प्रदाय से भी जोडा जाता है ।

अठारहवीं शती तथा परवर्ती युग के कवि

सत्रहवी शती के अनन्तर रचना करने वाले चैतन्य सम्प्रदाय के निम्न कवियो को 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य' मे सम्मिलित किया गया है

२८ किशोरदास गोस्वामी, २९ किशोरीदास, ३० गौरगणदास, ३१ वल्लभ रसिक, ३२ गोपाल भट्ट, ३३ तुलसीदास, ३४ मनोहर राय, ३५ जगन्नाथ, ३६ प्रियादास, ३७ चैनराय, ३८ वृन्दाबनचन्द्र, ३९ दामोदरदास, ४० सुबलश्याम, ४१ साधुचरण, ४२ वैष्णवदास

रसजानि, ४३ राधिकादास, ४४ गुणमजरी, ४५ वृन्दावनदास, ४६ नीलसखी, ४७ रामहरि, ४८ रामकृपा, ४९ दक्षसखी, ५० ललितासखी, ५१ गोकुलदास, ५२ ब्रह्मगोपाल, ५३ सदानन्द, ५४ हरिवल्लभ, ५५ चतुर शिरोमणि, ५६ जनदयाल, ५७ श्रीलाल, ५८ लाडिलीदास, ५९ कल्याणराय, ६० गोविन्दचरण, ६१ गौरकृष्ण, ६२ गोपालदास, ६३ हरिदेव, ६४ नन्दकिशोर, ६५ ब्रजकिशोर, ६६ कृष्ण चैतन्य, ६७ ललित किशोरी, ६८ रसलजी, ६९ ललितमाधुरी, ७० ललित लडैती, ७१ हरिचरण, ७२ राधाचरण, ७३ छीतरमल, ७४ राधालाल, ७५ वासुदेव, ७६ शोभनलाल, ७७ बलवतराय सिंधे, ७८ पन्नालाल, ७९ मधुसूदन गोस्वामी, ८० राधाचरण गोस्वामी, ८१ लाल बलवीर, ८२ मनोहरदास, ८३ जगन्नाथदास रत्नाकर, ८४ बनमालीलाल, ८५ कृष्णचरण, ८६ यज्ञदत्त, ८७ प्रियतमलाल, ८८ लालमणि, ८९ बाकेपिया, ९० बालकृष्ण, ९१ कृष्णनददास, ९२ दामोदराचार्य, ९३ कृष्णचैतन्य, ९४ ब्रजरत्नदास, ९५ स्वरूपकृष्ण, ९६ ब्रजभूषणदास, ९७ गौरचरण, ९८ प्रियाशरणदास ९९ यमुनावल्लभ, १०० कृष्णदास बाबा, १०१ मोहिनीदेवी, १०२ रामदास, १०३ जनकृष्ण ।

इनके अतिरिक्त १९ प्राचीन नवीन कवियो का अन्त मे और उल्लेख किया गया है । इन सूचियो मे कई नाम चर्चा भर के लिए सम्मिलित कर लिए गये है । कई की साम्प्रदायिक स्थिति विवादास्पद है । कई रूढ साम्प्रदायिक न होने के कारण एकाधिक सम्प्रदायो से भी सम्बद्ध है । कुछ लोग अन्य सम्प्रदायो के भी हो सकते है । वस्तुत यह ग्रन्थ परिचयात्मक है, अभी इस क्षेत्र मे वैज्ञानिक शोधपूर्ण कार्य होकर निर्णीत मान्यताए स्थापित होनी शेष है । हमारा सम्बन्ध इस कठिनाई से सीधा नही है । हम मोटे रूप मे इस साहित्य को आधार बनाकर इसकी रस-परिकल्पना का अध्ययन करने का उद्देश्य लेकर चले है, अत व्यष्टि-रूप मे इस साहित्य के काल-निर्णय आदि के प्रश्न हम से कुछ दूर पडते है । मोटे तौर पर अपने आलोच्य काल के साम्प्रदायिक कवियो को हम स्वीकार करके चले है ।

यो तो चैतन्य सम्प्रदाय के हमारे आलोच्य काल मे २७ नामो का उल्लेख पीछे हुआ है, किन्तु उनमे सभी महत्त्वपूर्ण नही है । विशेष उल्लेखनीय नाम है माधवनाथ जगन्नाथी, रामराय, सूरदास मदनमोहन, गदाधर भट्ट, चन्द्रगोपाल, भगवानदास, राधिकानाथ, रसिकमोहनराय, माधुरी, कृष्णदास और श्रीभगवत मुदित । माधवनाथ जगन्नाथी, रामराय, भगवतमुदित आदि को अन्य सम्प्रदायो से सम्बद्ध भी समझा जाता है । यह तथ्य इस बात का सकेत देता है कि गौडीय भक्तो ने रूढ साम्प्रदायिक सीमाओ को इन शताब्दियो मे स्वीकार नही किया । चैतन्य महाप्रभु की भाव मधुरता ने व्यापक रूप मे कृष्णोपासको को प्रभावित किया था । इस सम्प्रदाय की यह विशेषता रही है कि इसके अनुयायियो ने चिन्तन के लिए संस्कृत का ही क्षेत्र मुख्यत चुना है । जन-भाषा को प्राय भाव-धारा मे बहने-बहाने के लिए ही रखा है । हिन्दी मे अभिव्यक्ति कम ही हुई है ।

कृष्ण-भक्ति साहित्य मे वल्लभ-सम्प्रदायी काव्य का अपना स्थान है । यो इस सम्प्रदाय मे अन्य भी कुछ कवि हुए है । किन्तु इसके प्रमुख स्तम्भ कवि वे ही है जिन्हे हम अष्टछापी कवि के नाम से जानते है । इन कवियो का समय और प्रामाणिक साहित्य डॉ० दीनदयालु गुप्त के अनुसार 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग १' मे इस प्रकार निर्धारित किया गया है

१	सूरदास	स० १५३५—१६३९	सूरसागर, साहित्य-लहरी, सूर-सारावली
२	परमानन्ददास	स० १५५०—१६४०	परमानन्द-सागर

३	कुभनदास	स० १५२५—१६३९	पद-सग्रह
४	कृष्णदास	स० १५५२—१६३२	पद-सग्रह—अप्रकाशित
५	नन्ददास	स० १५९०—१६३९	रस-मजरी, अनेकार्थमजरी, मान-मजरी, दशम स्कन्ध, श्यामसगाई, गोवर्द्धनलीला, सुदामा-चरित्र, विरह-मजरी, रूप-मजरी, रुक्मिणीमगल, रास-पचाध्यायी, भवर-गीत, सिद्धान्त-पचाध्यायी, पदावली।
६	चतुर्भजदास	स० १५९७—१६४२	पद-सग्रह
७	गोविन्दस्वामी	स० १५६२—१६४२	पद-सग्रह
८	छीत-स्वामी	स० १५६७—१६४२	पद-सग्रह

इन सम्प्रदाय-निष्ठ कृष्ण-भक्त कवियो के अतिरिक्त कतिपय कवि ऐसे भी हे जिन्हे या तो किसी विशेष सम्प्रदाय से आवद्ध नही किया जा सकता, अथवा जिनमे एक से अधिक सम्प्रदायो के प्रति आस्था मिलती है। वस्तुत ऐसे कवि सम्प्रदायो के सीमित दायरे मे बध-कर कृष्ण-भक्ति के मधुर क्षेत्र मे प्रवृत्त नही हुए, अपितु एक भक्त एव भावुक होने के नाते अपने युग मे प्रचलित इस भाव-साधना के क्षेत्र मे आये। मीराबाई, छीहल, कृपाराम, नरोत्तम-दास, निपट निरजन, लक्ष्मीनारायण, बलभद्र मिश्र, गणेश मिश्र, कादिर, मोहन, मुबारक, बनारसीदास, रसखान, व्रजभार दीक्षित, अहमद, भीष्म आदि अनेक नाम इस कोटि के भक्त कवियो के लिये जा सकते है।[1] ये नाम सागान्य कोटि के हे। इनमे दो-तीन नाम ही उल्लेख-नीय हे—मीराबाई, नरोत्तमदास और रसखान। नरोत्तमदासजी का एक 'सुदामाचरित' मिलता है, जो भावुकता ओर रसात्मकता की दृष्टि से सुन्दर रचना है। उसमे भक्ति से काव्य का परिपाक अधिक उभरा हुआ है। इस शोध-प्रबन्ध मे रस-परिकलपना के अध्ययन के लिए इन सभी कवियो को लेना सम्भव भी नही है और इनकी रस-कल्पना कोई अलग स्थान भी नही रखती। हम इन भक्त कवियो मे से अत्यन्त उल्लेखनीय एव अपरिहार्य दो नाम रस-परिकल्पना के लिए पाते है—मीराबाई और रसखान के। अत उपर्युक्त साम्प्रदायिक कृष्ण-साहित्य की रस-परिकल्पना के अध्ययन के साथ इन दो भक्त भावुको की रस-कल्पना भी हमारे अध्ययन का विषय बनी है।

आलोच्य-साहित्य-गत रस-परिकल्पना की पृष्ठभूमि

काव्यशास्त्रीय, भक्ति-दर्शन-सम्बन्धी, भक्ति-काव्यशास्त्रीय . प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे इसी आलोच्य-कालीन हिन्दी वैष्णव साहित्य मे रस-परिकल्पना का अध्ययन करना अभीष्ट है। इसकी रस-परिकल्पना के अध्ययन के लिए हमे दो ओर को दृष्टि डालना अनिवार्य है—एक तो सस्कृत-काव्यशास्त्र की ओर, दूसरे वैष्णव-दर्शनो की ओर जिन्हे हम भक्ति-दर्शन कह सकते है। इस वैष्णव-काव्य मे परिकल्पित रस वही नही है जिसका विवेचन काव्यशास्त्र किया करता है और जो सामान्य रसात्मक साहित्य मे उपलब्ध होता है। इस काव्य मे वह शाश्वत रस कवियो ने समाहित किया है जो वैष्णव-दर्शनो का प्रतिपाद्य है, भक्तो के साधनामय जीवन का परम उपेय है। केवल काव्यशास्त्र की आख से देखने पर वैष्णव-रस का न तो अध्ययन ही हो

---

१ डॉ० रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' के आधार पर।

सकता है, न इस साहित्य के साथ न्याय ही हो सकता है। वैष्णव कवियो ने अपने काव्य मे उसी रस को वाणी दी है जिसका स्वरूप उनके अभिमत साम्प्रदायिक आचार्यों ने उन्हे समझाया है, अथवा विभिन्न भक्ति-ग्रन्थो मे जिसका प्रतिपादन किया गया है।

वैष्णव-रस एक शब्द मे 'भक्ति-रस' है। किन्तु यह वह भक्तिरस है जिस तक केवल काव्य-रसिक की गति नही हो सकती। इस काव्य मे उस नित्य लीलापुरुष का परिगायन है जो स्वय रसमय है, जिसकी लीला रसमय है, और वह काव्य भी रसमय है जिसमे उसकी लीलाओ एव चरितो का परिगायन है। अत इस रस की परिकल्पना को इसके स्रष्टा कवि की मूल चेतना से समझने के लिए हमे विभिन्न सम्प्रदायो की दार्शनिक दृष्टि से रस-तत्त्व को समझना अनिवार्य है। क्योकि इस वैष्णव-काव्य का निर्माण एक-न-एक सम्प्रदाय की छाया मे ही प्रमुखतया हुआ है। दूसरी ओर यह वैष्णव काव्य कोरा भक्ति-साहित्य ही नही एक उच्च कोटि का काव्य भी है। इसमे मानव मन के अनुभूत एव चिर-अभ्यस्त भाव-सस्कारो के उदात्तीकरण की ही साधना है। अत काव्य-रसिक के आस्वादन के लिए भी इसमे पूरा-पूरा अवकाश है। अत एक तो काव्य-रसिक के प्राप्य रस-तत्त्व को समझने के लिए, दूसरे इस काव्य मे निहित रस-परिकल्पना को ठीक से समझने के लिए कि इसमे वस्तुत कौन-सा रस-तत्त्व निहित है और कौन-सा रस काव्य के सामान्य सहृदय को मिलता है, यह आवश्यक हो जाता है कि पृष्ठभूमि के रूप मे दोनो दिशाओ का अध्ययन किया जाय—काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी, और भक्ति-साहित्य की दृष्टि से भी।

वैष्णव-काव्य मे काव्य होने के नाते चाहे दर्शन खुला हुआ न हो, किन्तु इसकी रस-परिकल्पना की मूल चेतना उन विभिन्न वैष्णव दर्शनो मे निहित है जिनका प्रतिपादन विविध साम्प्रदायिक आचार्यों ने किया था। इस दार्शनिक अध्ययन के सन्तुलन के लिए काव्यशास्त्र प्रतिपादित रस का अध्ययन भी दार्शनिक दृष्टि से करने पर ही वैष्णव रस-परिकल्पना का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकेगा। रस-परिकल्पना के निर्माण-पक्ष के स्पष्टीकरण के लिए यदि वैष्णव-दर्शनो की दृष्टि से रस-तत्त्व का अध्ययन आवश्यक है, तो एक काव्य-सहृदय की इस काव्य मे होने वाली अनुभूति को समझने के लिए रस-तत्त्व का निरूपण काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी आवश्यक है।

इसके साथ ही पृष्ठभूमि-रूप मे एक ओर का अध्ययन और अपेक्षित है। चैतन्य-सम्प्रदायी आचार्य रूप-गोस्वामी और जीव-गोस्वामी ने श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि के रूप मे काव्यशास्त्रीय उपलब्धियो का प्रयोग करते हुए जो सुन्दर भक्ति-रस-निरूपण प्रस्तुत किया है, वह भी वैष्णव-रस के किसी भी रसात्मक शास्त्रीय अध्ययन के लिए अनिवार्यत अपेक्षित है। अत वैष्णव-रस की परिकल्पना के अध्ययन के लिए पृष्ठभूमि-रूप अध्ययन की निम्न तीन दिशाए बधती है

१ सस्कृत काव्यशास्त्र मे निरूपित रस-तत्त्व का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन।

२ वैष्णवीय भक्ति-दर्शनो की दृष्टि से रस-तत्त्व का स्वरूप समझना।

३ गोस्वामी आचार्यों की उपलब्धियो का अध्ययन।

इन्ही तीनो दिशाओ की वैष्णव-रस की पृष्ठभूमि को हम काव्यशास्त्रीय, भक्ति-दर्शन-सम्बन्धी तथा भक्ति-काव्यशास्त्रीय—नाम देकर चले हैं। बिना इनके सुचारु अध्ययन के वैष्णव-रस को समझना कठिन है। विषय पर हुआ अध्ययन इस समन्वित दृष्टिकोण से ही सफल हो सकता है। प्रबन्ध मे यही दृष्टि प्रमुख रही है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की योजना

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की योजना के विषय मे कुछ बाते कह देना अप्रासगिक न होगा। इस प्रबन्ध मे सब मिलाकर सात अध्याय है, जिनमे अध्ययन की दिशा, विवेच्य विषय एव निरूपण उसी रूप मे रखा गया है जिस रूप मे इस विषय की रूपरेखा विषय-स्वीकृति के समय आगरा विश्वविद्यालय की 'विद्वत्परिषत्' ने स्वीकार की थी।

उसी स्वीकृत रूपरेखा के अनुरूप अन्तिम उपसहार का अध्याय है, और शेष ६ अध्यायो मे उसका अध्ययन।

प्रारम्भ के दो अध्यायो मे रस-स्वरूप को काव्यशास्त्र और वैष्णव-दर्शनो की दृष्टि से अलग-अलग समझने का प्रयास है। दोनो अध्ययनो को तुलनात्मक बनाने के लिए प्रथम अध्याय के काव्यशास्त्रीय अध्ययन को भी दार्शनिक दृष्टि से ही प्रस्तुत किया गया है। तीसरा अध्याय 'भक्तिकाव्य-शास्त्र मे रस' है तो द्वितीय अध्याय का ही एक सहगामी, किन्तु उसे वास्तव मे दोनो दृष्टियो का मिलन-बिन्दु समझना चाहिए। इस प्रकार तीन अध्यायो मे वैष्णव-रस की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने का प्रयास है, उसको समझने और आस्वादन करने की दिशाओ का स्पष्टीकरण है। वैष्णव-काव्य मे कौन-सा रस-तत्त्व निहित है, यह द्वितीय अध्याय का दार्शनिक निरूपण बताता है, काव्य-सामाजिक के द्वारा अनुभूत रस-तत्त्व को सस्कृत-काव्यशास्त्र के आचार्य किस रूप मे समझाते है, इसका निरूपण भी विभिन्न दर्शनो की पृष्ठभूमि मे है। इस प्रकार इन तीन अध्यायो मे वैष्णव-रस की परिकल्पना के लिए अनिवार्य पृष्ठभूमि-रूप अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

एक चौथा अध्याय स्वय वैष्णव-कवियो की आचार्य-चेतनाओ मे रस का स्वरूप निरूपित करता है। ये भक्त-कवि अपने काव्य मे किस रस-तत्त्व को भरना चाहते है, यह उन्ही के शब्दो मे निरूपित करने का प्रयास किया गया है। साथ ही जहा सम्भव हो सका है, उनकी दृष्टियो का काव्यशास्त्रीय रस के मेल मे रखकर भी निरूपण किया गया है। इस प्रकार चतुर्थ अध्याय के द्वारा वैष्णव-रस की रस-परिकल्पना के निर्मातृ-पक्ष का ही अध्ययन पूर्ण किया गया है।

पाँचवे तथा छठे दो अध्यायो मे क्रमश कृष्णभक्ति-काव्य मे तथा रामभक्ति-काव्य मे रस-परिकल्पना का अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन सम्प्रदायो एव धाराओ मे कवियो को वर्गीकृत करके किया गया है। हमारे आलोच्य काल के वैष्णव कवि प्राय एक धारा-बद्ध रस-दृष्टि लेकर चलते है। अत उनकी रस-परिकल्पना के अध्ययन मे किसी कवि-विशेष का प्रश्न कम ही रह जाता है। फिर भी अनेक कवियो के व्यक्तित्व अपने मे महिमापूर्ण है। उनके व्यक्तित्व की छाप अलग से झलकती है। ऐसे महाकवियो की रस-परिकल्पना पर प्रासगिक रूप से उन-उन सम्प्रदायो की रस-परिकल्पना का अध्ययन करते हुए ही विशिष्ट प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

स्वीकृत रूपरेखा के अनुसार रस-परिकल्पना का व्यावहारिक अध्ययन दो अध्यायो मे ही सीमित किया गया है। अत सामान्य कवियो को छोड दिया गया है और तथ्य-निरूपण का प्रयास अधिक किया गया है। प्रत्येक कवि के काव्यो से उद्धरणो को लेकर कलेवर को बढाने का प्रयास प्राय नही किया गया।

यो चार अध्यायो मे वैष्णव-रस-परिकल्पना की पृष्ठभूमि और दो मे उसके व्यवहृत रूप का अध्ययन अपने मे कुछ अटपटा लग सकता है। किन्तु इस शोध-प्रबन्ध मे अध्ययन की दिशा जान-बूझकर इसी रूप मे रखी गयी है। इस प्रबन्ध का उद्देश्य दो दिशाओ मे अध्ययन करना

है—एक तो काव्यशास्त्र मे निरूपित रस-स्वरूप का दार्शनिक अध्ययन प्रस्तुत करना, दूसरे वैष्णव रस-परिकल्पना का अध्ययन प्रस्तुत करना। इसी दृष्टि मे प्रथम अध्याय मे कुछ विस्तार से काव्यशास्त्र-निरूपित रस का दार्शनिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन मे अपने पी-एच० डी० के लिए किये गये कार्य 'रस-गगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' की उपलब्धियो का उपयोग अवश्य हुआ है, किन्तु यह अध्ययन उससे पर्याप्त आगे बढा हुआ है। इसमे शुद्ध दार्शनिक दृष्टि उभरकर सामने आयी है।

अत एक ओर काव्यशास्त्र-निरूपित रस के दार्शनिक अध्ययन का उद्देश्य, दूसरी ओर वैष्णव दर्शनो की दृष्टि से रस-तत्त्व के निरूपण का उद्देश्य, साथ ही गोस्वामी आचार्यो की मान्यनाओ का पर्यालोचन—यह सब इस प्रबन्ध मे अध्ययन करना अभीष्ट था। इसी कारण वैष्णव-काव्य मे निहित रस-परिकल्पना के व्यवहृत स्वरूप के अध्ययन के लिए दो ही अध्याय प्रस्तुत प्रबन्ध मे रखे गये है।

अन्तिम अध्याय मे उसी रूपरेखा के अनुसार वैष्णव-काव्य मे रस-परिकल्पना पर तुलनात्मक दृष्टिपात तथा इस रस-परिकल्पना के परवर्ती साहित्य मे निहित रस-परिकल्पना पर पडे प्रभाव की रूपरेखा को स्पष्ट करते हुए निष्कर्ष की ओर आया गया है।

दृष्टिकोण इस विवेचन से इस शोध-प्रबन्ध के अध्ययन की दिशा और दृष्टि भी स्पष्ट हो जाती है। हम इसीलिए अपने काल-क्षेत्र और दृष्टि-क्षेत्र मे सीमित रहने का प्रयास करते रहे है, और जो समस्याए अन्यत्र बहु-अधीत हो चुकी है, या जिनका निरूपण-अध्ययन हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक नही है, हमने उनसे बचने का प्रयास ही किया है। उदाहरणस्वरूप वैष्णव साहित्य के काल-निर्णय और प्रामाणिकता का प्रश्न है। इस विषय पर बहुत लिखा जाकर भी कुछ पक्ष अब भी अनिर्णीत है। हमारे प्रमुख अध्ययन मे उन समस्याओ मे बिना उलझे भी काम निकल सका है अत हम उनके विषय मे अन्य विद्वानो की उपलब्धियो का उपयोग करते हुए ही आगे बढे है। यदि हम उन बातो मे फसते तो निश्चय ही अपने उद्देश्य को विशृङ्खल पाते।

वैष्णव-साहित्य के अध्ययन के विषय मे एक बहुत भारी कठिनाई यह है कि उसका बहुत बडा भाग अप्रकाशित है और उन सम्प्रदायाचार्यो के हाथ मे है जो अभी भी उसे प्रकाशित नही कर रहे। जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए है उन पर भी शोध तो सन्देह कर ही सकता है कि अमुक ग्रन्थ मौलिक है, प्रामाणिक है या नही। जो नव-प्रकाश मे लाया हुआ साहित्य है उसके काल और प्रामाणिकता पर इस युग की साम्प्रदायिक रूढ दृष्टि को ध्यान मे रखते हुए सन्देह अस्वाभाविक भी नही कहा जा सकता। पर हमारे पास उसके विश्वास के सिवा तब तक कोई चारा नही जब तक वैज्ञानिक आधार पर उसकी परीक्षा न कर ली जाए। इस शोध-प्रबन्ध की वह प्रमुख दिशा न होने के कारण यहा जो भी उपलब्ध साहित्य है उसी पर विचार को आधारित किया गया है। अनेक कवियो की वाणिया सम्प्रदाय के व्यक्तियो द्वारा प्रकाशित स्वतन्त्र ग्रन्थो या सकलित ग्रन्थो से ही लेनी पडी है।

पर जैसा कि हम अभी इगित कर चुके है, इससे हमारे अध्ययन के निष्कर्षों मे कोई अन्तर नही पड सकता। हम वैष्णव-काव्य मे रस-परिकल्पना का अध्ययन व्यापक दृष्टि से करने चले हैं। यदि कोई कवि समझे हुए काल से दस-बीस साल आगे-पीछे का भी सिद्ध हो, या उसके समझे हुए वचन उसके न होकर उसके सम्प्रदाय के किसी दूसरे व्यक्ति ने भी मिलाये हो, तो भी हमारे अध्ययन मे कोई अन्तर नही पडता। अन्ततोगत्वा वह वाणी उस सम्प्रदाय की मूल चेतना को, मौलिक रस-परिकल्पना को प्रकाशित करती है, और इसी दृष्टि से हमने उसका

उपयोग किया है। जो ग्रन्थ मौलिक रूप मे प्राप्त नही हो सके, उनके उद्धरण भी कभी-कभी दूसरे विद्वानो से ग्रहण किये गये हैं। पर सामान्यत ऐसा बहुत ही कम हुआ है। यथासम्भव हम प्रामाणिक समझी हुई मूल सामग्री पर ही आधारित रहे है। सस्कृत काव्यशास्त्र एव दर्शन के ग्रन्थो मे यह कठिनाई इस रूप मे नही थी। जिन आचार्यो की जो सामग्री नही मिलती, उसके विषय मे तो प्रत्येक शोधक मजबूर है। शेष उपलब्ध सामग्री को मौलिक रूप मे ही प्रयोग मे लाया गया है और प्रमुख आधारभूत ग्रन्थो पर ही अध्ययन को आधारित किया गया है। दूसरो के ऊपर आक्षेप एव उनके मतो के खण्डन की ओर न जाकर अपने मत के प्रस्थापन और अपने अध्ययन को प्रस्तुत करने का ही प्रयास लेखक का रहा है। वैसे भी, इस दृष्टिकोण मे कोई दूसरा अध्ययन न होने के कारण किसी से इस प्रकार टकराने की नौबत भी नही आयी।

आभार-प्रदर्शन

अन्त मे मै उन सभी विद्वानो का हृदय मे आभार प्रकट करना चाहता हू जिनसे साक्षात् रूप मे मैने प्रकाश पाया है, और जिनके अमूल्य ग्रन्थो का अध्ययन करते हुए मै अपने कार्य को सम्पन्न करने मे समर्थ हुआ हू। यहा मै उन अपने कृपालुओ, शुभचिन्तको एव अभिभावको के नाम न देकर ही उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा प्रकट करता हू। वे मेरे गुरु-जन एव गुरुकल्प-जन सदा आराध्य है। उनकी कृपा मुझे सदा प्राप्त है।

और, मै विनीत हृदय से अपने विद्वान् समीक्षको के समक्ष अपने इस लघु प्रयास को लेकर उपस्थित हो रहा हू। सफलता का श्रेय परमपिता की अहैतुकी कृपा को ही है।

—प्रेमस्वरूप गुप्त

हिन्दी वैष्णव-साहित्य
में
रस-परिकल्पना

१

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस

स्वरूप-सम्बन्धी विविध मत एव दृष्टिकोण

सस्कृत काव्यशास्त्र मे रस-स्वरूप के सम्बन्ध मे अनेक आचार्यो की अनेक मान्यताए उपलब्ध होती है। उनके विकास का एक अपना इतिहास है। "रस क्या है ?" इस प्रश्न पर विचार आचार्य भरत से बहुत पहले से ही प्रारम्भ हो गया था, यह तथ्य भरत द्वारा उद्धृत किये गये उन वश-परपरा से प्राप्त हुए आनुवश्य श्लोको पर दृष्टिपात करने से प्रमाणित हो जाता हे, जिन्हे आधार बनाकर भरत ने अपना रस-सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया है। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक अनेक प्रतिभावान् विद्वानो ने इस समस्या के समाधान प्रस्तुत किये है, जिनमे से कई सर्वथा मौलिक मान्यताओ की प्रतिष्ठा करते हैं।

सस्कृत काव्यशास्त्र मे हुए रस-चिन्तन पर एक सरसरी दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस का प्रश्न पहले-पहल नाट्य के सन्दर्भ मे उठाया गया, फिर कुछ आचार्यो ने उसे काव्य के सन्दर्भ मे भी सोचना प्रारम्भ किया। इन आचार्यों मे प्रमुखता अलकारवादी आचार्यो की थी। कई शताब्दियो तक यह प्रश्न दर्शन के परिवेश से दूर ही रहा। धीरे-धीरे उसमे दर्शन का समावेश हुआ। यह कार्य नाट्यशास्त्र के टीकाकारो द्वारा प्रारम्भ हुआ। आठवी शती से तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रश्न एक दर्शन का सा प्रश्न बन गया। यह स्वाभाविक ही था। रस का प्रश्न अनुभूति के या कहिए चेतना के एक विशिष्ट स्तर के विश्लेषण से सम्बन्ध रखता है। अत विना दर्शन की सहायता के उसे हल करना कठिन ही था। आज के कतिपय विद्वान् उसे मनोविज्ञान के सहारे सुलझाते है। पर भारतीय दृष्टि मे मनोविज्ञान भी दर्शन के बाहर की वस्तु नही रहा।

आठवी शती से आगे के रस-चिन्तन पर दर्शन की बहुत गहरी छाप है। सत्य तो यह है कि जब तक किसी रस-चिन्तक आचार्य की दार्शनिक आधार-भूमि का सकेत न मिल जाय तब तक उसका इस विषय मे क्या ववतव्य है, यह जानना भी असम्भव हो जाता है। बिना इन दार्शनिक आधार-भूमियो को पहचाने उनके सम्बन्ध मे निकाले निष्कर्ष भी निर्भ्रान्ति नही हो पाते। अत यह नितान्त आवश्यक है कि सस्कृत काव्यशास्त्र मे हुए रस-स्वरूप सम्बन्धी चिन्तन को ऐतिहासिक दृष्टि की अपेक्षा दार्शनिक दृष्टि से अधिक समझा जाय। इस दृष्टि को प्रमुखता देकर चलने पर यह अनिवार्य नहीं रह जाएगा कि सस्कृत आचार्यों के चिन्तन पर काल-क्रम से ही विचार किया जाए। हमे इस चिन्तन को विभिन्न दर्शनो के अनुरूप वर्गीकृत करना होगा। सस्कृत काव्यशास्त्र के समस्त रस-चिन्तन को हम सामान्यत दो वर्गो मे रखकर चल सकते है—एक दर्शन-निरपेक्ष, दूसरे दर्शन-सापेक्ष। दर्शन-सापेक्ष विवेचन मे हम उन दर्शनो के आधार पर उपवर्ग बना सकते हैं जिनका विभिन्न चिन्तको ने रस-स्वरूप का समाधान खोजते समय उपयोग किया है।

यहा एक बात और उल्लेखनीय है । हम यहा सस्कृत काव्यशास्त्र के कुछ प्रमुख आचार्यों की मान्यताओ को ही ले सकेगे । यो तो सस्कृत काव्यशास्त्र आचार्यो की एक लम्बी परम्परा लिये है। टीका-प्रटीकाओ के रूप मे अनेक छोटे-बडे आचार्यों के विचार रस-विषय पर मिलते है। सबमे कुछ न कुछ दृष्टि-भेद भी मिल सकता है । पर उन सब पर विचार करना न तो यहा सम्भव है, और न अभीप्ट ही । अपने प्रबन्ध के उद्देश्य को ध्यान म रखकर हमारे लिए यही आवश्यक है कि हम उन्ही आचार्यो के विचारो तक सीमित रहे, जिनके विचार उल्लेखनीय हो या जिनके विचारो का विश्लेषण करके हम कुछ उल्लेखनीय निष्कर्ष निकाल सके ।

इस दृष्टि से सस्कृत काव्यशास्त्र मे हुए रस के स्वरूप-सम्बन्धी निरूपण को निम्न रूप मे रखकर हम यहा चलेगे

क— दर्शन-निरपेक्ष निरूपण

भरत-पूर्ववर्ती रस-स्वरूप
भरत-निरूपित रस-स्वरूप
अलकारवादी आचार्यो द्वारा निरूपित रस-स्वरूप
भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट

ख—दर्शन-सापेक्ष निरूपण

—लोल्लट का रस-निरूपण और दर्शन का समावेश

१ न्याय-दर्शन और रस

क—बौद्ध न्याय
शकुक
महिमभट्ट

ख—वैदिक न्याय
आचार्यो द्वारा रस-निरूपण मे न्याय का प्रयोग
रसगगाधरस्थ नवीन मत

२ साख्य-दर्शन और रस

अभिनवभारती मे साख्यवादी मत

३ मीमांसा-दर्शन और रस

धनिक और धनजय

४ शैव-दर्शन और रस

द्वैतवादी काश्मीरी शैव-दर्शन———भट्टनायक
अद्वैतवादी काश्मीरी शैव-दर्शन———अभिनवगुप्त, मम्मट
भोज ?

५ वेदान्त-दर्शन और रस

विश्वनाथ
पण्डितराज जगन्नाथ

इस मोटी-सी रूपरेखा को स्वीकार करके हम सस्कृत काव्यशास्त्र मे निरूपित रस-स्वरूप का परिचय पा सकते है। यहा हमने अति प्रमुख आचार्यों का ही उल्लेख किया है और उन्हे उनकी दार्शनिक चेतना के अनुरूप वर्गीकृत किया है। जिस दर्शन का रस-व्याख्या मे प्रभावपूर्ण प्रयोग हुआ है उसी के अन्तर्गत किसी आचार्य को रखा गया है, भले ही उसने एकाधिक

दर्शनो की मान्यताओ का उपयोग किया हो।

निरूपण के इस ढाचे को स्वीकार करते हुए हम आगे बढ सकते है।

दर्शन-निरपेक्ष रस-निरूपण

आज सस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे भरत के नाट्यशास्त्र से पूर्व का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। नाट्यशास्त्र मे अनेक प्रकार की पूर्ववर्तिनी मान्यताए विविध विषयो पर गुथी हुई मिलती है। इन सभी विषयो का केन्द्र है अभिनय। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के ग्रथन के अनुरूप ही रस की समस्या पर विचार भी अभिनय-परक दृष्टि से ही हुआ है। अलकारवादी आचार्यो के निरूपण मे नाट्य की अपेक्षा पठ्य काव्य दृष्टि के सामने है। पर उनकी प्रेरणा के मूल स्रोत भरत ही प्राय रहते है।

प्रारम्भिक शताब्दियो के इस रस-स्वरूप मे स्थूल व्यावहारिक दृष्टि की प्रधानता है। इसमे दर्शन का सस्पर्श नही है। अत इस काल के अनेक आचार्यो की रस-दृष्टि मे पर्याप्त भेद होते हुए भी हम उन सबके विचारो को एक दर्शन-निरपेक्ष वर्ग मे रख सकते है।

भरत-पूर्ववर्ती रस-स्वरूप

जैसा कि हम कह चुके है, भरत से पूर्व का कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ आज उपलब्ध नही। तथापि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के छठे-सातवे अध्यायो मे अपना रस-भाव विवेचन करते समय अनेक पूर्ववर्तिनी बाते आनुवश्य श्लोको के रूप मे प्रस्तुत की है। ये आनुवश्य श्लोक आर्या तथा श्लोक वृत्तो मे है और इनकी सख्या लगभग १३२ है।[1] इन्हे देखने से पता चलता है कि भरत ने किस प्रकार अपनी पूर्ववर्तिनी धारणाओ को ही व्यवस्थित करके अपना रस-स्वरूप निर्धारित किया है। इन आनुवश्य श्लोको मे हम भरत-पूर्ववर्ती युग की रस-चेतना का एक बहुत स्पष्ट रूप पाते है। रस की समस्या से सम्बन्धित अनेक बातो पर इनमे प्रकाश पडता है।

रस-स्वरूप के सम्बन्ध मे इस सामग्री मे निम्न श्लोक उपलब्ध होते है

"यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यजनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुजाना भक्त भक्तविदो जना ॥
भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावास्तथा बुधा ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसा स्मृता ॥" अ० ६, श्लो० ३२-३।
"योऽर्थो हृदयसवादी तस्य भावो रसोद्भव ।
शरीर व्याप्यते तेन शुष्क काष्ठमिवाग्निना ॥" अ० ७, श्लो० ७।

भरत ने अपना रस-स्वरूप अपने पूर्व की इसी मान्यता के ऊपर स्थिर किया है। भरत के शब्द इन आनुवश्य श्लोको के व्याख्यान भर है। अत भरत-पूर्ववर्ती रस-स्वरूप तथा भरत के रस-स्वरूप को एक ही करके देखा जा सकता है। इन पूर्ववर्ती श्लोको की व्याख्या भी भरत की दृष्टि को छोड किसी अन्य दृष्टि से नही की जा सकती। इनकी चेतना के समीप जितने भरत थे उतने परवर्ती आचार्य नही, इसमे सन्देह नही किया जा सकता। अत इन पर अलग से विचार करना आवश्यक नही। भरत के सम्बन्ध मे निकाले गये निष्कर्ष उनके पूर्ववर्ती युग के

---

१ रस-सिद्धान्त की भरत-पूर्ववर्ती रूपरेखा', जन-भारती, रस-अक, सख्या २०१७, वर्ष ८, अक ४।

विषय मे भी समान रूप मे समझे जा सकते है। जहा अन्तर या विशेषता होगी, हमे देखने का अवसर मिलेगा।

भरत का रस-स्वरूप

आचार्य भरत ने रस का स्वरूप इन शब्दो मे निरूपित किया है

"विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति ।

को दृष्टान्त ? अत्राह—यथा हि नानाव्यजनौषधिद्रव्यसयोगाद् रसनिष्पत्ति, तथा नानाभावोपगमाद् रसनिष्पत्ति । यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यजनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति ।

अत्राह—रस इति क पदार्थ ? उच्यते—आस्वाद्यत्वात् ।

कथमास्वाद्यते रस ? यथा हि नानाव्यजनसस्कृतमन्न भुजाना रसानास्वादयन्ति सुमनस पुरुषा हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यजितान् वागगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावाना-स्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति, तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याता ।"[1]

भरत के अनुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावो के साथ स्थायी भावो का सयोग होने पर रस निष्पन्न होता है। इस बात को वे पाक-रस का दृष्टान्त सामने रखकर समझाते है। गुडादि द्रव्यो, दधि आदि व्यजनो[2] और सोठ-इलाइची आदि ओषधियो के सयोग से भात-रोटी आदि भोज्य पदार्थो के अपने स्वाद[3] रस बन जाते है, इसी प्रकार विभावादि के सयोग से स्थायी भाव रस बन जाते है। पाक-रस के इस निदर्शन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भरत का रस एक आस्वाद्य पदार्थ है, आस्वादन-कर्ता की चेतना नही। वे रस-पद की व्युत्पत्ति भी इसी दृष्टि से करते है—"रस इति क पदार्थ ?" रस इस शब्द का क्या अर्थ है ? उत्तर है -"आस्वाद्यत्वात् ।" अर्थात् रस्य या आस्वाद्य होने के कारण इसे 'रस' कहते है। इस प्रकार भरत के अनुसार रस शब्द की निरुक्ति हुई—"रस्यते, आस्वाद्यते इति रस ।" जिन्हे निरुक्तकार की शैली से परिचय है, वे भरत के शब्दो का मन्तव्य सहज समझ सकते है। इस प्रकार भरत का रस एक विषयात्मक पदार्थ है।

१ नाट्यशास्त्र, भाग १, अध्याय ६, पृ० २७२, २८७–८ ।

२ व्यजन के अन्तर्गत दही, दाल, शाक, खारी अर्थात छुहारा या छुहारे की सोठ आदि जैसे पदार्थ लिये जाते है, जिनके सयोग से चावल-रोटी आदि भोज्य पदार्थों के निजी स्वाद और निखर जाते हैं। यहा भरत की दृष्टि में पाक-रस में भक्त या भात का उदाहरण प्रतीत होता है। उसे ध्यान में रखकर व्यजन का अर्थ दधि लिया गया है। गुड, दही, और सोठ-इलाइची आदि को मिलाकर शिखरन बना कर उसके साथ चावलों को आज भी भारत के अनेक भागों में खाया जाता है। अभिनव ने इस शिखरन को ही दधिकाजी कहा है। व्यजन शब्द के विशेष विवेचन के लिए देखिए—'रस-गगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' पृ० १०८। आन्ध्र और कर्नाटक के एक बडे भाग में आज भी 'व्यजन' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। वहा भोजन 'भक्त' चावल है, उसे अन्न माना जाता है और चावल के साथ उपयोग में लाये जाने वाले दही, दाल, साभर आदि 'व्यजन'। सम्भावना की जा सकती है कि उक्त मूल श्लोकों का प्रणयन या तो किसी दाक्षिणात्य विद्वान् द्वारा हुआ था, या फिर व्यजन और अन्न शब्दों का उक्त अर्थ आज दक्षिण के कुछ प्रदेश में तो वैसा ही बना रहा, अन्यत्र देश में विस्तार पा गया।

३ यहा भरत के 'षाडवादि' शब्द का अर्थ 'भोज्य पदार्थों के अपने विशिष्ट स्वाद' लिया गया है। वैसे षाडव शब्द का अर्थ है एक गान-विशेष जिसमें छहों स्वरों का योग रहता है। मेदिनी-कोशकार इसे रस का पर्यायवाची भी मानते है। शब्दकल्पद्रुम, का० ५, पृ० १९३। विशेष के लिए देखिए—'रस गगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० १०८, टि० ३।

इस पदार्थ-रूप रस की निष्पत्ति का अर्थ भी आस्वादन नहीं, उत्पत्ति है । पाक-रस जैसे निष्पन्न अर्थात् पदार्थ रूप मे उत्पन्न होता है, वैसे ही यह रम भी उत्पन्न होता है। अपने विवेचनो मे निष्पत्ति के स्थान पर उत्पत्ति शब्द का प्रयोग भरत ने अनेकत्र खुलकर किया है।[1]

यहा एक प्रश्न उठता है, भरत के इस वस्तु-रूप रस की अवस्थिति कहा है ? जब उनका रस वस्तु-रूप है, तो उसको सामाजिक मे तो माना नही जा सकता। विषय पक्ष मे उसकी तीन जगह सम्भावना की जा सकती है—अनुकार्य रामादि मे, अनुकर्ता नट मे, नाट्य मे। भरत ने यहा इस समस्या का स्पष्टीकरण नही किया, न अन्यत्र ही किन्ही स्पष्ट शब्दो मे इसे उठाया है। परन्तु उनके समस्त विवेचनो पर सामजस्यात्मक दृष्टि डालने से यही प्रतीत होता है कि वे विभावादि-व्यजित स्थायी रूप रस की अवस्थिति नाट्य मे मानते हे।[2] यहा भी वे उसे इसी दृष्टि से नाट्य-रम कहकर चलते है—"तस्मान्नाट्यरसा स्मृता ।" "तस्मान्नाट्य-रसा इत्यभिव्याख्याता ।"

जिस प्रकार पाक-रस समस्त भोजन मे परिव्याप्त होता है, उसी प्रकार नाट्य-रस भी समस्त नाट्य मे परिव्याप्त होता है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी तीनो ही स्थायी भावो को नाट्य मे परिव्याप्त करते है। इस प्रकार विभावादि परिव्यापक या भावक तत्त्व हैं[3], स्थायी परिव्याप्य या भाव्य, और नाट्य परिव्यापन-भूमि। इस प्रकार भरत का रस एक नाटकीय भावात्मक परिस्थिति (Dramatic Emotional Situation) है, जिसका आस्वादन मामाजिक करता है और हर्षादि भावो की उपलब्धि करता है।

और, इस आस्वाद्य पदार्थ-रूप रस का आस्वादन किस प्रकार होता है, भरत अब इस प्रश्न की ओर आते है—"कथमास्वाद्यते रस ?" रस के आस्वादन को निष्पत्ति से अलग करके विवेचित करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत की निष्पत्ति आस्वादन से भिन्न है। जिस प्रकार नाना व्यजनो से सस्कृत भात-रोटी आदि पदार्थों को खाने वाले सुमनस् लोग पाक-रसो का आस्वादन करते है, और हर्षादि को प्राप्त करते है, उसी प्रकार सुमनस् प्रेक्षक भी विविध विभावादि से व्यजित या सस्कृत स्थायी भावो को जो कि उनके समक्ष वाचिक, सात्विक, आगिक अभिनयो से युक्त होकर आते है, आस्वादन करते है तथा हर्षादि की प्राप्ति करते है। भरत कहते है, रसो की इन विशिष्टताओ के कारण ही उन्हे नाट्य-रस कहा जाता है।

---

१ ना० शा०, अ० ६, रसों का विवेचन।

२ 'भरत के रस की अवस्थिति'
'चार मूल रस' अभिनवभारती।

३. भरत का 'भाव' शब्द आज से बहुत व्यापक है। उसका प्रयोग चित्तवृत्तिरूप भावों के लिए भी हुआ है, और विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, सात्विक तथा स्थायी सभी के लिए भी। इसी व्यापक दृष्टि के कारण भरत ने सातवें भावाध्याय में इन सभी विषयो का निरूपण किया है। 'भाव' को इस व्यापक अर्थ में अपनाते हुए ही भावाध्याय के प्रारम्भ में उन्होंने भाव का लक्षण इस प्रकार किया है

"भावा इति कस्मात् ? कि भवन्तीति भावा , किंवा भावयन्तीति भावा ? उच्यते—वागगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा इति। भू इति करणे धातु , तथा च भावित वासित कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च प्रसिद्धम्—अहो. ह्यनेन गन्धेन रसेन व सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्।" ना० शा० भा० १, पृ० ३४३-५। अ० ७

यहा स्पष्ट ही भावों को करणार्थक भू धातु से निष्पन्न मानकर व्याप्त्यर्थक माना गया है।
विशेष के लिए देखिए—'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० ११०–२।

भरत के इस विवेचन से हम निम्न निष्कर्षो पर पहुचते है

१ भरत का रस नाट्य-रस है, अर्थात् नाट्य मे परिव्याप्त है। वह एक नाटकीय भावात्मक परिस्थिति (Emotional Situation) है। इस प्रकार रस एक आस्वाद्य पदार्थ है। उसकी स्थिति विषय-रूप है।

२ विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियो के साथ सयुक्त होकर अर्थात् इनमे सरक्त या व्यजित होकर स्थायी भाव ही रस बन जाते है। रस विभावादि सामग्री द्वारा नाटय मे परि-व्याप्त स्थायी भाव है। यही रस-निष्पत्ति है, जो कि उत्पत्ति का पर्याय है।

३ प्रसन्नमन सामाजिक इन नाट्य-रसो का आस्वादन करता है, और हर्षादि की उपलब्धि करता है। रस और आनन्द पर्यायवाची नही, आनन्द रसास्वादन का फल है।

४ भरत के अनुसार प्रेक्षक सुमनस् होना चाहिए। शोक-क्लान्त व्यक्ति न तो पाक-रस के आस्वादन से हर्ष पा सकता है, न ही नाट्य-रस के मे।

५ नाट्य-रसो के आस्वादन से केवल हर्ष की ही प्राप्ति नही होती। भरत 'हर्षादि' की प्राप्ति कहते है। इसका अर्थ है वे यह मानते है कि नाट्य मे प्रेक्षक को यथाप्रसग हर्ष-शोक की विविध अनुभूतिया होती है, किन्तु उनमे प्रधानता हर्ष की होती है।

६ प्रेक्षक के आस्वादन का विश्लेषण करते हुए भरत ने किसी प्रकार की दार्शनिक सहायता नही ली। आनुवश्य श्लोको मे कहा गया है—"आस्वादयन्ति मनसा" कुशल प्रेक्षक स्थायि-भावो को मन से अर्थात् मानसेन्द्रिय से आस्वादित करते है। यह बात भी बडे सामान्य ढग से कही गयी है, किसी दर्शन का सहारा लेकर नही।

सक्षेप मे, भरत-पूर्ववर्ती आचार्यो तथा भरत के रस का स्वरूप है—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियो के द्वारा नाट्य मे परिव्याप्त स्थायी भाव। प्रेक्षक इसी नाट्य-परिव्याप्त रस का आस्वादन करता हुआ हर्षादि पाता है। सामाजिक के आस्वादन की दृष्टि से यह रस नाट्य-निष्ठ होने के कारण विषय-रूप या पदार्थ-रूप है। भरत और उनके युग ने इस रस और उसके आस्वादन की व्याख्या मे किसी दर्शन का सहारा नही लिया। उनका निरूपण सर्वथा दर्शन-निरपेक्ष रहा।

अलकारवादी आचार्य

रस के इतिहास मे भरत से कुछ आगे बढने पर हमे कुछ अलकारवादी आचार्यो के दर्शन होते है, जिनमे भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट के नाम प्रमुख है। इन आचार्यो की रस-चेतना मे पर्याप्त अन्तर है, तथापि कुछ बात समान भी है। ये आचार्य रस को प्रमुखतया पठ्य काव्य के सन्दर्भ मे देखते है, उसे अलकार-रीति-गुण आदि के साथ मिलाकर समझना चाहते है, तथा किसी दर्शन का उपयोग भी आवश्यक नही समझते। ये लोग अपने युग की चेतना तथा भरत की मान्यताओ से विभिन्न रूपो मे प्रभावित हुए हैं। हम यहा उनकी दृष्टि से रस का स्वरूप समझने का प्रयास करेगे।

भामह

भामह रस को अलकार-चारुत्व मे अन्तर्भूत करते हुए 'रसवदलकार' कहते हैं। वे केवल विभाव-विधान मे ही रस मानते प्रतीत होते है। उन्होने रसवद् का स्वरूप इस प्रकार दिखाया है

"रसवद् दर्शितस्पष्टश्रृगारादिरसोदयम् ।
देवी समागमद् धर्ममस्करिण्यतिरोहिता ।।"

भामह के अनुसार रसवदलकार वहा होता है जहा श्रृगारादि रसो की स्पष्ट रूप मे उत्पत्ति दिखायी पडती हे । उदाहरण है—धर्मवेष को धारण किये हुए देवी अतिरोहित अर्थात् बिना किसी पर्दे आदि के उपस्थित हुई ।

भामह के इस उदाहरण मे न कोई आश्रय हे, न कोई सचारी, न कोई उद्दीपन, और न किसी अनुभाव की योजना । देवी के रूप मे केवल विभाव का उल्लेख भर है, और इसी के आधार पर भामह यहा श्रृगार रसवद् मानते है ।

भामह का यह दृष्टिकोण भरत-विरोधी हे । भामह केवल विभाव-विधान मे रस मानते हे, जबकि भरत विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी सबको अपेक्षित समझते है । भामह सम्भवत उस वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं जो अभिनव और पण्डितराज के उल्लेखो के अनुसार केवल विभाव-विधान मे ही रस-निष्पत्ति मानता है ।[1] पण्डितराज इस वर्ग को भरत-विरोधी मानते है ।[2] भामह स्पष्ट रसोदय की मान्यता सामने रखकर अपने युग के अनुरूप उत्पत्तिवाद का ही समर्थन करते है । वे ध्वनिवाद की स्थापनाओ से अपरिचित है । रस को वे इसीलिए स्पष्ट-दर्शित कह सके है । भामह ने सहृदय की अनुभूति मे सम्बन्धित समस्याओ का स्पर्श नही किया, अत उन्हे किसी दर्शन का सहारा इस विषय मे लेना आवश्यक नही हुआ ।

दण्डी

दण्डी भी भामह के समान ही रस को रसवदलकार के अन्तर्गत रखते है, किन्तु वे भरत-विरोधी नही, अपितु भरत के समान ही विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी की समग्रता मे रस परिपोष मानते हे । उनकी रस-चेतना भामह से बहुत जागरूक है । वे आचार्य ही नही, एक रस-सिद्ध कवि भी थे । अत जो उदाहरण रसवद् के उन्होने दिये है उन्हे आज भी ध्वनिवाद की दृष्टि से भी व्यजना-परक रस के उदाहरण कहा जा सकता हे । किन्तु दण्डी की आचार्य-चेतना यह नही जानती कि उनके उदाहरणो मे ध्वनि भी है ।

दण्डी के अनुसार काव्य के दो मार्ग हे—वैदर्भ और गौड । इनमे प्रथम इष्ट है । वैदर्भ मार्ग मे श्लेष, प्रसाद, समता आदि दस गुण उसके प्राणरूप है । इनमे मधुर गुण का सम्बन्ध रस से है । वे काव्य मे रस की महत्ता से पूर्ण परिचित हैं ।[3]

दण्डी ने रस का लक्षण तो नही किया किन्तु सभी रसो के काव्यात्मक उदाहरण प्रस्तुत करके उनका विश्लेषण करते हुए यह दिखाया हे कि विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी सामग्री के द्वारा परिपुष्ट होकर स्थायी रत्यादि भाव ही श्रृगारादि रसो के रूप मे परिणत होते है ।[4] इस प्रकार दण्डी भी रस के उत्पत्तिवाद को मानते है । भरत ने जिस प्रकार रस को नाट्य-निष्ठ माना

---

१. "अन्ये तु शुद्ध विभाव रसमाहु" ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १८६ ।
"भाव्यमानो विभाव एव रस इत्यन्ये ।" रसग०, पृ० २८ ।

२. "तदेव पर्यवसितमित्रेषु मतेषु सूत्रविरोध"। रसग०, पृ० २८ ।

३. काव्यादर्श १ । श्लो० ४०–२, ५१ ।

४. वही २ । श्लो० २८०–७ । २८२ तथा २८५ ।

उसी प्रकार दण्डी उसे काव्य-निष्ठ समझते है। काव्य-वचनो को उन्होने स्पष्ट ही 'रसवद्' कहा है,[1] और उनके वे कथन औपचारिक नही है।

अभिनवगुप्त ने लोल्लट तथा दण्डी को एक ही वर्ग मे दिखाया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार लोल्लट विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी सामग्री से परिपुष्ट स्थायी भाव को रस कहते है, उसी प्रकार दण्डी भी सामग्री-परिपुष्ट स्थायी को रस कहते है

"चिरन्तनाना चायमेव पक्ष। तथाहि दण्डिना स्वालकारलक्षणेऽभ्यधायिरति शृगारता गता, रूपबाहुल्ययोगेनेति, इत्यारुह्य परा कोटि कोपो रौद्रात्मना गत इत्यादि च।"[2]

इस प्रकार विभावादि से परिपुष्ट स्थायी को रस कहने मे दण्डी और लोल्लट दोनो समान है। किन्तु अभिनव ने इस साम्य को दिखाकर इनके अन्तर का उल्लेख नही किया। जहा तक उत्पत्तिवाद का सम्बन्ध है—भरत, भामह, दण्डी, लोल्लट सभी रसोत्पत्ति मानते है। भरत, दण्डी, लोल्लट तीनो सामग्री की समग्रता मे उपचयवाद स्वीकार करते है। किन्तु भरत का उपचित रस नाट्य-निष्ठ है, दण्डी का काव्य-निष्ठ, लोल्लट का अनुकार्य-निष्ठ। अवस्थिति की दृष्टि से तीनो के दृष्टिकोण मे अन्तर है। दण्डी की प्रेरणा के स्रोत भरत है। वे भरत के सिद्धान्त को ही नाट्य की अपेक्षा पठ्य काव्य मे लागू करके चलते है।

इस प्रकार दण्डी के अनुसार विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी से परिपुष्ट हुए काव्य-निष्ठ स्थायी भाव ही रस है। ये रसवदलकार मे आते हैं। सामाजिक की अनुभति की समस्या दण्डी ने भी नही उठायी। उन्होने भी अपनी किसी रस-सम्बन्धित मान्यता की व्याख्या के लिए कही किसी दर्शन का प्रयोग नही किया। दण्डी का रस भी भरत के समान ही वस्तु-रूप है।

उद्भट

उद्भट ने रस का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है

"रसवद् दर्शितस्पष्टशृगारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायिसचारिविभावाभिनयास्पदम्।"[3]

इस लक्षण का पूर्वार्ध भामह से लिया हुआ है। उद्भट भामह और दण्डी के समान ही रस को रसवदलकार कहते है तथा रसोत्पत्ति मानते है। किन्तु जहा भामह ने केवल विभाव-विधान मे रसोदय माना था, उद्भट रसोदय के लिए पाँच बाते सामने रखते है

१ स्वशब्द से रस का अभिधान। २ स्थायी भाव का निरूपण।
३ सचारी भावो का विधान। ४ विभावो का विधान।
५ अभिनय अर्थात् अनुभावो की योजना।

इस प्रकार भामह के काव्य-परक दृष्टिकोण को अपनाकर उद्भट काव्य मे रसोदय के लिए भरत की सामग्री को स्थान देते हैं। वे अभिधावादी दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित होकर स्वशब्दाभिधान मे भी रसोदय की सम्भावना समझते है। भामह का व्यक्तित्व तथा भरत का व्यक्तित्व दोनो ही उद्भट को प्रभावित करते है। उद्भट ने एक ओर नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी, दूसरी ओर भामह के काव्यालकार पर 'भामहविवरण'। उद्भट के रस-स्वरूप मे

---

१ काव्यादर्श २। श्लो० २८२-२८५। "रसवत्व गिरामासा" "तदिद रसवद्वच."।

२ अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७४।

३ काव्यालकारसारसग्रह उद्भट अ० ४।४।

इसीलिए भरत और भामह का प्रभाव अपने युग की सापेक्षता मे प्रकट हुआ है। उन्होने भी किसी दर्शन को नही अपनाया।

वामन

वामन ने रस के प्रश्न को स्थान-निर्धारण की दृष्टि से ही उठाया है, स्वरूप-विवेचन के विषय मे वे मौन है। किमी दर्शन के प्रयोग का अवसर वामन के सामने नही आया।

दण्डी ने रसो का सम्बन्ध वैदर्भ मार्ग के प्राण-भूत गुणो के साथ स्थापित तो किया था, किन्तु उन्होने उन्हे अलकार क्षेत्र से बाहर नही निकाला था। दण्डी ने रसो को रसवदलकार ही कहा था। वामन ने इस मान्यता मे परिष्कार किया। उन्होने ऐसी रीति को काव्य की आत्मा कहा जो विभिन्न गुणो से विशिष्ट थी। और, इन्ही गुणो मे से एक 'कान्ति' नामक गुण से रसो का सम्बन्ध जोडा।[1] यद्यपि वामन काव्य मे दीप्तरसता की बात करते है, किन्तु उन्होने अपने विवेचन मे केवल एक शृगार का उदाहरण देकर प्रसग को चलता कर दिया है। इससे उनकी रस-विषयक उपेक्षा परिलक्षित होती है। इसी उपेक्षा के कारण वे अन्य अलकारवादियो के साथ एक वर्ग मे रखे जाते हैं।

रुद्रट

जहा तक रस-विवेचन के विस्तार का प्रश्न है, रुद्रट ने सभी अलकारवादी आचार्यो की अपेक्षा रस-विषय का विस्तृत विवेचन किया है। रस के भेदो-प्रभेदो, उसके नायक-नायिका-भेदादि की विस्तार से चर्चा की है। रस-सख्या के विषय मे उन्होने भरत-मान्य आठ रसो के साथ शान्त और प्रेयान् को भी रस माना है। साथ ही वे यह भी प्रतिपादित करते है कि न केवल स्थायी भाव ही, अपितु विभावादि सामग्री से परिपुष्ट होकर निर्वेदादि व्यभिचारी भाव भी रस-कोटि तक पहुच जाते है, अत वे सभी रस है।[2]

रस के स्वरूप के विषय मे रुद्रट का कोई उल्लेखनीय दृष्टिकोण सामने नही आता। सामान्यत वे भरत का ही अनुगमन करते है। जैसे भरत ने रस्यमानता के आधार पर रसो को रस कहा है, वैसे ही रुद्रट ने भी माना है।[3] भरत के समान ही रुद्रट विभिन्न रसो मे विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी की समग्रता अपेक्षित समझते है। रुद्रट रस को अलकार-क्षेत्र से अलग करके देखते है। वे उसे रसवदलकार कहकर नही चलते। उनके विवेचन मे सर्वाधिक विस्तार शृगार को ही मिला है।

रुद्रट का रस भी पाक-रस के समान काव्य-निष्ठ होता हुआ वस्तु-रूप है।[4] कवि रसो को विभावादि सामग्री का विभाग करके अपने काव्य मे सनिविष्ट कर सकता है।[5] सामाजिक की अनुभूति की समस्या को रुद्रट ने भी नही उठाया, और न ही किसी दर्शन का सहारा

---

१ बामन काव्यालकारसूत्र ३।२।१, ३।२।

२. काव्यालकार रुद्रट अ० १२ श्लो० ३४।

३. "रसनाद्रसत्वमेतेषा मधु.ादीनामिवोक्तमाचार्यै ।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेपि रसा।" वही १२।४।

४ वही . १२।४।

५. "एते रसा रसवतो रमयन्ति पुसः सम्यग् विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्य काव्य विधातुमलमत्र तदाद्रियेत।" वही १५।२१।

लिया है।

समीक्षा इस प्रकार हम देखते है कि भरत-पूर्ववर्ती आचार्यो तथा भरत के समान ही इन अलकारवादी आचार्यो का रस भी वस्तु-रूप रहता है। अन्तर केवल इतना ही है कि भरतादि आचार्य उसे नाट्य-निष्ठ सोचते है, ये आचार्य काव्य-निष्ठ। इस दृष्टिकोण को, जो कि उस युग का प्रचलित दृष्टिकोण था, रुद्रभट्ट ने अपने शृगारतिलक मे बडे ही स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया है

"प्रायो नाट्य प्रति प्रोक्ता भरताद्यै रसस्थिति ।
यथामति मयाप्येषा काव्य प्रति निगद्यते ॥"[1]

"भरतादि आचार्यो ने रस की स्थिति प्राय नाट्य-निष्ठ बनायी है।
मै यथामति उस रसस्थिति को काव्य-निष्ठ रूप मे प्रस्तुत कर रहा हू।"

अलकारवादी आचार्यो ने रस के आस्वादन का प्रश्न नही उठाया। यदि भरत के शब्दो को अपना ले तो कह सकते है कि वे काव्य-रस की निष्पत्ति तक सीमित रह, उसके आस्वादन की समस्या की ओर नही गये। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उन्हे किसी दर्शन की सहायता आवश्यक नही हुई।

इन सभी आचार्यो मे प्राय उत्पत्तिवादी दृष्टिकोण की प्रधानता रही जो भरत के पहले से चला आ रहा था। भामह को छोड अन्य सभी आचार्य विभावादि सामग्री की समग्रता से परिपुष्ट स्थायी भाव को रस मानते रहे, और उसे नाट्य-निष्ठ या काव्य-निष्ठ स्वीकार करते रहे। पाक-रस इस युग का निदर्शन रहा।

अब तक हमने रस के दर्शन-निरपेक्ष विचारको की दृष्टि से रस का स्वरूप समझा है। अब हम उन आचार्यो की ओर आते है जिन्होने इस समस्या को कुछ दार्शनिक सरणि मे सुलझाने का प्रयास किया है।

दर्शन-सापेक्ष रस-निरूपण

रस के प्रश्न मे दर्शन के उपयोग की आवश्यकता अलकारवादी आचार्यो को नही हुई। कारण हम देख चुके है कि उन्होने सामाजिक के आस्वादन का प्रश्न नही उठाया। किन्तु भरत के टीकाकारों को नाट्यशास्त्र के आस्वादन-सम्बन्धी स्थल की व्याख्या के अवसर पर यह आवश्यक था कि वे उसके लिए कुछ दार्शनिक हल ढूढते। किन्तु प्रारम्भिक अवस्था मे दर्शन का प्रवेश सामाजिक के आस्वादन के प्रश्न को लेकर नही हुआ, अपितु रस की निष्पत्ति की व्याख्या को लेकर अर्थात् रस कैसे बनता है, इस प्रश्न को लेकर ही हुआ।

रस की समस्या मे कुछ भी दर्शन का सम्पर्श लाने वालो मे पहला नाम लोल्लट का आता है। सम्भव है, उद्भट ने नाट्यशास्त्र की टीका करते समय इस ओर प्रयास नही किया। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक-लोचन मे तो रस के प्रसग मे अनेक मत एव दृष्टिकोणो का उल्लेख किया है, किन्तु अभिनवभारती मे केवल पाँच मतो को ही चुना है। इनमे लोल्लट, शकुक, एक साख्यवादी, तथा भट्ट नायक—इन चार का ही चुनाव हुआ है। सम्भवत अभिनव ने इन चार को इसीलिए छाटा है कि इनमे कुछ दार्शनिक विवेचन आता है। दर्शन-निरपेक्ष विवेचनो को उन्होने यहा नही लिया।

---

१ शृगारतिलक रुद्रभट्ट १ ५, ६। 'दी थियरीज ऑफ रस एण्ड ध्वनि', पृ० ३२ टि०।

लोल्लट

लोल्लट का नाम नाट्यशास्त्र के टीकाकारो मे आता है, पर आज उनकी टीका उपलब्ध नही। उनका रस-सम्बन्धी दृष्टिकोण अभिनव ने तथा मम्मट ने दृष्टिभेद से स्वल्प अन्तर के साथ प्रस्तुत किया है। अभिनवभारती मे लोल्लट का मत इन शब्दो मे प्रस्तुत किया गया है

"विभावादिभि सयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्ति ।

तत्र विभावश्चित्तवृत्ते स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिता । तेषा रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् । अपितु भावानामेव येऽनुभावा । व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविन स्थायिना, तथापि वासनात्मतेह तस्य विवक्षिता । दृष्टान्तेऽपि व्यजनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्, अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत् ।

तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रस, स्थायी भावस्त्वनुपचित । स चोभयोरपि, अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात् ।"[1]

लोल्लट के अनुसार अनुकार्य रामादि के रत्यादि स्थायी भाव ही विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी से उपचित या पुष्ट होकर रस बन जाते है। इस प्रकार उनका रस अनुकार्य-निष्ठ है।

रस की व्याख्या मे लोल्लट का यही योग-दान है। अब तक रस की अवस्थिति भरतादि आचार्यो ने नाट्य-निष्ठ मानी थी, अलकारवादियो ने काव्य-निष्ठ। लोल्लट ने उसे अनुकार्य-निष्ठ कहा। अब तक रस पाक-रस के समान एक पदार्थ था, किसी की अनुभूति या चेतना न था। सामाजिक की अनुभूति की दृष्टि से वह एक विषय था। किन्तु लोल्लट के हाथो मे आकर वह केवल पदार्थ न रह गया, रामादि अनुकार्य पात्रो की चेतना के रूप मे प्रस्तुत किया गया। यद्यपि सामाजिक की अनुभूति की दृष्टि से वह अभी भी 'विषय' ही रहा, 'विषयी' नही बना। फिर भी लोल्लट द्वारा उसकी पदार्थ-मात्रता छुडा कर उसे चेतना-रूपता प्रदान की गयी।

लोल्लट ने रस का विश्लेषण बिलकुल लौकिक भावोदय के रूप मे किया। उन्होने अनुकार्य रामादि मे रत्यादि भावो की दो स्थितिया मानी। एक वासना रूप मे सुप्त एव अनुपचित, दूसरी कारण-सामग्री द्वारा उभारी हुई उपचित। पहली को उन्होने स्थायी भाव कहा, दूसरी को रस। इस प्रकार उनके अनुसार लौकिक रामादि अनुकार्य व्यक्तियो के उद्बुद्ध या उपचित रत्यादि भाव ही 'रस' है।

लोल्लट यह भी प्रतिपादित करते है कि यह उद्बुद्ध भावो की स्थिति, जिसे 'रस' कहा गया है, अनुकार्य रामादि मे तो होती ही है, अनुकर्ता नट मे भी होती है। "अनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्" कहकर वह यह बताना चाहते है कि नट जिस समय अभिनय करता है, वह नटी को सीतादि के रूप मे ग्रहण करता है, स्वय को रामादि के रूप मे, और इस प्रकार के अनुसधान से उसका अपना स्थायी भाव जो कि अब तक वासना-रूप मे सुप्त पडा था, उद्बुद्ध

---

१. अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७२।

पाठ—अपितु भावानामेव। (ते) येऽनुभावा व्यभिचारिणश्च

तथापि वासनात्मतेह तस्य विवक्षिता ।

स्थायी भवस्त्वनुपचित । (मुख्यया वृत्त्या रामादौ) अनुकार्ये

हो जाता है। उद्बुद्ध भाव-स्थिति ही तो रस है। अत अनुसन्धान के सहारे रस नट मे भी होता है।

लोल्लट नट मे भी अनुसधान के सहारे रस की अवस्थिति मानते है, यह तथ्य मम्मट के शब्दो से उभर कर नही आता। वे लोल्लट के मत को इस रूप मे प्रतिपादित करते है

" रत्यादिको भावो उपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्य तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस ।"[1]

"विभावादि से उपचित स्थायी भाव रस है। यह मुख्यतया रामादि अनुकार्यो मे अवस्थित होता है। नट को रामादि रूप मे समझने के कारण सामाजिक को वह नट मे भी प्रतीत होता है।"

मम्मट के इन शब्दो मे अनुसन्धान का कर्ता सामाजिक है। अभिनवभारती के उल्लेख मे अनुसन्धान का कर्ता नट है। अभिनव का उल्लेख सामाजिक की प्रतीति के प्रति मौन है। लोल्लट का नट के सम्बन्ध मे। कारण है, मम्मट ने लोल्लट के मत को सामाजिक की प्रतीति की दृष्टि से अपने शब्दो मे ढाल कर प्रस्तुत किया है।

किन्तु लोल्लट स्पष्टत यह स्वीकार करते है कि रस नट मे भी हो सकता है। उनका तर्क है कि नट मे भी वासनात्मतया रत्यादि भाव होते है। अनुसन्धान के सहारे वे ही उद्बुद्ध हो जाते है, फिर नट मे रस-भाव की स्थिति क्यो न स्वीकार की जाए ? जो लोग नट मे रस की स्थिति नही मानते उनके प्रमुख तर्क है कि यदि नट मे रस-भाव का सम्बन्ध माना जाएगा तो मरणादि के प्रसग मे नट मे वास्तविक मरणादि होने चाहिए, दूसरे भावाविष्ट होने के कारण वह सगीत की लय आदि का अनुसरण भी नही कर सकेगा। ऐसे लोगो को उत्तर देते हुए लोल्लट ने कहा है कि जब नट मे वासना का आवेश है तो उसमे रस-भाव भी हो सकते है। रही लयानुसरण की बात, तो समूचे अभिनय की ऐसी सम बध जाती है कि भाव मे डूबकर भी नट लयादि का अनुसरण अक्षुण्ण रूप मे करता चला जाता है

"रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे सम्भवात्, अनुवन्धिबलाच्च लयाद्यनुसरणात् ।"[2]

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि लोल्लट नट मे भी भाव और रस की स्थिति स्वीकार करते है। अत उनकी दृष्टि से अनुसन्धान के बल से नट मे भी रस होता है, यही निष्कर्ष निकलता है। किन्तु इस रस को वे अनुसन्धान-जन्य होने के कारण अमुख्य कहना चाहते है, अनुकार्य रामादि के भावोद्बोध को ही वास्तविक या मुख्य रस मानते है।

अनुकार्य के वासना-रूप स्थायी को उद्बुद्ध होने के लिए कुछ उद्बोधक कारण-सामग्री चाहिए। यह सामग्री है विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव। इन तीनो के सम्बन्ध मे लोल्लट कुछ टिप्पणिया प्रस्तुत करते हैं।

विभावो के सम्बन्ध मे उनका कथन है कि ये वासनारूप स्थायी की उत्पत्ति के कारण होते है। कारण-शब्द के साथ किसी पारिभाषिक शब्द उपादान, सहकारी, निमित्त आदि का प्रयोग नही किया गया।

अनुभावो के विषय मे उनका दृष्टिकोण विशेषत उल्लेखनीय है। वे दो स्थान पर

---

१ काव्यप्रकाश, पृ० ८७, उ० ४।

२ अभिनवभारती, भा० १, पृ० २६४।

अनुभावो की सम्भावना करते है—एक तो आश्रय पात्र रामादि मे, दूसरे विभाव पात्र सीतादि मे। राम के रस मे राम के ही अनुभाव कारण कैसे बन सकते है ? अत वे सीतादि विभावो के अनुभावो को ही रस-सूत्र के अन्तर्गत रस की कारण-सामग्री मे लेने की बात कहते हे—"अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिता, तेषा रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् । अपितु भावानामेव येऽनुभावा ।" यहा भाव शब्द विभावो के लिए ही आया हे। भरतादि प्राचीन आचार्यों ने भाव शब्द को चित्तवृत्ति-रूप अर्थ से अलग विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी-सात्विक-स्थायी के लिए भी प्रयुक्त किया है। लोल्लट का 'भाव' शब्द भी यहा उसी व्यापकता के आधार पर हे।

व्यभिचारियो के सम्बन्ध मे आकर एक प्रश्न उठाया गया है, जिसमे कुछ दार्शनिक ढग की सी चर्चा हे। कहा गया है, जब व्यभिचारी भाव भी चित्तवृत्ति-रूप है, और स्थायी भाव भी चित्तवृत्ति-रूप है, तो व्यभिचारियो द्वारा स्थायी भावो का परिपोष कैसे बन सकता है ? एक काल मे एक चित्तवृत्ति दूसरे का पोषण कैसे कर सकती है ? इस शका का आधार न्याय-दर्शन की यह मान्यता है कि मन एक विशिष्ट क्षण मे किसी एक रूप को ही अपना सकता है

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्"[1]

मन का यह स्वभाव है कि वह एक साथ दो ज्ञान नही कर सकता। इसका अर्थ है कि दो चित्तवृत्तिया एक साथ नही रह सकती। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि व्यभिचारी चित्तवृत्तियां स्थायी वृत्तियो को पुष्ट करके रस बना देती है ? इसका समाधान लोल्लट की ओर से यह दिया गया है कि हम स्थायी भाव को वासना रूप मे मानते है, व्यभिचारियो को उद्भूत रूप मे। योगदर्शन की मान्यता है कि वासना रूप मे अनेक भाव चित्त मे अवस्थित पडे रहते है, समय आने पर सहायक सामग्री की सहायता से उद्बुद्ध हो जाते है।[2] तो जिस क्षण मे व्यभिचारी वृत्ति उदित होती है, स्थायी वृत्ति वासना रूप मे अन्तर्निहित रहती है। पीछे वह अन्य क्षण मे उद्भूत रूप मे उभर कर आती है, तब रस कहलाती है। लोल्लट इस बात को भरत के पाक-रस के निदर्शन मे भी दिखाते है। पाक-रस की निष्पत्ति मे गुड-दही-सौठ-इलाइची आदि से बने शिखरन आदि व्यजन का स्वाद उभरा रहता हे, रोटी-चावल आदि अन्न का स्वाद दबा रहता हे। इस प्रकार किसी का स्वाद स्थायी के समान वासनात्मतया दबा, तो किसी का व्यभिचारियो के समान उद्भूत रहता है। फलत व्यभिचारियो के द्वारा स्थायी चित्तवृत्तियो के परिपोष मानने मे कोई सैद्धान्तिक बाधा नही।

कुल मिलाकर लोल्लट के विवेचन मे निम्न बाते ऐसी आती है जिनका किसी दर्शन से सम्बन्ध माना जा सकता है

१ "विभावश्चित्तवृत्ते स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्।"
—स्थायी भावो को चित्तवृत्ति-रूप मानना, तथा विभावो के साथ उनका कारण-कार्य सम्बन्ध जोडना।

२. "अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिता, तेषा रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्।"
—अनुभावो और रस के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध जोडते हुए 'जन्य' तथा 'कारण' शब्दो का प्रयोग।

---

१ न्यायसूत्र, १।१।१६।

२. "तासामनादित्व चाशिषो नित्यत्वात्।" यो० सू० ४।१०। "अनादिवासनानुविद्ध चित्त निमित्त-वशात्काश्चिदेव वासना प्रतिलभ्ये पुरुषस्य भोगायोपावर्तंत इति।" व्या० भा०।

३ "व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविन स्थायिना, तथापि वासनात्मतेह तस्य विवक्षिता।"
—व्यभिचारियो को चित्तवृत्तिरूप मानना।
—दो चित्तवृत्तियो की युगपद् अवस्थिति पर आपत्ति स्वीकार करना।
—वासना-रूप तथा उद्भूत-रूप मे दो चित्तवृत्तियो की युगपद् अवस्थिति सम्भव मानना।

४ "स चोभयोरपि, अनुकार्येनुकर्तर्यपि चानुसधानबलात्।"
—अनुसन्धान का उपयोग।

ये ही वे स्थल है जिनमे लोल्लट ने कतिपय दार्शनिक मान्यताओ का सहारा लिया है। किन्तु इनके आधार पर यह निर्धारित करना कि लोल्लट अमुक दर्शन के अनुयायी थे, सर्वथा भ्रमात्मक होगा। स्थायी तथा सचारी भावो को चित्तवृत्ति-रूप मानना लगभग सभी दर्शनो के लिए सामान्य बात है। 'कारण', 'कार्य', 'जन्य' आदि शब्दो का प्रयोग भी विभिन्न दर्शनो मे समान मिलता है। 'अनुसन्धान' शब्द का प्रयोग भी विभिन्न दार्शनिको ने किया है। स्वय अभिनव को यह शब्द बडा प्रिय है। अत उसके आधार पर भी कुछ कहना कठिन है। इस प्रकार किन्ही विशिष्ट शब्दो के प्रयोग के आधार पर लोल्लट की दार्शनिक आधार-भूमि निर्धारित नही हो सकती।

व्यभिचारियो के सम्बन्ध मे न्याय की मान्यता के आधार पर उठायी आपत्ति को देखते हुए लोल्लट का झुकाव न्याय-दर्शन की ओर कहा जा सकता है। इस धारणा को बनाने मे उनके द्वारा कारण-कार्य के सम्बन्धो की दृष्टि से विभावादि सामग्री और रस के बीच किया गया विचार और जन्य, कारण आदि शब्दो का प्रयोग भी सहायक हो सकता है। किन्तु न्याय की दृष्टि से उठायी गयी आपत्ति का उत्तर ठीक नैयायिक पदावली मे नही दिया गया। वासना-सम्बन्धिनी मान्यता प्रमुखतया योग-दर्शन की है। यो तो यही बात न्याय-दर्शन भी लगभग स्वीकार करता है। वह भी सस्कार रूप मे अन्य वृत्तियो की सम्भावना मन मे स्वीकार करता है। किन्तु उसका प्रचलित शब्द 'सस्कार' है, इस विषय मे 'वासना' नही। फिर न्याय के सहारे से किया आक्षेप पूर्वपक्ष मे पड जाता है।

इस प्रकार यदि वासना और सस्कार शब्दो की ओर भेदक दृष्टि न डाली जाय तो कहा जा सकता है कि लोल्लट ने न्याय और योग-दर्शन की स्थापनाओ का उपयोग किया है। फिर भी निर्णयात्मक रूप मे कुछ कहना कठिन है। बस, इतना ही कहा जा सकता है कि वे वैदिक दर्शन के ही अनुयायी थे। कभी-कभी उन्हे मीमासक कहा जाता है। किन्तु उनके रस-विवेचन मे मीमासा का कोई साक्षात् या असाक्षात् प्रयोग दिखायी नही पडता।

लोल्लट की दार्शनिक दृष्टि को किसी विशेष दर्शन के साथ आबद्ध न किये जा सकने के कारण उनके मत को किसी दर्शन-विशेष के अन्तर्गत न रखना ही उचित है। वस्तुत लोल्लट ने जो भी दर्शन का उपयोग किया है, लौकिक भाव के उद्बोधन से सम्बन्ध रखता है। सामाजिक की अनुभूति के सम्बन्ध मे यदि उन्होने किसी दर्शन का सहारा लिया होता तो उसका रस से सीधा सम्बन्ध होता। अत उनका रस-मत भी दर्शन-शून्य ही है। तथापि उसके विवेचन मे कुछ दार्शनिक चर्चा आ जाने के कारण उसे दर्शन-निरपेक्ष वर्ग मे भी नही रखा जा सकता।

इस प्रकार लोल्लट हमारे सामने रस की समस्या के समाधान मे दर्शन का प्रवेश कराने वाले प्रथम आचार्य के रूप मे आते है, भले ही उनकी दार्शनिक चर्चा बडी हलकी हो, और

उसका अनुभूति से सीधा सम्बन्ध न हो।

सक्षेप मे लोल्लट के अनुसार अनुकार्य के वासना-रूप स्थायी भावो का विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी सामग्री द्वारा परिपुष्ट होते हुए उपचित हो जाना ही रस हे। यह रस मुख्यतया अनुकार्य-निष्ठ है, अमुख्तया अनुकर्तृ-निष्ठ भी। यद्यपि वह अब पदार्थ-मात्र नही, अनुकार्य की अनुभूति या चेतना है, तथापि सामाजिक की प्रतीति की दृष्टि से विषय-रूप ही है। उसकी विषय-पक्षीय व्याख्या मे कुछ न्याय-दर्शन की मान्यताओ का उपयोग है, किन्तु विषयि-पक्ष की व्याख्या मे किसी दर्शन का सहारा नही है। वे भरत के समान ही उत्पत्तिवादी है। किन्तु भरत और दण्डी की अपेक्षा उनके रस की अवस्थिति भिन्न हे। उनका 'रस' दर्शन पर आधारित नही, पर 'रस' की समस्या मे 'दर्शन' का प्रवेश कराने वालो मे उन्ही का नाम प्रथम आता हे।

न्याय-दर्शन और रस

हमने अभी देखा कि रस की व्याख्या मे लोल्लट के द्वारा सर्वप्रथम किस प्रकार न्याय-दर्शन की मान्यताओ का प्रवेश हुआ। किन्तु यह उपयोग बडे ही साधारण ढग का हे। लोल्लट के अनन्तर कई आचार्यो के द्वारा रस को न्याय की आधार-भूमि मे रखकर जाचा गया।

मोटे तौर पर हमारा न्याय-साहित्य तीन प्रमुख धाराओ मे विभाजित किया जाता हे—वैदिक न्याय, बौद्ध न्याय, जैन न्याय। वैदिक न्याय को प्राच्य एव नव्य दो रूपो मे विभाजित किया जाता है। रस की समस्या का हल जैन न्याय के सहारे खोजने का प्रयास किसी जैन या जैनेतर आचार्य ने नही किया। जैन हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन मे रस के विषय मे पर्याप्त विस्तार से चर्चा की, किन्तु उनकी स्वरूप-सम्बन्धिनी चर्चा के मूलाधार अभिनव के ही ग्रन्थ रहे। हेमचन्द्र ने अभिनव के ही शब्दो को जहा-तहा अपनी ओर से कुछ व्याख्या भी करते हुए प्रस्तुत किया। इसी प्रकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी रस-स्वरूप विश्लेषण के लिए जैन-दर्शन का आधार नही पकडा। अत हमारे लिए बौद्ध और वैदिक नैयायिको द्वारा किये हुए रस-विवेचन का ही परिचय शेष रह जाता है।

लोल्लट के अनन्तर किसी दर्शन की व्यवस्थित आधार-भूमि अपनाकर रस पर विचार करने वालो मे प्रथम नाम आचार्य शकुक का आता हे। शकुक एव महिम ऐसे आचार्य है जिन्होने बौद्ध न्याय की मान्यताओ के आलोक मे रस की समस्या का हल खोजने का प्रयास किया। शेष न्यायानुगामी आचार्यों के विवेचन वैदिक न्याय के अन्तर्गत आते है। अत न्याय-दर्शन और रस पर विचार करते हुए हमारे लिए यह उपयुक्त होगा कि हम बौद्ध-दर्शन तथा वैदिक न्याय के सम्बन्ध से रस पर अलग-अलग विचार करे।

बौद्ध न्याय और रस

जैसा कि हमने अभी कहा, बौद्ध न्याय के आलोक मे रस पर विचार करने वाले आचार्य श्रीशकुक एव महिमभट्ट है। उनके विचारो मे बौद्ध मान्यताओ की गहरी छाप है। प्रथम नाम शकुक का है। उनकी बौद्ध आधार-भूमि से अभिनव के गुरु आचार्य भट्टतोल तथा स्वय अभिनव भली-भाति परिचित है। सम्भवत मम्मट से भी यह तथ्य तिरोहित नही। किन्तु मम्मट ने शकुक का मत इतने सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किया है कि केवल उस पर आधारित रहकर ही कोई निश्चित धारणा बनाना कठिन हो जाता है। मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यो की दृष्टि से शकुक की दार्शनिक आधार-भूमि तिरोहित हो जाती है, और उनके शब्दो की व्याख्याए सामान्यत.

वैदिक न्याय की उपलब्धियो के अनुसार की जाने लगती है। किन्तु यह एक तथ्य है कि शकुक के रस-विवेचन को उसके सही रूप मे तब तक नही समझा जा सकता, और उनके शब्दो की समजस व्याख्या तब तक नही हो पाती जब तक उनके विचारो की बौद्ध न्याय की आधार-भूमि न अपना ली जाय।[1]

आचार्य श्रीशकुक

आचार्य शकुक का रस-विवेचन अभिनवभारती, ध्वन्यालोक-लोचन, काव्यप्रकाश, हेमचन्द्र के काव्यानुशासन और माणिक्यचन्द्र की काव्यप्रकाश की सकेत नामक टीका मे मिलता है। उनकी निजी कृति आज अप्राप्य है। ये ही प्राचीन उल्लेख उनके परिचय के लिए आधार है। इनमे हेमचन्द्र के आधार अभिनव है, माणिक्यचन्द्र के हेमचन्द्र। अत अभिनव और मम्मट दो ही व्यक्ति रह जाते है जिनके माध्यम से हम शकुक की मान्यता समझ सकते है। इनमे मम्मट ने शकुक का मत उसी प्रकार सामाजिक की दृष्टि से प्रस्तुत किया है जिस प्रकार उन्होने लोल्लट का मत प्रस्तुत किया है। अत उनका विवेचन अभिनव के समान मूलाश्रयी प्रतीत नही होता। इस प्रकार शकुक के विवेचन के लिए सर्वाधिक प्रामाणिक व्यक्ति अभिनव-गुप्त ही रह जाते है।

अभिनवभारती मे जो शकुक का रस-विवेचन आता है, उसके दो प्रधान भाग किये जा सकते है—प्रथम मे उनके द्वारा किया हुआ लोल्लट की मान्यता का खण्डन आता है, दूसरे मे शकुक का अपना मत। इसके पीछे अभिनव के गुरु भट्ट तोत द्वारा किया हुआ शकुक के मत का खण्डन आता है। इन तीनो ही विवेचनो मे शकुक की बौद्ध आधार-भूमि के सकेत मिलते है। तीनो भाग शकुक से ही सम्बद्ध है, अत उन पर अलग-अलग यहा दृष्टिपात करना असमीचीन न होगा।

लोल्लट का खण्डन

लोल्लट के मत का खण्डन करते हुए शकुक ने निम्न सात तर्क प्रस्तुत किये है[2]

१ विभावाद्ययोगे लिगाभावेनावगत्यनुपपत्ते ।

२ भावाना पूर्वमभिधेयताप्रसगात् ।

३ स्थितदशाया लक्षणान्तरवैयर्थ्यात् ।

४ मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्ते ।

५ हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्ते ।

६ कामावस्थासु दशस्वसख्यरसभावादिप्रसगात् ।

७ शोकस्य प्रथम तीव्रत्व कालात्तनुमान्द्यदर्शन, क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वात् ।

इनमे से अधिकाश तर्क शकुक की बौद्ध धारणा के स्पष्ट परिचायक है। लोल्लट की

---

१ 'आचार्य शकुक के अनुमानवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि' हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १४, अक १, जनवरी-मार्च १९६१।

'अभिनवभारती मे श्रीशकुक का रस-विवेचन' एक व्याख्या।

२ अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७०।

मान्यता थी कि रस अनुकार्य-गत स्थायी की परिपुष्ट अवस्था का नाम है। अनुकार्य की अनुपचित भावदशा का नाम स्थायी भाव है, उपचित का रस। विभावादि सामग्री द्वारा परिपुष्ट होकर रसोत्पत्ति होती है। बौद्ध धारणा अपनाने के कारण शकुक को इस मान्यता मे निम्न बाते असह्य थी

१ अनुपचित भाव को केवल भावदशा मानना।

२ इन भावो को स्थायी स्वीकार करना।

३ इन्हे स्थायी मानते हुए सामग्री द्वारा इनकी उत्पत्ति या परिपोष मानना।

बौद्ध क्षणिकवादी है, अत उनके अनुसार कोई भाव स्थायी नही। वे किसी भाव की सत्ता तब तक स्वीकार नही करते जब तक वह 'अर्थक्रियाकारी' न हो। उनके अनुसार कोई सत्तावान् अर्थक्रियाकारी भाव 'स्थायी' नही हो सकता। किसी स्थायी माने भाव मे 'अर्थक्रिया' नही रह सकती। सामग्री की सहायता से भाव स्थायी रहता हुआ अर्थक्रियासमर्थ नही रह सकता। इन बौद्ध धारणाओ को अपनाने के कारण लोल्लट की उपर्युक्त मान्यताए शकुक के लिए स्वाभाविकतया असह्य थी। इन सात तर्कों मे इसी दृष्टि से लोल्लट का खण्डन किया गया है। पहले तीन तर्क तो अनुपचित भाव की केवला स्थिति का खण्डन करते है, अगले चार तर्क अर्थक्रियाकारिता के सिद्धान्त को बीच मे लाकर भाव की स्थायिता और उसके परिपोष को अस्वीकार करते है। एक बात ध्यान देने की और है। बौद्ध न्याय के ग्रन्थो मे जो पदार्थ-सम्बन्धी विवेचन मिलता है, उसमे पदार्थ के लिए 'भाव' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। जैसे बीजादि 'भाव' है, वैसे ही चित्तवृत्तिया भी 'भाव' है। नि सन्देह शकुक को बौद्धो के पदार्थ-विवेचन से रस-विवेचन के लिए सहज मार्ग-दर्शन मिल सका होगा। हम बौद्ध दृष्टिकोण की छाया मे उपर्युक्त सातो तर्को का मन्तव्य सक्षेप मे इस रूप मे समझ सकते है

प्रथम तीन तर्को मे अनुपचित भाव की केवलात्मिका स्थिति पर आक्षेप किया गया है

१ लोल्लट द्वारा मान्य भाव की कोई अनुपचित मात्र भावदशा जैसी स्थिति स्वीकार नही की जा सकती। विभावादि सयोग के विना भाव के आश्रय पात्र मे कोई अनुभावात्मक प्रतिक्रिया ऐसी नही हो सकती जो उसके हृदय के भाव का पता दे सके। बिना लिंग के उसके भाव का अनुमान नही किया जा सकता। भाव का प्रत्यक्ष सम्भव नही, लिगो के अभाव मे अनुमान होगा नही। बौद्धो के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड अन्य वस्तु-साधक प्रमाण मान्य नही। अत यह मानना होगा कि ऐसी कोई भावदशा होती ही नही। फिर ऐसी भावदशा अर्थक्रियाशून्य होगी। बौद्धो के अनुसार 'भाव' सत् होते है, सत्ता का अर्थ है, अर्थक्रियासमर्थ। अर्थक्रियाशून्य की सत्ता उन्हे स्वीकार्य नही। अत केवल भावदशा अर्थक्रियाशून्य होने के कारण असत् एव अस्वीकार्य ही होगी।

२. यदि ऐसी कोई भावदशा रसदशा से पूर्ववर्तिनी भरत को भी मान्य होती तो उन्होने छठे अध्याय मे रस-विवेचन न करके पहले भाव-विवेचन किया होता। किन्तु उन्होने पहले छठे अध्याय मे रस-विवेचन किया है। पीछे सातवे मे भाव-विवेचन। यह उन्होने सामाजिक की दृष्टि से किया है। सामाजिक पहले रसानुमान करता है, पीछे अनुकार्य के भावो के विषय मे अनुमान करता है। अत रसो से भाव होते है, भावो से रस नही।

३ यदि भरत को लोल्लट की अभिप्रेत केवला भावदशा मान्य होती तो उन्होने सातवे अध्याय मे जो भाव-विवेचन किया है, वह इसी रूप मे न किया होता। भरत ने छठे अध्याय मे विभावादि सामग्री के साथ रस-विवेचन किया है, फिर सातवे मे उसी सामग्री के साथ कुछ

सक्षेप मे वैसे ही शब्दो मे भाव-विवेचन। यदि भावो की विभावादि से शून्य केवला दशा होती तो भरत दूसरे लक्षण कदापि न करते। भरत का विवेचन बताता है कि छठे अध्याय मे सामाजिक की प्रतीति की दृष्टि से रस-निरूपण है, पीछे सातवे मे अनुकार्य के लौकिक भावो का निरूपण।

अगले चार तर्को मे बौद्धो की क्षणिकवाद की धारणा अपनाकर रत्यादि स्थायी भावो के स्थायित्व का खण्डन किया गया है। इनमे वही प्रक्रिया अपनायी गयी है जो बौद्ध बीजादि भावो के स्थायित्व का खण्डन करने के लिए अपनाते हे। सर्वदर्शनमग्रह मे बीजादि भावो के स्थायित्व का निराकरण करते हुए इनके क्षणिकत्व का प्रतिपादन जिन तर्कों द्वारा किया गया है, वे ही तर्क यहा शकुक द्वारा प्रयुक्त किये गये हे। मर्वदर्शनसग्रह मे बडे ऊहापोह के माथ भावो (पदार्थो) के स्थायित्व का खण्डन करके उन तर्कों को इस प्रकार निष्कर्ष-रूप मे प्रस्तुत किया गया है

"तस्माद् विपक्षे क्रमयौगपद्यव्यावृत्या व्यापकानुपलम्भेनाधिगतव्यतिरेकव्याप्तिक प्रसगतद्विपर्ययबलाद् गृहीतान्वयव्याप्तिक च सत्त्व क्षणिकत्वपक्ष एव व्यवस्थापयतीति सिद्धम्।"[१]

ये तर्क कोई सर्वदर्शनसग्रहकार के अपने नही, बौद्ध ग्रन्थो के ही बहु-प्रचलित तर्क है। उन्होने भी इन्हे चुना हे, और शकुक ने भी। इन तर्कों मे व्यतिरेक व्याप्ति तथा अन्वय व्याप्ति दोनो के द्वारा भावो की क्षणिकता प्रतिपादित की गयी हे। व्यतिरेक व्याप्ति मे अर्थक्रिया के 'क्रम' ओर 'यौगपद्य' का प्रश्न उठाया गया है, अन्वय व्याप्ति मे प्रसग और विपर्ययानुमानो का सहारा लिया गया हे। शकुक के ये चारो तर्क भी ठीक इसी प्रक्रिया का अनुगमन करते है। इनमे तर्क म० ४ तथा ५ तो व्यतिरेक व्याप्ति के उदाहरण है, जिनमे पहले मे अर्थक्रिया के 'क्रम' को सामने किया गया है, दूसरे मे 'यौगपद्य' को। नर्क स० ६ तथा ७ मे अन्वय व्याप्ति है जिनमे 'प्रसग' और 'विपर्यय' अनुमानो का प्रयोग हुआ है। इनमे 'प्रसग' तथा 'विपर्यय' शब्दो का प्रयोग भी किया गया है। बोद्ध धारणा के माथ इन तर्कों का मन्तव्य सक्षेप मे इस प्रकार ममझा जा सकता हे

४ लोल्लट की भावो को स्थायी मानने की बात भी ठीक नही। रथायी पदार्थ मे कोई अर्थक्रिया नही होती। न क्रम से ही, न योगपद्य मे ही।

यदि 'क्रम' से अर्थक्रिया मानी जाय तो किमी एक ही रस मे विकास-क्रम के अनुमार अनन्त क्रमिक स्थितिया माननी होगी। अनेक क्रमिक स्थितिया मानकर भाव को अनेक अर्थक्रियाकारी मानना होगा। और इस प्रकार भाव 'एक' तथा 'स्थायी' न होकर क्षणिक ही माना जाएगा।

५ और यदि 'अर्थक्रिया' को यौगपद्य से माना जाए तो भाव को ममस्त अर्थक्रिया एक माथ ही सम्पादित कर देनी चाहिए। फिर किसी रस की ऊची-नीची क्रमिक दशा मानने का कोई प्रश्न ही नही रह जाता। तब हास्य के भरत-प्रणीत छ भेद भी नही माने जा सकेगे। फिर, भाव किसी एक विशिष्ट क्षण मे ही अर्थक्रियाकारी होगा, जिस क्षण मे वह यौगपद्य से क्रिया-सम्पादन कर रहा होगा, अन्य क्षणो मे अर्थक्रियाशून्य हो जाएगा।

इस प्रकार 'स्थायी' माने भाव मे 'अर्थक्रिया' न 'क्रम' से सम्भव है, न 'यौगपद्य' से। क्रम-यौगपद्य अर्थक्रिया के व्यापक होते है, अर्थक्रिया व्याप्य। जब व्यापको का अभाव है तो

---

१ सर्वदर्शनसग्रह बौद्धदर्शन, पृ० ७५-६।

व्याप्य का अभाव स्वत सिद्ध है। यह व्यतिरेक व्याप्ति की प्रक्रिया से भाव की क्षणिकता का प्रतिपादन हुआ। अगले दो तर्कों मे अन्वय व्याप्ति से यही बात प्रतिपादित की गयी है।

६ भाव मे किसी एक क्षण की अर्थक्रिया सम्पादित करते समय अतीत अनागत अर्थक्रियाओ के सम्पादन की क्षमता नही होती। यदि यह क्षमता उसमे मानी जाय तो काम की दश दशाओ मे से किसी एक ही दशा के काल मे ही अतीत अनागत की अनन्त काम दशाए उत्पन्न होने का प्रसग उठ खडा होगा। पर एक अर्थक्रिया के समय अर्थात् किसी एक काम दशा मे अन्य अर्थक्रियाओ को मानना, अन्य दशाओ की सम्भावना करना वस्तु-स्थिति के प्रनिकूल होगा।

७ और यदि भाव मे यह क्षमता सर्वथा न मानी जाए तो यह भी ठीक न होगा। कारण, यह स्पष्ट देखा जाता है कि भाव मे परवर्तिनी अर्थक्रिया पाई जाती है। एक प्ररूढ एव चरम अवस्था पर पहुचे हुए भाव मे ह्रास होता पाया जाता हे। शोक कालान्तर मे क्षीण होता है, उत्साह-रति-क्रोध क्रमश स्थैर्य-सेवन-अमर्ष की कमी होने पर कम होते पाये जाते है। भावो की इस परवर्तिनी अर्थक्रिया को देखते हुए किसी भाव को अतीत अनागत की समस्त अर्थ-क्रियाओ से सर्वथा शून्य कैसे कहा जा सकता है।

इस प्रकार अर्थक्रिया के सामर्थ्य एव असामर्थ्य दो विरोधी धर्मों का आश्रय एक ही स्थायी भाव नही हो सकता। यही मानना होगा कि पहला भाव समाप्त हो जाता है और उसकी जगह दूसरा अर्थक्रिया-क्षम भाव उत्पन्न हो जाता हे।

तर्क स० ६ मे वस्तु-स्थिति के प्रतिकूल सम्भावना होने से प्रसगानुमान का तथा स० ७ मे वस्तु-स्थिति के अनुरूप सम्भावना करने से विपर्ययानुमान का प्रयोग हुआ है। प्रसग तथा विपर्यय अनुमानो का यद्यपि अन्य नैयायिको ने भी प्रयोग किया है, तथापि बौद्धो की यह विशेषता हे। सर्वदर्शनसग्रहकार ने भी इनका प्रयोग बौद्ध-सिद्धान्त के प्रसग मे किया है।

इन सभी तर्को की मूल धारणा इस तथ्य पर आधारित हे कि शकुक भावो को क्षणिक मानते हे। ध्वन्यालोकलोचन मे शकुक के द्वारा किये गये लोल्लट के निराकरण मे बडे ही स्पष्ट शब्दो मे इस ओर सकेत किया गया है

"प्रवाहधर्मिण्या चित्तवृत्तौ चित्तवृत्ते चित्तवृत्त्यन्तरेण क परिपोषार्थ ?"[1]

शकुक का लोल्लट से प्रश्न हे कि जब चित्तवृत्ति 'प्रवाहधर्मिणी' है तो फिर एक चित्त-वृत्ति का दूसरी से परिपोष का सिद्धान्त कैसे माना जा सकता है? अभिनव ने शकुक के इस तर्क को लोचन मे अभिनवभारती के उपर्युक्त तर्को के स्थानापन्न रूप मे प्रस्तुत किया है, जो समस्त तर्को की मूल-चेतना को प्रस्तुत करता है। चित्तवृत्ति को 'प्रवाहधर्मिणी' मानने का सिद्धान्त केवल बौद्धो का है। वैदिक नैयायिको का नही। काव्यप्रकाश मे मम्मट ने भी जो शकुक का मत प्रस्तुत किया है उसमे रत्यादि भावो के लिए 'स्थायी' शब्द न लाकर 'स्थायित्वेन सम्भाव्यमान'[2] (जिस भाव की स्थायी रूप मे सम्भावना की जाती है) शब्दो का प्रयोग किया हैं। इन उल्लेखो के रहते शकुक के उपर्युक्त तर्कों की चेतना बौद्ध आधार-भूमि से अलग ली ही नही जा सकती।[3]

---

१ ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १८४।

२ काव्यप्रकाश, उ० ४, पृ० ९०।

३ शकुक के इन तर्को की विशेष व्याख्या तथा बौद्ध सिद्धान्तों के साथ समजस सगति के लिए देखिए—'अभिनवभारती में श्रीशकुक का रस-विवेचन—एक व्याख्या।'

अब तक हमने शकुक कृत लोल्लट का खण्डन देखा। अब हम शकुक के द्वारा प्रतिपादित रस-स्वरूप की ओर आते है।

शकुक का रस-स्वरूप

अभिनवभारती मे शकुक का रस-स्वरूप इन शब्दो द्वारा निरूपित हुआ है

"तस्माद् हेतुभिर्विभावाख्यै कार्यैश्चानुभावात्मभि सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभि प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिगबलत प्रतीयमान स्थायी भावो मुख्यरामादिस्थाय्यनुकरणरूप, अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रस।"[1]

"क्योकि लोल्लट का मत अनुपपन्न है, अत रस का स्वरूप हमारी दृष्टि मे यह होगा—जो रामादि मूल पात्रो की दृष्टि से कारण-कार्य-सहचारी हे किन्तु नाट्य की दृष्टि मे जिन्हे विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी कहा जाएगा, जो नट के द्वारा शिक्षा और अभ्यास के सहारे प्रयत्नपूर्वक प्रदर्शित किये जाने के कारण कृत्रिम होते है तथापि सामाजिक द्वारा कृत्रिम समझे नही जाते, ऐसे विभावादि लिंगो के बल से सामाजिक को नट-गत रूप मे प्रतीयमान स्थायी भाव ही रस है। यह वस्तुत रामादि मूल पात्रो के स्थायी भाव का अनुकरण है, और अपनी इसी अनुकरण-रूपता के कारण इसे 'भाव' न कहकर 'रस' कहा जाता है।"

लोल्लट ने रस-स्वरूप के निरूपण मे लौकिक भाव-स्थिति पर दृष्टि रखी थी, शकुक ने लौकिक तथा नाट्य दोनो स्थितियो को अलग करके देखा। लोल्लट के अनुसार लौकिक रामादि का ही उपचित स्थायी-रस है, परन्तु शकुक के अनुसार वह नही, उसका 'अनुकरण' रस है। इस प्रकार शकुक के अनुसार रस स्थायी भावो का अनुकरण है।

नट द्वारा अनुक्रियमाण स्थायी रस है, इसका अर्थ यह हुआ कि शकुक का रस नट-निष्ठ है। तथापि रस की नट-निष्ठता का यह अर्थ नही कि नट रस का आस्वादन करता है। रस भावो का अनुकरण है, और अनुकरण नट-कृत हे, बस इसी अर्थ मे रस नट-निष्ठ है। कहा जा सकता है, शकुक के अनुसार भाव तो अनुकार्यगत हे, पर रस अनुकर्तृगत। वस्तुत वह अनुकर्तृस्थ नही, अनुकर्तृस्थ रूप मे प्रतीत होने वाला हे। फिर भी, सामाजिक की दृष्टि से रस एक 'विषय' ही है। सामाजिक की चेतना नही, एक वस्तु है।

सामाजिक को इस रस की प्रतीति कतिपय लिंगो के आधार पर होती है। लिंगो पर आधारित होने के कारण इस प्रतीति को अनुमिति-रूप मानना होगा। जिन लिंगो के आधार पर सामाजिक नट मे रस का अनुमान करता है, वे है विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी भाव। शकुक के अनुसार यह आवश्यक नही कि विभाव शकुन्तलादि नटी आदि के रूप मे रगमच पर अनिवार्यत उपस्थित हो ही हो। नट के काव्य-पाठ से ही सामाजिक को विभावो की प्रतीति हो सकती है। अनुभावो को नट-शिक्षा के आधार पर प्रदर्शित करता है। व्यभिचारी भावो को भी उन अनुभावो के आधार पर प्रदर्शित करता हे जो उसने अपने जीवन मे अनुभूत किये है, किन्तु यहा कृत्रिम रूप से प्रस्तुत किये जा रहे है। इसीलिए शकुक इन अनुभावो को कृत्रिम-निज कहते है। इस प्रकार समस्त लिंग-सामग्री शकुक के अनुसार वाचिक, आगिक, सात्विक अभिनय के रूप मे आ जाती है। ये लिग नट के लिए कृत्रिम होते है, तथापि सामाजिक इन्हे कृत्रिम रूप मे ग्रहण नही करता, और इन लिंगो के आधार पर नट मे हर्ष-शोकादि का अनुमान

---

१ अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।

कर पाता है । ये अनुमित भाव जो सामाजिक को रामादि से अभिन्न समझे हुए नट मे प्रतीत होते है, शकुक के अनुसार 'रस' है ।

अपना रस-स्वरूप प्रतिपादित कर चुकने पर शकुक ने लिगो से सम्बन्धित तीन महत्त्व-पूर्ण प्रश्न उठाये है । प्रश्नो की कल्पना करते हुए उन्होने इनके समाधान प्रस्तुत किये है । ये प्रश्न है

१ लिग किस रूप मे आते है ?

२ लिंगो के साथ रस का क्या सम्बन्ध है ?

३ कृत्रिम लिगो के मिथ्या ज्ञान से रसानुमिति की अर्थक्रिया कैसे सम्भव होती है ?

प्रथम प्रश्न के समाधान मे जो शकुक का उत्तर है, ऊपर दिया जा चुका है । विभाव काव्य-बल से सामाजिक की प्रतीति योग्य हो जाते है, अनुभाव शिक्षा से, व्यभिचारी नट के उन अनुभावो के द्वारा जो निजी होते हुए भी कृत्रिम ही होते है । इस प्रकार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव ये तीनो ही लिग एक प्रकार से अभिनय-रूप होकर ही आते है । विभाव काव्य-पाठ के रूप मे वाचिक अभिनय मे, अनुभाव और व्यभिचारी आगिक और सात्विक अभिनय मे ।

दूसरी समस्या है, इन लिंगो के साथ रस के सम्बन्ध की । बौद्धो के अनुसार लिगो के साथ जब तक साध्य का कोई निश्चित सम्बन्ध न दिखाया जाए, कोई लिंग साध्य-सिद्धि नही कर सकता । अत शकुक रस और लिगो के बीच सम्बन्ध दिखाना आवश्यक समझते है । बौद्धो के अनुसार जिन पदार्थो की उपलब्धि होती है, उनके लिग दो प्रकार के हो सकते है—एक स्वभाव लिग, दूसरे कार्य लिंग । साध्यो का 'स्वभाव लिग' से 'तादात्म्य' सम्बन्ध होता है, 'कार्य लिंगो' के साथ 'तदुत्पत्ति' । प्रश्न उठता है, रस के साथ इन विभावादि लिगो का क्या सम्बन्ध है ? शकुक दो पृथक् दृष्टियो से 'तादात्म्य' तथा 'तदुत्पत्ति' दोनो सम्बन्ध सम्भव मानते है । बौद्धो की प्राय यह प्रक्रिया है कि वे अनेक विषयो पर 'परमार्थ सत्य' तथा 'सवृति सत्य' की दृष्टि से अलग-अलग विचार करते है, फल यह होता है कि वस्तु-विवेचक तत्त्ववेत्ताओ की दृष्टि से वस्तु का रूप अलग होता है, सामान्य व्यवहारी व्यक्तियो की दृष्टि से अलग । शकुक का सामाजिक एक व्यवहारी पुरुष है, जिसका क्षेत्र है 'सवृति सत्य' । वह वस्तु के कृत्रिम धरातल से प्रभावित होता है । उसके लिए कृत्रिम लिग 'कृत्रिम' नही होते, और वह उनके द्वारा सामने उपस्थित राम-रूप समझे नट मे उन्ही लिगो से हर्ष-शोक का अनुमान कर लेता है । दूसरी ओर वस्तु-तत्त्व के जानकार की दृष्टि मे रस भी अनुकरण-रूप है, और लिंग भी अभिनय के अग है, अर्थात् अभिनय-रूप है ।

इस प्रकार यदि लिंगो और रस के सम्बन्ध पर वस्तु-तत्त्व विवेचक व्याख्याता की दृष्टि से विचार किया जाए तो दोनो मे 'तादात्म्य' सम्बन्ध होगा । अनुकरण या अभिनय-रूप रस के साथ अभिनय-रूप लिगो का 'तादात्म्य' उसी प्रकार बनेगा जैसे वृक्षत्व और शिशपात्व मे धर्मकीर्ति ने दिखाया है ।[1] यदि इनके सम्बन्ध पर सामाजिक की दृष्टि से देखा जाए तो उसके लिए तो ये लिग कार्य-लिंग का काम करते है । जैसे शोक के सच्चे आसू किसी के हृदयगत शोक का पता देने मे कार्य-लिग होते है । वैसे ही नट के आसू भी उस राम समझे हुए नट के शोक का अनुमान करा देते है । इस प्रकार सामाजिक की दृष्टि से रस और लिगो के बीच

---

१ "स्वभ.व रवसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतु । यथा वृक्षोय शिशपात्वात् ।" न्यायबि दु, पृ० ४० ।

'तदुत्पत्ति' या 'तत्प्रभवत्व' सम्बन्ध होगा।

तीसरा प्रश्न शकुक के सामने यह हो सकता है कि जब लिग ही मिथ्या है तो उनके आधार पर सामाजिक को रसानुमान की अर्थक्रिया कैसे करा सकते है ? वस्तुत कोई वैदिक दार्शनिक मिथ्या ज्ञान को अर्थक्रियाकारी नही मानता। इसका समाधान शकुक बौद्ध धर्मकीर्ति की कारिकाए प्रस्तुत करते हुए देते हे। बौद्धो के अनुसार सभी मिथ्या ज्ञान अप्रमाण नही होते। वे उन मिथ्या ज्ञानो को भी प्रमाण मानते हे जो अविसवादी होते हे।[1] उनके प्रमाण का लक्षण है[2]—"अविसवादि ज्ञान प्रमाणम्" दो दिशाओ मे मणि-प्रभा और दीप-प्रभा को देखकर उन्हे मणि समझ कर दौडने वालो का ज्ञान समान रूप मे मिथ्या हे, किन्तु एक को उससे मणि मिलने की अर्थक्रिया हो जाती है, दूसरा खाली लौटता है। तो पहले का मिथ्या ज्ञान भी अर्थक्रियाकारी हे और अविसवादी होने के कारण 'प्रमाण' है। अत शकुक का तीसरे प्रश्न के समाधान मे उत्तर है कि यहा भी मिथ्या लिगो के द्वारा भावानुमान की अर्थक्रिया सम्भव हे, और उसे अप्रामाणिक मानने की आवश्यकता नही।[3]

इन तीनो प्रश्नो के समाधान अभिनवभारती मे इन शब्दो मे देखे जा सकते है[4]

१ "विभावा हि काव्यबलादनुसन्धेया। अनुभावा शिक्षात। व्यभिचारिण कृत्रिम-निजानुभावार्जनबलात्।"

२ "स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेय। रति शोक इत्यादयो हि शब्दा रत्यादि-कमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन, न तु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति। न हि वागेव वाचिकम्, अपितु तया निर्वृत्तम् अगैरिवागिकम्। · । अवगमनशक्तिर्ह्यभिनयन वाचकत्वादन्या। । तेन रतिरनुक्रियमाणा शृगार इति तदात्मकत्व तत्प्रभवत्व च युक्तम्।"

३ अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानाद् दृष्टा

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतो।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रिया प्रति।"

इन तीनो समाधानो मे पिछले दोनो शुद्ध बौद्ध दृष्टि के परिचायक हे। तीसरे तर्क मे तो धर्मकीर्ति,को स्पष्टत उद्धृत ही किया गया हे। यह कारिका धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक स्वर्थानुमान परिच्छेद, २, ५, ५७ से ली गयी हे। प्रज्ञाकर गुप्त ने इसे अपने वार्तिकालकार मे पृ० २१८ पर एक प्रसग मे प्रस्तुत किया हे।

और अन्त मे शकुक ने एक सम्बद्ध समस्या पर ओर विचार किया हे। इन लिगो के आधार पर होने वाली सामाजिक की प्रतीति कैसी होती हे ? सामाजिक नट को इन लिगो के आधार पर हर्ष-शोक से युक्त रामादि के रूप मे ग्रहण करता है। शकुक ने इसकी व्याख्या बौद्धो के चित्र-न्याय के आधार पर की है। जिस प्रकार रज्जु-सर्प-न्याय वेदान्तियो की विशेषता है, वैसे ही चित्र-न्याय का प्रयोग बौद्धो की विशेषता है। इस चित्र-न्याय का निरूपण धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक मे इस प्रकार किया है

---

१ "भ्रान्तमपि प्रमाणमविसवादात्।" वार्तिकालकार, पृ० २।

२. वही, पृ० १।

३ विशेष के लिए देखिए—'अभिनवभारती में श्रीशकुक का रस-विवेचन—एक व्याख्या।'

४ अभि० भा०, भ.० १, पृ० २७२-३।

"नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक् ।
अशक्यदर्शनस्त हि पतत्यर्थे विवेचयन् ।।"[1]

इसी चित्र-न्याय के आधार पर शकुक ने समझाया है कि जिस प्रकार दर्शक चित्र के रग-रेखाओ के अश्व को अश्व ही समझता है, वैसे ही सामाजिक राम का अभिनय करने वाले नट को लिगो के आधार पर हर्ष-शोक से युक्त राम समझता है ।[2] इसी राम समझे नट मे अनुमित रत्यादि, जो अनुकरण-रूप है, यथार्थ नही, रस है ।

इस प्रकार शकुक के अनुसार रस भावानुकरण-रूप है, जो सामाजिक को नट द्वारा अभिनीत विभावादि लिगो द्वारा नट-गत रूप मे प्रतीत होता है । सामाजिक चित्र-न्याय से नट को रामादि रूप मे ग्रहण करता है, और उसे लिगो के अनुसार हर्ष-शोकादि से युक्त जानता है ।

अभिनवभारती मे शकुक के इस रस-स्वरूप के उपस्थापन के अनन्तर अभिनव ने अपने गुरु भट्टतोत द्वारा किया शकुक के मत का खण्डन प्रस्तुत किया है, जिसके कतिपय तर्क शकुक की बौद्ध आधार-भूमि को ध्यान मे रखकर दिये गये प्रतीत होते है । हम यहा केवल उन्ही तर्को की चर्चा करेंगे जिनमे बौद्ध आधार-भूमि की स्वीकृति का पता चलता है ।

भट्टतोत कृत शकुक के मत का खण्डन

शकुक की सर्वप्रमुख मूल मान्यता हे—रस भावानुकरण-रूप है । आचार्य तोत का समस्त आग्रह रस की अनुकरणरूपता के खण्डन की ओर ही है । उन्होने चार विकल्पो की सम्भावना करते हुए रस की अनुकरणरूपता का खण्डन किया है । वे चार तर्क निम्न है

१ रस सामाजिक की प्रतीति की दृष्टि से अनुकरण-रूप नही हो सकता ।
२ रस नट के अभिप्राय से भी अनुकरण-रूप नही कहा जा सकता ।
३ रस को वस्तुवृत्त के विवेचक व्याख्याताओ की दृष्टि से भी अनुकरण-रूप सिद्ध नही किया जा सकता ।
४ ओर, स्वय भरत के वचनो का अनुसरण करते हुए भी रस अनुकरण-रूप सिद्ध नही होता ।

हम पीछे सकेत कर चुके है कि शकुक ने अपने रस-विवेचन मे अनेक बिन्दुओ पर सामाजिक और वस्तुस्थिति से परिचित विवेचक की दृष्टि से अलग-अलग विचार किया है । यह दृष्टि उन्हे बौद्ध विवेचन-प्रणाली से ही मिली हे । वे लोग पदार्थ सत्य तथा सवृति सत्य को अलग-अलग लेकर चलते है । भट्टतोत उनकी इस आधार-भूमि से परिचित है और अपने विकल्पो मे 'सामाजिक' और 'वस्तुतत्त्व-विवेचक व्याख्याता' का भी एक विकल्प रखते है

"किवा वस्तुवृत्तविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन, यथाहु — 'व्याख्यातार खल्वेव विवेचयन्ति' इति ।"[3]

आचार्य धर्मकीर्ति ने 'सामान्य' की समस्या पर 'व्यवहारी व्यक्ति' और 'वस्तुतत्त्व विवेचक व्याख्याता' दोनो की दृष्टि से अलग-अलग विचार करते हुए लिखा है

---

१. परमार्थसार, पृ० १६ ।
२ अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७३ ।
३ अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७४ ।

"व्याख्यातार खल्वेव विवेचयन्ति, न तु व्यवहर्तार"[१]

भट्ट तोत के शब्द शकुक के प्रति आक्षेप करते हुए सीधे उनकी मूल चेतना के आधार धर्मकीर्ति की ओर है। "व्याख्यातार खल्वेव विवेचयन्ति" ये शब्द धर्मकीर्ति के शब्दो का उद्धरण मात्र है।

भट्ट तोत के इस प्रकार शकुक और धर्मकीर्ति को मिलाकर एक साथ आक्षेप करने का कारण है। शकुक ने अपने सिद्धान्त की स्थापना मे धर्मकीर्ति के सामान्य विवेचन से प्रेरणा ली है। धर्मकीर्ति ने अपना सामान्य विवेचन इस प्रकार किया है

"पररूप स्वरूपेण यया सव्रियते धिया।
एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिन ॥
तया सवृतनानार्था सवृत्या भेदिन स्वयम्।
अभेदिन इवाभान्ति भावा रूपेण केनचित् ॥
तस्या अभिप्रायवशात् सामान्य सत् प्रकीर्तितम्।
तदसत् परमार्थेन यथा सकल्पित तथा ॥"[२]

धर्मकीर्ति की इस मान्यता के अनुसार बाह्य स्वलक्षण परस्पर एक-दूसरे से भिन्न होते है। एकार्थता का प्रतिभास दृष्टा की विकल्पिका बुद्धि द्वारा आरोपित होता है। एकार्थता प्रतिभास पदार्थ का 'विकल्पित' रूप है। इसे ही अन्यत्र 'विप्लव', 'सप्लव', 'उपप्लव' आदि शब्दो से भी कहा गया है।[3] सामान्य व्यवहारी पुरुष 'दृश्य' तथा 'स्वलक्षण' मे भेद करके नही चलता। वह 'विकल्प' से अभिन्न माने हुए 'स्वलक्षण' को ही अर्थक्रिया-योग्य समझता है, और उसे इससे अर्थक्रिया होती भी है। किन्तु वस्तुतत्त्व से परिचित 'व्याख्याता' उस विकल्प को विवेचित करके चलता है।[४] कहना चाहिए, व्यवहारी व्यक्ति के लिए विकल्प या सप्लव अविवेचित रह जाता है, व्याख्याता के लिए वह विवेचित होता है, अलग-अलग रहता है।

शकुक का सामाजिक एक व्यवहारी पुरुष ही तो है। वह नट को राम मे भिन्न करके नही देखता। वस्तुत नट और राम दोनो भिन्न है, तथापि उसकी विकल्पिका बुद्धि उनमे एकार्थता का प्रतिभास करके चलती है। विकल्पिका बुद्धि के इस 'सप्लव' को वह विवेचित करके अर्थात् अलग-अलग करके नही चल पाता, यह तो तत्त्व से परिचित व्याख्याता ही है जो दोनो मे भेद करके चलता है। शकुक ने चित्र-न्याय से सम्बन्धित निम्न कारिकाओ को प्रस्तुत करते हुए सामाजिक की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है। सम्भावना है, ये कारिकाए किसी बौद्ध ग्रन्थ से ही ली गयी है

"प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्व न विपर्यय।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्धबुद्धयसभेदादविवेचितसप्लव ॥
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभव कया ॥"[५]

---

१ धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक स्वार्थानुमानपरिच्छेद, पृ० १७०।
२ वही सामान्यचिन्ता, कारिका ७०-७२, पृ० १६६।
३ सर्वदर्शनसग्रह बौद्धदर्शन, पृ० ३३।
४ विशेष के लिए देखिए—'आचार्य शकुक के अनुमानवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि' हिन्दी अनुशीलन वर्ष १४, अक १, जनवरी-मार्च, ६१।
५ अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३।

इन कारिकाओ मे बताया गया है कि सामाजिक नट को जिम समय लिगो के आधार पर सुख-दु खादि सवलित रामादि के रूप मे ग्रहण करता है, उस समय 'यह सुखी या दु खी राम है' बस ऐसी चेतना होती है। उसका यह अनुभव सप्लव-रूप है। और इस सप्लव मे कोई विरोधिनी बुद्धि अनुभूति-काल मे सामाजिक की चेतना मे नही आती है, अत इस अनुभव मे यह 'सप्लव' अविवेचित रह जाता है। सामाजिक के इस स्फुरित अनुभव को किस युक्ति से अस्वीकार किया जा सकता है ?

स्पष्ट है, शकुक ने अपनी स्थापना मे धर्मकीर्ति के सामान्य-विवेचन से सीधी सहायता ली हे। भट्ट तोत ने इसीलिए शकुक की मूल चेतना के स्थल की ओर सकेत करते हुए धर्मकीर्ति के शब्दो को शब्दत उद्धृत करके शकुक पर आक्षेप किया है। इस प्रकार वस्तुवृत्त के विवेचक व्याख्याताओ का एक विकल्प बनाना शकुक की बौद्ध आधार-भूमि की ओर निश्चित सकेत करता है।

ओर, इम विकल्प को मानकर जो रस की अनुकरणरूपता का खण्डन किया गया है, उमसे भी यही बात है। कहा गया है

"नापि वस्तुवृत्तानुसारेण तदनुकारत्वम्। अनुसवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्ते।"[1]

वस्तुवृत्त का अर्थात् वास्तविक स्थिति का ध्यान करके भी रस की अनुकरणरूपता नही कही जा सकती, क्योकि 'रस' सामाजिक की अनुभूति का 'विषय' है, 'अनुसवेद्यमान' है। सामाजिक की अनुभूति के समय उसके समक्ष वस्तुवृत्तता नही आती।"

भट्ट तोत कहना चाहते हे कि रस अनुभूति का विषय है, और रसानुभव के समय वस्तुवृत्तता का प्रश्न ही नही उठता। इस प्रकार वस्तुवृत्त की दृष्टि से रस की अनुकरण-रूपता सम्भव नही। वस्तुत भट्ट तोन का यह उत्तर उचित नही। शकुक की दृष्टि से तो वस्तुतत्त्व का विवेचक व्याख्याता सवेदन की स्थिति से अलग होता है। अत उमकी दृष्टि से रस की अनुकरणरूपता कही जा सकती हे। किन्तु भट्ट तोत और अभिनव वस्तुवृत्तता को शकुक की दृष्टि से लेना ही नही चाहते। अत अभिनव कहते है, जो वस्तुवृत्त हे, हम उसे आगे दिखाएगे

"यच्च वस्तुवृत्त तद् दर्शयिप्याम"[2]

किन्तु 'वस्तुवृत्त' को उसी रूप मे न लेकर जिस रूप मे शकुक ने लिया, अपनी दृष्टि से लेना और फिर वस्तुवृत्त-विवेचक व्याख्याता की दृष्टि से रस की अनुकरणरूपता का खण्डन करना उचित नही कहा जा सकता।

भट्ट तोत ने शकुक पर एक और आक्षेप किया है, जो शकुक को निश्चित रूप मे बौद्ध मानकर चलता है

"नर्तकान्तरेऽपि च रामोऽयमस्तीति प्रतिपत्तिरस्ति। ततश्च रामत्व सामान्यरूपमित्यायातम्॥"[3]

भट्ट तोत का कहना है कि सामाजिक एक ही नट को लिगो के आधार पर राम नही समझता, अन्य नटो को भी राम रूप मे ग्रहण करता है, कर सकता है। इस प्रकार अनेक

---

१ अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३।
२ अभि० भा०, भा० १, पृ० २७४।
३ वही, पृ० २७५।

राम-रूपा प्रतीतियो मे एक रामत्व मानना होगा, और इस प्रकार रामत्व सामान्य को स्वीकार करना होगा।

यहा उल्लेखनीय यह है कि यह तर्क बिलकुल स्वतन्त्र है, और इसका ऊपर-नीचे की चर्चाओ से कोई सम्बन्ध नही है। हम जानते है कि बौद्ध 'सामान्य' को नही मानते। वे उसे अभाव-रूप कहते है। वैदिक नैयायिक सामान्य को भाव-रूप मानते है, और अनेक तर्को से बौद्धो की मान्यता को उपहासास्पद दिखाते है। भट्टतोत किसी प्रकार घुमा-फिराकर शकुक के सामने एक सामान्य का पचडा लाकर खडा कर देते है। यह तब तक नही हो सकता जब तक शकुक को सामान्य का विरोधी बौद्ध न माना जाए।

आचार्य महिमभट्ट

महिमभट्ट का समय अभिनव और मम्मट के बीच समझा जाता है। वे एक कट्टर ध्वनि-विरोधी आचार्य थे, और उन्होने अपने व्यक्तिविवेक की रचना ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन करके ध्वनि को अनुमान मे ही अन्तर्भूत करके दिखाने के लिए की थी।[1] फिर भी वह काव्य की आत्मा रस को ही मानते थे।[2] इस प्रकार वे ध्वनि-विरोधी होते हुए भी रस-वादी थे।

जहा तक शब्द-शक्तियो का प्रश्न है, महिम केवल एक शब्द-शक्ति मानते है—अभिधा। तात्पर्या, लक्षणा और व्यजना शब्द-शक्तिया नही, अपितु अर्थ-व्यापार है। ये सभी अर्थ-व्यापार वाच्य अर्थ और उससे निकलने वाले दूसरे अर्थ के बीच है। इन सबको वे एक ही गम्य-गमक-भाव से गतार्थ मानते हुए अनुमान मे ही अन्तर्भूत दिखाते है।[3]

महिम ने रस-स्वरूप का विवेचन अलग से नही किया। असलक्ष्यक्रम ध्वनि को अन्य ध्वनि-भेदो के समान अनुमान द्वारा गतार्थ दिखाते हुए रस-स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रासगिक चर्चा आयी है।

रस-स्वरूप

प्रासगिक रूप से एक स्थल पर रस का स्वरूप महिम ने इन शब्दो मे प्रस्तुत किया है

"तदेव विभावादीना हेत्वादीना च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्य-लोकविषयतया न स्वरूपभेदे विषयभेदे चावस्थिते सत्येकत्वासिद्धेर्यदा विभावादिभिर्भाविपु रत्यादिष्वसत्स्वेपु एव प्रतीतिरूपजन्यते तदा तेषा तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्य-वृत्त्योपपद्यन्त एव। तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वाद स्वाभाविक इत्युक्तम्।"[4]

इन शब्दो मे रस का स्वरूप प्रासगिकतया असाक्षात् रूप से ही निरूपित है। इसे समझने के लिए महिम की कतिपय अन्य मान्यताए इस सन्दर्भ मे जान लेनी चाहिए जिन्हे उन्होने अन्यत्र प्रस्तुत किया है।

---

१ "अनुमानेऽन्तर्भाव सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेक कुरुते प्रणम्य महिमा परा वाचम्॥" व्यक्तिविवेक, विमर्श १, पृ० १।

२ "काव्यस्यात्मनि सज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमति", वही, पृ० १०५।

३ "शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिगता।" वही, पृ० १०५।
"सर्व एव हि शाब्दो व्यवहार साध्यसाधनभावगर्भतया प्रायेणानुमानरूपोऽभ्युपगन्तव्य" वही, १०६।

४. व्यक्तिविवेक, विमर्श १, पृ० ७३।

१ विभावादि की लौकिक एव काव्यनिष्ठ स्थिति मे अन्तर होता है। लौकिक रूप मे ये कारण, कार्य, सहकारी होते है और अकृत्रिम होते है। किन्तु काव्य मे ये कृत्रिम होते है, कवि द्वारा चित्रित। इसीलिए इनके लौकिक नाम हेत्वादि है, काव्यगत नाम विभावादि। अत हेत्वादि और विभावादि मे विषयात्मक तथा स्वरूपात्मक भिन्नता है।

२ इन विभावादि मे रत्यादि की अनुमानात्मक प्रतीति होती है। अत विभावादि और रत्यादि के बीच गम्यगमक-भाव सम्बन्ध होता है। विभावादि और रत्यादि की प्रतीति साथ-साथ नही होती, अपितु आगे-पीछे होती है। उसमे कालिक क्रम अवश्य होता है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण लक्षित नही होता। इसी कारण उसे असलक्ष्यक्रम कहा जाता है। इस कालिक अन्तर के कारण ही दोनो के बीच साध्यसाधन-भाव या गम्यगमक-भाव उपपन्न हो जाता है।[1]

३ लोक मे जब हम अकृत्रिम हेत्वादि के आधार पर किसी व्यक्ति मे रत्यादि का अनुमान करते है तो वह सद्भूत रत्यादि का अनुमान होता है, किन्तु काव्य द्वारा जब हम कृत्रिम विभावादि से किसी पात्र-विशेष मे रत्यादि का अनुमान करते है तो वह असद्भूत रत्यादि का ही अनुमान होता है।

इस प्रकार महिम के अनुसार विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी के द्वारा गम्यगमक-भाव से असत्यभूत रत्यादि स्थायी भावो की अनुमानात्मक प्रतीति ही रस है। सत्ता की दृष्टि से रत्यादि असत्यभूत होते है, क्योकि उनके आधार विभावादि भी सत्तारूप मे कृत्रिम अत असत्य होते है। इन रत्यादि की सत्ता केवल अनुमानात्मक प्रतीति के रूप मे ही होती है, यही रस है। इन्ही अनुमित रत्यादि की प्रतीति का परामर्श ही 'रसास्वाद' है। 'परामर्श' से महिम कहना चाहते है कि इन अनुमीयमान रत्यादि की चमत्कारपूर्ण उपस्थिति को सामाजिक प्रमाता अनुभव करता है और आनन्दित होता है।

'असत्यभूत रत्यादि का परामर्श रस है' इस मान्यता के सम्बन्ध मे यह शका उठना स्वाभाविक है कि असत् वस्तु का ज्ञान भ्रान्ति है, और भ्रान्ति-रूप ज्ञान से किसी को आनन्दलाभ कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध मे महिम के पास अपना कुछ उत्तर नही है, वे शकुक द्वारा प्रस्तुत धर्मकीर्ति की कारिका को शकुक से लेकर ही प्रस्तुत कर देते है

"भ्रान्तिरपि सम्बन्धत प्रमा इति—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतो।

मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रिया प्रति।"[2]

दूसरी शका वही है जो प्राय उठा करती है कि जब लौकिक रूप मे हम इसी प्रकार की सामग्री से इन्ही रत्यादि भावो का अनुमान करते है तब ये एकान्त रूप मे आनन्दात्मक नही होते, प्राय कष्टात्मक भी होते है। तब काव्यरूप मे तो ये मिथ्या-प्रतीति के रूप मे और आ रहे है। इनकी अनुभूति या परामर्श आनन्दात्मक ही कैसे हो सकती है?

इसका समाधान महिम ने काव्यानुभूति की प्रकृति को श्रेय देते हुए किया है। काव्यानुमिति लौकिक हेत्वादि द्वारा नही, काव्यनिष्ठ विभावादि द्वारा आती है। प्रत्यक्ष अनुभूतिया

---

१ "वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोर्यथा क्रमेणैव प्रतीतिर्न समकाल यथा चानयोर्गम्यगमकभाव तथा तेनैव व्यक्तिवादिना तयो स्वरूप निरूपयितुकामेनापि उक्तम्।" व्यक्तिविवेक, विमर्श १, भाग १, पृ० ६३।

२. वही, पृ० ७४।

भले ही दु खात्मक होती हे, काव्य से रत्यादि की उपलब्धि परोक्ष रत्यादि की होती हे । इस परोक्षता तथा कवि की सर्जना के कौशल का प्रभाव काव्यानुभूति को सुखात्मक ही बनाते हे—

(क) "यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकमवेद्यो रसास्वादोदय इति वस्तुस्वभाव एवाय न पर्यनुयोगपदवीमवतरति प्रामाणिकानाम् ।"[1]

(ख) "आस्ता वा रत्यादिर्नित्यपरोक्ष । प्रत्यक्षोपि ह्यर्थ साक्षात् सवेद्यमान सन्नेतमा न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव सत्कविना वचनगोचरता गमित । । सोपि च तेषा न तथा स्वदते यथा तैरेवानुमेयता नीत इति स्वभाव एवाय न पर्यनुयोगमर्हति । तदुक्तम्—

नानुमितो हेत्वाद्यै स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यै ।
न सुखयति वाच्योर्थ प्रतीयमान स एव यथा ।" इति ।[2]

इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि महिम रस को सुख-रूप मानते हे। उनकी दृष्टि से रत्यादि की सत्यासत्यता का प्रश्न अनावश्यक है । बल्कि यह असत्यता और परोक्षता काव्य-निष्ठ वैषयिक चारुत्व से मिलकर भावानुमिति को चमत्कारपूर्ण बनाते हे और उनकी दु खात्म-कता का अवकाश समाप्त करती है ।

महिमभट्ट और शकुक

महिमभट्ट ने शकुक से रस-निरूपण मे पर्याप्त प्रेरणा ली है । हेत्वादि और विभावादि की लौकिक और काव्यनिष्ठ स्थिति का पार्थक्य और अकृत्रिमता तथा कृत्रिमता, विभावादि और रत्यादि के बीच गम्यगमक सम्बन्ध की स्वीकृति, लौकिक-अनुमान और काव्यानुमान मे वैलक्षण्य, मिथ्याभूत रत्यादि की प्रतीति से सुखास्वाद की अर्थक्रिया और उसके लिए मणि-प्रदीपप्रभा वाला उदाहरण ये सभी बाते महिम मे शकुक के प्रभाव मे ही आयी है । इस प्रकार समस्त ध्वनिभेदो तथा अन्य लक्ष्यार्थ इत्यादि को अनुमान से गतार्थ दिखाने के व्यापक प्रयास की मौलिकता का श्रेय भले ही महिम को दिया जा सके, पर रस के स्वरूप, व्याख्या और अनु-मेयत्व विषयक मान्यताओ के सम्बन्ध मे तो उनकी एकान्त मौलिकता स्वीकार नही की जा सकती ।

महिम के रस-विवेचन का दार्शनिक आधार

महिम ने रस-विवेचन मे न्याय का आधार लिया है, यह बात स्पष्ट है । किन्तु शकुक के समान ही उनके विषय मे भी यह कहना सहज नही कि वे किस न्याय-पद्धति के अनुसर्ता थे । उनके समूचे निरूपण पर ध्यान देते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते है कि उन पर भी शकुक के समान ही बौद्ध न्याय का भारी ऋण है । पहले हम उन बातो की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते है जो उन्हे बौद्ध मानने से रोकती है -

बौद्ध-प्रभाव के विपक्षी सूत्र

१ महिम ने लोक, वेद और अध्यात्म इन तीनो को प्रामाणिक माना है, तथा वेद के

---

१ व्यक्तिविवेक, विमर्श १, पृ० ६६ ।
२ वही, पृ० ७३-४ ।

अन्तर्गत इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि को भी स्वीकार किया है।[1] वेद-शास्त्रो के प्रति यह आस्था एव प्रमाण-दृष्टि बौद्धो मे नही पायी जाती।

२ महिम ने शिव और पार्वती का उल्लेख प्रसग आने पर आस्थापूर्ण शब्दावली मे किया है।[2]

३ उन्होने शैव-दर्शन की कतिपय मान्यताओ को भी सिद्धान्त-पक्ष मे प्रस्तुत किया है। इन मान्यताओ की व्याख्या जयरथ ने भी शैव दृष्टिकोण के अनुरूप ही की है।[3]

४ रत्यादि भावो को महिम ने 'स्थायी भाव' स्वीकार किया है।[4] शकुक ने इस स्थायित्व को अस्वीकार करते हुए व्यावहारिक दृष्टि से ही इन्हे स्थायी कहा है, हम यह देख चुके है।

५ महिम ने पदो के नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय भेद मानते हुए नाम के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य चार भेद दिखाये है। एक मत केवल क्रियावादी भी प्रस्तुत किया है।[5] ये दोनो वैयाकरणो की मान्यताए है और इनका उल्लेख वाक्यपदीय मे इसी रूप मे हुआ है। पर इस प्रसग मे महिम ने बौद्धो का अपोहवादी मत कही प्रस्तुत नही किया।

इन सूत्रो पर ध्यान देने से लगता है कि महिम की आस्था बौद्ध-दर्शन की ओर नही थी। पर बात ऐसी नही है। हम अभी देखेगे कि बौद्ध न्याय का प्रभाव उन पर बहुत दूर तक है।

इन विपक्षी सूत्रो मे भी वेदादि को प्रमाण-पक्ष मे रखने की बात जहा तक है, वह तो महिम ने अनुमान-प्रक्रिया मे अपेक्षित साध्यसाधनभाव के अगरूप मे स्वीकृत की है

"साध्यसाधनभावश्चानयोरविनाभावावसायकृतोऽवगन्तव्य । स च प्रमाणमूल । तच्च त्रिविधम्। यदाहु —"लोको वेदस्तथाध्यात्म प्रमाण त्रिविध स्मृतम्।"[6] इति

शिव और पार्वती के उल्लेख भी इसी शास्त्रप्रमाण के अन्तर्गत आये हैं। कहा जा सकता

---

१ "लोको वेदस्तथाध्यात्म प्रमाण त्रिविध स्मृतम्।" "वेदग्रहणमितिहासपुराणधर्मशास्त्राद्युपलक्षण तेषा तन्मूलत्वोपगमात्।" व्यक्तिविवेक, पृ० ४२ तथा ४३।

२ "अत्र हि कारणभूतस्य भगवद्गतस्य सम्प्रदानत्व ।" "सा चानुमीयमाना सती भगवती भवे भर्तरि रतिमनुमापयेति।" वही, पृ० क्रमश ४४ तथा ५१।

३. "मूलच तस्याश्चित्रार्थाभासाविष्कृतिरीशितु ।" वही, पृ० ३३।
"सत्ताया व्यापृतिश्चैषा चित्रत्वपरिनिष्ठिते ।
संगच्छते जडस्यापि घटादेर्घट्टनादिवत्।" वही, पृ० ३५।
"इह खलु घटादीना पदार्थाना बहि सिद्धावपि प्रतिपत्तर्यसिद्धेरेव, बहि सत्तामात्रेणासत्कल्पेन व्यवहर्तृणा व्यवहारासिद्धे । प्रतिपत्तरि सिद्धि प्रकाश एव। स चा प्रकाशमानाना प्रका ग प्रति ताटस्थ्येनावस्थिताना न भवन्ति, सम्बन्धानुपपत्ते । प्रकाशमानत्व च प्रकाशाविशिष्टत्वेन प्रकाशरूपतयैव। प्रकाशश्च निष्परामर्शत्वेन स्फुरत्वाज्जडकल्प एव। परामर्श स्वात न्त्र्याख्य कर्तृत्वम्। तदिहैकैकोपि पदार्थ प्रकाशात्मतया लब्धस्वातन्त्र्यस्वभाव परमेश्वर' कर्तृत्वमनुभवत्येव । ततश्च विश्वस्याविष्करणक्रिया स्वतन्त्रस्वभाव-परमेश्वरसम्बन्धिनी चित्राभासाविष्कृति मूलत्वेनावष्टभ्य घटादयोपि प्रकाशैकात्मान सत्ताव्यापृतौ स्वतन्त्रतामनुभवन्त्येव। । एतदेव प्रकटीकरिष्यति "सत्ताया व्यापृतिश्चेयमित्यत्र।" जयरथ, व्यक्तिविवेकव्याख्यानम्, वही, पृ० ३३-३४।

४ "ये लोके रत्यादयो रामादिगता स्थेमभाजोवस्थाविशेषा " वही, पृ० ६८। व्यक्तिविवेक।

५. व्यक्तिविवेक, पृ० २२ तथा २३।

६. व्यक्तिविवेक, पृ० ४४।

है, महिम अपने सिद्धान्त को उपलब्ध काव्य-साहित्य के लिए मानदण्ड बनाना चाहते थे। यदि वे इनमे प्रतिपादित आस्थाओ को ही मूल मे अस्वीकार कर देते तो उनके सिद्धान्त की उपयोगिता ही क्या रह जाती ?

शैव-दर्शन की मान्यताए भी सीधे-सीधे उनमे आती प्रतीत नही होती। उन्होंने व्याकरण-सम्बन्धी मान्यताओ को ज्यो का त्यो व्याकरण के प्रामाणिक ग्रन्थो से प्रस्तुत किया है, विशेषत वाक्यपदीय से, जिस पर शैव आस्थाओ का गहरा प्रभाव है। यह मान्यता भी वाक्य-पदीय-स्थित क्रिया-सत्तावादी मत को प्रस्तुत करते हुए ही प्रस्तुत की गयी है। बौद्धो के पास अपना अलग से कोई व्याकरण नही था। उसके अनुयायी विद्वान् भी पाणिनीय-परम्परा को ही अपनाते थे।

रत्यादि भावो को स्थायी कहने वाली बात भी शकुक के समान ही व्यवहार-दृष्टि मे कही जा सकती है।

शब्द-चतुष्टय-वाद के सम्बन्ध मे भी यही माना जा सकता है कि महिम ने वैयाकरण मान्यता को ही तटस्थतया स्वीकार करके प्रस्तुत किया है। व्याकरण-सम्बन्धी मान्यताओ के विषय मे उन्होने पग-पग पर भर्तृहरि आदि को प्रस्तुत किया है। यह बात भी वैसी ही माननी चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त विपक्षी सूत्र अपने मे निर्णायक नही है। विशेषकर तब, जबकि उनके निरूपण मे उनकी न्याय-सम्बन्धी मान्यताओ मे बौद्ध धारणाओ का अधिक स्पष्ट प्रति-फलन दिखाई पडता है।

बौद्ध-प्रभाव के प्रतिपादक सूत्र

१. अनुमान-लक्षणों की शब्दावली—महिम भट्ट ने प्रासगिक रूप से जो अनुमान के लक्षण प्रस्तुत किये हैं उनकी शब्दावली सीधी बौद्ध आचार्यों से आयी हुई है। महिम ने अनुमान को निम्न शब्दो मे प्रस्तुत किया है

(क) "लिंगाच्च लिंगिन प्रतीतिरनुमानम्।"[1]

"अविनाभावावसायपूर्विका ह्यन्यतोऽन्यस्य प्रतीतिरनुमानमित्यनुमान-लक्षणनम्।"[2]

इन दोनो लक्षणो की शब्दावली सामान्य है, और इस प्रकार से किसी भी दर्शन के ग्रन्थो मे पायी जा सकती है। पर निम्न लक्षण कुछ विशेष रूप रखते हैं।

(ख) "त्रिरूपाल्लिगाद्यदनुमेये ज्ञान तदनुमानम्।"[3]

(ग) "त्रिरूपलिंगाख्यान परार्थानुमानम्।"[4]

(घ) "सामान्येन सम्बन्धिनार्थप्रतिपत्तिरनुमानम्।"[5]

बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान का लक्षण क्रमश इन

१. व्यक्तिविवेक, पृ० ११६।
२ वही, पृ० १११।
३ वही, पृ० ६४, १०५।
४ वही, पृ० ७८।
५ वही, पृ० ७८।

शब्दो मे किया है

(क) 'तत्र स्वार्थ-त्रिरूपाल्लिगाद्यदनुमेये ज्ञान तदनुमानम् ।"[1]

(ख) "त्रिरूपलिगाख्यान परार्थानुमानम् ।"[2]

महिम भट्ट के ऊपर के 'ख' और 'ग' के अन्तर्गत आये लक्षण धर्मकीर्ति से ही लिये गये है । इस पदावली मे अन्य दर्शनो के नैयायिको ने अनुमान-लक्षण प्राय नही किये ।

धर्मकीर्ति ने अनुमान को 'सामान्य-लक्षण' कहा है ।[3] यह सामान्य शब्द जाति-वाचक नही जिसे अन्य दार्शनिक नित्य पदार्थ मानते है । इसे अनेक पदार्थों मे पाया जाने वाला ऐसा साधारण रूप कहा गया है जो तात्त्विक दृष्टि मे समारोपित और कल्पित है ।[4] ऊपर महिम भट्ट का अन्तिम अनुमान-लक्षण इसी सामान्य रूप के माध्यम से किया गया है—"सामान्येन सम्बन्धिना अर्थप्रतिपत्तिरनुमानम् ।" अत वह भी बौद्ध धारणा के अनुरूप है ।

२ **अनुमान की ज्ञानरूपता एव वचनरूपता**—धर्मकीर्ति ने स्वार्थानुमान को ज्ञान-रूप और परार्थानुमान को वचनात्मक माना है ।[5] महिम के लक्षणो मे भी धर्मकीर्ति से ही लिये जाने के कारण यह बात मौजूद है । "त्रिरूपाल्लिगाद्यदनुमेये ज्ञान तदनुमानम् ।" तथा "त्रिरूपलिगाख्यान परार्थानुमानम्" लक्षणो मे एक को 'ज्ञानरूप' दूसरे को 'आख्यानरूप' कहा गया है । वैसे अनुमान को स्वार्थानुमान और परार्थानुमान रूप मे वर्गीकृत करना कदाचित् बौद्धो की ही उपलब्धि है, जो प्राच्य न्याय मे नही मिलती । नव्य न्याय के परवर्ती ग्रन्थो जैसे न्याय-मुक्तावली, तर्कभाषा, तर्कसग्रह आदि मे तो पायी जाती है । ये नव्यन्याय के ग्रन्थ महिम से परवर्ती है । नव्यन्याय का विकास गगेश उपाध्याय से बारहवी शती से माना जाता है ।

३ **अनुमान की त्रिरूपता**—महिम के अनुमान की एक विशेषता है—हेतु का त्रैरूप्य मानना । मम्मट ने उनका निराकरण करते समय उनकी इस मान्यता को दुहराते हुए कदाचित् यह सकेत किया है कि महिम एक विशिष्ट प्रकार की न्याय-पद्धति मानते है, गौतमीय न्याय की नही ।[6] गौतमीय न्याय मे हेतु को पचरूपी ही माना गया है । हेतु के तीन रूप है—पक्षसत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्ष-असत्त्व । साख्य[7] वैशेषिक[8] और बौद्ध[9] नैयायिक हेतु को त्रिरूप मानते है, शेष चार और प्राय पाँच रूप वाले हेतु को ही ठीक समझते है । महिम की त्रिरूपता बौद्धो से आयी हुई है, साख्य या वैशेषिक से नही । अन्य बाते साख्य और वैशेषिक मे नही मिलती ।

---

१ न्यायबिन्दु द्वितीय परि०, पृ० २१ ।

२ वही, पृ० ४६, परि० ३ ।

३. "अन्यत्सामान्यलक्षणम् ।" वही, पृ० १७, प्रथम परि० ।

४ "सामान्येन लक्षण सामान्यलक्षणम् । साधारण रूपमित्यर्थ । समारोप्यमाण हि रूप सकलवह्नि-साधारणम् । ततस्तत्सामान्यलक्षणम् ।" धर्मोत्तराचार्यकृत टीका वही, पृ० १७-१८ ।

५. 'न्यायबिन्दु' धर्मोत्तरटीका, पृ० २१—"परार्थानुमान शब्दात्मक स्वार्थ० तु ज्ञानात्मकम्" ।

६ काव्यप्रकाश, उ० ५, पृ० २५२—" व्याप्त्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिगाल्लिगिज्ञान यत् तद्रूप. पर्यवस्यति ।"

७. साख्यकारिका, माठरवृत्ति, कारिका ५ की वृत्ति ।

८. "यदनुमेयेन सम्बद्ध, प्रसिद्ध चतदन्विते ।
तदभावे च नास्त्येव, तल्लिगमनुमापकम् ।" वैशेषिक दर्शन, प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २००, विजयनगर स० सी०, १८९५ ई० ।

९ न्यायबिन्दु, द्वितीय परिच्छेद ।

४ **उपमान का अनुमान मे अन्तर्भाव**—महिम ने उपमानादि को पृथक् प्रमाण न मानते हुए अनुमान मे ही उन्हे अन्तर्भूत माना है।[1] गौतमीय न्याय उपमान को पृथक् प्रमाण मानता है। इसे अनुमान मे अन्तर्भूत मानने वाले दर्शन है—साख्य-योग, वैशेषिक और बौद्ध। अत गौतमीय न्याय से महिम का सम्बन्ध नही हो सकता।

५ **दो प्रमाण**—महिम ने प्रत्यक्ष और अनुमान केवल द्विप्रमाणवादी मान्यता को प्रामाणिक माना है। गौतमीय न्याय चार प्रमाण मानता है। साख्य-योग उपमान को न मानते हुए भी तीन प्रमाण स्वीकार करते है। द्विप्रमाणवादी केवल दो दर्शन है—वैशेषिक और बौद्ध।[2]

६ **दृष्टान्त का महत्त्व-शैथिल्य**—महिम भट्ट ने दृष्टान्त को वह महत्त्व नही दिया जो वैदिक नैयायिक दिया करते है। गौतमीय न्याय मे तो पचावयवी अनुमान वाक्य ही स्वीकार किया गया है। साख्य और मीमासा के अनुयायी तीन ही अवयव स्वीकार करते है। ये अवयव होते है—प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त। दृष्टान्त के महत्त्व के विषय मे सभी एकमत है। केवल बौद्ध ग्रन्थो मे उसके प्रति उपेक्षा बरती गयी है। वैशेषिक नैयायिक तो पाँच अवयव ही मानते है।[3]

महिमा ने दृष्टान्त को अनिवार्य न मानते हुए प्रमाणस्वरूप एक कारिका प्रस्तुत की है जो कदाचित् किसी बौद्ध ग्रन्थ से ली गयी है। कारिका इस प्रकार है

"तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिन।
ख्याप्येते, विदुषा वाच्यो हेतुरेव तु केवल॥"[4]

धर्मकीर्ति ने दृष्टान्त को पृथक् अवयव न मानते हुए कहा है

"तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग् दृष्टान्तो नाम साधनावयव कश्चित्।"[5]

उनके अनुसार यदि कही दृष्टान्त है भी तो वह हेतु मे ही अन्तर्भूत है। इस दृष्टि से उन्होने सदृष्टान्त हेतु और शुद्ध हेतु के रूप मे अपने 'स्वभाव हेतु' को प्रस्तुत किया है।[6] दृष्टान्त के विषय मे यही दृष्टिकोण महिम ने अपनाया है।

इस प्रकार लिंग को त्रिरूप मानना, उपमान को अनुमान मे अन्तर्भूत मानना, दृष्टान्त को अनावश्यक मानना तथा दो प्रमाण मात्र स्वीकार करना—ये बाते ऐसी है जिनके कारण महिम का न्याय गौतमीय न्याय नही रह जाता।

---

१ "उपमानादीना च तत्रैवान्तर्भावात्" व्यक्तिविवेक, पृ० ७८।

२. वैशेषिक—"शब्दादीनामनुमानेऽन्तर्भाव समानविधत्वात्।" वैशे० द०, प्रश०, पृ० २१३।
"एतेन शाब्द व्याख्यातम्।" अ० ९, आ० २, स० ३, पृ० ३३१ वही।
बौद्ध—"द्विविध सम्यग्ज्ञानम्, प्रत्यक्षमनुमान च" न्यायबिन्दु, पृ० ७-८।

३ "पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादन परार्थानुमानम्।"
पञ्चावयवेनैव वाक्येन सशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नाना परेषा स्वनिश्चितार्थप्रतिपादन परार्थानुमान ज्ञेयम्।"
वैशेषिक दर्शन वही, पृ० २३।
"अवयवा पुन प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नाया।" वही, पृ० २३३।

४ व्यक्तिविवेक, पृ० ६५।

५. न्यायबिन्दु, वही, पृ० ९१।

६ "तथा स्वभावहेतो प्रयोग—यत्सत्तत्सर्वमनित्य यथा घटादिरिति। शुद्धस्य स्वभावहेतो प्रयोग—यदुत्पत्तिमत् तदनित्यम्।" न्यायबिन्दु, पृ० ४९-५०।

उपमान को न मानकर तथा हेतु को त्रिरूप मानकर भी माख्य महिम को प्रभावित करता हुआ इसलिए नही माना जा सकता कि वह द्विप्रमाणवादी नही है, नथा दृष्टान्त के प्रति जागरूक है।

वैशेषिक द्विप्रमाणवादी, और लिग के त्रैरूप्य को मानकर भी दृष्टान्त के प्रति उपेक्षा नही करता। वैशेषिक मे भक्ति या लक्षणा की स्वीकृति है, पर महिम ने लक्षणा को भी पृथक् शब्द-शक्ति न मानकर अनुमान-प्रक्रिया मे ही अन्तर्भूत किया है। लिग-त्रैरूप्य, दृष्टान्त-शैथिल्य, द्विप्रमाणत्व आदि सब बाते मिलकर महिम को वैशेषिक अनुयायी भी नही रहने देती।

७ **स्वभाव और कार्यहेतुओ की स्वीकृति**—बौद्ध न्याय मे हेतु के तीन प्रकार माने गये है—अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य। इनमे पहला अभावात्मक है और अभावात्मक अनुमेय का ज्ञान कराता है, शेष दो भावात्मक है और भावात्मक अनुमेय का ज्ञान कराते है।[1] स्वभाव हेतु मे 'तादात्म्य' सम्बन्ध आधार होता है, कार्य हेतु मे 'नदुत्पत्ति' सम्बन्ध। इनके उदाहरण धर्मकीर्ति ने दिये है—"वृक्षोय शिशपात्वात्।" तथा "अग्निरत्र धूमात्।"[2]

महिम ने दृष्टान्त के सम्बन्ध मे जो कारिका प्रस्तुत की हे उसमे आये "तद्भावहेतुभावौ" शब्दो का अर्थ जयरथ ने "तादात्म्य और तदुत्पत्ति" ही किया है।[3] यह इस बात का सकेत है कि यह कारिका किसी बौद्ध ग्रन्थ से ही ली गयी है।

महिम के निरूपण मे अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य-हेतुओ की मान्यता एव उल्लेख बहुशी मिलते है। मम्मट ने उनकी समीक्षा मे 'भम धम्मिअ' वाले उदाहरण मे सिंहोपलब्धि को इस अनुपलब्धि के विरुद्ध प्रस्तुत किया है।[4]

महिम मे स्वभाव और कार्य हेतु के धर्मकीर्ति के दोनो उदाहरण और तादात्म्य-तदुत्पत्ति वाली बात ज्यो की त्यो मिलनी है।[5] महिम ने एक और कारिका प्रस्तुत की है, जो कदाचित् बौद्ध ग्रन्थ से ही ली गयी है। उसमे भी इन उदाहरणो को प्रस्तुत किया गया है, केवल शिंशपा की जगह छन्द के अनुरोध से आम्र का प्रयोग किया गया है

"पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षणात्।
वृक्षत्वाम्रत्वयोर्यद्वद् यद्वच्चानलधूमयो ।"[6]

८ **शकुक का अनुसरण**—हम एक मात्रा तक महिम मे शकुक का अनुसरण पाते है।

---

१ "त्रीण्येव लिगानि" "अनुपलब्धि स्वभावकार्ये चेति" "अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ" "एक प्रतिषेधहेतु" "ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्या वस्तुसिद्धि"। न्यायबिन्दु द्वितीय परिच्छेद, पृ० २५, २९, ३१।

२ वही, पृ० २८।

३ व्यक्तिविवेक धर्मोत्तराचार्यटीका, पृ० ६५ "तद्भावहेतुभावौ तादात्म्यतदुत्पत्ती।"

४ "अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमण विहित गोदावरीतीरे सिहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति।" काव्यप्रकाश उ० ५, पृ० २५३। ये शब्द मम्मट ने महिम के पक्ष मे प्रस्तुत किये है। इसे मम्मट ने 'व्यापक-विरुद्धोपलब्धि' कहा है—"यत् यत् भीरु भ्रमण तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धि।" वही, पृ० २५४। धर्मकीर्ति के अनुसार अनुपलब्धि के ११ प्रकार होते है। जिनमें व्यापकविरुद्धोपलब्धि भी एक प्रकार है—"व्यापकवृद्धोपलब्धिर्यथा—नात्र तुषारस्पर्शोऽग्ने।" न्यायबिन्दु, पृ० ३९।

५ "तयोश्च व्याप्यव्यापकभावलक्षण सम्बन्ध — यथा वृक्षशिशपयो।" वही, पृ० ४१४।

६. व्यक्तिविवेक पृ० १०६।

दो बाते स्पष्ट है—एक तो महिम ने भी रस की व्याख्या मे उसी समस्या के हल के लिए जो शकुक के सामने थी, आचार्य धर्मकीर्ति की कारिका प्रस्तुत की है जिसमे मणि-प्रदीप-न्याय के आधार पर मिथ्याज्ञान से भी अर्थक्रिया मानी गयी है। दूसरे महिम ने शकुक के इस मत को भी उपस्थित किया है कि रस स्थायी भावो का अनुकरण है।

९. सत्ता की असाध्यता—महिम ने एक स्थल पर एक कारिका प्रस्तुत की हे जिसमे सत्ता की असाध्यता प्रतिपादित की गयी है। कदाचित् यह कारिका भी किसी बौद्ध आचार्य से ली गयी हे। कारिका इस प्रकार है

"नासिद्धो भावधर्मोऽस्तिव्यभिचार्युभयाश्रय ।
धर्मो विरुद्धो भावस्य, सा सत्ता साध्यते कथम् ।"[1]

१० मम्मट का विवेचन—मम्मट ने जो महिम की समीक्षा की हे उसमे महिम की उन मान्यताओ को उभारा गया है जिनमे बौद्धत्व की छाया मिलती है। लिग की त्रिरूपता के आधार पर अनुमान का स्वरूप, बौद्धो के स्वीकृत केवल तीन हेत्वाभासो के आधार पर ही महिम मे दोष-प्रदर्शन, इन हेत्वाभासो के वैसे ही रूप जैसे कि धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु मे अपनाये है, तथा समीक्षा मे 'प्रतिबद्ध', 'अप्रतिबद्ध' आदि कतिपय ऐसे शब्दो का प्रयोग जिन्हे अपने विवेचन मे धर्मकीर्ति ने प्रयुक्त किया है, यह बताते है कि मम्मट के सामने महिम के न्याय पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट था। पर अपने स्वभावानुसार मम्मट ने उसे रूढ पारिभाषिक रूप नही दिया जैसा कि शकुक, भट्टनायक, अभिनव आदि के निरूपण मे भी नही दिया है। मम्मट का निरूपण सामान्यत किसी न्याय को सामने रखकर समझा जा सकता है, पर यदि कोई चाहे तो उसमे बौद्ध मान्यताओ का स्पष्ट उभार भी समझ सकता है। सम्भव है, मम्मट के युग के लिए इन छाया-सकेतो का पकडना दुरूह नही रहा होगा।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते है कि महिम भट्ट की न्याय-पद्धति पर एक लम्बी दूरी तक बौद्ध मान्यताओ, विशेषत धर्मकीर्ति की उपलब्धियो का प्रभाव है। यद्यपि वे अन्य दर्शनो एव बौद्ध-विपक्षी क्षेत्रो से भी सामग्री का उपयोग करते है, पर इस बौद्ध ऋण को अस्वीकार नही किया जा सकता। हो सकता है कि वे स्वय कट्टर बौद्ध न रहे हो, किन्तु ध्वनिवाद के खडन-भर के लिए उन्होने शकुक के आदर्श पर बौद्ध न्याय का मार्ग पकडा हो। उनके न्याय-प्रयोग मे बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है, और इसी दृष्टि से उनके रस-निरूपण को हमने दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध न्याय के अन्तर्गत रखना उचित समझा है।

अब तक हमने बौद्ध न्याय से प्रभावित आचार्यों के रस-स्वरूप का परिचय प्राप्त किया है। इनमे शकुक और महिम भट्ट को हमने बौद्ध धारणाओ मे प्रभावित पाया है। अब हम उन आचार्यो या मतो की ओर आना चाहते है जिनमे वैदिक न्याय का उपयोग किया गया है।

वैदिक न्याय और रस

न्याय की मान्यताओ का सहारा लेकर रस के विषय मे कुछ कहने का सबसे पुराना सकेत हमे नाट्यशास्त्र के उन आनुवश्य श्लोको मे मिलता है जिनमे रस का स्वरूप बताते हुए

---

१. व्यक्तिविवेक, पृ० ४०७।

उमे मानसेन्द्रिय से आस्वाद्य कहा गया है

"भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावास्तथा बुधा ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसा स्मृता ॥"[1]

किन्तु यह मानसेन्द्रिय से आस्वादन की बात इतने हलके ढग से कही गयी है कि इसमे न्याय की दार्शनिकता का समावेश प्रतीत नही होता । इसके अनन्तर न्याय की मान्यताओ का कुछ व्यवस्थित उपयोग हमे लोल्लट मे मिलता है जिसकी चर्चा हम पीछे यथास्थान कर चुके है । न्याय-दर्शन का अपना इतिहास हमे बताता है कि वह शनै -शनै प्रक्रिया-प्रधान एव निरूपण शैली द्वारा अन्य क्षेत्रो को प्रभावित करने वाला दर्शन बनता गया है । यही बात काव्यशास्त्र की अन्य चर्चाओ तथा रस-चर्चा के सम्बन्ध मे भी ठीक है । भावोत्पत्ति की लौकिक व्याख्या मे सामाजिक के लौकिक अनुभव के अभ्यास की व्याख्या मे तथा इसी प्रकार की चर्चाओ मे वे आचार्य भी न्याय की सामान्य उपलब्धियो का उपयोग करते रहे है जिन्होने रस-निष्पत्ति की व्याख्या किसी अन्य दर्शन-विशेष के सहारे की है । इस भाति का न्याय-दर्शन की मान्यताओ का उपयोग हमे स्वय अभिनवगुप्त और मम्मट मे भी मिल जाता है ।[2] यहा हम उन सभी चर्चाओ के विस्तार मे नही जाना चाहते ।

रस-स्वरूप की व्याख्या मे न्याय की उपलब्धियो का सुव्यवस्थित प्रयोग हमे काव्यप्रकाश की विभिन्न टीकाओ मे भी मिलता है । इनमे प्राय शकुक के मत को न्याय के अनुरूप समझते हुए तथा मम्मट की अपनी रस-स्वरूप-निरूपक कारिकाओ की व्याख्या करते हुए न्याय का सहारा लिया गया है । शकुक और महिम न्याय को व्यवस्थित प्रवेश इस क्षेत्र मे दे ही चुके थे । इस प्रकार व्याख्या और शैली मे न्याय रस-स्वरूप की चर्चा मे धीरे-धीरे प्रविष्ट होकर एक मत के रूप मे हमे पडितराज जगन्नाथ के एक 'नव्य मत' के रूप मे मिलता है ।

रसगगाधरस्थ नवीन मत

पडितराज जगन्नाथ ने रसगगाधर मे रस-निरूपण मे दो नवीन आचार्यो के मत प्रस्तुत किये है । हमारा अनुमान है कि वे मत स्वय पण्डितराज ने तटस्थ दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत किये है । इन दोनो मे रस को एक भ्रमात्मक ज्ञान माना गया है और एक मे तो व्यजना के सहारे उसे अनिर्वचनीय कहकर स्वरूप-निरूपण किया गया है, दूसरे मे व्यजना को बिना अपनाये उस भ्रमात्मक ज्ञान की न्याय-दर्शन के सहारे व्याख्या प्रस्तुत की गयी है ।[3] इन दोनो नव्य मतो मे प्रथम का सम्बन्ध तो वेदान्त से अधिक है, किन्तु दूसरा न्याय के अन्तर्गत आता है । यहा उस द्वितीय मत को सक्षेप मे प्रस्तुत किया जा रहा है

दर्शन की दृष्टि मे रस एक ज्ञान-विशेष है, और जब वह एक विशेष प्रकार का ज्ञान है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह यथार्थ ज्ञान है या अयथार्थ । रस को तत्त्व-ज्ञान तो कहा नही जा सकता, क्योकि वह एक कल्पना के क्षेत्र की अनुभूति है । अत उसे अयथार्थ या

---

१ ना० शा० अ० ६, श्लो० ३३ ।

२ "तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिगदर्शने स्थाय्यात्मकचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवात् ।"
अ० भा०, भा० १, पृ० २८६ ।
"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च । रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ।"
काव्यप्रकाश, उ० ४, का० २७ ।

३. विशेष निरूपण के लिए देखिए—'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० २०६-२१७ ।

भ्रमात्मक ज्ञान ही कहा जायेगा। इसी दृष्टिकोण को आधार बनाते हुए रस का स्वरूप रस-गगाधर मे निम्न शब्दो मे निरूपित किया गया है

"व्यजनाव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि प्रागुक्तदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानस काव्यार्थभावनाजन्या विलक्षणविषयताशाली रस ।"[1]

"काव्य के प्रभाव और सहृदय की सहृदयता के योग से सहृदय के भावना या कल्पना शक्ति उद्‌बुद्ध हो जाती है, जिसे प्रथम मत के प्रसग मे दोष-रूप कहा गया है।[2] इसी के फल-स्वरूप प्रमाना सहृदय का काव्य-गत दुष्यन्तादि के साथ तादात्म्य हो जाता है। प्रमाता को इस तादात्म्य के कारण यह चेतना होती है कि मै शकुन्तलादि-विषयक रति आदि भावो को अनुभव करने वाले व्यक्ति से अभिन्न हू। इस प्रकार रस उस प्रमाता सहृदय का एक मानस बोध है जिसमे शकुन्तलादि-सम्बन्धिनी रति का भ्रम प्रमाता को अपने मे होता है—"दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानस ।"

"नटादि की चेष्टाओ-रूप लिगो के आधार पर अनुमान से सामाजिक को शकुन्तलादि-विषयक रति का दुष्यन्तादि मे ज्ञान होता है। फिर उसकी भावना या कल्पना रूप दोष से सहृदय की भेद-प्रतीति समाप्त हो जाती है, और वह शकुन्तला-विषयक रति मे विशिष्ट दुष्यन्त के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस रतिमान् के साथ अभेद-भावना के आते ही उसमे वस्तुत अविद्यमान भी रति का सम्बन्ध जुड जाता है। यही 'मानस रतिमदभेद बोध' रस है।"[3]

व्यजना के स्थान पर अनुमान का समावेश इस मत मे निम्न शब्दो द्वारा प्रतिष्ठित किया गया है

"तत्र रतेर्विशेषणीभूताया शब्दादप्रतीतत्वाद् व्यजनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिर्लिगकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानम् अभ्युप्रेयम् ।"[4]

व्यजनावादी मत मे दुष्यन्तादि मे रत्यादि का ज्ञान व्यजना से होता है, इस मत मे अनुमान से। और तब, जिस दुष्यन्तादि को रत्यादिविशिष्ट समझ लिया जाता है उससे सहृदय का तादात्म्य हो जाता है। इस प्रकार इस मत मे सहृदय मे रत्यादि भावो की लौकिक स्थिति के समान वास्तविक अवस्थिति नही होती। यह भी जरूरी नही कि इस कल्पित और भ्रमात्मक अनुभूति के उदय के लिए विषय-सामग्री ही वास्तविक रूप मे उपस्थित हो।[5]

इस मत मे न्याय का सहारा दुष्यन्तादि-निष्ठ रति के अनुमानात्मक ज्ञान के लिए ही नही लिया गया अपितु इस दर्शन की मान्यता के अनुरूप ही रस को एक मानस-बोध भी कहा गया है। साथ ही इस भ्रमात्मक ज्ञान को अनिर्वचनीय न रखकर उसके निर्वचन का प्रयास भी किया गया है जो न्याय-दर्शन के ही समीप है।

यो रस की असत्यता की ओर सकेत महिम भट्ट ने भी किया है यह हम देख चुके हैं।

---

१ रसगगाधर, पृ० २७।

२ "सहृदयोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने " वही, पृ० २५।

३ रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २१७।

४ रसगगाधर, पृ० २७।

५ विशेष के लिए देखिए—'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', 'द्वितीय नवीन मत', पृ० २१५-२१७।

किन्तु उसकी व्याख्या मे जो अनुमान उपयोग मे लाया गया है वह बौद्ध न्याय के अनुरूप पडता है । पण्डितराज के इस न्यायानुगामी मत मे ऐसा कोई सकेत नही मिलता जिसके आधार पर इसे बौद्ध न्याय आदि से जोडा जा सके । अत यह वैदिक न्याय के ही अन्तर्गत आता है ।

विशुद्ध रूप मे वैदिक न्याय का उपयोग करके एक मत के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास रसगगाधर के इस निरूपण मे ही हमे मिलता है । और जो भी उपयोग न्याय का यत्र-तत्र हमे मिलता है, वह प्रक्रिया मे अधिक है, स्वरूप-निरूपण मे बहुत ही कम ।

साख्यदर्शन और रस

साख्यदर्शन की मान्यताओ का सहारा लेकर रस की व्याख्या के विषय मे तीन प्रकार के प्रयास हमारे सामने आते है । एक तो अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती मे शकुक के विवेचन के बाद और भट्टनायक के मत से पूर्व एक साख्यवादी रस-व्याख्या प्रस्तुत की है । यह बडी सक्षिप्त है, किन्तु साख्य का पूर्ण आश्रय लेकर रस को समझाने का रस के इतिहास मे यह अकेला प्रयास है । इसके अनन्तर भट्टनायक ने साख्य के त्रिगुणवाद की सहायता से रसानुभूतिकालीन चित्तदशा का विश्लेषण किया है । किन्तु यह प्रयास सीधे साख्य से नही आया है । साख्य एक ऐसा दर्शन रहा है जिसकी आत्मा और प्रकृति के स्वरूप और परस्पर सम्बन्ध की मान्यताओ से सहमत न होते हुए भी उसके त्रिगुणवाद और प्रकृति-विकार सम्बन्धी दृष्टिकोणो को अन्य अनेक दर्शनो ने लगभग ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया है । अत दूसरे दर्शन भी उसी शब्दावली मे समान बाते करते दिखाई पडते है । शैव दर्शन और वेदान्त ने भी साख्य के त्रिगुणवाद को लगभग ज्यो का त्यो स्वीकार किया है । अत भट्टनायक मे जो त्रिगुणवाद के अनुसार रसानुभूतिकालीन चित्त का विश्लेषण है, वह सीधे साख्य से नही, शैव दर्शन के माध्यम से आया है । तीसरे प्रकार के वे प्रयास है जिनमे भट्टनायक के रस-विवेचन मे प्रयुक्त उक्त त्रिगुणवाद को सीधा साख्य पर ही आधारित समझ कर, या उससे प्रेरणा लेकर रस की व्याख्या साख्य की पदावली मे की गई है । इस प्रकार के प्रयास आज भी दिखाई पडते रहते है, और कभी-कभी प्राचीन सस्कृत आचार्यो मे भी मिल जाते है । हम यहा अभिनव द्वारा उल्लिखित रस की साख्य-परक व्याख्या का परिचय प्रस्तुत करेगे । भट्टनायक द्वारा जो त्रिगुणवाद का सहारा लिया गया है, उसे उनके विवेचन तक के लिए उठा रखेगे । तीसरे प्रकार के प्रयास का कोई विशेष मूल्य नही है ।

अभिनवभारतीस्थ साख्यवादी मत

अभिनवभारती मे यह साख्यवादी मत इस प्रकार वर्णित है

"येन त्वभ्यधायि-सुखदु खजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव । साख्यदृशा सुखदु ख स्वभावो रस । तस्या च सामग्रया दलस्थानीया विभावा । सस्कारका अनुभावव्यभिचारिण । स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तरा सुखदु खस्वभावा इति । तेन 'स्थायिभावान् रसत्वम्' इत्यादावुपचारमगीकुर्वता ग्रन्थविरोध स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्ख्यात् प्रामाणिको जन परिरक्षित इति किमस्योच्यते । यत्त्वत्यन्त न प्रतीतिवैषम्यप्रसगादि तत्कि यदत्रोच्यते ।"

किन्तु हेमचन्द्र ने अपने अलकार-चूडामणि मे इस प्रसग को बिना किसी टिप्पणी या व्याख्या के साथ इस रूप मे प्रस्तुत किया है

"येन त्वभ्यधायि-सुखदु खजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव साख्यदृशा सुखदु ख-स्वभावा रस । तस्या च सामग्रया दलस्थानीया विभावा, सस्कारका अनुभावव्यभिचारिण,

स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तरा सुखदु खस्वभावा इति । तेन स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम इत्यादावुपचारमगीकुर्वता ग्रन्थविरोध स्वयमेव बुध्यमानेनदूषणाविष्करणमौखर्यात् प्रामाणिक-जन परिरक्षित इति किमस्योच्यते । यत्त्वन्यत्तत्प्रतीतिवैषम्यप्रसगादि तत्कियदत्रोच्यताम् ।'

इन दोनो उल्लेखो मे हेमचन्द्र का पाठ अधिक विश्वसनीय और सगत प्रतीत होता है। अभिनवभारती के पाठो की अशुद्धियो से विद्वान् परिचित है। अभिनवभारती के पाठ मे सबसे बडी विसगति यह आती है कि अभिनव ने इस साख्यवादी पर आक्षेप करते हुए बताया है कि यह स्थायी भाव और रस मे अन्तर मान कर चलता ह, और भरत के उन वचनो को जिनमे यह कहा गया ह कि "हम स्थायी-भावो को रसत्व प्राप्त करता दिखाएगे" आपचारिक मानता हे। भरत ने ऐसे वचनो मे रस और भावो को एक माना है, किन्तु यह साख्यवादी दोनो मे तात्त्विक अन्तर मानता ह—"तेन स्थायिभावान् रसत्वमित्यादावुपचारमगीकुवता " इस प्रकार साख्यवादी के मत मे स्थायी और रस मे स्वरूपात्मक अन्तर होना चाहिए। किन्तु अभिनवभारती के पाठ मे दोना का उल्लेख इस प्रकार हे

(क) "साख्यदृशा सुखदु खस्वभावो रस ।"

(ख) "स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तरा सुखदु खस्वभावा इति ।"

इस प्रकार अभिनवभारती के पाठ के अनुसार रस और स्थायीभाव मे कोई अन्तर नही, दोनो 'सुखदु खस्वभाव' हे। जब ऐसी बात हे तो यह तो भरत के अनुकूल ही हे, फिर "स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम" जैसे भरत के वचनो मे उसे उपचार मानने की क्या आवश्यकता पडी थी। अत यह अभिनवभारती का पाठ काव्यानुशासन के पाठ के समान सगत नही है। काव्यानुशासन के पाठ मे, जैसा कि हम अभी देखेगे, ऐसी कोई विसगति नही, प्रत्युत वह साख्य-सिद्धान्त के अनुरूप ही पडता हे। अत हम उक्त साख्यवादी आचार्य की रस-व्याख्या को काव्यानुशासन के पाठ के अनुसार ही स्वीकार करके चलेगे।

इस साख्यवादी व्याख्या के अनुसार बाह्य विषय-सामग्री, जो कि स्वत सुख-दु ख-मय है, तथा भोक्ता के अत करण मे सुख-दु ख उत्पन्न करने की क्षमता रखती है, रस है। इस प्रकार यह व्याख्या स्थायी भावो को रस नही कहती, अपितु बाह्य विषय-सामग्री को ही रस कहती है। स्थायी भाव तो भोक्ता अन्त करण मे उस सामग्री से उत्पादित सुख-दु ख है, जो कि स्पष्ट ही आन्तर है। ये आन्तर सुख-दु ख-रूप स्थायी भाव बाह्य सामग्री-रूप रस की अनुभूति के फल है।

हम पीछे देख चुके है कि इस व्याख्या से पूर्व के आचार्य रस को वस्तु-रूप मानते चले आ रहे थे। भरत का रस भी वस्तु-रूप था, वह नाट्य-निष्ठ था। अलकारवादियो का रस भी वस्तुरूप था, वह काव्य-निष्ठ था। यह साख्यवादी आचार्य भी जब बाह्य विभावादि सामग्री को ही रस कहता है तो कोई नई बात नही करता। उसकी यह मान्यता अपने युग की दृष्टि से प्रभावित है। वह केवल साख्य की दृष्टि से उसकी व्याख्या करता है।

साख्य की दृष्टि से बाह्य विषय-सामग्री को रस कहते हुए उसके दो विशेषण दिये गय है—'सुखदु खजननशक्तियुक्ता' और 'सुखदु खस्वभावा।' यह दृष्टिकोण साख्य के सर्वथा अनुरूप ही है।

साख्य के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका हे। ये गुण है सत्त्व, रजस्, तमस्। सत्त्व प्रकाशात्मक तथा सुख-रूप है। रजस् प्रवृत्तिकारी, दु ख-रूप है। तमस् नियमनकारी, आवरक

तथा मोहरूप है।[1] साख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति और उसके विकारभूत तत्त्वो मे कोई स्वभावात्मक अन्तर नही हे।[2] इस प्रकार समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक होने के कारण स्वरूपत सुख-दु ख-मोह-स्वभाव होते है, यह साख्य की मान्यता है। दूसरी बात यह कि प्रत्येक पदार्थ भोक्ता अन्त करण मे तद्गत सत्त्व-रजस्-तमस् की स्थिति के अनुरूप सुख-दु ख-मोह उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। एक ही रमणी अपने प्रिय के लिए सुखात्मक, सपत्नियो के लिए दु खात्मक तथा अन्य वासना-प्रधान लोगो के लिए मोहात्मक होती हे।[3] यह अन्तर गुणो की ऊँची-नीची स्थिति के अनुरूप हो जाता है।[4] इस प्रकार, जहा तक बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध है, वे साख्य की दृष्टि मे एक ओर 'सुख-दु ख-मोह-स्वभाव' भी है, दूसरी ओर 'सुख-दु ख-मोह-जनन-शक्ति-युक्त' भी। यही बात इस साख्यवादी व्याख्याकार ने विभावादि सामग्री के लिए कही है। उसके युग तक विभावादि को नाट्य-निष्ठ या फिर काव्य-निष्ठ ही देखा जा रहा था, अत उसने भी विभावादि सामग्री को बाह्य रूप मे ही स्वीकार करके उस पर विचार किया है।

इस वस्तु-रूप रस की निष्पत्ति की बात भी इस व्याख्या मे उसी प्रकार दिखाई गई है, जसे भरत ने पाक-रस के निदर्शन पर दिखाई है। कहा गया है, विभाव दलो के स्थान पर है और अनुभाव तथा व्यभिचारी सस्कारको के स्थान पर। यह व्याख्याकार सम्भवत पाक-रस के स्थान पर ओषधि-रस के निदर्शन पर काव्य-रस को समझाना चाहता है। ओषधि-रस मे कतिपय दलो या वनस्पति-पत्रो को अन्य वनस्पतियो के निष्यन्द से सस्कृत करके भावना देने का आयुर्वेदिक विधान आता है। इस क्रिया के लिए 'भावना' या 'सस्कार' शब्दो का प्रयोग आता है। भरत ने व्यजनो के द्वारा अन्न पदार्थ के सस्कार की बात कही थी—"यथाहि नाना व्यजनसस्कृतमन्न भुजाना " सम्भवत भरत के इस अन्न-सस्कार की बात मे इस साख्यवादी व्याख्याकार को ओषधि-रस के सस्कार की बात सूझी है। या फिर दल शब्द का अर्थ दाल लिया जा सकता है। वे अन्न जिनके दो दल या दो टुकडे होते हे, दल कहे जाते हे। इन अन्नो को दालो के रूप मे प्रयोग किया जाता है। मिर्च-मसाले इनके सस्कारक द्रव्यो के रूप मे माने जा सकते हे, और साख्यवादी की इस व्याख्या को भरत के पाक-रस का ही एक रूप माना जा सकता हे। कुछ भी हो, दोनो अर्थो मे से कोई भी लेने पर कोई विशेष अन्तर नही पडता।

यह विषयात्मक सामग्री भोक्ता अन्त करण मे हर्ष-शोक के, रति-उत्साह के भावो को जन्म देती है। ये स्थायी भाव इस सामग्री से जन्य है, आन्तर हे, सुख-दु ख-स्वभाव है। इस प्रकार स्थायिभाव स्वय रस नही, विभावादि-सामग्री रूप रस की अनुभूति के परिणाम है।

साख्य के अनुसार विषय इन्द्रिय प्रणालिकाओ के द्वारा चित्त मे उपस्थित होकर चित्त के अग बनते है। यह स्वरूप भी चित्त की वृत्ति-रूप ही होता है। इसके अनन्तर चित्त मे पौरुषेय बोध उत्पन्न होता है, जिसके अनुसार वे विषय ज्ञानात्मिका बुद्धि-वृत्ति के अग बन जाते है। प्रथम रूप प्रमाण होता है, दूसरा प्रमा। इस प्रकार ज्ञान मे आई हुई वस्तुएँ स्वानुरूप सुख-दु ख-मोह की प्रतिक्रियाए चित्त पर उत्पन्न करती है। साख्य के सत्कार्यवाद के

---

१ साख्यकारिका कारिका १२-३।
२ वही, का० ८।
३ वही, का० १३ तत्त्वकौमुदी।
४. वही, का०।

सिद्धान्त के अनुसार कोई नई उत्पत्ति नही होती, पूर्वत तत्त्वो की अभिव्यक्ति ही 'उत्पत्ति' है। अत सुख-दु ख के उत्पन्न होने का अर्थ हे अन्त करण के सुख-दु खो का बाह्य सामग्री के सम्पर्क मे आकर अभिव्यक्त हो जाना।

बाह्य विषय सामग्री ही रस है, स्थायी भाव उसके द्वारा उत्पन्न भोक्ता अन्त करण के सुख-दु ख-मय परिणाम है। इस मान्यता मे भरत की दृष्टि से बहुत दूर का अन्तर नही पडता था। दोनो मे रस को वस्तु-रूप तथा बाह्य-निष्ठ माना गया हे। भरत ने भी हर्षादि को नाट्य-रस की अनुभूति का परिणाम माना है, यह हम पीछे देख ही चुके है। किन्तु अभिनव ने भरत की मान्यता को उस मौलिक रूप मे न मानकर अपनी दृष्टि के अनुरूप माना है। अत उनके अनुसार भरत स्थायी भाव तथा रस मे कोई जातीय भेद नही मानते। किन्तु उपर्युक्त साख्यवादी व्याख्याकार के अनुसार स्थायी तथा रस मे जातीय भेद पडता है। रस बाह्य है, स्थायी उसकी अनुभूति के आन्तर परिणाम। अत अभिनव इस स्थूल दृष्टि पर विचार करना भी असगत समझते है। निश्चय ही इस साख्यवादी को भरत के उन शब्दो मे औपचारिकता दिखानी पडी होगी जिनमे स्थायी और रस की एकजातीयता तथा एकरूपता दिखाई पडती थी। अभिनव का कहना है कि यह 'साख्यवादी' तो स्वय समझ रहा है कि मै भरत के विपरीत बात कह रहा हूँ। अत ऐसे भरत-विरोधी व्यक्ति मे दोष निकालने से हमे सहज छुट्टी मिल गई।

इस मान्यता की एक कमी की ओर अभिनव ने और सकेत किया है। कहा है, ऐसा मानने पर प्रतीति-वैषम्य का प्रसग उठेगा। अभिनव रसो की प्रतीति आनन्द-रूप मानते है। किन्तु साख्यवादी के अनुसार रसो की प्रतीति भी सुख-दु ख-मोह रूप होगी। सभी दर्शको को समान नही होगी। उनकी मात्राओ मे भी अन्तर होगा। इस प्रकार अनेक प्रश्न उठेगे, जिनका समाधान इस मान्यता मे नही है।

वस्तुत यह व्याख्या रस को वस्तु-रूप मानकर चलती है। साथ ही लौकिक अनुभव और काव्यात्मक अनुभव मे कोई अन्तर नही करती। उसके रस की अनुभूति के परिणाम स्थायी भाव सुखरूप ही नही, लौकिक अनुभवो के समान ही सुख-दु खरूप है। साख्य की दृष्टि से रस-व्याख्या करना पाप नही था। किन्तु उसमे रस का स्वरूप और अनुभूतिकालीन सामाजिक चेतना का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाना चाहिए था, जैसा कि आगे चलकर भट्टनायक ने किया। विभावादि सामग्री से सामाजिक किस प्रकार प्रभावित होता है, उसके अन्त करण के सत्त्व-रजस्-तमस् का उस समय क्या अनुपात होता है, सत्त्व का किस प्रकार उद्रेक होता है, अनुकार्य के भावो के साथ सामाजिक की समानुभूति किस मात्रा तक और कैसे होती है, लोकानुभूति और रसानुभूति मे क्या अन्तर है, आदि समस्याओ पर साख्य-दृष्टि से विचार किया जाता तो आज यह साख्यवादी का बडा योगदान होता। किन्तु उस वस्तुवादी दृष्टिकोण के युग मे इस व्याख्याकार के सामने ये समस्याए थी ही नही। इस व्याख्या का यदि कुछ महत्त्व है तो इतना ही कि हम यह जान लेते है कि भट्टनायक से पूर्व ही लोगो की दृष्टि रस की समस्या के समाधान के लिए साख्य के तत्त्वो की ओर जा चुकी थी।

मीमासा और रस

साख्य के समान ही मीमासा दर्शन का उपयोग करते हुए रस की व्याख्या करने के प्रयास भी कम ही हुए है। यो मीमासा के कतिपय सिद्धान्तो का रस-व्याख्या मे उपयोग भट्ट

नायक और अभिनवगुप्त मे भी मिलता ह, किन्तु उनकी व्याख्याओ मे आधार चेतना मीमासा की नही है। मीमासा का सर्वाधिक सहारा लेकर रस की व्याख्या का प्रयास हमे दशरूपक मे दिखाई पडता है। हम यहा मीमासा के सम्बन्ध से हुए रस-व्याख्या के प्रयासो की चर्चा करेंगे।

लोल्लट और मीमासा

मीमासा एक उत्पत्तिवादी दर्शन है सम्भवत इसी साम्य को देखकर उत्पत्तिवादी लोल्लट को कतिपय लोग मीमासक समझते है। ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नही, जिसके आधार पर लोल्लट का मीमासक होना निश्चित रूप मे प्रतिपादित किया जा सके। हम पीछे लोल्लट के मत का विश्लेषण करके देख चुके है। उसमे मीमासा की मान्यताओ का कही सस्पर्श भी नही है। लोल्लट ने कतिपय न्याय-मान्यताओ का ही उपयोग किया है। अत लोल्लट के मत मे मीमासा की सम्भावना करना व्यर्थ है।

भट्टनायक और मीमासा

भट्टनायक मीमासा की मान्यताओ से प्रभावित थे, इसके कुछ प्रमाण उपलब्ध होते हे। उन्हे अभिनव ने कई स्थानो पर मीमासक माना है। नीचे तीन स्थल प्रस्तुत किये जा रहे हैं[1]

१ प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति-विमर्शिनी, भाग ३, पृष्ठ ६६ पर अभिनव उन्हे 'मीमासकाग्रणी' कहते हैं

"यथाह मीमासकाग्रणीर्भट्ट नायक ।"

२ अभिनवभारती, भाग ३, अध्याय २७, पृष्ठ ३०६-३१० पर सिद्धियो के विवेचन मे अभिनव भट्टनायक को जैमिनि की मान्यताओ का अनुसरण-मात्र करते हुए बताते है

"यत्तु भट्टनायकेनोक्तम्—सिद्धेरपि नटादेरङ्गत्व व्रजन्त्यास्तत्पक्षे यमिति, तेन नाट्याङ्गता समर्थितफल च (समर्थिता फल च ?) पुरुषार्थत्वादिति केवल जैमिनिरनुसृत इत्यलमनेन।"

३ ध्वन्यालोक-लोचन मे "निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते" इस पद्य पर भट्टनायक के दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए अभिनवगुप्त कहते है

"न च कल्पना युक्ता। जैमिनिसूत्रे ह्येव योज्यते, न काव्येपीत्यलम्।"

मीमासा के प्रभाव के कारण ही भट्टनायक ने रस-व्याख्या मे अपने भावकत्व व्यापार की प्रतिष्ठा मे इस दर्शन का सहारा लिया है। इतना ही नही, अभिनवगुप्त ने उनके भावकत्व व्यापार का जो खण्डन किया है, वह भी मीमासा की भाषा मे ही किया है। हम उस विवेचन को यहा न करके भट्टनायक के मत-विवेचन के प्रसग मे ही करेंगे। यहा इतना ही सकेत अपेक्षित है कि भट्टनायक का भावकत्व व्यापार मीमासा की प्रेरणा पर प्रतिष्ठित है। फिर भी उनकी रस-व्याख्या मीमासा पर ही आधारित नही है। हम उनके रस-स्वरूप का विश्लेषण करके देखेगे कि उसकी दार्शनिक आधार-भूमि मूलत द्वैतवादी शैव दर्शन की है।

---

१ सदर्भ हिस्ट्री आफ सस्कृत पोइटिक्स . पी० वी० काणे, पृ० २१४-५।

अत उनके रस-स्वरूप का परिचय उसी दर्शन के सन्दर्भ मे पाना उचित होगा।

अभिनवगुप्त और मीमासा

रस-विवेचन मे भट्टनायक के भावकत्व व्यापार का खण्डन करने के लिए अभिनव ने जो मीमासा की भाषा अपनाई है, वह तो भट्टनायक के उस व्यापार की आधार-भूमि मीमासा की होने के कारण है, किन्तु उनके अपने रस-विवेचन मे भी एक स्थल पर मीमासा की मान्यता का उपयोग हुआ है। अभिनव यह बताना चाहते है कि सहृदय को काव्य-शब्दो के अर्थ-ज्ञान के अनन्तर शब्दार्थ से अधिक साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है। कवि के शब्दो मे वर्णित विभावादि किसी विशेष देश-काल-जाति के होते है। यदि पदार्थ तक ही सीमित रहा जाय तो सहृदय की प्रतीति देश-काल की सीमाओ मे आबद्ध होगी। पर काव्यानुभूति मे होता यह है कि जैसे ब्राह्मण-वचनो मे मीमासा के अनुसार सर्वत्र क्रिया-परकता मानी जाती है, और वचनो के काल-पुरुष आदि सबका पर्यवसान लिड्लकार-परक विधि-रूप होता हे, इस प्रकार कालादि परिवर्तित हो जाते है वैसे ही काव्यानुभूति मे भी काव्य-वर्णित पदार्थो के देश-काल सहृदय के लिए भी बदल जाते है।

"यथाहि 'सत्रमासत'[1] 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिण प्रतिपत्तिमात्रादनितीव्रप्ररोचितात् प्रथमप्रवृत्तादनन्तरमधिकैवोपात्तकालतिरस्कारेणैवास्ते प्रददानीत्यादिरूपा सक्रमणादिस्वभावा यथादर्शन प्रतिभाभावनाविधिनियोगादि[2] भाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्ति।"[3]

ब्राह्मण ग्रन्थो मे कहा गया है—"वनस्पतय सत्रमासत" "प्रजापतिरात्मनो वपामुदाखिदत्, तामग्नौ प्रादात्"। यहा प्रथम उद्धरण मे कहा गया है कि वनस्पति-आदि यज्ञ मे बैठे। दूसरे मे कहा गया है कि प्रजापति ने अपनी वपा निकाली और उसे अग्नि मे डाला। ये वाक्य अर्थवाद-रूप हैं। मीमासा का यह सिद्धान्त है कि वेद का कोई वाक्य ऐसा नही जिसकी क्रियापरकता न हो—"आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानाम्"[4] और यह क्रियापरकता विधि-रूप या निषेध-रूप होती है। अत जिन वाक्यो मे कोई सीधा क्रिया-सम्बन्धी आदेश नही, उनका अर्थ भी क्रिया-विधि के रूप मे ही लिया जाता है। इस प्रकार वेद-वचन चाहे किसी काल मे हो, चाहे किसी पुरुष मे हो, उसका अर्थ मध्यम पुरुष के लिए विधिलिङ् के रूप मे ही लेना होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त वेद-वाक्यो का अर्थ 'आसत' और 'प्रादात्' अर्थात् बैठे और दिया न लेकर बैठो और दो, यही लेना होता है। इस विधि-रूप अर्थ को भी जब अधिकारी व्यक्ति अपने सन्दर्भ मे लेता है तो इनका अर्थ यही लेता है कि 'बैठू' और 'दू'। 'आसे' तथा 'प्रददानि'। अभिनव का कहना है कि यहा मीमासा के अनुसार वेद-वाक्यो के लकार और पुरुष का, जो कि प्रथम ही पदार्थ रूप मे सामने आते है, तिरस्कार हो जाता है और पदार्थ-मात्र से अतिरिक्त प्रतीति

---

१ आचार्य विश्वेश्वर हिन्दी अभिनवभारती पाठ संशोधित। अभि० भा० पाठ—'रात्रिमासत', पृ० ४७२।

२. आ० विश्वेश्वर-कृत पाठ-सशोधन। अभि० भा० भा० 'विध्युद्योगादि'। हिन्दी अभि० भा०, पृ० ४७० ।

३. अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७८।

४ मीमासा-सूत्र जैमिनि।

सामने आती है। इसे मीमामा की भाषा मे भावना, विधि, नियोग आदि शब्दो से कहा गया है। काव्य मे भी यही प्रक्रिया चलती है। सहृदय को पहले काव्यात्मक शब्दो की पदार्थावगति होती है। उस अवगति मे देश-काल-भूत-आदि के होते है। पर इसके अनन्तर उसके मानस-पटल पर देश-काल की सीमा मे रहित इन पदार्थो का साक्षात्कार होना है। यह साक्षात्कारात्मिका प्रतीति भी पदार्थावगति से अतिरिक्त होती है।

इस प्रकार अभिनव ने सामाजिक की विभावादि-प्रतीति की व्याख्या मे मीमासा की मान्यता का उपयोग किया है। पर उनका रस-स्वरूप मीमामा पर आधारित नही। उसकी मूल चेतना काश्मीरी शैव दर्शन की है, यह हम आगे देखेंगे।

धनजय और धनिक

दशरूपक तथा उसकी टीका अवलोक के कर्ताओ के रूप मे धनजय और धनिक के नाम जुडे हुए है। धनिक ने धनजय के दृष्टिकोण को अपनी विद्वत्तापूर्ण टीका 'अवलोक' के द्वारा स्पष्ट किया है, और आज हम धनजय को धनिक से अलग करके नही देख सकते। अत दशरूपक के रस-विवेचन को दोनो की मान्यताओ के सम्मिलित रूप मे ही समझना होगा। डा० काणे के अनुसार दशरूपक की रचना दशम शती के अन्त मे हुई थी तथा अवलोक की एकादश शती के आरम्भिक दशको मे। ये आचार्य तथा अभिनव एक-दूसरे का स्पष्ट उल्लेख नही करते।[1]

इन आचार्यों के अनुसार रस विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी से भावित हुआ सहृदय का स्थायी भाव है

"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि ।
आनीयमान स्वाद्यत्व स्थायी भावो रस स्मृत ॥[2]

उनके समय तक यह निर्धारित हो चुका है कि रस सहृदय-निष्ठ है, नाट्य-निष्ठ, काव्य-निष्ठ या अनुकार्य-निष्ठ नही।[3] साथ ही नर्तक को भी सहृदय-कोटि मे लाकर रस का आस्वादयिता माना गया है।[4] धनजय का कथन है कि जिस प्रकार मिट्टी के खिलौनो से खेलते हुए बालक अपने ही उत्साह का आस्वादन करते है वैसे ही सामाजिक भी काव्य के विभावादि के माध्यम से अपने ही स्थायी भावो का आस्वादन करता है।

"क्रीडता मृण्मयैर्यद्वद्बालाना द्विरदादिभि ।
स्वोत्साह स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभि ।"[5]

विभावादि और स्थायी के बीच इन आचार्यों को व्यग्य-व्यजक-सम्बन्ध के स्थान पर भाव्य-भावक सम्बन्ध अभीष्ट है। काव्य भावक है, स्थायी भाव्य। और इस मान्यता का आधार भी मीमासा है, यह भी धनिक बता कर चलते है

"अतो न रसादीना काव्येन सह व्यग्यव्यजकभाव, किंतर्हि भाव्यभावकसम्बन्ध.।

---

१ हिस्ट्री आफ सस्कृत पोइटिक्स पी० वी० काणे, पृ० २३६-७।
२. दशरूपक, प्र० ४, का० १।
३. वही, प्र० ४, का० ३८।
४ वही, प्र० ४, का० ४२।
५ वही, प्र० ४, का० ४१।

काव्य हि भावक, भाव्या रसादय । ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते । न च शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम्, भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात् ।"[१]

धनिक इस 'भावन' व्यापार के सूत्र भरत मे भी पाते है

"किच मा चान्यत्र तथास्तु, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथावगमात् । तदुक्त

"भावाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि ।।[२]

मीमासक भावनाक्रियावादी कहलाते है । उनके अनुसार समस्त वाक्य क्रियापरक होते है । क्रिया ही भावना है । इस प्रकार क्रिया ही वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ है, फिर चाहे वह वाक्य मे शब्दोपात्त हो, चाहे प्रकरणादि से जानी जाए । अन्य कारक उसी क्रिया से मिलकर उसके वाक्यार्थ बनने मे सहयोग करते है । ठीक यही प्रक्रिया उन्होने रसो के सम्बन्ध मे मानी है । काव्य मे भी कही तो विभावादि शब्दोपात्त होते है, कही प्रकरणादि मे जाने जाते है । इनके द्वारा वाक्यार्थ-रूप स्थायी भाव सामाजिक के आस्वादन मे आते है ।

"वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।
वाक्यार्थ कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरै ।।"[३]

इन आचार्यो ने अभिहितान्वयवादियो का मार्ग अपनाया है, जो पदोपस्थिति के अनन्तर पदार्थोपस्थिति और फिर अन्वय-रूप वाक्यार्थोपस्थिति मानते है । काव्य के विभावादि-वाचक शब्द पद-स्थानीय हैं, विभावादि अर्थों का ज्ञान पदार्थ-स्थानीय, और रत्यादि वाक्यार्थ-स्थानीय

"तत्र विभावादय पदार्थस्थानीयास्तत्ससृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थ । तदेतत् काव्यवाक्य यदीय ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ ।"[४]

भट्ट मतानुयायी अभिहितान्वयवादी होने के कारण रस को तात्पर्या शक्ति से साध्य माना गया है । पदावली और शैली सब मीमासा के ग्रन्थो से उधार ली हुई है

"न चापदार्थस्य वाक्यार्थत्व नास्तीति वाच्यम्—कार्यपर्यवसायित्वात् तात्पर्य शक्ते । तथाहि—पौरुषेयमपौरुषेय वाक्य सर्वं कार्यपरम्, अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तवाक्यवत् । काव्यशब्दाना चान्वयव्यतिरेकाभ्या निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयो प्रवृतिविषययो प्रयोजनान्तरानुपलब्धे स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेन—अवधार्यते । तदुद्भूति-निमित्तत्व च विभावा दिससृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते । अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरव्यापारविभावादि प्रतिपादनद्वारा स्वपर्य-वसायितामानीयते ।"[५]

इस प्रकार वाक्य की अभिधान शक्ति, जिसे अभिहितान्वयवादी तात्पर्या कहते हैं, विभावादि को अवान्तर व्यापार के रूप मे पदार्थ-स्थानीय बनाकर उपस्थित करती हुई

---

१ दशरूपकावलोक, पृ० १५८-९ ।

२ वही, पृ० १५६ ।

३ दशरूपक, प्र० ४, का० ३७ । तथा उस पर अवलोक ।

४ दशरूपकावलोक, पृ० १५५ ।

५ दशरूपकावलोक, पृ० १५५ ।

रत्यादि भावो को तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ के रूप मे प्रतिपादित करती है। और जिस प्रकार मीमासक क्रियापरक वाक्यो के किसी फल की सम्भावना करता हे, उसी प्रकार यहा भी सामाजिक की आनन्दोद्भूति को फल के रूप मे दिखाया गया है। धनिक की भाषा मे यह आनन्दोद्भूति एक 'कार्य' है। मम्मट ने रस के इस कार्यतावाद का साग्रह खण्डन किया है।[1]

मीमासा अद्वैतवादी दर्शन नही, अत रस और उसका आस्वाद दोनो एक नही। रस तो विभावादि के द्वारा स्वाद्य कोटि मे लाया हुआ स्थायी भाव है। किन्तु आनन्दोद्भूति इस का 'कार्य' है

"काव्यशब्दाना चान्वयव्यतिरेकाभ्या निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रयोजनान्तरानुपलब्धे **स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते। तदुद्भूतिनिमित्तत्व** च विभावादिससृष्टस्य **स्थायिन** एवावधार्यते।"

इस प्रकार विभावादि पदार्थों का ससर्ग-रूप स्थायी निमित्त है, आनन्दोद्भूति कार्य। पहला रस है, दूसरा उसका फल। रस और आनन्द मे यह भेद-दृष्टि मीमासा की द्वैत-दृष्टि का ही स्वाभाविक परिणाम है।

फिर भी, रस-स्वरूप के सम्बन्ध मे मीमासा का इतनी दूर तक सहारा लेकर भी, ये आचार्य आनन्द के स्वरूप के विषय मे मीमासा की मान्यताओ से ही अपने को सीमित रखते प्रतीत नही होते। उक्त स्थल पर विभावादि समृष्ट स्थायी और आनन्दोद्भूति के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध बडे स्पष्ट शब्दो मे दिखाया गया है, किन्तु इस रस को 'निर्भरानन्दसविदात्मक' और 'आत्मानन्दास्वाद' के रूप मे भी देखा गया है

१ "श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षण स्थायी स्वादगोचरताम् निर्भरानन्दसविदात्मतामानीयमानो रस।"[2]

२ "रस स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।[3]

"रत्यादि स्थायी भाव स्वाद्यता निर्भरानन्दसविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वात्।"[4]

३ "स्वाद काव्यार्थसभेदादात्मानन्दसमुद्भव।[5]

"काव्यार्थेन विभावादिससृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतस सभेदे अन्योन्यसवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति **प्रबलतरस्वानन्दोद्भूति. स्वाद**।"[6]

इस प्रकार रस के स्वाद को, जिसे आनन्दोद्भूति कहा गया है, 'स्वात्मान्दसमुद्भव' बताया गया है। मीमासा के अनुसार आनन्द आत्मा का स्वरूप नही जैसा कि वेदान्ती मानते हैं। प्रभाकर के अनुसार आत्मा जड है, वह ज्ञान-सुख-रूप नही, ज्ञान और सुख का आश्रय है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व और विभुत्व आत्मा मे माने गये है, किन्तु आनन्द उसका स्वरूप नही।[7] अत उसकी दृष्टि से आनन्द को आत्मानन्द कहा ही नही जा सकता। कुमारिल के अनुसार

---

१. काव्यप्रकाश उ० ४, पृ० ९३-४। "स च न कार्य, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसगात्।"
२ दशरूपकावलोक, पृ० १२१।
३. दशरूपक. प्र० ४. का० ३८।
४. द० अव०, पृ० १६०।
५ दश० प्र० ४ का० ४३।
६. द० अव०, पृ० १६२।
७ इण्डियन फिलासफी. डॉ० राधाकृष्णन, पृ० ४०३।

आत्मा का मुक्त स्वरूप 'सम्बन्धाक्षेपपरिहार' वाला है, जिसमे न तो दु ख का सम्पर्क होता हे, और न ही आनन्द की अनुभूति ।[1] इस प्रकार आनन्द आत्मा के स्वरूप न होने के कारण कुमारिल की दृष्टि से भी रसास्वाद स्वात्मानन्दसमुद्भव नही कह सकते ।

सम्भवत वेदान्त के प्रभाव मे कुमारिल के कतिपय अनुयायी मुक्ति मे आत्मानन्द की अनुभूति मानते है—'चित्तेन स्वात्मसौख्यानुभूति' । यह मान्यता कुमारिल की मूल मान्यता से विपरीत पडती है ।[2] बहुत सम्भव है, धनजय और धनिक भी इसी वर्ग के व्यक्ति रहे हो जो वेदान्त से प्रभावित होकर आनन्द का सम्बन्ध आत्मा से जोडते हो ।[3]

धनिक ने कभी-कभी मीमासा की मान्यताओ का वेढगा प्रयोग भी किया है । प्रश्न उठाया गया है कि काव्य मे स्थायी भावो के वाचक शब्द न होने पर भी कतिपय चेष्टादि के वर्णन द्वारा ही जो भाव-प्रतीति की जाती है, उसे तात्पर्या के द्वारा कैसे माना जा सकता हे । धनिक ने यहा उन चेष्टादि और स्थायी भावो मे लक्षणा का प्रयोग दिखाया हे । विशिष्ट चेष्टाए किसी विशिष्ट भाव के बिना नही रहती । उनके इस अविनाभाव सम्बन्ध से ही उनके जन्मदाता भावो का ज्ञान हो जाता है । क्योकि कुमारिल ने अविनाभाव-मूलक प्रतीति को लक्षणा माना है—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते', अत यह प्रतीति भी लक्षणा द्वारा ही कही जाएगी

"कथ पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्य पदेभ्य स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? लोके तथाविधचेष्टा-युक्तस्त्रीपुसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रति-पादकशब्दश्रवणादभिधेयाविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीति ।"[4]

इस प्रकार रत्यादि चेष्टादि-वर्णन से लक्षणा-गम्य हे । दूसरी ओर वे वाक्यार्थ-रूप होने के कारण तात्पर्या के क्षेत्र मे भी दिखाये गये है । तीसरी ओर उन्हे स्वाद्य-कोटि मे लाते हुए विभावादि का भाव्य कहकर उनसे भाव्य-भावक-सम्बन्ध भी जोडा गया है । यो इन बातो की व्याख्या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से दिखाकर सगति बिठाई जा सकती है, तथापि ये बाते विवेचन की शिथिलता तथा किसी दर्शन के अतिवादी प्रयोग के प्रति आग्रह की सूचक तो है ही ।

सक्षेप मे धनजय और धनिक के रस का स्वरूप है विभावादि सामग्री से वाक्यार्थ-रूप मे सामाजिक की चेतना मे उद्बुद्ध हुआ तथा स्वाद्य-कोटि मे आकर निर्भर आत्मानन्द रूप मे परिणत स्थायी भाव । और इस स्वरूप की व्याख्या रस को मीमासा के अनुसार 'भाव्य' मान-कर तथा 'तात्पर्या' शक्ति के क्षेत्र मे रखकर की गई है ।

कश्मीरी शैव-दर्शन और रस

रस-स्वरूप के निर्णय मे कश्मीरी शैव-दर्शन का योग-दान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । आचार्य भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने इस दर्शन का सहारा लेकर इस विषय मे जो मान्यताए स्थिर की है, वे आज भी सम्मान के साथ देखी जाती है । अभिनव के निर्णय ही आज सर्वाधिक मान्य है ।

---

१. इण्डियन फिलासफी डॉ० राधाकृष्णन, पृ० ४२३ ।

२. वही, पृ० ४२३ ।

३. वही, पृ० ४२३ ।

४. दशरूपकावलोक, पृ० १५६ ।

यो तो कश्मीर मे शैव मत की जडे बहुत पुरानी हे, और इसके अन्तर्गत अनेक आगमो और तन्त्रो की रचना हुई है, किन्तु इसे गहरा दार्शनिक रूप ईसा की नवम शती के प्रारम्भ से प्राप्त हुआ है। आज जो कश्मीरी शैव-दर्शन का साहित्य उपलब्ध होता है वह अद्वैती साहित्य है। आज कश्मीरी शैव-दर्शन के नाम से अद्वैती शैव-दर्शन ही समझा जाता है। किन्तु कश्मीर मे ही इस दर्शन की द्वैतवादी तथा द्वैताद्वैतवादी धाराए भी प्रचलित थी, यह तथ्य अभिनव के उल्लेखो से ही आज प्रमाणित है। जिस प्रकार वेदान्त-सूत्र की अद्वैत-परक, विशिष्टाद्वैत-परक तथा शुद्धाद्वैत-परक आदि व्याख्याए हुई, उसी प्रकार शैवागमो और तन्त्रो की विविध व्याख्याओ से इन धाराओ का विकास हुआ। क्षेमराज के उल्लेख से पता चलता है कि द्वैतवादी तथा द्वैताद्वैतवादी व्याख्याए अद्वैतवादी व्याख्याओ से पहले सामने आ चुकी थी। आज इन धाराओ का साहित्य हमे उपलब्ध नही, केवल अद्वैती धारा का ही साहित्य मिलता है। हम अद्वैतवादी धारा के आधार पर ही इतर धाराओ के रूप का अनुमान भले कर सके। अद्वैती धारा का विकास नवम शती के प्रारम्भिक दशको से होता है, अन्य धाराए उससे पुरानी है, किन्तु आज लुप्त हे।[1]

नवम शती के प्रारम्भ मे वसुगुप्त ने शिवसूत्रो की उद्भावना की। शताब्दी के मध्य मे उनके शिष्य कल्लट ने वसुगुप्त की स्थापनाओ को कुछ और प्रौढता प्रदान की। शताब्दी के अन्त मे आकर सोमानन्द द्वारा 'शिवदृष्टि' की रचना हुई, और उनके शिष्य उत्पल के द्वारा अद्वैती शैव-दर्शन का एक व्यवस्थित ढाचा 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' के नाम से खडा किया गया। वसुगुप्त और कल्लट के आधार पर 'स्पन्द शाखा' और सोमानन्द तथा उत्पल के आधार पर 'प्रत्यभिज्ञा शाखा' प्रतिष्ठित हुई। दोनो ही शाखाए मूलत अद्वैत-परक है, और मूल-मान्यताओ मे समान है। प्रत्यभिज्ञा को एक चरम प्रौढ दर्शन का रूप अभिनवगुप्त के हाथो आकर प्राप्त हुआ। इन शताब्दियो मे कश्मीर की चिन्तन-धारा इन शैव-दृष्टियो से बहुत गहरी प्रभावित हुई।[2]

भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने इसी शैव-दर्शन की सहायता से रस की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया। इनमे भट्टनायक का सम्बन्ध द्वैतवादी धारा से है, अभिनव का अद्वैतवादी धारा से।

द्वैतवादी शैव-दर्शन और रस

भट्टनायक

अन्य अनेक आचार्यों के समान भट्टनायक का भी कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है। अभिनव के उल्लेखो के आधार पर ही हमे उनके मत का पता चलता है। उनके रस-स्वरूप की व्याख्या शैव-दर्शन के आलोक मे ही ठीक-ठीक की जा सकती है। भट्टनायक के रस-निरूपण मे कुछ ऐसी रेखाए प्राप्त होती है जिनके कारण उनकी स्थापनाओ मे वह सूक्ष्मता नही आ पाती जो अभिनव की स्थापनाओ मे आती है। उन रेखाओं के आधार पर यही अनुमान होता है कि भट्टनायक ने रस की व्याख्या अपने युग मे वेग से प्रवाहित शैवाद्वैत के आलोक मे की तो सही, किन्तु वे अपने द्वैतवादी सस्कारो से पूर्णत मुक्त नही हो सके थे। आज यदि शैव-दर्शन

१-२. के० सी० पाडे अभिनव० पृ० ६६-१४१। अर्ली० हि० आ० का०, डा० चौधरी, पृ० १४१-१८६। शैवमत डा० यदुवंशी अ० ५-६-७।

की द्वैत-परक धारा का कोई आधार-ग्रन्थ हमे उपलब्ध हो सकता तो हम भट्टनायक के विवेचन के मूल सूत्र सम्भवत उसमे पा सकते । उसके अभाव मे हमारे पास यही एक मार्ग है कि हम उनके निरूपण और मान्यताओ को अद्वैती शैव-दर्शन की उपलब्धियो के आलोक मे परखे और अद्वैती मान्यताओ से मेल न खाती हुई स्थूल रेखाओ के आधार पर यह अनुमान कर सके कि भट्टनायक का सम्बन्ध अद्वैती धारा की अपेक्षा द्वैतवादी धारा से था । इसी मार्ग का अवलम्बन करते हुए यहा भट्टनायक को द्वैतवादी शैव-दर्शन के अन्तर्गत रखा गया है ।

भट्टनायक शैव थे, इस तथ्य के प्रमाण-स्वरूप कई उल्लेख प्रस्तुत किये जा सकते है

१ अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती, भा० १, अध्याय १, पृ० ६ पर भट्टनायक का एक श्लोक उनके हृदय-दर्पण से प्रस्तुत किया है । डॉ० काणे[1] के अनुसार यह हृदय-दर्पण का मगल-श्लोक होना चाहिए । यह श्लोक शिव-स्तुति-परक है

"नम स्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यत ।
प्रतिक्षण जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जन ॥"

२ अभिनव ने ही प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति-विमर्शिनी, भा० ३, पृ० ६६ पर भट्टनायक का शिव-स्तुति-परक एक और श्लोक निम्न रूप मे उद्धृत किया है

"महान्ति पातकान्याहुर्यदाज्ञावशत सुरा ।
पावनानि नमस्तस्मै स्वच्छान्दाय हराय ते ।"

इस श्लोक मे शिव के लिए दिया हुआ 'स्वच्छन्द' विशेषण विशेषत ध्यान देने योग्य है । शिव को 'स्वतन्त्र' या 'स्वच्छन्द' कहकर चलना कश्मीर के शैव-दर्शन की अपनी विशेपता है । इसी विशेषता के कारण कश्मीर के आधुनिक शैव आचार्य इस दर्शन को 'शैवाद्वैतवाद' कहने की अपेक्षा 'स्वातन्त्र्यवाद' या 'स्वच्छन्दवाद' कहना अधिक समीचीन समझते है ।

३ क्षेमराज ने स्पन्द-निर्णय, पृ० १८ पर भट्टनायक का एक शिव-परक स्तोत्राश प्रस्तुत किया है । ध्यान देने की बात यह है कि क्षेमराज इसे शैव-दर्शन के सिद्धान्त-पक्ष मे उत्पलाचार्य के वचनो के समान ही प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते है, और वेदान्त के विपरीत शैव-दृष्टि से इसकी सगति लगाते है

"नपुसकमिद नाथ पर ब्रह्म फलेत् कियत् ?
त्वत्पौरुषी नियोक्त्री चेन्न स्यात् त्वद्भक्तिसुन्दरी ।"

इस प्रकार क्षेमराज भी भट्टनायक को शैव मानकर चलते है ।

फिर सबसे बडी बात यह है कि भट्टनायक के रस-भोग का स्वरूप सीधे शैव-दर्शन से आया हुआ है । उसकी जितनी सगत व्याख्या इस दर्शन की छाया मे होती है उतनी किसी अन्य दर्शन की छाया मे नही । उनके विवेचन की पदावली सीधे इसी ओर सकेत करती है । उनका 'भोग' शैव-दर्शन से ही आया है । यो तो 'भोग' शब्द का प्रयोग कतिपय अन्य दर्शनो ने भी किया है, किन्तु भट्टनायक के भोग की चेतना शैव-दर्शन मे ही निहित है । शैव ग्रन्थो मे 'भोग' बहु-चर्चित शब्द है । एक शब्द मे कहे तो कह सकते है कि यह दर्शन 'भोगवादी' है । द्वैतवादी सद्योज्योति शिव ने तो एक 'भोग-कारिका' नामक ग्रन्थ की ही रचना की थी । सद्योज्योति का समय अभिनव से निश्चित रूप से पहले है ।[2] इन तथ्यो के आधार पर यह कहा जा

---

१. डॉ० पी० वी० काणे : हिस्ट्री आफ़ सस्कृत पोइटिक्स, पृ० २१४ ।

२. डॉ० के० सी० पाडे . अभिनवगुप्त, पृ० १०४ ।

सकता है कि भट्टनायक निस्सन्देह शैव थे ।

डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डे ने अभिनवभारती के एक उद्धरण के आधार पर भट्टनायक को वेदान्त से प्रभावित सिद्ध किया है ।[1] स्थल इस प्रकार है

"भट्टनायकस्तु ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतमविद्याविरचितनिस्सारभेदग्रहे यदुदाहरणीकृत तन्नाट्य । इति व्याख्यान सहृदयदर्पणे पर्यग्रहीत् । यदाह—

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यत ।
प्रतिक्षण जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जन ।"[2]

किन्तु डॉ० पाण्डे का यह निर्णय स्वीकार नही किया जा सकता । उसके विरुद्ध चार बाते सामने आती है

१ किसी एक ही स्थल के आधार पर कुछ निर्णय नही लिया जा सकता, जबकि दूसरे पक्ष मे जाने वाले एकाधिक प्रमाण विद्यमान हो ।

२ इस स्थल की भी व्याख्या शैव दृष्टि से सहज ही की जा सकती है ।[3]

३ डॉ० पाण्डे ने पूरे प्रसग पर ध्यान नही दिया । स्वय इसी प्रसग मे अन्त मे शिव-स्तुति-परक भट्टनायक का श्लोक दिया गया है ।

४ जैसा कि पीछे दिखाया है, क्षेमराज ने भट्टनायक को वेदान्त के विपरीत शैव पक्ष मे प्रमाण रूप मे उपस्थित किया है ।

भट्टनायक की इस शैव आधार-भूमि से परिचय प्राप्त कर लेने पर अब हम उनके विवेचित रस-स्वरूप को समझ सकते है ।

भट्टनायक का रस-स्वरूप

अभिनवभारती[4] मे भट्टनायक का रस-स्वरूप इन शब्दो मे प्रस्तुत किया गया है

"काव्ये दोषाभावगुणालकारलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसकटता-निवारणकारिणा[5] विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनाशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन पर भुज्यत इति ।"

भट्टनायक के अनुसार काव्य-शब्दो मे तीन व्यापार होते है—अभिधा, भावकत्व एव भोगकृत्व । जहा तक अभिधा का सम्बन्ध है, वह काव्य को छोड अन्य शास्त्रादि मे भी पायी जाती है । किन्तु उनकी अभिधा तथा काव्य की अभिधा मे अन्तर होता है । शास्त्रादि की अभिधा बस अपने वाच्यार्थ तक ही सीमिन रह जाती है, जबकि काव्य की अभिधा क्रमश भावना और भोग मे परिणत हो जाती है । इसी कारण वह 'शुद्ध' अभिधा न होकर भट्टनायक

१. डॉ० पाण्डे ' हिस्ट्री आफ इडियन इस्थेटिक्स, पृ० ६०१ ।

२ अभि० भा० भा० १, पृ० ५-६ ।

३. व्याख्या के लिए देखिए—'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० १६५ टि० ।

४. वही, पृ० २७७ ।

५ सकटकारिणा । हेम० सकटताका० ।

के शब्दो मे 'विलक्षण' अभिधा होती है।[1]

इस अभिधा व्यापार से वाच्यार्थोपस्थिति होकर भावकत्व व्यापार की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। भावकत्व व्यापार विशिष्ट विभावादिक को साधारणीकृत करता हुआ प्रमातृ-चेतना के मोह-सकट की निवृत्ति करता है, और रस को 'भावित' करता है। रस का भावित करके भावकत्व का कार्य समाप्त हो जाता है और तीसरा भोग नामक व्यापार उदित होता है। इस व्यापार द्वारा पूर्वोक्त भावित रसो का भोग होता है। इस प्रकार अभिधा वाच्य-विषयक व्यापार है, भावकत्व रसादि-विषयक, भोगकृत्व सहृदय-विषयक।[2]

इनमे पहला अभिधा व्यापार तो पद-पदार्थ की सीमा मे रहता है। काव्यानुभूति का वास्तविक कार्य शेष दो व्यापारो से ही होता है। रस का वास्तविक स्वरूप-निरूपण भोग-व्यापार के अन्तर्गत आता है, इसीलिए उसे भट्टनायक ने सहृदय-विषयक व्यापार माना है। रसादि-विषयक भावकत्व व्यापार रस के स्वरूप नही, अपितु उसकी निष्पत्ति-प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है। इन दोनो व्यापारो की कल्पना मे भट्टनायक ने दो भिन्न दर्शनो से सहायता ली है। भावकत्व की प्रतिष्ठा मीमासा के आधार पर हुई है और भोगकृत्व की शैव-दर्शन के आधार पर।

भावकत्व व्यापार और मीमासा

भावकत्व व्यापार का स्वरूप अभिनवभारती के इन शब्दो मे निरूपित हुआ

"काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोह-सकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसो भोगेन पर भुज्यते।"

इस निरूपण मे भावकत्व व्यापार के चार विशेषण दिये गये है जिनके आधार पर उसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है

१ "काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण।" काव्य मे दोषो का अभाव तथा गुण-अलकारो का सद्भाव और नाटक मे आगिक-वाचिक-सात्विक-आहार्य चतुर्विध अभिनय, एक शब्द मे कहे तो पठ्य काव्य मे भाषा का कलात्मक प्रयोग और नाट्य मे अभिनय-कौशल भावकत्व व्यापार की सफलता के हेतु है। कलात्मक भाषा और कुशल अभिनय ही काव्य-शब्दो मे भावकत्व की प्रतिष्ठा करते है, अत एक प्रकार से ये दोनो तत्त्व भावकत्व के कारण है।

२ "अभिधातो द्वितीयेन अशेन।" भावकत्व अभिधा के अनन्तर अवकाश पाने वाला द्वितीय व्यापार है।

३ "निबिडनिजमोहसकटतानिवारणकारिणा।" भावकत्व सामाजिक की चेतना मे पडे मोहावरण को भग करने वाला है। इस प्रकार भावकत्व का एक फल है प्रमातृ-चेतना के मोहावरण का नाश। सामान्यतया व्यक्ति-चेतना अपने राग-द्वेष से अभिभृत होती है। यही मोह-सकटता है। जब तक यह निवृत्त न हो, सामाजिक को रसानुभूति हो ही नही सकती।

---

१ "तत्राभिधाभागो यदि शुद्ध स्यात्, तत्तन्त्रादिभ्यो शास्त्रन्यायस्य श्लेषालकाराणाको भेद ? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापार, यद्वशादभिधा विलक्षणैव।" ध्व० लो०, पृ० १८२।

२. वही, पृ० १८२।

इस प्रकार भावकत्व व्यापार काव्यानुभूति के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने वाला व्यापार है। भावकत्व 'सकटतानिवारणकारी' है, अत मोहसकटतानिवारण उसका 'कार्य' ही कहा जा सकता है, उसका अग या कोई अवान्तर व्यापार नही।

४ "विभावादिसाधारणीकरणात्मना।" भावकत्व व्यापार मे आत्म-रूप प्रधान व्यापार है विभावादि का साधारणीकरण। काव्य की अभिधा से विभावादि अपनी देश-काल-व्यक्ति की सीमाओ के साथ उपस्थित होते है। कलात्मक भाषा और अभिनय-कौशल की क्षमताओ वाला भावकत्व व्यापार उन विभावादि को निर्विशेष बनाता हुआ इस रूप मे ला देता है कि वे सामाजिक के भावोद्बोधन का कार्य कर सके, उसके विभाव बन सके। भट्टनायक के अनुसार विशिष्ट विभावादि मे विभावन-क्षमता नही होती। अनेक मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठ सकते है, जैसे सीता सामाजिक की रति-विभाव कैसे होगी ? साधारणीकरण इन उलझनो को दूर कर देता है।

साधारणीकरण भावकत्व का एक अग-भूत व्यापार है।[1] भावकत्व विभावादि को साधारणीकृत करता हुआ प्रमातृ-चेतना के मोह का नाश करता है, और चरम फल के रूप मे रसो का भावन करता है। भावकत्व भट्टनायक के शब्दो मे रसादि-विपयक व्यापार है, जबकि साधारणीकरण विभावादि-विषयक है। साधारणीकरण विशिष्ट विभावादि की विशिष्टता छुडाकर उन्हे काव्यानुभूति के लिए उपयुक्त बनाकर निवृत्त हो जाता है जबकि भावकत्व उन साधारणीकृत विभावादि के प्रति सामाजिक के स्थायी भावो को उद्बुद्ध करता है। यह रस-भावन का कार्य साधारणीकरण से नही, भावन व्यापार से ही होता है। अत साधारणीकरण उसी प्रकार भावकत्व का एक अग है जिस प्रकार किसी एक व्यापक व्यापार के अग अनेक छोटे-छोटे व्यापार हो सकते है।

इस प्रकार भावकत्व व्यापार भाषा के कलात्मक प्रयोग और अभिनय-कौशल का फल है। यह विभावादि का साधारणीकरण करता हुआ सामाजिक की चेतना को प्रभावित करता है। वह उसमे मोह-सकट को दूर कर उसके शुद्ध भावो के उद्बोधन का अवकाश प्रदान करता है। य उद्बुद्ध भाव ही भावकत्व द्वारा भावित रस है। इन्हे भावित करके इस व्यापार का काम समाप्त हो जाता है और इनके भोग का भार भट्टनायक के अनुसार भोगकृत्व नामक तीसरा व्यापार सम्हालता है।

भट्टनायक को इस व्यापार की प्रतिष्ठा की प्रेरणा मीमासा-दर्शन से प्राप्त हुई है। मीमासक क्रिया को 'भावना' कहता है, इसी से उसे भावनाक्रियावादी कहा जाता है। 'स्वर्गकामो यजेत' इस श्रुति-वाक्य मे मीमासक के अनुसार बताया गया है कि यजन-क्रिया मे स्वर्ग भावित होता है। भावना दो प्रकार की होती है—शाब्दी तथा आर्थी। शाब्दी भावना की साध्य आर्थी भावना ही होती है। सीधे शब्दो मे कह सकते है—शब्दो के साध्य अर्थ होते है। आर्थी भावना का साध्य फल होता है। जैसे यजन-भावना का साध्य स्वर्ग है। भावना के साध्य के विषय मे तीन प्रश्न उठाये जाते है—(१) कि भावयेत् ? अर्थात् क्या भावित या सिद्ध करना है ? इसे साध्याकाक्षा कहा जाता है। (२) केन भावयेत् ? अर्थात् किन साधनो से भावित किया जाय ? इसे साधनाकाक्षा कहा जाता है। (३) कथ भावयेत् ? अर्थात् किस प्रकार भावित किया जाय ? इसे इतिकर्तव्यताकाक्षा कहा जाता है। इन तीन आकाक्षाओ की

१. 'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० १४८-४९।

दृष्टि से 'स्वर्गकामो यजेत' श्रुतिवाक्य का विश्लेषण इस प्रकार किया जाएगा

१	साध्याकाक्षा कि भावयेत्	स्वर्ग ।
२	साधनाकाक्षा केन भावयेत्	याग ।
३	इतिकर्तव्यताकाक्षा कथ भावयेत्	प्रयाजादि कर्म-कलाप ।

भट्टनायक की भी यही प्रक्रिया है। उनका काव्य 'भावक' है, रस 'भाव्य' हे ।[1] उपर्युक्त श्रुतिवाक्य की प्रक्रिया से भट्टनायक के दृष्टिकोण को इस प्रकार रखा जा सकता है

१	साध्याकाक्षा कि भावयेत्	रस ।
२	साधनाकाक्षा केन भावयेत्	भावकत्व व्यापार ।
३	इतिकर्तव्यताकाक्षा कथ भावयेत्	गुणालकार आदि द्वारा भाषा का कलात्मक भाव-प्रवण प्रयोग, अभिनय-कौशल, विभावादि का साधारणीकरण, प्रमातृ-चेतना का मोह-सकटता-निवारण ।

अभिनवगुप्त भट्टनायक के भावकत्व व्यापार की मूल विचार-भूमि से परिचित है। अत वे इसका निराकरण मीमासा की शैली मे ही इसे विभाजित करके देते है। अभिनव का कहना है कि भाषा के कलात्मक प्रयोग रूप गुणालकारादि के परिग्रह के रूप मे तो भावकत्व हमे भी स्वीकार्य है, किन्तु इसको अलग एक स्वतन्त्र व्यापार मानना अनावश्यक है। व्यजना काव्य की अनेक आवश्यकताओ को सम्पादित करने वाला एक अनिवार्यत स्वीकृत व्यापार है। करण या साधन की आकाक्षा उसी से पूर्ण होगी। अत भावकत्व मानना व्यर्थ है। मीमासा शैली मे अभिनव अपनी मान्यता इस प्रकार रखते हे

१	साध्याकाक्षा कि भावयेत् 'भाव्य'	रस ।
२	साधनाकाक्षा केन भावयेत् 'करण'	व्यजना व्यापार ।
३	इतिकर्तव्यताकाक्षा कथ भावयेत् 'प्रकार'	समुचित गुण अलकार आदि का प्रयोग । भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित भाषा का भाव-प्रवण कलात्मक प्रयोग, अभिनय का कौशल आदि ।

अभिनव का यह खडन इस बात का निश्चायक है कि भट्टनायक का भावकत्व व्यापार मीमासा की आधारभूमि पर ही प्रतिष्ठित हुआ है। अभिनव ने भट्टनायक पर इन शब्दो मे आक्षेप किया है

"भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते । किमेतदपूर्वम् ? काव्य च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवित । न च काव्यशब्दाना केवलाना भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात् । न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात् । द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्त "यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थं व्यक्त" इत्यत्र । तस्माद् व्यजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालकारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्य रसान् भावयति, इति त्र्यशाया भावनाया करणाशे ध्वननमेव निपतति ।"[2]

---

१. अर्थसग्रह लौगाक्षिभास्कर, पृ० ८-२२। भावना-विवेचन के आधार पर।

२. ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १८८-९।

भट्टनायक की मीमासानुवर्तन की धारणा को ध्यान मे रखकर ही उपर्युक्त शब्दो मे अभिनव ने उन पर एक और आक्षेप किया है—"काव्य च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवित ।" काव्य को भावक मानकर उसकी भावना से रस को भाव्य मानने का अर्थ यह हुआ कि रस उत्पन्न होता है । क्योकि मीमासा एक उत्पत्तिवादी दर्शन है । उसके अनुसार स्वर्गादि फल यागादि भावना से भाव्य होकर उत्पन्न होता है । उसकी मान्यता है कि श्रुतियो मे आये समस्त सिद्ध पदार्थ भी क्रियार्थ ही होते है। अत वे भी एक प्रकार से साध्यायमानता को प्राप्त हो जाते है। इन धारणाओ के साथ जब रस को भावना-भाव्य कहा जायेगा तो उसका स्पष्ट यही अर्थ होगा कि रस भावना-व्यापार से उत्पन्न किया जाता है । किन्तु इसके विपरीत भट्टनायक ने उत्पत्तिवाद का खडन किया है । अभिनव का आक्षेप है कि भावकत्व व्यापार को स्वीकार करने का तो यह अर्थ होगा कि आप स्वय अपने द्वारा निराकृत उत्पत्तिवाद को ही पुन उज्जीवित कर रहे है । अभिनव का यह आक्षेप भी इस बात का प्रमाण है कि वह भट्टनायक के भावकत्व व्यापार को मीमासा पर ही आधारित मानते है ।

हम मीमासा दर्शन के सन्दर्भ मे रस-समस्या को सुलझाने वाले आचार्यो के प्रसग मे भट्टनायक की चर्चा कर चुके है और यह सकेत कर चुके है कि भट्टनायक का भावकत्व व्यापार मीमासा पर ही आधारित है तथा अभिनव ने उसका खण्डन भी मीमासा की प्रक्रिया का सहारा लेकर ही किया है। किन्तु भट्टनायक मे मीमासा का प्रभाव भावकत्व व्यापार से आगे बढकर नही जाता । भावकत्व व्यापार से भावित हुए रसो के भोग का विश्लेषण वे शैव-दर्शन के आलोक मे ही प्रस्तुत करते है। भट्टनायक के इस भावकत्व का परिचय प्राप्त कर चुकने पर अब हम उनके भोग की ओर आते हे ।

रस-भोग

रस-भोग का स्वरूप अभिनवभारती के निम्न शब्दो मे निरूपित है

" भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन पर भुज्यते ।"[1]

लोचन मे यही निरूपण इन शब्दो मे आता हे

"भाविते च रसे तस्य भोग । योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षण परब्रह्मास्वादसविध । स एव च प्रधानभूतोऽश सिद्धरूप इति । व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवेति ।"[2]

इन दोनो उल्लेखो को ध्यान मे रखकर कुछ प्रमुख बाते हमारे सामने आती है

१ अभिनवभारती मे कहा गया है—"भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो भोगेन पर भुज्यते ।" भावकत्व व्यापार से भावित होता हुआ रसवाद को भोग व्यापार से भोगा जाता है । लोचन मे कहा गया है—"भाविते च रसे तस्य भोग " रस के भावना-व्यापार से भावित हो चुकने पर उसका भोग होता है । इस प्रकार भट्टनायक सिद्ध या निष्पन्न रस का भोग

---

१ अभिनवभारती भा० १, पृ० २७७ ।

२. लोचन : पृ० १८३ ।

मानते है। लोचन मे 'भाविते' शब्द मे क्त-प्रत्यय का प्रयोग हुआ हे जो भोग व्यापार की प्रवृत्ति से पूर्व ही रस की सिद्धता की ओर सकेत करता है। अभिनवभारती मे यद्यपि 'भाव्यमानो रस' कहा हे जिसमे शानच् प्रत्यय हे, जो निष्पन्नता नही, निष्पद्यमानता का द्योतक हे, तथापि उसमे 'पर' शब्द का प्रयोग बताता है कि इस भाव्यमान रस का भोग भावकत्व व्यापार के कार्य की समाप्ति के अनन्तर ही होता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि भट्टनायक सिद्ध रस का भोग मानते है। तब उनके अनुसार 'ओदन भुज्यते' के समान रस-भोग की बात कही जायेगी, न कि 'ओदन पचति' के समान। अभिनव इस दृष्टिकोण से असहमति प्रकट करते है। उनकी मान्यता है—"रसा प्रतीयन्त इति ओदन पचतीतिवद् व्यवहार। प्रतीयमान एव हि रस।"[1]

२ रस-विवेचन के इतिहास मे भट्टनायक ही प्रथम आचार्य है जिन्होने रस को सामाजिक की चेतना के रूप मे देखा है। उनसे पूर्व के आचार्यों की दृष्टि मे रस किसी न किसी रूप मे एक पदार्थ रहा है। भरत, लोल्लट, शकुक आदि किसी मे उसकी वस्तुरूपता पूर्णत नही छूटी थी। भट्टनायक ने उसे विशुद्ध सामाजिक की अनुभूति के रूप मे लिया है। उन्होने सामाजिक के ही भावित रत्यादि के भोग का विश्लेषण किया है।

३ भट्टनायक ने ही सर्वप्रथम रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद-सविध कहा है। उनके भोग का अर्थ है आस्वाद। रसास्वादकालीन प्रमातृ-चेतना का स्वरूप उन्होने इस प्रकार बताया है—"द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसविद्विश्रान्ति लक्षणेन" चेतना के इस स्वरूप मे दो अश है—एक तो द्रुतिविस्तारविकासात्मक सत्त्वोद्रेकी चित्त का, दूसरा प्रकाशानन्दमय सविद् की विश्रान्ति का। इस प्रकार कहना चाहिए कि रसानुभूति भट्टनायक के अनुसार चित्त की एक उत्कृष्ट भूमिका मे होने वाली अनुभूति है। शुद्ध ब्रह्मानन्द के आस्वाद मे चेतना का स्वरूप केवल 'प्रकाशानन्दमयसविद्' रूप होता है, किन्तु रसास्वाद मे चित्त का भी योग रहता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता हे कि भट्टनायक के रस की अनुभूति मनोमय कोश की सीमा मे ही होती है। किन्तु इस अनुभूति मे मनोमय कोश अत्यन्त प्राजल होता हे और इसमे परिच्छिन्न चेतना अपने पूर्ण विश्रान्त स्वरूप मे अवस्थित होती है। चित्त के इस योग के कारण ही भट्टनायक ने रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद न कहकर ब्रह्मास्वादसविध कहा है।

४ रसास्वाद अन्य लौकिक अनुभव, स्मृति आदि ज्ञान के प्रकारो मे भी भिन्न हे। उन सबसे यहा दो बाते विशेष हे। एक तो इस भूमिका मे सविद् की विश्रान्ति होती है। दूसरे अनुभवो मे सविद् अविश्रात रहती है, क्योकि वह विषयोन्मुखी रहती है। दूसरी बात यह कि अन्य अनुभावो मे चित्त मे सत्त्व की अपेक्षा रजस् और तमस् का आवेश अधिक रहता है। सत्त्व की स्थिति दबी रहने के कारण उस स्थिति को भट्टनायक ने मोह-सकट कहा है। इसकी निवृत्ति उनके अनुसार भावकत्व व्यापार मे होती है। किन्तु रस-भोग मे सत्त्व का आवेश प्रधान रहता है। फिर भी चित्त मूलत त्रिगुणात्मक है। उसके सत्त्वोद्रेक की दशा मे भी रजस् और तमस् का अत्यन्ताभाव नही हो सकता। दूसरे काव्यानुभूति मे ऐसा मानना अव्यावहारिक भी है। काव्यास्वादन मे सुख-दुख की नाना परिस्थितिया आती है। सभी स्थायी भावो के अनुभव सुखात्मक ही नही है। अत रजस् और तमस् का भी योग उद्रिक्त सत्त्व के साथ

१ लोचन, पृ० १८७।

रहता है। किन्तु यह योग भट्टनायक के शब्दो मे 'अनुवेध' मात्र होता है। इस प्रकार सत्त्वोद्रेकी चित्त मे रजस् और तमस् के हलके सस्पर्श से उसकी तीन स्थितिया सम्भव हो जाती है—द्रुति, विस्तार और विकास। अत माणिक्यचन्द्र और विश्वनाथ जैसो की यह मान्यता ठीक नही कि रसानुभूति मे सत्त्वोद्रेक की दशा मे रजस् और तमस् का सर्वथा अस्पर्श होता है। उन लोगो ने माना है "रजस्तमोभ्यामस्पृष्ट मन सत्त्वमिहोच्यते"।[1] रजस् और तमस् से अस्पृष्ट मन को इस प्रसग मे सत्त्व नाम दिया गया है। किन्तु भट्टनायक के द्वारा माने हुए इस रजस् और तमस् के अनुवेध या सस्पर्श का यह अर्थ नही कि कही सत्त्व प्रधान होता है, कही रजस् और कही तमस्। उद्रेक तो सत्त्व का ही होता है। अन्यो का अनुवेध-मात्र ही होता है। इस अनुवेध के कारण ही चित्त की तीन दशाए हो जाती हे। अत ये तीनो दशाए क्रमश सत्त्व, रजस्, तमस् के फलस्वरूप नही, अपितु केवल सत्त्वोद्रिक्त चित्त की है। हा यह सत्त्वोद्रिक्त चित्त एक हलकी मात्रा मे अन्यो मे अनुविद्ध चित्त होता हे। अत माणिक्यचन्द्र आदि का तीन गुणो से तीन दशाओ का सम्बन्ध जोडना भ्रामक है। माणिक्यचन्द्र ने द्रुति का सम्बन्ध रजस् से, विस्तार का तमस् से और विकास का सत्त्व से जोडा है।[2] वस्तुत इन तीन दशाओ का तीन सत्त्वादि गुणो से कोई सीधा सम्बन्ध नही हे। अभिनवगुप्त भट्टनायक की इस अवस्था-त्रय की मान्यता का खण्डन करते है। उनका कहना हे कि यदि रसो पर ध्यान रखकर चित्त की अवस्थाए माननी हो तब तो जितने रस है उतनी अवस्थाए माननी चाहिए। और यदि सत्त्वादि गुणो के परस्पर मिश्रण और अगागिभाव के आधार पर उनका निर्णय करना है तो फिर यह मिश्रण तो अनन्त प्रकार से बन सकता है, फिर तो तीन रूपो मे ही इयत्ता की परिसमाप्ति नही हो सकती। इस प्रकार चित्त-दशा को तीन रूपो मे विभाजित करना अभिनव को असगत लगता है।[3]

सम्भवत भट्टनायक ने चित्त की तीन दशाओ की कल्पना आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित माधुर्य, ओज, प्रसाद तीन गुणो के आधार पर की हैं। प्राचीन आचार्यो ने गुणो को शब्द, अर्थ, रचना आदि से सम्बद्ध किया था। आनन्दवर्धन ने उनका सम्बन्ध रस से स्थापित करते हुए उनकी सख्या तीन निर्धारित की। रसो की सख्या चाहे नौ थी, पर उनमे माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणो की ही सम्भावना आनन्दवर्धन ने प्रतिपादित की। इनमे माधुर्य मे चित्त की द्रुति, ओज मे दीप्ति या विस्तार और प्रसाद मे वैमल्य या विकास था। भट्टनायक ने सभी रसो की इन तीन चित्त-दशाओ को अपनी व्याख्या मे सामने रखा और इनका दार्शनिक समाधान देना चाहा। भट्टनायक का सीधा और ठीक समाधान है कि विभिन्न रसो मे उनके स्थायी भावो के स्वरूप के अनुसार रजस्, तमस् का अनुवेध अलग-अलग मात्रा मे होता हे। उसी अनुवेध के कारण चित्त की तीन दशाए हो जाती हैं। किन्तु इन सभी दशाओ मे प्राधान्य सत्त्व का ही होता है। किन्तु यह समाधान अभिनव को नही जचा, जैसा कि हम अभी दिखा चुके है।

---

१ (क) काव्यप्रकाश।
(ख) साहित्यदर्पण, पृ० ६६, परि० ३।

२ काव्य सकेत * पृ० ४७। "यदा हि रजसो गुणस्य द्रुतिस्तमसो विस्तर सत्त्वस्यातिविकासस्तदानी भोग स्वरूप लभते।"

३ अभि० भा० * भा० १, पृ० २७७। "यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसनात्मान प्रतीतया भोगीकरण-स्वभावा । सत्त्वादिगुणाना चागागिभाववैचिन्त्यमनन्त कल्प्यमिति का त्रित्वेनेयत्ता।"

इस प्रकार रस-भोग-कालीन प्रमातृ-चेतना के एक पक्ष चित्त की स्थिति एक शब्द मे 'सत्त्वोद्रिक्त' कही जा सकती हे। हा, यह नही भुलाना चाहिए कि यह सत्त्वोद्रेक अनुवेध-युक्त हे।

चित्त की इस स्थिति का विश्लेपण जो भट्टनायक ने किया हे वह सर्वथा साख्य के अनुरूप है। इसमे एक ओर तो आनन्दवर्धन के माधुर्यादि गुण-त्रय-वाद का प्रभाव है, दूसरी ओर साख्य के सत्त्वादि गुण-त्रय-वाद का। किन्तु इस गुण-त्रय-वाद को सधि साख्य से आता हुआ नही माना जा सकता। कारण, प्रमातृ-चेतना का प्रमुख अश 'प्रकाशानन्दमयनिजसविद्विश्रान्ति' शैव-दर्शन के अनुसार निरूपित हुआ है। शैव-दर्शन ने साख्य के समस्त तत्त्वो को अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप अत्यन्त स्वल्प हेर-फेर करके ज्यो का त्यो अपना लिया ह। तब यह भी कहा जा सकता है कि चित्त की स्थिति का यह गुणात्मक विश्लेपण साख्य मे सीधे नही आया, अपितु शैव-दर्शन की मान्यनाओ के माध्यम से आया हे, और इस प्रकार यह भी शैव-दर्शन के अनुसार ही है, न कि साख्य के अनुसार। और, कहने की आवश्यकता नही कि ऐसा मानना ही अधिक सगत होगा।

अब हम रस-भोग-कालीन प्रमातृ-चेतना के दूसरे पक्ष 'प्रकाशानन्दमयनिजसविद्विश्रान्ति' की ओर आते हैं, जिसे लोचन मे 'निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षण' कहा गया हे। इस स्वरूप को समझने के लिए हमे कश्मीरी शैव-दर्शन की कतिपय मान्यताओ की ओर दृष्टिपात करना होगा।

कश्मीरी शैव-दर्शन के अनुसार आत्म-तत्त्व-रूप परम शिव से अतिरिक्त कुछ भी नही ह। उससे प्रसूत होने के कारण सब-कुछ 'सत्' है।[१] इस परम तत्त्व के दो रूप हैं—एक विश्वोत्तीर्ण, दूसरा विश्वमय। प्रथम रूप वेदान्त के ब्रह्म के समान ही अतर्क्य है। विश्वात्मक रूप प्रकाश-विमर्श-मय है।[२] वस्तुत विमर्श के बिना प्रकाश विचार की सीमा से परे है। यही रूप शिव-शक्ति-मय है। विमर्श या शक्ति पक्ष प्रकाश से पृथक् नही, उसी का एक पक्ष-मात्र है। प्रकाश-पक्ष दर्पण के समान आधार-पक्ष हैं, विमर्श उसमे पड़ा उसी का उनसे अभिन्न प्रतिबिम्ब है।[3] इसी प्रकाशात्मक आधार पक्ष मे शक्ति अपने नाना रूपो मे विकसित होती हुई अवस्थित रहती है, इसी मे लीन होती हे। उसकी यह प्रक्रिया उन्मीलन और निमीलन कही जाती है।

शक्ति के असख्य रूप है, और वह सूक्ष्म-स्थूल नाना धरातलो मे बिखरी हुई है।[४] फिर भी उसके पाच प्रमुख रूप माने गये हे—चित् शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति।[५] इनमे मूल शक्ति 'चित् शक्ति' ही है, अन्य सब उसकी ही विकसित अवस्थाए है। यह चित् शक्ति ही अनुत्तर विमर्श और स्वतन्त्र कही गयी है। यह प्रकाश का ही एक

---

१. "आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभु। अनिरुद्धेच्छाप्रसर प्रसरद्दृक्क्रिय शिव।
शिवदृष्टि प्र० आ०. २।

२ अभिनवगुप्त के० सी० पाण्डे, पृ० १९९।

३ "सर्वमेव भावजात बोधगगने प्रतिबिम्बमात्र प्रतिबिम्बलक्षणोपेतत्वात्। इद हि प्रतिबिम्बलक्षण यद् भेदेन भासित अशक्यम् अन्यव्यामिश्रितत्वेनैव भाति तत्प्रतिबिम्बम्, मुखरूपमिव दर्पणे।" तन्त्रसार: अभिनवगुप्त, पृ० १०।

४. तन्त्रसार आ० ४ कश्मीर शैविज्म जे० सी० चटर्जी, पृ० ४३।

५ तन्त्रसार. आह्निक १, पृ० ६।

रूप होने के कारण प्रकाश-रूप है। वस्तुत प्रकाश की प्रकाश-रूप ही चित् शक्ति है।[१] इसी के सन्दर्भ मे परम शिव 'शिव' कहे जाते है।[२] इस प्रकार 'चित् शक्ति मय शिव' ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। यही उसका 'स्व-भाव' है, और यही परम उपादेय है।[३] 'स्वभाव' प्रकाश-रूप और स्वतन्त्र है।[४]

जिस प्रकार प्रकाश की प्रकाशरूपता को चित् शक्ति कहा गया है, ठीक उसी प्रकार इस 'स्वतन्त्र' के 'स्वातन्त्र्य' को आनन्द शक्ति कहा गया है। इसे यो भी कहा गया है कि अनुत्तर विमर्श रूप चित् शक्ति मे विश्रान्ति ही आनन्द है—"अनुत्तर एव विश्रान्तिरानन्द"[५]। यही सविद् की विश्रान्त अवस्था हे। इस प्रकार शैव-दर्शन के अनुसार आनन्द का मूल रूप है सविद्विश्रान्ति।

आनन्द का स्वरूप जो सविद्विश्रान्ति है, उसके सम्बन्ध मे एक जिज्ञासा उठ सकती है—इस दर्शन मे सविद् को अनेक धरातलो पर स्वीकार किया गया है, तब किस धरातल पर सविद् की विश्रान्ति आनन्द है? जब परा भगवती सवित् ही उन्मिषित होती हुई नाना रूपो मे फैल जाती है, तब शुद्ध प्रकाश भी एक परा 'सवित्' है, और विश्व का स्थूलतम पदार्थ भी उसी 'सवित्' का एक रूप है। इस प्रकार सवित् की अनेक भूमिकाए मानकर इस दर्शन मे विकासमान सवित् की सतति स्वीकार की गई है।[६] तब आनन्दमयी स्थिति को बताने के लिए यह बताना भी अपेक्षित होगा कि यह विश्रान्ति सविन् के किस स्तर की विश्रान्ति है।

विशुद्ध आनन्द, जिसे ब्रह्मानन्द कह सकते है, पारिभाषिक शब्दो मे आनन्द-शक्ति की भूमिका है। यह चित् शक्ति या अनुत्तर विमर्श के धरातल पर होने वाली विश्रान्ति है। इसी धरातल को 'स्वभाव' या 'स्व-स्वभाव' भी कहा गया है, और उत्पलाचार्य ने इसी को 'निर्वृता चित्' भी कहा है।[७] चित् शक्ति जब परानपेक्ष एव पूर्ण होती है, 'निर्वृत' कहलाती है। जब यह क्रियोन्मुख होती है तो कर्मावच्छिन्न होती है। जब चित् कर्मावच्छिन्न न होकर विश्रान्त एव निर्वृत होती है तब इसी को आनन्दशक्ति कहा गया है। इसीलिए चित् शक्ति मे होने

---

१ "तस्य च प्रकाशरूपता चिच्छक्ति"। तन्त्रसार आ० १, पृ० ६।

२ कश्मीर शैविज़्म जे० सी० चटर्जी, पृ० ४३-४।

३ "तत्र इह स्वभाव एव परमोपादेय।" तन्त्रसार आ० १, पृ० ५।

४ "स च सर्वभावाना प्रकाशरूप एव, एक एव प्रकाश, स एव च सवित्। स च प्रकाशो न परतन्त्र, न च प्रकाशान्तर किंचिदस्ति इति स्वतन्त्र एक प्रकाश।" तन्त्रसार आ० १, पृ० ६।

५. तन्त्रसार आ० १, पृ० १२।

६ (क) "—इति एता द्वादश भगवत्य सविद प्रमातृन् एक वापि उद्दिश्य।" वही, १।३०
"इय तुरीया सविद्भट्टारिका स्थिता।" प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ४७।
"तथाहि पर परावस्थाया सविदि स्फुरति।" शिवदृष्टि उत्पल • प्र० आ०, पृ० १४।
(ख) "सविन्मय हि विश्व चेतन्यस्य व्यक्तिस्थानम्।" त० सा० आ० १, पृ० १२।
(ग) "तद्भूमिका. सर्वदर्शनस्थितय।" प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ४०। तथा वही, पृ० ४४।
(घ) "तत्सद्दुष्य सवि सतत्यासूत्रणमिति सृष्टिस्थितिसहारमेलनरूपा इय तुरीया सविद्भट्टारिका" वही, पृ० ४६।

७ "परावस्थाया पुन पूर्णोहमित्येव स्वस्वभाव प्रकाशते"। शि० द० . उ० वृ०, पृ० ७।
"निर्वृता वेद्यनिराकाक्षा पूर्णा चिद्यस्य स"। वही, 'निर्वृतचित्' की व्याख्या।

वाली विश्रान्ति को आनन्द शक्ति कहा गया है ।[1]

शैव-दर्शन की इन मान्यताओ पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्टनायक का रस-भोग ठीक इसी दर्शन के अनुसार प्रणीत हुआ है । जहा तक आनन्द के स्वरूप का सम्बन्ध है, वह भट्टनायक के अनुसार 'प्रकाशानन्दमयनिजसविद्विश्रान्ति' है । यह आनन्द-शक्ति की भूमिका मे सविद् की विश्रान्त अवस्था है । लोचन मे इसे चिन्म्वभावनिर्वृतिविश्रान्ति कहा गया है। हम देख चुके है कि निर्वृता चित् भी अनवच्छिन्ना चित् है जो आनन्दशक्ति का पर्याय भर है—"अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्दशक्तिरिति" कहकर उत्पल ने निर्वृत-चित् का स्वरूप समझाया है, यही चित् का 'स्व-भाव' बताया है ।[2] अत अभिनवभारती और लोचन दोनो के उल्लेख पर्यायवाची शब्दो मे एक ही बात कहते है ।

किन्तु भट्टनायक का रस-भोग यह शुद्ध या मात्र अनवच्छिन्न चित् नही, उसके साथ उद्रिक्त सत्त्व के रूप मे चित्त का भी योग है । शैव-दर्शन के अनुसार चित्त भी चित् शक्ति का ही एक सकुचित रूप है । यह विषय सपर्क से सकुचित हुई चिति है ।[3] वस्तुत यह पशु-दशा या जीव-दशा से सम्बन्धित है । इस दशा मे सत्त्व, रजस्, तमस् का स्फुरण रहता है—

"चितिरेव चेतनपदावरूढा चेत्यसकोचिनी चित्तम् ।"[4]

"स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञानक्रियामायाशक्तिरूपा पशुदशाया सकोचप्रकर्षात् सत्त्वरजस्तम स्वभावचित्तात्मकतया स्फुरतीति श्रीप्रत्यभिज्ञायामुक्तम् ।"[5]

भट्टनायक ने रस-भोग को एक व्यक्ति की चेतना के रूप मे विश्लेपित किया है, जबकि अभिनव ने उसे व्यापक भूमि मे रखकर सकलसहृदयसवादभाक् के रूप मे सोचा है । यह निस्सन्देह आत्मैकत्व एव अद्वैतपरक दृष्टिकोण का फल था । भट्टनायक ने इसी व्यष्टि-चेतना के आनन्द को, जिसमे चित्त की भूमिका मे आनन्द की व्याख्या की, और चित्त मे रजस् तमस् का हलका सस्पर्श मात्र स्वीकार करके सत्त्व का उद्रेक बताया, रस-भोग कहा है । इस प्रकार भट्टनायक का रस-भोग चित्त की भूमिका मे, जो कि सामान्य दशाओ मे निस्सन्देह निर्मल चित्तभूमिका है, आनन्दशक्तिमयी सविद् की विश्रान्ति है । इसीलिए उनका रस-भोग मात्र 'प्रकाशानन्दमयसविद्विश्रान्ति' नही, अपितु 'रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमय' 'प्रकाशानन्दमयनिजसविद्विश्रान्ति' है । इस प्रकार रस-भोग सविद् की उस भूमिका मे विश्रान्ति है जिसमे अनुविद्ध किन्तु निर्मल चित्त का परिवेष है ।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के इस रस-भोग को कतिपय अल्प सुधारो के साथ स्वीकार कर लिया है । उन्हें बीच मे मीमासा का अडगा स्वीकृत नही है, अत भावकत्व व्यापार मान्य नहीं है । भोग के पर्याय मे व्यजना स्वीकार्य है, वह तो नामान्तर मात्र है । चित्त की दशाओ को तीन की सख्या मे बाधना अनावश्यक मानते है । यदि रसानुसार चित्तदशाओ की सख्या देखी जायेगी तो सत्त्वादि के परस्पर सस्पर्श को ध्यान मे रखकर अनन्त चित्त-रूप हो सकेंगे । अत चित्त वाली बात उन्हे रुचती नही । वे रस का स्वरूप व्यष्टि चेतना के रूप मे नही,

---

१ "कर्मावच्छिन्ना निर्वृतिर्मुख्यम्, अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्दशक्तिरिति" वही, पृ० १७ ।
"अनुत्तर एव विश्रान्तिरानन्द ।" त० सा०, पृ० १२ ।

२ शिवदृष्टि उत्पलवृत्ति, पृ० १७, १० ।

३ प्रत्यभिज्ञाहृदय : ५, पृ० ३४ ।

४. वही, ५, पृ० ३४ ।

५. वही . वृत्ति, पृ० ३४ ।

समष्टि-चेतना के रूप मे सोचते है, और व्यष्टि सामाजिक को समष्टि चेतना का अग मानते हुए उसके आस्वद की बात स्वीकार कर सकते है। ये सब बाते अभिनव मे अद्वैती दृष्टिकोण की परिपूर्णता के कारण आयी हुई प्रतीत होती है।[1]

यद्यपि भट्टनायक का रस अद्वैती शैव-दर्शन की मान्यताओ के अनुसार निरूपित प्रतीत होता है, क्योकि हमने उसकी व्याख्या अद्वैत शैव-दर्शन के सिद्धान्तो के आधार पर उसी के ग्रन्थो से उद्धरण लेते हुए की है। किन्तु भट्टनायक के रस-विवेचन मे यह अद्वैती दृष्टि पूरी नही उतरती। भट्टनायक भावित या सिद्ध रस का भोग मानते है। इसीलिए अद्वैती अभिनव के एक व्यजना व्यापार के स्थानापन्न उन्हे दो व्यापार भावकत्व और भोजकत्व मानने पडे है। भावकत्व मीमासा का परिणाम है। मीमासा से समझौता अद्वैती दृष्टि की अपेक्षा द्वैतवादी दृष्टि से ही अधिक बनता है। अपने द्वैतवादी दृष्टिकोण के कारण ही वे रस को व्यष्टि की अनुभूति तक रख सके थे, 'निजसविद्विश्रान्ति' के रूप मे ही अपना सके थे। यद्यपि यह दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक है, तथापि उनके द्वैतवादी दृष्टिकोण का पता देता है। द्वैतवादी शैव-दर्शन के ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण हमे भट्टनायक के शब्दो की व्याख्या के लिए अद्वैती ग्रन्थो का सहारा लेना पडा है। अन्यथा मीमासा और अद्वैती शैव-दर्शन की मान्यताओ का यह घोल द्वैतवादी दृष्टिकोण का ही परिणाम है, ऐसा सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

अभिनवगुप्त

रस के इतिहास मे अभिनव की व्यवस्था सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आज तक उनकी मान्यताए आदर्श समझी जा रही है। वे काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन के एक महान् आचार्य थे। जिस प्रकार रस का स्वरूप उनके द्वारा एक चरम एव पूर्ण व्यवस्था को प्राप्त हुआ, उसी प्रकार यह दर्शन भी एक प्रौढ दर्शन का रूप पा गया। अभिनव ने रस का स्वरूप अपने इसी दर्शन के अनुरूप निर्धारित किया है।

अभिनव की रस-सम्बन्धिनी मान्यताए अभिनवभारती और लोचन मे बिखरी हुई है। अन्य ग्रन्थो मे भी वे यथा-प्रसग इस विषय मे बहुत कुछ कह गये है। अभिनवभारती और लोचन मे भी एक ही स्थान पर सब-कुछ नही कह दिया गया। अत उनकी विचारधारा को पूर्वापर बातो से मिलाकर निर्धारित करना पडता है।

अभिनवभारती मे भरत के रस-सूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ मे एक स्थल पर रस का स्वरूप इन शब्दो मे निर्धारित हुआ है—

"तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिंगदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभिर्लौकिकी कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरजकत्वमात्रप्राणै, अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भि प्राच्यकारणादिरूपसस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योग सम्बन्धमैकाग्रय वाऽऽसादितवद्भिरलौकिक-

---

१ (क) लोचन, पृ० १८९।
(ख) अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७७।
(ग) अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७९।

निर्विघ्नसवेदनात्मकचर्वणागोचरता नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकमारो न तु सिद्धस्वभाव तात्कालिक एव न तु चर्वणानिरिक्तकावलम्बी स्थायिलक्षण एव रम ।"[१]

मम्मट ने इसी स्थल के आधार पर अपने काव्यप्रकाश मे अभिनव का मत प्रस्तुत किया है। इस विवेचन मे मुख्यत विभावादि की स्थिति स्पष्ट की गयी है, और उनके द्वारा रस का स्वरूप सक्षेप मे बताया गया है। इस विवेचन को इस प्रकार सक्षिप्त किया जा सकता है—"विभावादिभि निर्विघ्नसवेदनात्मकचर्वणागोचरता नीतोऽर्थ स्थायिलक्षण एव रस ।" विभावादिको के द्वारा सामाजिक की चर्वणा का गोचर बनाया हुआ स्थायी रूप अर्थ ही रस है। चर्वणा का गोचर होने का अर्थ यह कदापि नही कि किसी सिद्ध रस की चर्वणा होती है, उसकी चर्व्यमाणता ही चर्वणागोचरता है, अत 'रस स्वाद्यते' का अर्थ 'ओदन पचति' के समान समझना चाहिए, न कि 'ओदन भुज्यते' के समान।

भावो की कारण सामग्री है विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव। इस सामग्री से भावो का जो कारण-कार्य सम्बन्ध है, उसका परिचय सामाजिक को लोक-व्यवहार के आधार पर अनुमान से हुआ रहता है। किसी के अश्रु से उसके शोक का और मुस्कान मे हर्ष का अनुमान प्रत्येक लोक-व्यवहारी व्यक्ति को सहज ही हो जाता है। यही सामग्री जब काव्य या नाट्य मे आती है तो उसका काम विभावन, अनुभावन और सचारण के रूप मे रह जाता है। यह सामग्री सहृदय के हृदय मे भाव को विभावित, अनुभावित और सचारित करती है, कारणादि के समान व्यक्तिगत रूप मे भावो को उत्पन्न नही करती। यह सामग्री काव्य शब्दो से या नाट्य मे अभिनय से सामाजिक की चेतना मे उपस्थित होती है। सामाजिक की बुद्धि के पटल पर इस समस्त सामग्री का एकाग्रता के साथ समजस रूप मे उपस्थित होना ही उसका 'सयोग' है जिसकी चर्चा अभिनव के अनुसार भरत ने अपने रस-सूत्र मे की है। इसी सामग्री के द्वारा सामाजिक की चेतना मे वासना-रूप से अवस्थित स्थायी भाव उद्बुद्ध हो जाता है, और चर्वणा का गोचर बन जाता है। यह चर्वणा ही सविद् की निर्विघ्न स्थिति है, जिसका गोचर स्थायी भाव बनता है। यही रस है।

इसी मान्यता को अभिनव ने कालिदास के शाकुन्तल नाटक से भयभीत हरिण वाला चित्र लेकर समझाया है। कालिदास का श्लोक इस प्रकार है

"ग्रीवाभगाभिराम मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टि
पश्चार्धेन प्रविष्ट शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्
दर्भैरर्धावलीढै श्रमविवृतमुखभ्रशिभि कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतर स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।"[२]

इस श्लोक का सामान्य अर्थ यह है कि दुष्यन्त के बाण के लगने के भय से हरिण भागा जा रहा है। लौट-लौटकर पीछे की ओर रथ पर नजर डालता जाता है। मुडते समय लगता है उसका अगला शरीर-भाग पिछले भाग मे घुसा जा रहा है। दौडने के श्रम से उसका मुँह फट गया है और उससे अध-खाये दर्भ मार्ग मे बिखरते जाते हैं। चाल ऐसी लम्बी उछालो-भरी है कि भूमि पर तो बहुत थोडा ही पैर पडता है, प्राय आकाश मे ही चल रहा है।

---

१. अ० भा०, भा० १, पृ० २८४।

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अं० १।

यह इस श्लोक का शब्दार्थ है। जब सामाजिक के समक्ष यह श्लोक आता है तो सबसे पहले इस श्लोक का पद-पदार्थ-सम्बन्धी यही अर्थ, जिसे वाक्यार्थ कह सकते है, उसकी चेतना मे आता है। इस अर्थ मे दुष्यन्त एक विशेष काल का विशेष व्यक्तित्व से सम्पन्न एक विशिष्ट व्यक्ति है। हरिण का भी देश-काल की विशेषताओ से सम्बन्ध है। वन एव परिस्थितिया भी सभी विशिष्ट है। श्लोक वाक्य की वाक्यार्थ-प्रतीति मे यह सभी कुछ 'विशिष्ट' है जिसमे देश-काल-व्यक्तित्व की सीमाए समाहित है।

इस वाक्यार्थ-प्रतीति के अनन्तर सामाजिक को इसके ही आधार पर दूसरी प्रतीति होती है, जिसमे वाक्यार्थ-प्रतीति के धरातल की समस्त विशेषताए छूट जाती है। अभिनव के शब्दो मे यह प्रतीति 'साक्षात्कारात्मिका' होती है। आधुनिक पदावली मे हम कह सकते है, प्रथम प्रतीति अर्थ-ग्रहण रूप होती है, दूसरी बिम्ब-ग्रहण रूप होती है। और इस बिम्बात्मिका प्रतीति मे देश-काल-व्यक्तित्व की विशेषताए नही होती। भट्टनायक के साधारणीकरण की यही भूमिका है। यह बिम्बात्मिका प्रतीति अभिनव के अनुसार अर्थ-ज्ञान से उपलब्ध पदार्थों को चेतना का अग बना लेना है। इसे उन्होने 'वर्णनीय-तन्मयीभवन' कहा है, अर्थात् वर्णनीय विषय का सविद् का अग बन जाना। अभिनव सहृदय मे वर्णनीय के साथ तन्मयीभवन की योग्यता की विशेष अपेक्षा करते है।

सामाजिक के मानस-पट पर उपस्थित यह सामग्री विशेषता-मुक्त कैसे होती है, इसके सम्बन्ध मे अभिनव ने मुख्यतया दो कारण दिये है। इनमे एक मनोवैज्ञानिक है दूसरा दार्शनिक। एक बात तो वे यह कहते है कि विशेष रामादि पात्रो का सम्बन्ध अतीत काल से होता है, यहा वे वर्तमान के रूप मे सामने आते है। किन्तु वस्तु-स्थिति के हिसाब से वे वर्तमान नही होते। अत वे निर्विशेष होकर आते है।[1] दूसरे, सामाजिक जब नट को राम के रूप मे अध्यसित करके देखता है तो उसके सामने दो प्रकार के विशिष्ट पदार्थ होते है। काव्य के शब्दो के द्वारा उपस्थापित देश-काल-व्यक्तित्व की सीमाओ मे आबद्ध रामादि, और सामने रगमच पर उपस्थित विशेष वेषादि धारण करने वाला वर्तमान से सम्बद्ध विशिष्ट नट। ये दो प्रकार के विशेष सामाजिक की चेतना मे एक साथ उपस्थित होते है। किसी पदार्थ को विशेष की सीमा मे नियमन करने वाले काल, देश, व्यक्तित्व आदि के तत्त्व इस प्रकार दो ओर से सामाजिक की चेतना के फलक पर आकर एक-दूसरे से टकराते है। एक ओर तो वह जानता है कि यह मेरे सामने उपस्थित नट है, दूसरी ओर उसकी कल्पना-प्रवणता सामने उपस्थित व्यक्ति को रामादि के रूप मे ग्रहण कराती है। इस प्रकार यथार्थ और कल्पना के दो क्षेत्रो की ओर से आते हुए दो प्रकार के विशेष आपस मे टकरा कर निर्विशेष हो जाते है

"तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादिसामग्री, यस्या वस्तुसता काव्यार्पिताना च देशकालप्रमात्रादीना नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभाव सुतरा पुष्यति।"[2]

इस प्रकार सामाजिक के मानस-पटल पर एक भीत मृग का बिम्ब प्रत्युपस्थित होता

---

१ "तदा विशेषबुद्धि यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्मह.वाक्यादुल्लसति, तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणा सम्भाव्यमानार्थक्रियात्मकसालक्षण्यपर्यवसानात्। न च तेषा वर्तमानतेत्यपगता तावद्विशेषबुद्धि।" अ० भा०, भा० १, पृ० ३५-३६। तेत्युपगता।

२ अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६।

है। अर्थ-ग्रहण के रूप मे जो मृग बुद्धि-पट पर आया था, देश-काल-व्यक्ति की विशेषताओ वाला था, यह साक्षात्कारात्मक मृग-बिम्ब निर्विशेष होता ह।

मीमासा का उपयोग—काव्यशब्दो से वाक्यार्थ-रूपा तथा साक्षात्कारात्मिका दो प्रकार की प्रतीतिया होती है। पहली देश-काल-व्यक्ति की विशेषता वाली, दूसरी देश-कालादि के विशेषो के परिवर्तन के साथ। लगभग ऐसी ही अर्थ-प्रतीति का ढग मीमासा मे अपनाया गया है। मीमासा के अनुसार समस्त वैदिक वाक्य विधि-रूप होते है। अत उनमे अधिकारी के लिए एक कर्म का आदेश होता है। कर्म साध्य होता है, सिद्ध नही होता। अत वेद के वे वचन भी जिनमे किसी विशेष व्यक्ति और विशेष काल के सूचक शब्द भी होते ह, परिवर्तित होकर अधिकारी के लिए लिङ्लकार के रूप मे परिवर्तित हो जाते है। उदाहरणस्वरूप "प्रजापतिरात्मने वपामुदाखिदत्, तामग्नौ प्रादात्" यह उपनिषद् का वाक्य है। इसका शब्दार्थ है, प्रजापति ने अपनी वपा या चर्बी निकाली और उसे अग्नि मे डाला। इस वाक्य मे कर्ता प्रजापति, देश, काल, अग्नि-वपा-होम सभी कुछ सविशेष ह। किन्तु वेद के वाक्य इतिहासरूप तो होते नही, उनका तो मीमासा के अनुसार अधिकारी के लिए विधि-रूप अर्थ लेना है। अत अधिकारी को, जो किसी फल की कामना से इस यज्ञ मे प्रवृत्त होना चाहता है, उक्त वाक्य का यही अर्थ होगा कि मै वपा को अग्नि मे डालू। यहा 'ताम् अग्नौ प्रादात्' का अर्थ 'अह अग्नौ प्रददानि' लिया गया। इस अधिकारी की प्रतीति मे वाक्यार्थ-प्रतीति के देश-काल-व्यक्ति सभी बदल गये। अभिनव का कथन है कि यह मीमासा की मान्य अधिकारी की प्रतीति शाब्द-प्रतीति तो है पर शब्दार्थ से अतिरिक्त प्रतीति है। ठीक इसी प्रकार से काव्य के शब्दो से वाक्यार्थ-प्रतीति के अनन्तर सामाजिक को साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है, जिसमे देश-काल-व्यक्ति की विशेषताए नही होती। अभिनव ने उस प्रक्रिया के साम्य को दिखाने के लिए ही, न कि सिद्धान्तत आधार बनाने के लिए, मीमासा का सहारा लिया है

"यथा हि सत्रमासत, तामग्नौ प्रादात् इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिण प्रतिपत्तिमात्रादतितीव्रप्ररोचितात् प्रथमप्रवृत्तादनन्तरमत्रिकैवोपात्तकालतिरस्कारेणैवा 'आसे' 'प्रददानि' इत्यादिरूपा सक्रमणादिस्वभावा यथादर्शन प्रतिभाभावनाविधिनियोगादिभाषाभिव्यंवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकारिन्न प्रतिपत्ति।"[1]

इस प्रकार सामाजिक की चेतना मे इस साक्षात्कारात्मिका प्रतीति के रूप मे जो मृग-बिम्ब उपस्थित होता है, वह एक 'भीत' मात्र का बिम्ब होता है, न कि किसी काल-देशादि से विशिष्ट व्यक्ति-विशेष भीत हरिण का। इस भीत हरिण के भय का कारण भी वास्तविक नही, यह सामाजिक की चेतना जानती है। शिकारी दुष्यन्त के रूप मे कोई वास्तविक शिकारी हरिण के पीछे नही दौड रहा। अत इस 'भीत-मात्र' के आधार पर सामाजिक की चेतना मे मात्र 'भय' का उदय होता है। यह 'भय' विशेष नही होता, जिसका किसी विशिष्ट देशकालादि से सम्बन्ध हो। यह साधारणीभूत भय होता है। वस्तुत यह सामाजिक की वासनाओ मे रहने वाला उदित भय ही होता है। जो विशेष भय होते है और देशकाल-व्यक्ति की विशेषताओ से युक्त होकर आते है, वे दु ख-सुख की विशिष्ट अनुभूतियो से प्रमाता की चेतना को आबद्ध करते है। उनके सामने होने पर प्रमाता की चेतना उनसे बचने के उपायो की ओर मुडती है। कहना चाहिए, वे प्रमाता की सविघ्न प्रतीति से ग्राह्य होते है। किन्तु यहा वे विघ्न

---

१ अभि० भा०, भा० १, पृ० २७८।

नही होते । सविघ्न प्रतीतियो मे चेतना अविश्रान्त होती है अत वे प्रतीतिया लौकिक दु ख-सुखमय होती है, त्याग और ग्रहण की चेतनाओ मे सविद् को अविश्रान्त किये रहती है । किन्तु यहा चेतना विश्रान्त होती है, और इसी विश्रान्त चेतना की भूमिका मे गृहीत भय 'भयानक' रस होता है । इस अनुभूति मे न तो प्रमाता का व्यक्तित्व उस रूप मे विशेषताओ के साथ उभरा होता है जिस प्रकार अन्य लौकिक अनुभवो मे रहता है, और न ही बिलकुल तिरस्कृत और सविन्मात्र होता है जैसा कि पारमार्थिकी ब्रह्मानुभूति मे होता है । इस प्रकार अभिनव के अनुसार विभावादि सामग्री, उनसे उदित होने वाले भाव, प्रमाता का व्यक्तित्व और उसकी अनुभूति—सभी मे एक साधारणत्व की भूमिका रहती है । इतना ही नही, प्रमातृ-चेतना तो एक अभिन्न एव व्यापक अद्वैत तत्त्व है अत अनेक सामाजिक भी एक ही काल मे एक ही विभावादि सामग्री से एक-सी ही अनुभूति कर सकते है । कालिदास के उक्त श्लोक का विश्लेषण अभिनव इस प्रकार करते है

"तस्य च ग्रीवाभगाभिरामम् इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तर मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते । तस्या च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भीत इति त्रासकस्य अपारमार्थिकत्वाद् भयमेव पर देशकालाद्यनालिंगितम्, तत एव भीतोऽह भीतोऽय शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दु खसुखादिकृतहानादिबुद्धयन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षण निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्य साक्षादिव हृदये निविशमान चक्षुषोरिव विपरिवर्तमान भयानको रस । तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्त तिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखित । एव परोऽपि । तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्, अपितु विततम् । व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्यो । भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादिसामग्री, यस्या वस्तुसता काव्यार्पिताना च देशकालप्रमात्रादीना नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभाव सुतरा पुष्यति । अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्ति सुतरा रसपरिपोषाय, सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसा वासनासवादात् । सा चाविघ्ना सवित् ।"[1]

दार्शनिक दृष्टि से काव्य का यह रस अभिनव के अनुसार साधारणीभूत भावो की भूमिका मे हुआ आत्म-परामर्श है । इसे ही भाव-भूमि मे होने वाली आत्म-सविद् की विश्रान्ति कहा जा सकता है । अभिनव इसे 'चर्वणा', 'रसना', 'निर्वृति', 'प्रतीति', 'भोग', 'प्रमातृताविश्रान्ति' आदि विविध नामो के द्वारा समझाते है । वास्तव मे यही 'सहृदयता' है । ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी मे आनन्द का स्वरूप उन्होने आत्म-सविद् के पूर्ण प्रकाशन और विश्रान्त परामर्श की बात कहकर ही समझाया है

"स्वरूपस्य स्वात्मन परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेव परामर्शमयता दधदानन्द इत्युच्यते ।"[2]

वे आनन्द के तीन वर्ग बनाते है । एक लौकिक विषयो का आनन्द, दूसरा काव्यानन्द, तीसरा परमानन्द । एक विषय की भूख मिटने पर जो अल्पकालीन आत्म-विश्रान्ति होती है, वह भी आत्मा या सविद् का ही आनन्द है । किन्तु इन वैषयिक आनन्दो मे चेनना एक क्षण को विश्रान्त होकर अन्य वैषयिक अभावो की ओर दौड जाती है । अत वह निर्विघ्न प्रतीति

१ अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६ ।
२ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भा० २, पृ० १७६ ।

नही होती। शुद्ध परमानन्द मे समस्त उपचार और उपाधियो से शून्य-मात्र सवेदन की परिपूर्ण एव पूर्ण विश्रान्त स्थिति होती है। काव्य-रस की स्थिति दोनो के बीच की है। जहा वैषयिक आनन्द मे विषयो का सस्पर्श रहता है, वहा परमानन्द मे उनका आत्यन्तिक अभाव। किन्तु काव्यानुभूति मे विषयो का नही, उनके सस्कारो का अनुवेध मात्र होता है। इस प्रकार काव्यानन्द एक उत्कृष्ट कोटि की वीतविघ्ना सविद् की विश्रान्तिमयी प्रतीति होती है

"यत्रापि अत्यन्तमन्यथाभावमतिक्रम्य सुखमास्वाद्यते अर्जनादिसम्भाव्यमानविघ्नान्तर-निरासात् वैषयिकानन्दविलक्षणशृगारादौ नाट्यकाव्यादिविषये, तत्र वीतविघ्नत्वादेव असौ रसना चर्वणा निर्वृ ति प्रतीति प्रमातृताविश्रान्तिरेव, तत एव हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्राधान्यात् व्यपदेश्या व्यवस्थितस्यापि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तस्य अनादरणात् सहृदयता उच्यत इति निर्विघ्ना स्वादरूपाश्च रसनागोचरीकार्याश्चित्तवृत्तयो रसा नव इत्ययमर्थोऽभिनवभारत्या नाट्यवेदविवृतौ वितत्य व्युत्पादितोऽस्माभिरिति।

तस्मादनुपचरितस्य सवेदनरूपतानान्तरीयत्वेन अवस्थितस्य स्वतन्त्रस्य रसैकघनतया परामर्श परमानन्दो निर्वृ तिश्चमत्कार उच्यते।

मधुरादिरसास्वादे तु विषयस्पर्शव्यवधानम्। ततोऽपि काव्यनाटकादौ तद्व्यवधानशून्यता तद्व्यवधानसस्कारानुवेधस्तु। तत्रापि तु तथोदितव्यवधानाशतिरस्क्रियामावधानहृदया लभन्त एव परमानन्दम्।"[1]

अभिनव के रस-विवेचन की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि निर्धारित करने के लिए हमे आज अधिक प्रयास करना अपेक्षित नही है। उनका प्रत्यभिज्ञा-दर्शन विषयक जो विशाल साहित्य काश्मीर मे मिला है, उसके रहते और उन्ही मान्यताओ का अपने रस-सिद्धान्त के विषय मे अनेकश प्रयोग और उल्लेख करने के कारण उनके अपने रस-स्वरूप की दार्शनिक आधार-भूमि आज निर्विवाद रूप से कश्मीरी शैवाद्वैत के रूप मे स्वीकृत है।

मम्मट

काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट उसी परम्परा के आचार्य थे जिसके अभिनवगुप्त। उनका काव्यप्रकाश आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की उपलब्धियो की ही व्यवस्थित प्रतिष्ठा है। रस-स्वरूप के विषय मे उन्होने लोल्लट, शकुक, भट्टनायक और अभिनव के चार मतो को उपस्थित किया है और सिद्धान्त रूप मे अभिनवगुप्त के ही मत को मान्यता दी है। मम्मट के विवेचन की विशेषता यह है कि उसमे दार्शनिक अतिवाद का कोई आग्रह नही है। फिर भी प्रत्येक मत की मूल विचारधारा और उनकी दार्शनिक आधार-भूमि सुरक्षित रहती है। लोल्लट और शकुक के मतो के उपस्थापन मे उन्होने कुछ हेर-फेर किया है, जो मतो को सामाजिक की दृष्टि से उपस्थित करने के कारण उन्हे करना पडा है। वे रस का स्वरूप इन कारिकाओ मे निरूपित करते है

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ॥

---

१ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भा० २, पृ० १७८-९।

विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिण ।
व्यक्त स तैर्विभावाद्यै स्थायी भावो रस स्मृत ॥ [1]

कहने की आवश्यकता नही कि यह स्वरूप अभिनव के विवेचन का सार-मात्र ही है ।

काव्यप्रकाश अपने परवर्ती युग के लिए एक आदर्श ग्रन्थ रहा है । उसका एक अनिवार्य परिणाम यह भी हुआ है कि पाठको की दृष्टि से मूल ग्रन्थ हटते चले गये है । मम्मट ने चारो आचार्यो के मत अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किये थे, उनकी व्याख्या और उनकी दार्शनिक आधार-भूमि को समझाने के लिए मम्मट ने अपने शब्द व्यय नही किये । अत परवर्ती युग के टीकाकारो को यह गुजाइश बहुत दूर तक हो गयी कि वे किसी मत की व्याख्या अपनी मनमानी दृष्टि से कर सके और मत की मूल चेतना का ध्यान न रह पाये । यह बात सबसे अधिक इन मतो की दार्शनिक आधार-भूमियो के सम्बन्ध मे हुई । अभिनवगुप्त का मत शैवाद्वैत को छोड कर वेदान्त के अनुरूप समझा जाने लगा । इस प्रकार विभिन्न मतो के विवेचन की पदावली के अनेक शब्द तो मूल आचार्य द्वारा प्रयुक्त ही बने रहे, किन्तु उनकी पृष्ठभूमि मे सन्निहित दार्शनिक चेतनाए भिन्न हो गयी । 'प्रकाश', 'आनन्द', 'सविद्', 'सत्त्वोद्रेक', 'सवेदन', 'स्व' आदि ऐसे ही शब्द थे जिनको कई दर्शनो की छाया मे व्याख्यात किया जा सकता था । हम विश्वनाथ के रस-स्वरूप को देखते हुए देखेगे कि उन्होने किस प्रकार अनेक शब्दो को वेदान्ती चेतना से अनुप्राणित समझा है ।

भोज

यहा शैव-दर्शन के प्रसग मे हम भोज के मत का भी उल्लेख करना चाहते है । यद्यपि भोज के रस-मत के विवेचन से यह स्पष्ट तो निर्णीत नही होता कि उसका आधार शैव-दर्शन ही है, तथापि दो बातो से यह अनुमान बधता है कि भोज की मान्यता शैवानुकूल है । एक तो भोज ने शृगार-प्रकाश के मगल-श्लोक के रूप मे शिव-स्तुति करके अपनी शिव-रति का परिचय दिया है, दूसरे उन्होने जिस 'अहकार-तत्त्व' को रस कहा है, वह साख्य, वेदान्त आदि के अनुरूप न होकर शैव-दर्शन के ही समीप प्रतीत होता है ।

रस-स्वरूप—भोज रत्यादि चित्तवृत्तियो को नही, वृत्त्यात्मक चित्त के कारण तत्त्व 'अहकार' को रस कहते है । इस अहकार तत्त्व और रत्यादि चित्तवृत्तियो मे उनके अनुसार वही सम्बन्ध है जो वह्नि-तत्त्व और उसकी द्युतियो मे होता है । रत्यादि भाव की भूमिका से ऊपरी भूमिका 'अहकार-तत्त्व' की है । इस अहकार-तत्त्व के भोज ने 'अहकार', 'अभिमान', 'मान', 'रस' और 'शृगार' ये सभी नाम स्वीकार किये हे । इनमे शृगार नाम पारिभाषिक और इसलिए भ्रामक है कि काव्यशास्त्र के भीतर ही इसका दूसरा पारिभाषिक अर्थ प्रचलित और स्वीकृत हो चुका है—वह है रति-भाव का परिपाक । भोज ने 'शृगार' शब्द को दो अर्थो मे लिया है—एक तो अहकार तत्त्व के पर्याय रूप मे, दूसरे रति-स्थायी के परिपाक रूप प्रचलित शृगार-रस के रूप मे । पहले अर्थ मे उन्होने शृगार को 'पर' कहा है, दूसरे अर्थ मे 'अपर' ।

तो, भोज के अनुसार 'अहकार-तत्त्व' ही रस है । रस इसलिए कि इसी का रसन या आस्वादन होता है । यह रसन या आस्वादन चित्त-वृत्ति के द्वारा ही होता है जो स्वरूपत एक आत्म-शक्ति है । यह निरूपण भोज के इन शब्दो मे देखा जा सकता है

---

१. काव्यप्रकाश मम्मट उल्लास ४ का० ४-५ ।

"आत्मस्थित गुणविशेषमहङ्कृतस्य
शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोने ।
तस्यात्मशक्तिरसनीयतया रसत्व
युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवाद ।"[१]
"अप्रातिकूलिकतया मनसो मुदादे-
र्यत्सविदोनुभवहेतुरिहाभिमान ।
ज्ञेयो रस स रसनीयतयाऽऽत्मशक्ते
रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्ति ।"[२]
"रत्यादयोर्धशतमेकविवर्जिता हि
भावा पृथग्विधभावभुवो भवन्ति ।
शृंगारतत्त्वमभित परिवारयन्त
सप्तार्चिष द्युतिचया इव वर्धयन्ति ।"[३]

"न रत्यादिभूमौ रस किन्तर्हि शृंगार । शृंगारो हि नाम विशिष्टेष्टदृष्टचेष्टाभिव्यजकानाम् आत्मगुणसम्पदाम् उत्कर्षबीज बुद्धिसुखदु खेच्छाद्वेपप्रयत्नसस्काराद्यतिशयहेतुरात्मनोऽहकारविशेष । स चेतसा रस्यमानो रस इत्युच्यते ।"[४]

इस अहकार-तत्त्व को ही रस मान लेने से भरत की स्वीकृत यह मान्यता कि रस सख्या मे नौ है, तथा रत्यादि नौ स्थायी-भाव है अन्य तैंतीस सचारी,आठ सात्त्विक बिखर जाती है। भोज के अनुसार रस तत्त्वत एक है, वह है 'अहकार-तत्त्व' जिसका नाम है 'शृंगार'। इस प्रकार एक ही रस शृंगार है, यह मान्यता प्रतिष्ठित हो जाती है। उसी तत्त्व के द्युतिचय रूप सभी भावो को स्वीकार कर लेने पर यह कहा जा सकता है कि वे भाव-मात्र हैं, उनमे से रस कोई नही है, यदि विभावादि से परिपुष्ट होने पर उनमे से किसी को रस कहा जा सकता है तो उनचास के उनचास भी रस कहे जा सकते है।[५]

रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया भोज निम्न शब्दो मे स्पष्ट करते है

"आभावनोदयमनन्यधिया जनेन
यो भाव्यते भावनया स भाव ।
यो भावनापथमतीत्य विवर्तमान
साहङ्कृतो हृदि पर स्वदते रसोऽसौ ।"[६]

१, २, ३. शृंगारप्रकाश, भोज, प्रथमप्रकाश, श्लोक क्रमश ३, ८, ६ ।

४ शृंगारप्रकाश, भा० २, अ० ११, पृ० ३५२-५, उद्धृत डॉ० मकरन्द, सम आस्पेक्ट्स आफ रस इत्यादि ।

५ "शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्न ।
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वय तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनाम ।"
शृंगारप्रकाश, भा० १, प्रस्तावना, पृ० ६ पर उद्धृत प्रथम प्रकाश, श्लो० ६ ।
"रत्यादयो यदि रसा स्युरिति प्रकर्षे हर्षादिभि किमपराद्धमतद्विभिन्नै ।
अस्थायिनस्त इति चेद् भयहासशोकक्रोधादयो वद कियच्चिरमुल्लसन्ति ।" वही, ११ ।
"स्थायित्वमत्र विषयातिशयान्मत चेच्चिन्तादय कुत उत प्रकृतेर्वशेन ।
तुल्यैव सात्मनि भवेदथ वासनाया सन्दीपनात्तदुभयत्र समानमेव ।" वही, श्लो० १२ ।

६ शृंगारप्रकाश, भाग १, प्रस्तावना पृ० ६ पर उद्धृत प्रथम प्रकाश, श्लो० १० ।

नाटक मे विदग्ध शैलूषो के द्वारा ओर काव्य मे महाकवियो के शब्दो द्वारा विषय-वस्तु विद्वान् सामाजिको के मानस-पटल पर अवतरित होती हे। यह सामग्री लोक मे प्रत्यक्ष देखने पर इतनी सुन्दर और प्रभाविनी नही होती जितनी कुशल कवियो की वाणियो से निरूपित होकर होती है। नाटक मे नट सब-कुछ का अभिनय नही कर सकता, कवि उस कमी को वर्णन-चित्रण से पूरा कर सकता है अत भोज की दृष्टि मे सामाजिक के मानस-पटल पर वस्तु-अवतारणा करने मे कवि का कर्म पठ्य-काव्य के रूप मे अधिक उपयोगी है।[1] इस प्रभाविनी वस्तु-प्रत्युपस्थिति से सामाजिक की भावना-शक्ति उदित हो जाती है जिससे उसके रत्यादि भाव 'भावित' हो जाते है। सामाजिक अनन्य-धी होकर उनमे लीन हो जाता है। इन रत्यादि को 'भाव' इसीलिए कहा जाता है कि भावना के उदय होते ही सामाजिक अनन्य-धी होकर उसी भावना-शक्ति द्वारा इनका भावन करता है—"आभावनोदयमनन्यधिया जनेन यो भाव्यते भावनया स भाव।" यह भावोदय की भूमिका है। यह भावना का पथ है। इस भावना के क्षेत्र से आगे 'अहकार-तत्त्व' अवस्थित है। चित्त-रूप आत्मशक्ति के द्वारा उसी का रसन होता है। अत रस्यमान अहकार-तत्त्व ही रस है, जिसका नाम शृगार हे।

आनन्द मन की एक अप्रातिकूलिक अनुभूतिमयी सविद् है जिसके अनुभव का हेतु है अहकार-तत्त्व—"अप्रातिकूलिकतया मनसो मुदादेर्यस्संविदोऽनुभवहेतुरिहाभिमान।" अत रसानुभूति मे सामाजिक द्वारा अनुभूत आनन्द अन्त करण के स्तर की एक सुखात्मिका अनुभूति है। इस अनुभूति का मूल स्रोत अभिमान-तत्त्व ही है जिसे कि शृगार कहा गया है।

अहकार को साख्य महत्तत्त्व से उद्भूत एक प्राकृत विकार मानता है, इस महत्तत्त्व को ही बुद्धि-तत्त्व कहा गया है। किन्तु भोज ने अपने अहकारतत्त्व को प्राकृत विकार न मानकर एक आत्म-गुण, आत्म-रूप कहा है[2] और सुख-दु ख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सस्कारादि के साथ 'बुद्धि' का भी हेतु-तत्त्व माना है।[3] इस प्रकार भोज का अहकार-तत्त्व साख्य के मेल मे नही बैठता। साख्य चित्त को प्राकृत त्रिगुणात्मक विकार कहता है। किन्तु जैसा कि हम पीछे देख चुके है, भोज ने चित्त को एक आत्म-शक्ति के रूप मे देखा है। चित्त, उसकी वृत्तियो एव उनके कारण तत्त्व अहकार का स्वरूप साख्य मे पुरुष-निरपेक्ष प्राकृत तत्त्व के रूप मे स्वीकृत है। वेदान्त मे इन सबका कारण अज्ञान तत्त्व के आधार पर साख्य के समान ही है। पर आत्मा के साथ इनमे से किसी का सीधा सम्बन्ध इन दोनो दर्शनो मे नही माना गया। आत्मा की विभिन्न-स्तरीय शक्ति के रूपो मे इनसे सीधा सम्बन्ध शैव-दर्शन मे तो

---

१. शृगारप्रकाश, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ० ७
"स चानुभवैकगम्यत्वादसर्वविषयत्वाच्च दुरवसेय सम्यगभिनयेषु वा विदग्धशैलूषै प्रदर्श्यमान सामाजिकैरवधार्यते, प्रबन्धेषु वा महाकविभिर्यथावदाख्यायमानो विदुषा मनीषापथमवतरति। तत्र न तथा पदार्था प्रत्यक्षेण प्रतीयमाना स्वदन्ते यथा वाग्मिना वचोभिरावेद्यमाना। । अतोऽभिनेतृभ्य. कवीनेव बहु मन्यामहे, अभिनेतृभ्यश्च काव्यमेवेति।"

२ "आत्मस्थित गुणविशेषमहकृतस्य शृगारमाहुरिह जीवितमात्मयोने।" शृ० प्र०, प्र० १, श्लो० ३।
"शृगारो हि नाम आत्मनोऽहकारविशेष।" वही, भा० २, अ० १, पृ० ३५२।

३ "बुद्धिसुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नसस्काराद्यतिशयहेतुरात्मनोहकारविशेष।" वही।
"तस्यात्मशक्तिरसनीयतया रसत्व" वही, भा० १, प्र० १, श्लो० ३।
"स चेतसा रस्यमान रस उच्यते।" वही, भाग २, अ० ११, पृ० ३५२ उद्धृत डॉ० साकरस।
"स यो रस स रसनीयतयात्मशक्ते।" वही, प्रकाश १, श्लो० ८।

हमे मिलता है। वहा सविद् के भी विविध स्तरो की स्वीकृति है। भोज ने आनन्द को एक मानसी स्तर की सविद् के रूप मे देखा है। भोज कहते है विविध प्रकार की मानसी प्रति-क्रियाए, अनुभूतिया, ज्ञान, सुख, दु खादि ये सब आत्मा की गुण-सम्पत्ति है और इस सम्पत्ति का एक ही उदय और उत्कर्ष का हेतु है—अहकार।[1] यह दृष्टिकोण न साख्य का हो सकता है न वेदान्त का।

फिर भी, इस अहकार-तत्त्व का उदय मीमासा के ढग पर कुछ-कुछ दिखाया गया है। यह अहकार अनादि एव जन्म-जन्मान्तर की वासनाओ के फलस्वरूप निष्पन्न होने वाले 'धर्म' का कार्य है

"सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा जन्मान्तरानुभवनिर्मितवासनोत्थ।
सर्वात्मसपदुदयातिशयैकहेतुर्जागर्ति कोपि हृदि मानमयो विकार।"[2]
"असाधारण तु प्रत्यगागतानादिवासनानुबन्धि धर्मकार्यं भवितुमर्हति।
त चात्मनोऽहकारगुणविशेष ब्रूम। स शृगार, सोऽभिमान, स रस।"[3]

इस प्रकार सात्त्विक पुरुषो के हृदय मे जन्मान्तरीय एव अनादि वासनाओ के फल-स्वरूप एक धर्म-कार्य के रूप मे प्रादुर्भूत-परिणत अहकार-तत्त्व पूरा-पूरा शैव-दर्शन के मेल मे भी नही बैठता।

किसी विशिष्ट दर्शन से नियत सम्बन्ध निर्धारित न किये जा सकने पर भी भोज की मान्यता कुछ दृष्टियो से उल्लेखनीय है। उन्होने रत्यादि की भूमिका मे रसत्व नही माना, यह बात तो वेदान्ती और शैव दोनो ही प्रतिपादित करते है। रत्यादि की भूमिका मे आनन्द या रसत्व का प्रकाशन आत्मा की भीतरी स्थिति से जोडा जाता है। आत्मा की उस भीतरी भूमिका से रसत्व का सम्बन्ध जुड जाने पर रसो की नौ सख्या का प्रश्न भी नही रह जाता। रस एक ही रह जाता है। फिर भी भोज ने उस रसत्व को आत्मा की अधिक ऊची भूमिकाओ मे ले जाकर नही देखा, अभिमान या अहकार के धरातल पर रखकर स्वीकार किया है।

वेदान्त दर्शन और रस

रस-स्वरूप के प्रश्न को हल करने के लिए वेदान्त का प्रवेश शैव-दर्शन के अनन्तर होता है। अभिनवगुप्त के द्वारा रस के स्वरूप की कश्मीरी शैवाद्वैत के आधार पर प्रतिष्ठा कर देने पर उनकी उपलब्धिया ही सर्वमान्य बनी। यो कुछ विवादी स्वर उठते रहे। मम्मट ने उनमे से अनेक का मुख-मुद्रण किया। परवर्ती युग मे मम्मट का ग्रन्थ काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओ के लिए एक प्रमुख आधार-ग्रन्थ बना। उस पर अनेक टीकाए लिखी गयी। उधर ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, कश्मीरी शैव-दर्शन का परिचय लोगो से दूर होता गया। स्वय कश्मीर मे ही उसका अध्यापन-अध्ययन विरल होता गया। रस की कश्मीरी व्याख्याए तो भारत के इतर प्रदेशो मे सहज पहुच सकी, किन्तु उनके साथ उनके पीछे सन्निहित उनकी मूल दार्शनिक आधार-भूमि यात्रा न कर सकी। उत्कल के विश्वनाथ के लिए अभिनव के रस-स्वरूप को

१ "सर्वात्मसपदुदयातिशयैकहेतु।" शृ० प्र०, भा० १, प्रकाश १, श्लो० ४।
"आत्मगुणसम्पदा उत्कर्षबीज बुद्धिसुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नसस्काराद्यतिशयहेतुरात्मनोऽहकारविशेष।"
शृ० प्र०, भा० २, अ० ११, पृ० ३५३, उद्धृत डॉ० साकरन।

२ शृगारप्रकाश, भा० १, प्रकाश १, श्लो० ४।

३. वही, भा० २, पृ० ३५२-३, उद्धृत डॉ० साकरन।

कश्मीरी शैवाद्वैत की चेतना मे पकडना कठिन ही था । रस-विवेचन मे जो शब्दावली चल रही थी उसकी मूल चेतना शैव-दर्शन की होते हुए भी वह इस प्रकार की थी कि उसकी व्याख्या वेदान्त की चेतना के साथ सहज ही की जा सकती थी । वेदान्त एक बहु-प्रचलित तथा बहु-अधीत दर्शन था । अत वह अज्ञात रूप मे ही रस की व्याख्या मे प्रविष्ट होने लगा । किन्तु यह वेदान्त का प्रवेश वस्तुत भ्रम-मूलक था । अभिनव के मत को वेदान्त की चेतना से अनुप्राणित समझते हुए उनके शब्दो या काव्यप्रकाश मे उपस्थित उनके मत के शब्दो की वेदान्ती सगतिया लगाना भ्रम ही कहा जायेगा । इसीलिए अभिनव के शब्दो की पूर्ण सामजस्यात्मक सगति इन व्याख्याओ मे नही मिल पाती ।

हम यहा वेदान्त के प्रसग मे केवल दो आचार्यो के रस-विवेचन का उल्लेख करना चाहते है । एक विश्वनाथ, दूसरे पण्डितराज जगन्नाथ । दोनो के रस-विवेचन मे वेदान्त का गहरा प्रभाव होते हुए भी एक बडा भारी अन्तर भी है । विश्वनाथ का विवेचन वेदान्त का उखडा-उखडा सा प्रयोग करता है । इसका कारण वही नासमझी है जिसके कारण अभिनव का मत और उसके शब्द वेदान्त की चेतना से अनुप्राणित ममझे गये है । किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ का विवेचन जान-बूझकर वेदान्त की आधार-भूमि पर प्रतिष्ठापित किया हुआ है । उनका विवेचन ही सच्चे अर्थो मे अभिनव की दृष्टि का वेदान्तीकरण कहा जा सकता है । इस प्रकार पण्डितराज पर नासमझी का आरोप नही लगाया जा सकता । पण्डितराज जगन्नाथ अभिनव की शैव आधार-भूमि से परिचित थे या नही, इसके लिए हमारे पास आज कोई प्रमाण नही । किन्तु उन्होने जो अभिनव के मत का वेदान्तीकृत रूप दिया है वह इतना समजस है कि अभिनव के रस-स्वरूप के पीछे से दार्शनिक चेतना का परिवर्तन बिना समझा-बूझा नही कहा जा सकता । पहले हम विश्वनाथ के रम-स्वरूप-विवेचन की ओर आते हे ।

विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ ने रस का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया हे

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित् प्रमातृभि ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस ।।"[1]

विश्वनाथ के इस रस-स्वरूप मे भट्टनायक तथा अभिनव दोनो की मान्यताओ का योग है । मम्मट के शब्दो मे भट्टनायक ने कहा था

" भावकत्वव्यापारेण भाव्यमान स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसविद्विश्रान्ति-सतत्त्वेन भोगेन भुज्यते" ।[2]

विश्वनाथ के निरूपण की 'सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' यह शब्दावली भट्टनायक की ही प्रेरणा लिए हुए प्रतीत होती है ।

सामान्यत विश्वनाथ रस को विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव से व्यक्त हुआ सहृदय का स्थायी भाव ही मानते है

---

१ साहित्यदर्पण परिच्छेद ३, पृ० ६५ ।

२ काव्यप्रकाश उ० ४, पृ० ९० ।

"विभावेनानुभावेन व्यक्त सचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादि स्थायी भाव सचेतसाम् ।।"[1]

यह मान्यता अभिनव के ही अनुरूप है। किन्तु विश्वनाथ के इस व्यक्तिवाद मे न तो आनन्दवर्धन की व्यजना है, और न अभिनवगुप्त की दार्शनिक चेतना। उन्होने 'व्यक्त' होने का अर्थ इस प्रकार किया है

"व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्व-सिद्धो व्यज्यते।"[2]

"व्यक्त होने का अर्थ है स्थायी भाव ही रस बन जाता है, जैसे दूधदही के रूप मे परिणत हो जाता है। रस कोई सिद्ध पदार्थ नही जो घट के समान दीप से प्रकाशित हो सके"।

इस 'व्यक्ति' मे परिणामवाद की झलक है। सम्भव है, विश्वनाथ ने भट्टनायक के विवेचन मे आयी सत्त्वोद्रेक की बात को साख्य के आधार पर समझा है, और इस 'व्यक्ति' को भी वे साख्य के परिणामवाद के अनुसार ग्रहण करते है।

विश्वनाथ ने 'सत्त्वोद्रेक', 'अखण्ड', 'प्रकाश', 'आनन्द', 'चित्', 'चमत्कार' और 'स्वाकार' जैसे शब्दो का प्रयोग किया है, किन्तु इन शब्दो की चेतना शैव विचारधारा के अनुरूप नही है। इन शब्दो की जो व्याख्याए उन्होने की है, उनके आधार पर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वे इनकी शैव चेतनाओ से सर्वथा अपरिचित है। इन शब्दो के अर्थ या व्याख्याए उन्होने इस प्रकार दी है

सत्त्वोद्रेक "रजस्तमोभ्यामस्पृष्ट मन सत्त्वमिहोच्यते" इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेय-विमुखतापादको कश्चनान्तरो धर्म सत्त्वम्, तस्योद्रेक रजस्तमसी अभिभूयाविर्भाव।[3]

सत्त्व मन की वह स्थिति है जिसमे रजस् और तमस् का सस्पर्श नही रहता। रजस् और तमस् को अभिभूत करके पूर्णत इस स्थिति का आविर्भाव 'सत्त्वोद्रेक' है।

यहा भट्टनायक की प्रेरणा से सत्त्वोद्रेक को अपनाया तो गया है किन्तु यहा उनकी मूल चेतना नही है। भट्टनायक ने शैव-दर्शन मे परिगृहीत साख्य की मान्यताओ के अनुरूप सत्त्वोद्रेक की बात कही थी। उसमे उन्होने रजस् और तमस् का अनुवेध भी माना था। पर विश्वनाथ ने रजस् और तमस् का असस्पर्श की बात कही है।

अखण्ड "अखण्ड इत्येक एवाय विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मक।"[4]

विश्वनाथ का अखण्ड शब्द समूहात्मकता का द्योतक है, जिसमे विभावादि-रत्यादि-प्रकाश-आनन्द और चमत्कार की सामूहिक प्रतीति होती है। जिस प्रकार वेदान्त मे ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की एकाकारा प्रतीति अखण्ड कही जाती है, उसी प्रकार विश्वनाथ ने रत्यादि के ज्ञान के साथ तादात्म्य होने के कारण रस-प्रतीति को अखण्ड कहा है

"रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।
अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्व च सिद्धयति।।"[5]

---

१ साहित्यदर्पण परि० ३, पृ० ६४।
२ वही, पृ० ६४।
३ वही, पृ० ६६।
४ वही, पृ० ६६।
५ वही, पृ० ८६।

प्रकाश 'प्रकाश' शैव-दर्शन का एक विशिष्ट शब्द हे, जिसकी चर्चा उसके ग्रन्थो मे पदे-पदे आती है। किन्तु विश्वनाथ का प्रकाश शब्द ज्ञान का पर्याय है। यह "रत्यादिज्ञान " इस कारिका से स्पष्ट है। उन्होने प्रकाश को ज्ञान के पर्याय मे लिया है, और वह भी वेदान्त के अनुरूप, यह बात उनके निम्न शब्दो से स्पष्ट हो जाती हे

"ज्ञानस्य स्वप्रकाशतामनगीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्ट "।[१]

चमत्कार 'चमत्कार' को विश्वनाथ ने 'विस्मय' के पर्याय-मात्र के रूप मे लिया हे

"चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपयाय ।"[२]

जबकि अभिनवगुप्त का चमत्कार आत्म-विश्रान्ति या निर्वृति का पर्याय है

"तस्मादनुपचरितस्य सवेदनरूपतानान्तरीयकत्वेन अवस्थितस्य स्वतन्त्रस्यैव रसनैकधनतया परामर्श परमानन्दो निर्वृतिश्चमत्कार ।[3]

स्वाकार 'स्वाकार' को विश्वनाथ ने भट्टनायक के समान 'स्व-स्वभाव' या 'स्वभाव' के अर्थ मे नही लिया, वेदान्त के अखण्ड ज्ञान के रूप मे लिया है, जिममे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय अभिन्न होकर रहते है।

इस प्रकार हम देखते हे कि विश्वनाथ के विवेचन की चेतना शैव-दर्शन की नही, वेदान्त की है। यद्यपि शब्द-प्रयोग प्राचीन आचार्यो के ही अनुरूप हे। उनकी वेदान्ताश्रितता स्वय उनके शब्दो से स्पष्ट है

"ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्ड "।[४]

वे किसी वेदान्ती रस-व्याख्याकार आचार्य के शब्द अपने पक्ष मे प्रस्तुत करते हे

परमार्थतस्त्वखण्ड एवाय वेदान्तप्रसिद्ध-ब्रह्मतत्त्ववद् वेदितव्य "।[५]

वे अभिनव के शब्द, जिनकी मूल चेतना शैव-दर्शन की हे, उपस्थित करते हे

"रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रस "।[६]

और इन शब्दो मे निहित सिद्धान्त का प्रयोग भी करते है

"यदि रत्यादिक प्रकाशशरीरादतिरिक्त स्यात्, तदेवास्य स्वप्रकाशत्व न सिद्धचेत्"[७]

किन्तु लेते प्रकाश को ज्ञान के पर्याय मे ही हैं, जैसा कि इस विषय मे प्रस्तुत की गयी उनकी इस कारिका से स्पष्ट हे

"रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।
अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्व च सिध्यति।"[८]

वैस विश्वनाथ का रस-स्वरूप अभिनवगुप्त के ही अनुसार हे। सक्षेप मे हम उनकी विचारधारा को इस प्रकार रख सकते है। भावोदय के लौकिक कारण, कार्य और सहकारी काव्यानुभूति मे विभावन, अनुभावन और सचारण का कार्य करने के कारण विभाव, अनुभाव

---

१ साहित्यदर्पण परि० ३, पृ० ८८।
२ वही, पृ० ६७।
३ प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भा० १, पृ० १७९।
४ साहित्यदर्पण, पृ० ८८।
५ वही, पृ० ८९।
६ वही, पृ० ६८।
७. वही, पृ० ८७।
८. वही, पृ० ८६।

और व्यभिचारी कहलाते हे । इनके द्वारा सहृदय का रत्यादि स्थायी भाव व्यक्त होकर रस बन जाता है। यह रस बनना दुग्ध के दधि बनने के समान स्थायी की ही रूपान्तरपरिणति है। विभावादि मे साधारणीकरण नामक एक व्यापार होना हे, जिससे विभावादि अपनी विशेषताओ से मुक्त हो जाते है। इस विशेपतामुक्ति का यह परिणाम होता है कि सामाजिक काव्य के आश्रय पात्र से तादात्म्य स्थापित कर लेता हे। मामाजिक एक भावनाशील व्यक्ति होता है। काव्यार्थ के परिशीलन से उसके चित्त का रजम् और तमस् अभिभूत होकर सत्त्व उद्रिक्त हो जाता है। आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण सामाजिक उसी भाव की अनुभूति करता है जिसकी आश्रय पात्र को होती है। ये रत्यादि इन प्रकार सामाजिक की चेतना मे उपस्थित होते है। चेतना स्वय प्रकाश-रूप या ज्ञान-रूप है। रत्यादि उसके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेते है। आतमचेतना स्वरूपत आनन्दमय होनी है। काव्यानुभूति मे सत्त्व उद्रेक के कारण आत्मानन्द के प्रकाशन का अवसर हो जाता है। इस अनुभूति मे उसकी अलौकिकता के कारण विस्मय का तत्त्व भी मिला होता हे जिसमे चित्त फैल जाता है। इस प्रकार रसानुभूति के समय सामाजिक की चेतना मे पाच बाते होनी है—विभावादी के साधारणीकृत रूप की उपस्थिति, ज्ञान के साथ तादात्म्य को प्राप्त रत्यादि स्थायी भाव, प्रकाशात्मक ज्ञान, आनन्द और विस्मय। इन पाचो की खण्डात्मक अनुभूति नही होनी, समूहालम्बनात्मक और अखण्ड चेतना होती है। इसी कारण खण्ड सामग्री से मिलने वाली भी रसानुभूति अखण्ड होती है। प्रकाशात्मक होती है और आनन्दरूप होती है। इस रस का आस्वाद भी ब्रह्मास्वाद के समान अखण्ड ही होता हे, उसमे ज्ञेय और ज्ञाता का भेद नही होता। अत रस की निष्पत्ति कहना औपचारिक है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगगाधर के प्रथम आनन मे रस-स्वरूप के सम्बन्ध मे ग्यारह मतो का उल्लेख किया है। इनमे कई तो सूचना-मात्र जैसे है। केवल प्रथम छ मत अधिक महत्त्वपूर्ण है। ये हे—अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादी मत, भट्टनायक का भुक्तिवादी मत, दो नवीन आचार्यो के मत, लोल्लट का उत्पत्तिवादी मत और शकुक का अनुमितिवादी मत।[2] इनमे भी वेदान्त का सम्बन्ध केवल दो मतो से है—एक अभिनव के मत से, दूसरे प्रथम नवीन मत से। हम यहा इन्ही दो की चर्चा करेगे।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादी मत

पण्डितराज ने सर्वप्रथम सिद्धान्त रूप मे मान्य अभिनवगुप्त का मत प्रस्तुत किया है। इस रस-स्वरूप मे सिद्धान्त अभिनवगुप्त का है, किन्तु उसकी दार्शनिक आधार-भूमि वेदान्त की बदली हुई है। अत इस मत को अभिनव के मत का वेदान्तीकरण कहना ही उपयुक्त है। पण्डितराज इस तथ्य का सकेत देते हुए चलते है

"इत्थ चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादि स्थायी भावो रस इति स्थितम्।"[3]

---

१ साहित्यदर्पण परि० ३, पृ० ६४-८६।

२. 'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' रस-विवेचन।

३ रसगगाधर प्रथम आनन, पृ० २३।

पण्डितराज के ये शब्द यह बताते है कि उन्होने अभिनव और मम्मट के ग्रन्थो का स्वरस निकालकर, सिद्धान्त-मात्र लेकर, यह रस-स्वरूप प्रस्तुत किया है। 'स्वारस्य' शब्द बताता है कि सिद्धान्त-स्वरस अभिनव और मम्मट का है, दर्शन पण्डितराज का।

पण्डितराज ठीक ही अभिनव और मम्मट की मान्यताओ को एकाकार करके चले है। उन्होने दोनो के ही शब्दो को वेदान्ती चेतना प्रदान करने का सफल प्रयास किया है।[1] जहा तक सिद्धान्त का प्रश्न है, अभिनव और मम्मट की स्थापना एक है, यह हम पीछे देख चुके है। अभिनव के अनुसार उन्होने रस का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है

"समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पित सहृदयहृदय प्रविष्टैस्तदीयसहृदयता-सहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभि-चारिशब्दव्यपदेश्यै शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैश्चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरश्रुपातादिभि कार्यैश्चिन्तादिभि सहकारिभिश्च सभूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिर्वर्तिता-नन्दाशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाण प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रस।"[2]

इस निरूपण के अनुसार अपने आत्म-चैतन्य के ही स्वरूप-भूत आनन्द के साथ गोचर किये हुए, प्रमाता के अपने ही वासना-रूप मे निहित रहने वाले, रत्यादि स्थायीभाव ही रस है। "प्रमात्रा निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाण रत्यादिरेव रस।" अभिनव के शैव-दर्शन के अनुसार आनन्द शिव की शक्ति है, स्वरूप नही। जबकि वेदान्त के अनुसार आनन्द आत्मा का स्वरूप है। यो तो समस्त शक्तिया भी शिव से भिन्न नही, अत वे शिव की स्वरूप ही है, तथापि शैव-दर्शन शक्तिरूपो की चर्चा अलग मे करता ही है। शिव की असख्य शक्तियो मे पाच प्रमुख है—अनुत्तर, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। अनुत्तर या चित्त शक्ति मे शिव की विश्रान्ति आनन्द-शक्ति की भूमिका है। वेदान्त आत्मा को परमार्थत 'सच्चिदा-नन्द' मानता है। पण्डितराज अभिनव के इस सिद्धान्त को तो अपनाते है कि आत्मानन्द के प्रकाश मे आस्वादित रत्यादि रस है, किन्तु आनन्द को शक्ति के रूप मे नही, स्व-रूप के रूप मे लेते है—"निजस्वरूपानन्देन सह।"

रति आदि स्थायीभाव जन्म-जन्मान्तरो के सस्कारो के फल-स्वरूप हमारे अन्त करणो मे वासना-रूप मे अवस्थित चले आते है। जब-जब इनकी उद्बोधक सामग्री जुट जाती है, ये उद्बुद्ध हो जाते है। काव्य-सामग्री द्वारा एक विशेष प्रक्रिया से उद्बुद्ध ये ही स्थायी भाव रस-रूप मे परिणत हो जाते है। "प्रमात्रा निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाण रत्यादिरेव रस"। काव्य के सविधान मे दो ऐसी विशेषताए होती है जो सहृदय प्रमाता को प्रभावित करती है—ये है औचित्य और लालित्य। काव्य के सन्निवेश मे औचित्य पहली आवश्यकता है। शब्द अथवा अर्थ मे से किसी का भी अनौचित्य विषय मे प्रमाता की चेतना को लीन ही नही होने देता।[3] औचित्य के समान ही लालित्य भी काव्य की प्रभविष्णुता के लिए अनिवार्य तत्त्व है। अभिनव के अनुमार इसी लालित्य के कारण प्रमातृ-चेनना सासारिक भाव-भूमि के

---

१ 'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' रस-विवेचन, पृ० १९४-२०७।

२ रसगगाधर प्रथम आनन, पृ० २१-२।

३ सवेद्यमसभावयमान सवेद्ये सविद विनिवेशयितुमेव न शक्नोति, का तत्र विश्रान्ति ? अभि० भा०, भा० १, पृ० २८२।

झझटो से ऊपर उठने का अवसर पाती हे। औचित्य एव लालित्य दोनो काव्य की वे विषय-पक्षीय आवश्यकताए है जो सहृदय को यथार्थ के सकुचित धरातल मे उठाकर कल्पना के रमणीय धरातल पर पहुचाने मे सहायता करती ह। अभिनव ने जो कई प्रकार के रस-प्रतीति के विघ्नो की चर्चा की है, उनमे से कई के निवारण का श्रेय अभिनय-सविधान के ललित उपकरणो को ही दिया है।[1] काव्य मे यह स्थान शब्दार्थ-सविधान के ओचित्य एव लालित्य को प्राप्त है।[2]

इस समुचित एव ललित सन्निवेश से चारु काव्य के द्वारा समर्पित किये गये ही विभावादिक सहृदय के हृदय मे पूर्ण विभावन की क्षमता प्राप्त कर पाते है। "समुचितललित-सन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितै सहृदयहृदय प्रविष्टै ।"

सन्निवेश-चारुता अनुभूति की विषय-पक्षीय आवश्यकता हे। किन्तु प्रमाता मे जब तक 'सहृदयता' न हो, काव्य-चारुत्व भी व्यर्थ होगा। निर्मल दर्पण मे ही पदार्थ प्रतिफलित हो सकते हे, काष्ठ भित्ति अथवा पाषाण मे तो नही।[3] सहृदय-सवाद की भूमि मे आकर ही विभावादि सामग्री लोकोत्तर रूप मे रसोपयोगिनी बनती है।[4]

इस प्रकार काव्य-चारुत्व की विषय-पक्षीय ग्राह्यता तथा सहृदय मे सहृदयता की विषयि-पक्षीय ग्राहकता, दोनो के कारण प्रमाता की चेतना मे एक विशेष प्रकार की 'भावना' उद्बुद्ध हो जाती हे। आधुनिक शब्दावली मे कहे तो कह सकते ह, सामाजिक की कल्पना-शक्ति क्रियाशील हो जाती है। इसी भावना-विशेष की कृपा से विभावादि का साधारणी-करण सम्भव हो जाता है। "तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्त-रमणीत्वादिभि"।

जगत् के यथार्थ धरातल पर नायिकादि कारण-कार्य-सहचारी नाम से अभिहित होते है, काव्य-क्षेत्र मे उन्हे विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी नाम दिये जाते है। कारण स्पष्ट हे— काव्य द्वारा समर्पित एव सहृदय की सहृदयता से गृहीत, उसकी कल्पना-भूमि मे उपस्थित होकर ये उसके भाव-जागरण के काम मे कारण-कार्य सम्बन्ध मे काम नही करते, विभावन-अनुभावन और सचारण का काम करते है। यही इनकी अलौकिकता या लोकभिन्नता है। इस लोक-भिन्नता का प्रमुख कारण है इनका साधारणीकृत रूप मे उपस्थित होना। काव्य-चारुत्व, सहृदय की अपनी सहृदयता तथा उसकी उद्बुद्ध कल्पना-शक्ति की महिमा से उसके मानस-पटल पर उपस्थित ये विभावादि किन्ही भी विशेष सम्बन्धो से रहित हो जाते है। "काव्येन समर्पितै सहृदयहृदय प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्त-रमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यै ।"

यथार्थ जगत् मे भले ही भाव-जागरण की सामग्री की असभूयकारिता हो, काव्या-नुभूति की प्रक्रिया मे तो विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी सामाजिक के मानस-पटल पर समग्रतया ही उपस्थित होकर प्रभाव डालते है। उनके इस समग्र प्रभाव से ही प्रमाता की चेतना मे एक विशिष्ट प्रक्रिया का उदय होता है, जो सामाजिक की चेतना को रसानुभूति तक पहुचाती

---

१ अभि० भा० भा० १, पृ० २८२-३।

२ "काव्येपि इयमेव रसवार्ता"। लोचन, पृ० १८६।

३ साहित्यदर्पण परि० ३, पृ० ७३।

४ "तन्निदानभूताया हृदयसवादघपकृताया विभावादिस सग्र लोकोत्तररूपत्वात्" लो०, पृ० १८७।

है। यह प्रक्रिया सामान्य लौकिक अनुभवो मे नही होती, अत इसे अलौकिक व्यापार कहा गया है। " मम्भूय प्रादुर्भावितेन अलौकिकव्यापारेण।"

इस अलौकिक प्रक्रिया से प्रमाता के आनन्द-स्वरूप चैतन्य पर पडे हुए अज्ञान का आवरण आशिक रूप से निवृत्त हो जाता है। "अलौकिकव्यापारेण तत्कालनिर्वर्तितानन्दाशावरणाशेनेन प्रमात्रा।"

वेदान्त के अनुमार आत्मा मत्-चित् आनन्द-स्वरूप है। वह पूर्ण, अखण्ड एव प्रकाशमय है, तथापि अज्ञान से आच्छादित होकर ससारी पुरुष के रूप मे प्रतीत होती है। अज्ञान मत्-असत् से अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, अनादि एव भावात्मक पदार्थ है, जिसकी सत्ता प्रातिभासिक होती है, पारमार्थिक नही। जगत् उसी की सृष्टि है। मुक्ति का अर्थ है आत्म-ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति, जो आत्मा की विशुद्ध स्थिति ही है। यह दशा अखण्ड आनन्दात्मक होती है जिसमे अज्ञान की आत्यन्तिकी एव पूर्ण निवृत्ति हो जाती है।[1]

काव्य की विभावित सामग्री के द्वारा जो अलौकिक प्रक्रिया उदित होनी है, उससे भी चैतन्य के आवरण-रूप अज्ञान की निवृत्ति होती है, किन्तु वह आत्यन्तिकी नही होती, न ही पूर्ण होती है। अज्ञान की ऐसी निवृत्ति की कल्पना इम स्थिति मे की भी कैसे जा मकती है? रसानुभूति मे चित्त मौजूद है, जो स्वय अज्ञान का एक रूप ही ह। विभावादि विषय सामग्री भी है। बस, केवल इतनी सी बात है कि विषय सामग्री किसी विशेष सम्बन्ध के साथ अन्त -करण का विषय नही बनती। दूसरी बात यह कि यह सामग्री कल्पना-क्षेत्र की होने के कारण यथार्थ नही होती। इम प्रकार विषयानुवेध न होकर विषयसस्कारानुवेध तो होता ही है। अत पूर्वोक्त अलौकिक प्रक्रिया के द्वारा जो अज्ञान के आवरण की निवृत्ति होती है वह एक अश तक ही सीमित रहती है।

प्रश्न उठना है, इम अशावरण की निवृत्ति होने पर प्रमातृ-चेतना की क्या स्थिति होनी है? सामान्यत आवृत प्रमातृ-चेतना व्यष्टि-गत सुख-दु खो की परिमित मीमाओ मे आबद्ध होती है। अभिनव के शब्दो मे यह 'निजमुखदु खादिविवशीभाव' की स्थिति होती है, जो रसानुभूति का प्रबल विघ्न है। उपर्युक्त अलौकिक प्रक्रिया से जैसे ही प्रमातृ-चेतना का अशावरण निवृत्त होता है, उमका यह परिमित परमातृत्व भी समाप्त हो जाता है। वह तब प्रमाता रहता है, परिमितप्रमाता नही। "अत एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा"। परिमित सम्बन्धो से मुक्त साधारणीकृत सामग्री प्रमातृ-चेतना को भी परिमित सीमाओ से बाहर निकाले यही स्वाभाविक है।[2]

तो काव्यशक्ति के द्वारा प्रादुर्भूत उपर्युक्त अलौकिक व्यापार से चैतन्य के अन्य स्थूल आवरण निवृत्त हो जाते है। यदि कोई आवरण है तो अब अपना, स्वय काव्य-सामग्री के द्वारा डाला हुआ। यह आवरण विभावादि सामग्री से विभाबित अथवा व्यजित स्थायी भावो का आवरण है जो रमानुभूति मे चैतन्य पर रह जाना है। इस प्रकार के मुक्त हृदय, न कि निर्हृदय प्रमाता के द्वारा गोचरीभूत स्थायी भाव ही 'रस' कहलाते है।

हमारा चैतन्य प्रकाश-रूप है, आनन्द स्वरूप है। त्रिगुणात्मक एव जड प्रातिभासिक

---

१ वेदान्तसार सदानन्द पर आधारित।

२ "नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृत्ववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितेन प्रमात्रा।" का० प्र०, उ० ४, पृ० ९२।

जगत् उसी के प्रकाश से भासित होता है। यहा तक कि चित्तवृत्ति भी, जो कि स्वय अज्ञान का एक रूप है, उसी के प्रकाश से प्रकाशित होकर जड पदार्थो को प्रकाशित करती है। इसी हमारे अनावृत चैतन्य के प्रकाश मे, जिसका कि आनन्द अपना ही स्वरूप है, जब रत्यादि गोचर होते है, तो वे भी आनन्द-रूप ही बन जाते है। यही रस है। "प्रमाता स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाण प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रस"।[1]

इस प्रकार हम देखते है कि पण्डितराज के द्वारा उपस्थापित इस अभिनव के मत की मूल चेतना तो ज्यो की त्यो सुरक्षित है, किन्तु उसकी दार्शनिक आधार-भूमि बदली हुई है। उसमे शैव-दर्शन के स्थान पर वेदान्त को बडी सफलता से प्रतिष्ठित किया गया है।

पण्डितराज ने अभिनव की मान्यताओ का ही इस प्रकार वेदान्तीकरण नही किया, उनके मत के सर्वश्रेष्ठ उपस्थापक मम्मट के शब्दो की भी वेदान्ती व्याख्या प्रस्तुत की है। मम्मट रस का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते है

"व्यक्त स तैर्विभावाद्यै स्थायी भावो रस स्मृत ।"[2]

अर्थात् विभावादि से व्यक्त होकर स्थायी भाव रस कहलाता है। पण्डितराज के अनुसार इस व्यक्त होने का अर्थ है—"व्यक्ति का विषय बनना", और 'व्यक्ति' का अर्थ है—"वह चैतन्य जिसका आवरण भग हो चुका है"। 'भग्नावरण चित्'। जिस प्रकार एक दीपक किसी सकोरे से ढका होने के कारण न तो स्वय प्रकाशित होता है, न ही किसी अन्य पदार्थ को प्रकाशित कर सकता है। इसी प्रकार अज्ञानावृत चैतन्य की स्थिति है। दीपक के ऊपर से सकोरा हटा दीजिए, वह स्वय भी प्रकाशित होगा, अन्य समीपी पदार्थों को भी प्रकाशित करेगा। ठीक इसी प्रकार से चैतन्य पर से, काव्य के प्रभाव से जैसे ही अज्ञानावरण दूर होता है, वह अपने स्वरूपात्मक प्रकाश से स्वय भी प्रकाशित होता है और विभावादि से विभावित रत्यादि को भी प्रकाशित कर देता है। इसी प्रकाशमयी स्थिति को रस कहते हैं। 'वि-पूर्वक अज्ज् धातु' की इस प्रकाशात्मक चेतना के साथ वेदान्ती सगति विश्वनाथ नही लगा सके थे। उन्होने व्यक्ति को दध्यादि न्याय से रूपान्तर-परिणति के रूप मे लिया था। किन्तु पण्डितराज ने उसके मर्म को वेदान्त की मर्मज्ञता के सहारे स्पष्ट किया।[3] व्यक्त का सामान्यतया प्रचलित अर्थ था 'व्यजना-प्रतिपादित', किन्तु व्यजना की इस प्रकार वेदान्ती व्याख्या पण्डितराज के द्वारा ही सामने आयी।

अभिनव और मम्मट की मान्यताओ का निचोड पण्डितराज इन शब्दो मे प्रस्तुत करते है

"इत्थ चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादि स्थायी भावो रस इति स्थितम्"।[4]

---

१ व्याख्या 'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' में विवेचित पण्डितराज जगन्नाथ के रस-विवेचन पर आधारित।

२ का० प्र०, उ० ४, पृ० ८६।

३. "व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो, न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते"। साहित्यदर्पण, परि० ३, पृ० ६४।
"व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृत । व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्। यथाहि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वय च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्य विभावादिसवलितरत्यादीन्"। रसगगाधर, पृ० २२।

४, रसगगाधर, पृ० २३।

अभिनव के सिद्धान्त को इतने सक्षेप और सच्चाई से प्रस्तुत करने के लिए शायद ही और उपयुक्त शब्द मिलते। अभिनवगुप्त काव्य-रस की अनुभूति मे सविद् के पक्ष की अपेक्षा चित्तवृत्ति के पक्ष को प्रधान मानते है,[1] अत उनके मत को "भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादि स्थायी भावो रस" इन शब्दो मे ठीक ही प्रस्तुत किया गया है। इसमे दो अश है—एक भग्नावरणा चित् का, दूसरा रत्यादि चित्तवृत्तियो का। अभिनव की मान्यता के अनुरूप पण्डितराज ने चित्तवृत्ति-अश को 'विशेष्य' बनाया है और चिदश को 'विशेषण' के रूप मे रखा है।

यहा अभिनव के सिद्धान्त-पक्ष से पण्डितराज को कोई असहमति नही। रसानुभूति शुद्ध चैतन्यात्मक स्थिति नही, उसमे चित् तथा चित्तवृत्ति दोनो की सत्ता है, इस बात को किसी न किसी रूप मे भट्टनायक भी मानते है, अभिनव भी मानते है, और पण्डितराज भी। तथापि अपनी वेदान्ती दृष्टि के कारण पण्डितराज को इन दोनो की विशेष्य-विशेषणात्मक स्थिति के सम्बन्ध मे आपत्ति है। उनके सामने प्रश्न यह है कि रसानुभूति मे जो आनन्द का अश है, उसका श्रेय चित् अश को दिया जाय या चित्तवृत्ति अश को ? एक वेदान्ती की दृष्टि मे आनन्द का श्रेय चिदश के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व को दिया ही नही जा सकता। चित्त-वृत्ति तो स्वय जड एव अज्ञान का एक रूप है, अत वह आनन्द की मूलाधार हो ही नही सकती। अत वेदान्ती पण्डितराज की चेतना के अनुसार "भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिरेव रस" यह कहने की अपेक्षा यही कहना अधिक ठीक होगा—"रत्याद्यवच्छिन्नभग्नावरणा चिदेव रस"। पहली स्थापना मे रत्यादि विशेष्य अश को 'रस' कहना पडता है, इसमे 'चित्' को रस कहा जाता है। रस-रूप आनन्द तो आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, अत उसका श्रेय चिदश के अतिरिक्त किसी अन्य को नही दिया जा सकता। आभासवादी अभिनव के लिए दोनो बातो मे कोई विशेष अन्तर नही पड सकता। उसके दर्शन मे समस्त विमर्श रूप भी 'प्रकाश' के ही उच्छलित रूप है, विश्वमयी सत्ता का स्वरूप 'प्रकाश-विमर्श-मय' है, और प्रत्येक रूप तात्विक है। अत उनकी दृष्टि मे किसी अश को विशेष्य रख लिया जाय, कोई ऐसा अन्तर नही पडता जो किसी भारी सैद्धान्तिक बाधा को खडा करे। किन्तु वेदान्ती के लिए तो यह सर्वथा अमान्य होगा कि वह आनन्द का आधार जड चित्तवृत्ति को मान ले। आनन्द का आधार 'चैतन्य' ही है, उसे ही श्रुति मे वास्तविक 'रस' कहा गया है, पण्डितराज इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए तैत्तिरीयोपनिषत् के शब्द उपस्थित करते है :

"रसो वै स" "रसो ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति"[2]

इस प्रकार पण्डितराज सैद्धान्तिक रूप मे अभिनव की रस-विषयक दृष्टि स्वीकार करते हुए भी, उसके पीछे निहित दर्शन को स्वीकार नही करते। उन्होने अभिनव की मान्य-ताओ को पूरी सच्चाई के साथ इस प्रकार वेदान्तीकृत रूप मे प्रस्तुत किया है कि उनका यह कार्य विश्वनाथ के समान बिना समझा-बूझा नही कहा जा सकता। रस का स्वरूप एक होते हुए भी दोनो महान् आचार्यों की विवेचना मे दार्शनिक दृष्टि का यह महान् अन्तर है, जो अत्यन्त स्पष्ट है।

इस प्रकार अभिनव और मम्मट के मन्तव्य के अनुसार रस का स्वरूप वेदान्ती शब्दा-

---

१ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भा० २, पृ० १७८-९।
२. रसगगाधर, पृ० २३।

वली मे है "भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिरेव रस", जबकि पण्डितराज की विशुद्ध वेदान्त-परक दृष्टि मे अभिनव का ही रस-स्वरूप है—"रत्याद्यवछिन्ना भग्नावरणा चिदेव रस"।[1]

वेदान्ती नवीन मत

अभी हमने पण्डितराज द्वारा उपस्थापित अभिनव के मत का वेदान्तीकृत रूप देखा है। हम पीछे कह चुके है कि पण्डितराज ने अभिनव और भट्टनायक के मत प्रस्तुत करने के उपरान्त दो नवीन रस-मत भी प्रस्तुत किये है जिनमे से प्रथम का सम्बन्ध वेदान्त से हे। हम यहा उसी मत के अनुसार रस-स्वरूप जानना चाहते हे।

पण्डितराज ने इन दो मतो के उद्भावक आचार्यो के नाम नही दिये। ये मत अपने समग्र रूप मे किसी प्राचीन या पण्डितराज के समकालीन आचार्य के ग्रन्थ मे मिलते भी नही। अनुमान होता है, पण्डितराज ने स्वय ही दार्शनिक दृष्टि से रस-स्वरूप पर इस रूप मे अपना चिन्तन उपस्थित किया है। रसगगाधर मे वे अनेकत्र अपनी निजी मान्यताए नव्यो और नवीनो के नाम से पिरोते चले है। रस-विषय मे भी ऐसा ही प्रतीत होता है।[2]

दार्शनिक दृष्टि मे रस एक ज्ञान-विशेष ही ठहरता हे। उसकी प्रतीति को भोग, रसना, चर्वणा आदि मे से कुछ भी नाम क्यो न दिया जाय, वह एक अनुभव-विशेष हे, इससे कौन इकार कर सकता है? जब रस एक प्रकार का ज्ञान है तो दार्शनिक बुद्धि मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह कैसा ज्ञान है, यथार्थ या अयथार्थ? भारतीय दर्शनो मे ज्ञान के प्रकार, स्वरूप, प्रमाण, प्रामाण्य आदि को लेकर अनेक प्रकार की चर्चाए मिलती है। सभी दर्शन प्राय ज्ञान के दो वर्ग यथार्थ और मिथ्या के रूप मे बनाकर विचार करते है। तब रस के विषय मे भी यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। दार्शनिक दृष्टि मे रस अयथार्थ ज्ञान की कोटि मे ही आता है। वस्तुत रस कल्पना-क्षेत्र की वस्तु है। उसकी मूल सामग्री विभावादिक स्वत कल्पना की सर्जनाए है। अत कोई भी दार्शनिक, चाहे वह वस्तुवादी है चाहे आत्मवादी, रस को तत्व-ज्ञान या प्रमा की कोटि मे तो रख नही सकता। तब उसे अयथार्थ या भ्रम-रूप ही मानना होगा। इन दोनो मतो मे भी रस को एक भ्रमात्मक ज्ञान मानकर उसके स्वरूप पर विचार किया गया है। रस को भ्रम मानकर चलने मे दोनो नवीन मत समान है।

'भ्रम' के विषय मे भारतीय दर्शन एकमत नही है। उसके विषय मे अनेक ख्यातिया प्रचलित है। विज्ञानवादियो की 'आत्म-ख्याति', शून्यवादियो की 'असत्ख्याति' प्रभाकर मीमासको की 'अख्याति', भाट्ट मीमासको की 'विपरीत ख्याति', नैयायिको की 'अन्यथा ख्याति', रामानुजीयो की 'सत्ख्याति'। वेदान्तियो की 'अनिर्वचनीयता ख्याति', इस प्रकार भ्रमात्मक ज्ञान के विषय मे अनेक प्रकार की ख्यातिया हमे दार्शनिक ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है। भ्रम-ज्ञान-सम्बन्धी इन विविध मतो के ऊपर दृष्टि डालने से हमे उनके दो वर्ग स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते है—एक वर्ग वह है जो भ्रम को 'अनिर्वचनीय' कहता है, दूसरा वह है जो उसे किसी न किसी प्रकार व्याख्येय मानता है। अनिर्वचनीयतावादी वर्ग का प्रतिनिधि वेदान्त है। साख्य एव योगवादियो ने परिणामवादी होते हुए भी इस विषय मे विवर्तवादी

---

१. रसगगाधर, पृ० २३।
२. 'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' रस-विवेचन, पृ० २०१-२११।

वेदान्तियो की मान्यता स्वीकार कर ली है ।[1] दूसरे वर्ग मे, जिसका नाम हम अनिर्वचनीयतावाद के वजन पर 'निर्वचनीयतावादी' कह सकते हे, नैयायिक, बौद्ध, मीमासक आदि आते है । इस वर्ग के दर्शनो की धारणाए समान न होते हुए भी, वे सब इस बात मे समान ह कि भ्रम अव्याख्येय या अनिर्वचनीय नही । यो तो भ्रम की व्याख्या वेदान्ती भी करता हे, किन्तु उसकी व्याख्या के अनुसार भ्रम का एक बडा भाग अनिर्वचनीय ही रह जाता है ।

पण्डितराज ने इन दोनो नवीन मतो मे रस को भ्रमात्मक ज्ञान के रूप मे स्वीकार करते हुए उसकी क्रमश अनिर्वचनीयतावादी तथा निर्वचनीयतावादी दृष्टि मे व्याख्या की है । पहले मत मे व्यजना का सहारा स्वीकार किया गया है, दूसरे मे व्यजना के स्थान पर अनुमान को ग्रहण किया गया है । इस दृष्टि से हम प्रथम नवीन मत को वेदान्त के अनुरूप और द्वितीय को न्याय के अनुरूप मान सकते है ।

इस प्रकार रस को भ्रमात्मक ज्ञान मानकर तथा उसमे व्यजना का उपयोग स्वीकार करते हुए वेदान्त-सम्मत अनिर्वचनीयतावाद के अनुसार प्रथम नवीन मत को इन शब्दो मे प्रस्तुत किया गया है

"काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यजन-व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तर च सहृदयोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मनि, अज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्ड समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीय साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रस ।"[2]

काव्य मे कवि के रमणीय शब्दो के द्वारा तथा नाट्य मे नट के कलात्मक अभिनय के द्वारा विभावादि सामग्री उपस्थित की जाती है । इस सामग्री द्वारा सामाजिक दुष्यन्त मे शकुन्तला के प्रति होने वाली रति का ज्ञान कर लेता है । इस दुष्यन्त-गत रति के ज्ञान के अनन्तर सामाजिक की सहृदया के फल-स्वरूप उसमे एक भावना-विशेष उद्बुद्ध हो जाती है । आधुनिक शब्दो मे कह सकते है, सामाजिक की भावुकता के फलस्वरूप काव्योचित सामग्री सामने आने पर उसकी कल्पना-शक्ति उद्बुद्ध हो जाती हे । यह भावना या कल्पना उसे यथार्थ के धरातल से वचित कर देती है, अत एक दोष ही कही जायगी । इसी भावना-रूप दोष की महिमा से सामाजिक अपने को कल्पित दुष्यन्तत्व से अवच्छादित पाता है, अर्थात् उक्त दोष के प्रभाव से सामाजिक अपने को दुष्यन्त से अभिन्न पाता है । तब जिस प्रकार शुक्ति मे अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार अवास्तविक दुष्यन्तत्व से अवच्छिन्न सामाजिक-चेतना मे शकुन्तलाविषयक रति उद्बुद्ध हो जाती है । यद्यपि सामाजिक के मानस मे शकुन्तलादि विभावो की वास्तविक स्थिति नही, तथापि साक्षिभास्यता के सिद्धान्त के अनुसार असत् शकुन्तलादि भी उसके अन्त करण मे प्रकाशित हो जाते है । तब उनमे सम्बन्धित रति भी उदित हो जाती है । यह रति पारमार्थिकतया सत् नही कही जा सकती, दूसरी ओर अनुभूति मे आने के कारण असत् भी नही, अत यह शुक्ति-गत रजत-भ्रम के समान ही अनिर्वचनीय होती है । पहले दुष्यन्त मे होने वाली रति का ज्ञान, और तदनन्तर सामाजिक की अज्ञानावच्छिन्न चेतना मे अनिर्वचनीयतया समुत्पन्न यह रति, यह इसका उदय-क्रम है ।

---

१ सर्वदर्शन-सग्रह उपोद्घात, पृ० ५ ।
२ रसगगाधर, पृ० २५ ।

यह दूसरी अनिर्वचनीय रति ही 'रस' है।[1]

इस प्रकार इस मत के अनुसार भावना-रूप दोष के परिणाम-स्वरूप प्रमातृ-चेतना मे उत्पन्न यह अनिर्वचनीय रति ही रस है। दर्शन की दृष्टि मे यह अज्ञानावच्छिन्न आत्मा मे उद्भूत एक कल्पित एव अनिर्वचनीय भ्रम है। इस मत मे दो चीजो को अनिर्वचनीय कहा गया है—एक तो उस कल्पित दुष्यन्तत्व को, जिसमे प्रमाता की चेतना अवच्छिन्न होती है, दूसरे उस रति को जो विभावो के प्रति प्रमाता मे उत्पन्न होती है।[2] वास्तविक रूप मे यह रति आनन्द का आधार नही, आनन्द तो इस रति के अनुभव के अव्यवहित अनन्तर अनुभूति मे आने वाला चैतन्य का आनन्द है। किन्तु भ्रम से उस आनन्द को इस अनिर्वचनीय रति का ही आनन्द कह दिया जाता है। "स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाग्रहात् मुखपदव्यपदेश्यो भवति"।[3] जिस प्रकार अन्य अयथार्थ स्वप्नादि ज्ञानो मे वस्तुत अविद्यमान भी पदार्थ साक्षिभास्य अन्त करण के द्वारा प्रकाशित हो जाते है, वैसे ही इस रति मे भी विद्यमान पदार्थ, जो वस्तुत विद्यमान नही है, साक्षिभास्य अन्त करण द्वारा प्रकाशित हो जाते है।

इस प्रकार यह प्रथम नवीन मत वेदान्त की प्रमुख मान्यताओ को अपनाकर रत्यादि-रूप रस को एक भ्रमात्मक अनुभव मानता है, और आनन्द-तत्त्व का वास्तविक आधार चैतन्य को मानते हुए व्यजना तथा अनिर्वचनीयता के आधार पर रस की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

पण्डितराज ने वेदान्त की आधार-भूमि लेकर इस भाति दो रूपो मे रस की व्याख्या प्रस्तुत की है—एक तो अभिनव की मान्यताओ को ही उपस्थित करते हुए, दूसरे रस की समस्या पर वेदान्त की कतिपय मान्यताओ के आलोक मे तटस्थ चिन्तन करते हुए। कहने की आवश्यकता नही कि इन दोनो प्रयासो मे प्रथम प्रयास ही सराहनीय है। एक तो उसमे चिन्तन की समजस अन्विति है, दूसरे स्वय अभिनव की अपेक्षा उसमे उनके विचारो को और स्पष्ट एव सरल प्रकाशन मिला है। इसके विपरीत दूसरे प्रयास मे रस को भ्रम माना गया है। भले ही दार्शनिक बुद्धि मे रस एक भ्रम हो, किन्तु साहित्य का तो वही प्राण है। ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व का विवेचन इतना शुष्क भी रुचि के अनुकूल नही बैठता।

अब तक हमने सस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख-प्रमुख आचार्यों की रस-विषयक चेतनाओ का अध्ययन किया है और इस अध्ययन मे हमने दार्शनिक आधार-भूमियो के उद्घाटन-निरूपण की ओर विशेष ध्यान दिया है। इससे हम एक ओर तो रस का स्वरूप विभिन्न आचार्यों की दृष्टियो से समझ सके है, दूसरी ओर रस के दार्शनिक अध्ययन के एक स्तर पर भी पहुच सके है। इस स्तर पर पहुचने से हमे एक लाभ होगा। वैष्णव-साहित्य की रस-परिकल्पना को समझने के लिए हम वैष्णव-दर्शनो की दृष्टि मे रस का स्वरूप समझने का अगले अध्याय मे अवसर निकाल रहे है। प्रस्तुत अध्याय मे काव्यशास्त्र-निरूपित रस को दार्शनिक दृष्टि से समझकर चलने मे आगामी अध्याय की पृष्ठभूमि भी तैयार हो गयी है, और काव्यशास्त्र और भक्ति-दर्शन दोनो क्षेत्रो के रस के अन्तर को समझने तथा उनके विषय मे तुलनात्मक बात कहने का एक आधार भी बन गया है।

---

१ सस्कृत काव्यशास्त्र और रसगगाधर पण्डितराज जगन्नाथ का रस-विवेचन प्रथम नवीन मत।

२ "अवच्छादक दुष्यन्तत्वमपि अनिर्वचनीयमेव। अवच्छादकत्व च रत्यादिविशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेदकम्।" रसगगाधर, पृ० २६।
"समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीय साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रस" वही, पृ० २५।

३ रसगगाधर, पृ० २६।

मस्कृत काव्यशास्त्र के विविध आचार्यो मे रस-विवेचन की दृष्टि से इने-गिने नाम ही उल्लेखनीय हे—ये नाम है--भरत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त और पण्डितराज जगन्नाथ । अन्य नाम तो रसाध्ययन के विकास की ऐतिहासिक कडियो का काम अधिक करते हे । आज मिद्धान्त-रूप मे अभिनवगुप्त का रस-मत म्वीकार किया जाता हे । पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उन्ही का मत अपनी दृष्टि से परिमार्जित एव व्यवस्थित भाषा मे प्रस्तुत किया है । वस्तुत मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार-भूमि के व्यवस्थित उपयोग के कारण अभिनव का रस-मत सबसे अधिक ग्राह्य है ।

काव्य-रस के इस काव्यशास्त्रीय दशन-परक अध्ययन के अनन्तर अब हम वैष्णव-दर्शनो की ओर इसी समस्या के हल के लिए आते है । अगले अध्याय मे हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि विभिन्न वैष्णव-दर्शन जिन्हे हम भक्ति-दर्शन कह सकते ह, 'रस' से क्या ममझते है और उसकी अर्थात् अपने स्वीकृत रस की अनुभूति के मम्बन्ध मे क्या अभिमत प्रस्तुत करते हे । लगे हाथो हम यह भी देख सकेंगे कि क्या किसी वैष्णव-दर्शन के प्रतिपादन से काव्य-रस और उमकी अनुभति की प्रक्रिया पर भी कुछ प्रकाश पडता है ।

२
भक्ति-दर्शन एवं रस

विगत अध्याय मे हम सस्कृत के प्रमुख आचार्यों की दृष्टि मे काव्य-रस का स्वरूप जान चुके है। हिन्दी के वैष्णव-साहित्य की रस-परिकल्पना को समझने के लिए 'रस' का स्वरूप एक दूसरी दृष्टि से भी समझना अनिवार्य है। जहा काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने 'रस' को काव्य के बीच रखकर समझने-समझाने का प्रयास किया है, वहा दूसरी ओर विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायो के प्रवर्तक आचार्यो ने काव्य-निरपेक्ष दृष्टि से 'रस-तत्त्व' को अपने ढग से देखा है। हिन्दी का वैष्णव-साहित्य हमारी विवेच्य शताब्दियो मे बहुत दूर तक इन सम्प्रदायो की प्रेरणाओ की प्रसूति है, तब इन भक्ति-दर्शनो के प्रणेता आचार्यो की दार्शनिक दृष्टियो मे 'रस' क्या है, हमे यह भी समझना होगा। मध्यकाल का हिन्दी-वैष्णव कवि हमे काव्य-रस का ही अनुभव नही कराता, उस रस-तत्त्व की अनुभूति का मार्ग भी प्रशस्त करता है जिसका स्वरूप दार्शनिक आधार-भूमि पर उसके श्रद्धास्पद आचार्य-प्रवर ने निरूपित किया है।

सभी भक्ति-दर्शन एक प्रकार से शाकर वेदान्त की प्रतिक्रियाए है। शाकर वेदान्त जिस परमतत्त्व को निर्गुण, निर्विशेष एव असवेद्य प्रतिपादित करता है, उसे ही भक्ति-दर्शन कतिपय पारस्परिक अन्तरों के साथ सगुण, सविशेष और आराध्य दिखाते है। किन्तु समान श्रुतियो और वेदान्त-सूत्र का समान आधार लेकर चलने के कारण रसत्व या आनन्दमयता का मूलाधार उसी परमतत्त्व को मानते है। इस विषय मे वेदान्त और सभी भक्ति-दर्शन एकमत है। एक शब्द मे हम कह सकते है कि इन सभी की दृष्टि मे 'रस', 'आनन्द' और 'ब्रह्म' पर्याय है, रही उसके स्वरूप की निर्विशेषता-सविशेषतादि की बात, सो दृष्टिकोण का अन्तर रहा। इस प्रकार दर्शन की दृष्टि मे 'रस' का अर्थ होता है परमतत्त्व या 'ब्रह्म' और इस विषय मे सभी के सभी ये दर्शन तैत्तिरीय की 'रसो वै स' तथा अन्य ऐसी ही श्रुतियो से प्रभावित हुए है।

काव्य-रस के स्वरूप-निर्धारण के लिए दर्शन के रस ने द्वार खोला है, काव्य-रस के परिचय ने दर्शन-प्रतिपाद्य रस को समझने मे कोई विशेष सहायता नही की। भारतीय काव्य-रस-स्वरूप के निर्धारण मे सबसे बडा योगदान कश्मीरी शैव-दर्शन और वेदान्त का है, यह हम गत अध्याय मे देख चुके है। शैव-दर्शन और वेदान्त दोनो ही आनन्द का मूल सम्बन्ध आत्मा के पर-रूप से ही जोडते है, अन्तर केवल इतना ही है कि शैव-दर्शन के अनुसार आनन्द शिव की एक शक्ति है, जो उनकी चित् मे विश्रान्ति के अतिरिक्त कुछ नही,[1] जबकि वेदान्त आनन्द को आत्मा का स्वरूप ही मानता है।[2] फिर भी, ब्रह्म के सन्दर्भ मे प्रयुक्त 'आनन्द' शब्द वेदान्त की

---

१ "अनुत्तर एव विश्रान्तिरानन्द "। तन्त्रसार आ० ३, पृ० १२।
"अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्दशक्ति"। शिवदृष्टि उत्पल-वृत्ति प्र० आ०, पृ० १७।

२ अखण्ड सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्"। वेदान्तसार, पृ० १।

दृष्टि से न तो किसी गुण-विशेष का वाचक हे, और न ही अनिर्वाच्य ब्रह्म-स्वरूप का वाचक। वस्तुत 'आनन्द' से हम आनन्दात्मक अनुभवाभामो की व्यावृत्ति का ही ग्रहण करते है, जो अपने मूल-रूप मे एक भावात्मक अनुभूति है, किन्ही अनुभवो का अभाव नही। वह अनुभूति-मात्र है।[1] इस प्रकार इन्ही अर्थो मे वेदान्त का ब्रह्म आनन्दमय और 'अखण्ड रस-रूप' है। रमत्व और आनन्द का मूल सम्बन्ध आत्मा के पर-रूप से जोडने की इम परम्परा का सभी भक्ति-दर्शनो ने परिपालन किया है। यह चेतना बौद्ध, माख्य, मीमामा आदि कतिपय दर्शनो मे नही पायी जाती।

समस्त भक्ति-दर्शनो का 'रस-तत्त्व' परमतत्त्व का पर्यायवाची होने हुए भी सर्वत्र एकसा नही है। उसके स्वरूप और स्वभाव मे अन्तर है। इसी स्वरूपात्मक और स्वभावात्मक अन्तर ने हिन्दी के वैष्णव-साहित्य के स्वरूप और रस-चेतना को प्रभावित किया है। अत इन भक्ति-दर्शनो की दृष्टि के अनुरूप रम को अलग-अलग समझना भी अपेक्षित है। हम इम परिचय के लिए इस अध्याय मे पॉच प्रमुख सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्या के दार्शनिक सिद्धान्त चुन सकते है, ओर उन्हे काल-क्रम के अनुरूप इस प्रकार रख सकते हे

१ रामानुज-दर्शन।
२ माध्व-दर्शन।
३ निम्बार्क-दर्शन।
४ वल्लभ-दर्शन।
५ चैतन्य-दर्शन।

इन भक्ति-दर्शनो की दृष्टि से हम रम के सम्बन्ध मे निम्न प्रश्नो की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करेगे

१ 'रस' का स्वरूप।
२ 'रस' का आस्वादनकर्ता।
३ 'रस' की उपलब्धि के उपाय और प्रतिक्रिया।
४ 'रस' के आस्वादन काल की अनुभूति।

भक्ति-दर्शनो की दृष्टि मे इन प्रश्नो का तात्पर्य क्रमश इस प्रकार रखा जा सकता है

१ परमतत्त्व का स्वरूप।
२ जीव का स्वरूप।
३ परमतत्त्व की प्राप्ति के उपाय और प्रक्रिया, मामान्यत भक्ति।
४ भक्ति के माध्यम से भक्तो की प्राप्य चरम आनन्दोपलब्धि का स्वरूप।

इनके अतिरिक्त एक जिज्ञासा और शेष रहती है—इन विवेच्य दर्शनो की दृष्टि से काव्य-रस का स्वरूप। किन्तु इस प्रश्न का सीधा उत्तर हमे मिलना कठिन है। कारण यह है कि इन भक्ति-सम्प्रदायो के प्रतिष्ठापक आचार्यो ने काव्य-रस के स्वरूप का विश्लेषण करने का

---

१ "एकार्थाभिधायित्वेऽपि अपर्यायत्वम्। एकत्वेना पर्यनिश्चयादेकस्यैवार्थस्य तत्तत्पदार्थविरोधिप्रत्यनीकत्व-परत्वेन सर्वपदानामर्थवत्त्वमेकार्थत्वमपर्यायता च। एतदुक्त भवति—लक्षणत प्रतिपत्तव्य ब्रह्म सकलेतर-पदार्थविरोधिरूपम्। । न च व्यावृत्तिभावरूपोऽभावरूपो वा धर्म, अपितु सकलविरोधि ब्रह्मैव।" शारीरकमीमासाभाष्य वेदान्त-मत रामानुजकृत, पृ० ५७।
"अद्वितीयश्रुतिर्गुणतोऽपि सद्वितीयता न सहते। अ यथा निरजन निर्गुणमित्यादिभिश्च विरोध। अतश्चैतल्लक्षणवाक्यमखण्डैकरसमेव प्रतिपादयति।" रामानुज-शारीरकमीमासाभाष्य, पृ० ५८।

प्रयास नही किया। अभिनवगुप्त की बात तो दूसरी रही जिन्होने दर्शन तथा काव्य दोनो के परमतत्व का स्वरूप-निर्धारण किया। अत उनके विवेचनो मे आध्यात्मिक आनन्द और काव्यानन्द दोनो का स्वरूप-निरूपण अलग-अलग मिलता है। अन्य दार्शनिको मे यह बात नही पायी जाती। जैसे वेदान्तादि दर्शनो की आधार भूमि का सहारा लेकर आचार्यो ने काव्य-रस का निरूपण किया वैसे भी प्राय भक्त आचार्यो के प्रयास नही रहे। वल्लभ तथा चैतन्य के सम्प्रदायो मे अवश्य कुछ प्रयास इस ओर हुए, जिनका परिचय हम यथास्थान प्राप्त करेगे। तब, यदि हमे इन भक्ति-दर्शनो की दृष्टि से काव्य-रस का स्वरूप समझना है, और दार्शनिक रस-तत्त्व से उसका अन्तर स्पष्ट करना है, तो इनकी मान्यताओ को ध्यान मे रखकर काव्य-रस का स्वरूप इनकी ओर से निर्धारित करना पडेगा। यथावसर और यथासम्भव हम इस ओर भी प्रयास करेगे।

इन जिज्ञासाओ पर ध्यान रखते हुए हम इन दर्शनो की ओर बढ सकते है। कालक्रम के अनुसार पहले रामानुज-दर्शन आता है।

रामानुज-दर्शन एव रस

विशिष्टाद्वैतवाद—रामानुज-दर्शन विशिष्टाद्वैतवादी है। उसके अनुसार ब्रह्म चिद्-अचिद्-विशिष्ट एव सगुण है। वेदान्त[1] इसके विपरीत ब्रह्म को निर्विशेष तथा निर्गुण मानता है। चित् अर्थात् जीव, और अचित् अर्थात् प्रकृति दोनो तत्त्व मिथ्या न होकर रामानुज के अनुसार सत् है, किन्तु ब्रह्म के विशेषण-रूप है। जिस प्रकार जीव के लिए प्रकृति शरीर है, उसी प्रकार ब्रह्म के लिए जीव और प्रकृति दोनो शरीर है, वह शरीरी है।[2] इन दोनो तत्त्वो और ब्रह्म के बीच इसीलिए शरीर-शरीरी भाव, अगागी भाव, अशाशी भाव, शेष-शेषी भाव, या विशेषण-विशेष्य भाव कहा गया है। इस विशिष्ट परमतत्त्व से भिन्न और किसी की सत्ता नही है, जो शरीर या शेष रूप जीव या प्रकृति है, वह तो उसी का रूप है, अत उससे भिन्न नही, इन अर्थो मे अद्वैत है। यह अद्वैत निर्विशेष, निर्गुण ब्रह्म का न होकर सगुण सविशेष ब्रह्म का है, अत रामानुज के अद्वैत को विशिष्टाद्वैत कहा गया है।

ब्रह्म के शरीर-भूत जीव और प्रकृति की दो अवस्थाए होती है—एक स्थूल, दूसरी सूक्ष्म। स्थूल अवस्था मे उनके पृथक् नाम-रूप सामने आते है, किन्तु सूक्ष्म अवस्था मे यह सम्भव नही हो सकता। उस दशा मे ये अश अपने अशी ब्रह्म मे लीन होते है। तथापि, लयावस्था मे भी उनकी सत्ता का अभाव नही होता, कार्य केवल कारणावस्था मे सूक्ष्म होता है। वस्तुत ये दोनो अवस्थाए विशिष्ट ब्रह्म की क्रमश: कार्यावस्था और कारणावस्थाए है।[3] इन्हे ही रामानुज कार्य-ब्रह्म और कारण-ब्रह्म कहते है, जो वस्तुत उनके विशिष्ट अद्वैत-तत्त्व की ही व्यक्त-अव्यक्त या स्थूल-सूक्ष्म अवस्थाए है।

इस प्रकार रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद भिन्न-भिन्न दृष्टियो से भेद भेदाभेद, और

---

१ इस अध्याय में वेदान्त शब्द का प्रयोग सामान्यत शाकर वेदान्त के लिए ही समझना चाहिए।

२ "एवमेव स्थावरजगमात्मकस्य सर्वस्य वस्तुन ईश्वर शरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव स्वरूपसद्भाव इति, तत्प्रकारी ईश्वर एव तत्तच्छब्देनाभिधीयत इति"। वेदान्तसग्रह पृ० १७।

३. "तदेव नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्नप्रकृतिपुरुषशरीर ब्रह्म कारणावस्थम्, जगतस्तदापत्तिरेव प्रलय। नामरूपविभागविभक्तस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीर ब्रह्म कार्यावस्थम्, ब्रह्मणस्तथाविधस्थूलभाव एव सृष्टिरित्युच्यते।" वेदार्थसग्रह, पृ० १७-१८।

अभेद तीनो को स्वीकार करता है । ब्रह्म, जीव और प्रकृति—इन तीनो की तात्त्विक सत्ता रहने के कारण भेद है । इस भेद के अश-अशी या विशेषण-विशेष्य के रूप मे रहने के कारण भेदो मे अभेद अर्थात् भेदाभेद है । किन्तु इस विशिष्ट सत्ता से भिन्न एव अतिरिक्त अन्य सत्ता के अभाव होने मे अभेद या अद्वैत भी है ।[1]

'रस' का स्वरूप

विशिष्टाद्वैत का प्रतिपाद्य 'रस' काव्य का रस न होकर दर्शन का रस है । वह ब्रह्म का पर्याय है, जिसे 'रसो वै स', 'आनन्दो ब्रह्म' आदि श्रुतियो से प्रतिपादित किया गया है । रामानुज ने इसी अर्थ मे 'रस', 'आनन्द', 'सुख' शब्दो का प्रयोग किया है ।[2]

रामानुज ब्रह्म को 'आनन्द-स्वरूप' एव 'ज्ञान-स्वरूप' मानते है, तथा आनन्द और ज्ञान दोनो शब्दो को एकार्थक भी प्रतिपादित करते है । सामान्यत लोग यह मानते है कि किसी वस्तु-विशेष के ज्ञान-विशेष मे आनन्द या सुख होता है, अत आनन्द ज्ञान का फल है । जैसे एक मधुर मोदक का रसना द्वारा आस्वादनात्मक ज्ञान उपभोक्ता को सुख, प्रीति या आनन्द देता है । किन्तु रामानुज को यह स्वीकार्य नही है । उनका कथन है कि जो मोदक का आस्वादनात्मक ज्ञान है, वही तो सुख है । अत रामानुज का सिद्धान्त है कि वही ज्ञान-विशेष आनन्द है जिसके द्वारा लौकिक लोग आनन्द को साध्य समझते है ।[3] इसी दृष्टि से रामानुज परमतत्त्व ब्रह्म को अनेकत्र 'ज्ञानानन्दैकरूप' कहते है ।[4] अत रामानुज का आनन्द ज्ञानात्मक है और ज्ञान आनन्दात्मक ।

आनन्द एव ज्ञान के विषय मे एक और प्रमुख दृष्टिकोण रामानुज सामने रखते है । ब्रह्म 'आनन्द-स्वरूप', 'ज्ञान-स्वरूप' भी है और आनन्द तथा ज्ञान रूप गुणो से युक्त भी ।[5] अर्थात् रामानुज की दृष्टि मे आनन्द एव ज्ञान आत्मा के स्वरूप भी है और गुण भी । यह बात ऊपर से परस्पर विरोधिनी-सी लगती है । किन्तु रामानुज वास्तव मे ज्ञान तथा आनन्द को आत्मा का स्वरूप-निरूपक धर्म ही मानते है । ब्रह्म 'आनन्द-स्वरूप' या 'ज्ञान-स्वरूप' है, इसका अर्थ यही है कि वह आनन्द एव ज्ञान का आधार है ।[6]

---

१ "किमत्र तत्त्व भेदोऽभेद उभयात्मक वा । सर्व तत्त्वम् । तत्र सर्वशरीरतया सर्वप्रकार ब्रह्मैव अवस्थितमित्यभेदोऽभ्युपेयते । एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचित्प्रकारनानात्वेनावस्थितमिति भेदाभेदौ । चिदचिदीश्वराणा स्वरूपस्वभाववैलक्षण्यादसकराच्च भेद ।" सर्वदर्शनसग्रह रामानुजदर्शन, पृ० ११० ।

२ " आनन्दो ब्रह्म इत्युच्यते । विषयायत्तत्वात् ज्ञानस्य,सुखरूपतया ब्रह्मैव सुखम् । तदिदमाह—रसो वै स , रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति इति ।" वेदार्थसग्रह, पृ० ४४ ।

३ "प्रीतिश्च ज्ञानविशेष एव । ननु च सुख प्रीतिरित्यनर्थान्तरम् , सुख च ज्ञानविशेषसाध्य पदार्थान्तरमिति लौकिका । नैवम्, येन ज्ञानविशेषेण तत् साध्यमित्युच्यते, स एव ज्ञानविशेषस्सुखम् ।" वही, पृ० ४४ ।

४ 'ज्ञानानन्दैकस्वरूप' । गीताभाष्य अवतरणिका, पृ० १ ।
'ज्ञानानन्दामलत्वैकस्वरूपम्' । वेदार्थसग्रह, पृ० ३ ।

५ "जीवात्मस्वरूप ज्ञानानन्दैकगुणम् ।" वेदार्थसग्रह, पृ० १ ।
"ज्ञानादिकल्याणगुणानन्त्यनिर्देशात् अपरिमितकल्याणगुणविशिष्ट पर ब्रह्म" । वही

६ "ज्ञानानन्दमात्रवाचि च ब्रह्मण स्वरूपनिरूपकधर्म मलप्रत्यनीकानन्दरूपज्ञानमेवेति ।" वही, पृ० २१ ।

ब्रह्म की आनन्द-रूपता एव आनन्द-गुणता दीप-ज्योति और दीप-प्रभा के उदाहरण से भी समझी जा सकती है। दीप-शिखा प्रभा का आधार है, इसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ज्ञान और आनन्द का आधार है।[1] प्रभा एक द्रव्य होते हुए भी दीप-शिखा के आश्रित शेष-रूप रहने के कारण गुण-रूप ही है, इसी प्रकार ज्ञान-आनन्द भी स्वय द्रव्य होकर द्रव्य-रूप आत्मा के गुण हो सकते है।[2] किसी द्रव्य के गुण होने के लिए आधेयता ही अपेक्षित है। आधारभूत पदार्थ वस्तुत द्रव्य है आधेय पदार्थ गुण।[3] इस प्रकार ज्ञान-आनन्द आत्मा के स्वरूप भी है, गुण भी। वस्तुत रामानुज के अनुसार आत्मा 'ज्ञान-मात्र' या 'ज्ञप्ति-मात्र' हो ही नही सकता। ज्ञान या ज्ञप्ति 'ज्ञा अवबोधने' धातु से निष्पन्न होते है, जो किसी कर्ता की एक सकर्मक क्रिया है।[4] अत ज्ञान-स्वरूप ओर आनन्द-स्वरूप कहने का भी अर्थ यही है कि ब्रह्म ज्ञान-आनन्द गुणो से विशिष्ट है।[5] अत रामानुज यह कहने की अपेक्षा कि ब्रह्म आनन्द है, यह अधिक उपयुक्त समझते है कि आनन्द ब्रह्म का धर्म है, ब्रह्म 'आनन्दि' है। आनन्द ब्रह्म का एक अनुकूल ज्ञान ही है

"आनन्दो ब्रह्मेति आनन्दमात्रमेव ब्रह्मस्वरूप प्रतीयत इति यदुक्त, तज्ज्ञानाश्रयस्य ज्ञान स्वरूपमिति वदतीति परिहृतम्। ज्ञानमेव ह्यनुकूलमानन्द इत्युच्यते। विज्ञानमानन्द ब्रह्मेत्यानन्दरूपमेव ज्ञान ब्रह्मेत्यर्थ। अतएव भवतामेकरसता। अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव ज्ञातत्व-मपि श्रुतिशतसमधिगतमित्युक्तम्। तद्वदेव 'स एको ब्रह्मण आनन्द', 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्' इति व्यतिरेकनिर्देशाच्च नानन्दमात्र ब्रह्म, अपि तु आनन्दि। ज्ञातृत्वमेव ह्यानन्दित्वम्।"[6]

यह 'ज्ञानानन्दस्वरूपता' तथा 'ज्ञानानन्दैकगुणता' रामानुज के अनुसार ब्रह्म तथा जीव दोनो मे ही होती है, स्वरूपत दोनो के ज्ञानानन्द अपरिच्छिन्न है।[7] किन्तु जीव के ज्ञानानन्द अविद्या के द्वारा सकुचित हो जाते है, अविद्या के दूर हो जाने पर पुन अपरिच्छिन्न रह जाते है।[8] इस प्रकार सकोच-विकास के शिकार हो सकते है। किन्तु ब्रह्म के ज्ञानानन्द पूर्ण, निर-तिशय, अनन्त एव सकोच-विकास से परे होते है। उन पर अविद्या का प्रभाव नही पडता।

---

१ "यथैकमेव तेजोद्रव्य प्रभाप्रभावद्रूपेणावतिष्ठते। । अस्यास्तु गुणत्वव्यवहारो नित्यतदाश्रयत्वतच्छेषत्वनिबन्धन।" श्रीभाष्य १।१।१, पृ० ६७।

२. "यथा हि मणिद्युमणिप्रभृति तेजोद्रव्य प्रभावद्रूपेणावतिष्ठमान प्रभारूपगुणाश्रय, स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्तमानत्वेन रूपवत्त्वेन च प्रभा द्रव्यरूपापि तच्छेषत्वनिबन्धनगुणव्यवहारा। एवमयमात्मा स्वप्रकाशचिद्रूप एव चैतन्यगुण"। सर्वदर्शनसग्रह रामानुजदर्शन पृ० ९८-९९।

३ इडियन फिलासफी डा० राधाकृष्णन् पृ० ६७८, भा० २।

४ वेदार्थसग्रह, पृ० ७। "ज्ञा अवबोधने इति सकर्मक सकर्तृक क्रियाविशेष' क्रिया तद्व्यावर्तक-स्वभावविशेषश्च प्रकृत्यावगम्यते, प्रत्ययेन लिंगसख्यादय।"

५ "ज्ञानेन धर्मेण स्वरूपमपि निरूपितम्, न तु ज्ञानमात्र ब्रह्मेति। । ज्ञानस्य धर्ममात्रत्वाद् धर्म-मात्रस्यैकस्य वस्तुत्वप्रतिपादनानुपपत्तेश्च। अत सत्यज्ञानादिपदानि स्वार्थभूतज्ञानादिविशिष्टमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्ति।" वेदार्थसग्रह, पृ० ६।

६. श्रीभाष्य १।१।१, पृ० ७६।

७ "जीवस्वरूप देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषरूपनानाविधभेदरहित ज्ञानानन्दैकगुणम्। तस्यैतस्य कर्म-कृतदेवादिभेदेऽपध्वस्ते स्वरूपभेदो वाचामगोचर स्वसवेद्य, ज्ञानस्वरूपमित्येतावदेव निर्देश्यम।" वेदार्थसग्रह, पृ० १।

८ वही, पृ० ११।

अविद्या अद्वैतवाद के समान ब्रह्म के स्वरूप को ही तिरोहित करने वाली कोई शक्ति नही मानी गयी, अपितु जीव के ज्ञानानन्द को सकुचित कर देने वाली कर्ममयी शक्ति है।[1] इस कर्म-रूपा अविद्या मे जीव का गुण-रूप ज्ञानानन्द ही सकुचित होता है, न कि स्वरूप। अत अणु जीव की अपरिणामिता भी बनी रहती है।[2]

विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार मुक्त जीवो की दो कोटिया मानी गयी है। एक तो वे मुक्त जीव होते है जो कर्म-रूपा अविद्या से मुक्त होकर ज्ञानानन्द-स्वरूप रह जाते है, और अपने अपरिच्छिन्न ज्ञानानन्द का अनुभव करते है। किन्तु उनका यह ज्ञानानन्द निरतिशय एव अनन्त नही होता। निरतिशय, परिपूर्ण आनन्द की अनुभूति वे ही मुक्त जीव कर पाते है जो वैकुण्ठवासी शेष-शायी भगवान् नारायण के परिकर मे सम्मिलित होकर परम प्रीतिपूर्वक अपनी शेषता की अनुभूति करते है।[3] अत विशिष्टाद्वैतवाद का परम प्राप्य रस वही निरतिशय आनन्द है जो ब्रह्म का स्वरूप-निरूपक धर्म है। वही निरतिशय एव अनन्त है।

रामानुज ने इस आध्यात्मिक आनन्द और लौकिक आनन्द का अन्तर भी स्पष्ट किया है। प्रत्येक आनन्द या सुख ज्ञानात्मक होने के कारण ज्ञान के विषय पर निर्भर करता है। लौकिक विषयो से सम्पर्क होने पर जो सुख जीव को मिलता है, वह इसीलिए अस्थिर और अल्प होता है कि उसके विषय अल्प एव अस्थिर होते है। वस्तुत ब्रह्म को छोडकर कोई वस्तु स्वरूपत न सुखात्मक है, न दु खात्मक। ब्रह्म स्वरूपत सुखात्मक है, किन्तु लौकिक विषय जीवो के कर्म के सम्पर्क से सुखात्मक या दु खात्मक हो जाते है, इसीलिए कर्म के क्षीण हो जाने पर भोक्ता जीवो की उनके विषय मे सुखात्मकता या दु खात्मकता भी समाप्त हो जाती है।[4] और इस लौकिक सुख या दु ख को जीवो के कर्म के अनुरूप देने वाला परमेश्वर ही है, मीमासा के समान माना हुआ कोई बीच का तत्त्व अपूर्व आदि नही।[5]

यह स्थिर, अनन्त, निरवधिकातिशय आनन्द ही जीवो का परम प्राप्य है। इस परम सुख को प्राप्त कर जीव परम सुखी बनता है। परमात्मा स्वय परम सुख रूप है, और परम भक्त जीवो को वही इस अपने परम सुख को वितरित करके सुखी बनाता है। वह अपने ही पूर्ण सुख से सुखी है, और उसके कृपा-पात्र भी उसके सुख से सुखी हो जाते है। इस प्रकार ब्रह्म जिसके ज्ञान का विषय बन जाता है वही आनन्दी हो जाता है

"एवविधसुखरूपज्ञानस्य विशेषकत्वम्, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य वस्तुन सातिशयमस्थिर च, ब्रह्मणस्तु अनवधिकातिशय स्थिर चेति 'आनन्दो ब्रह्म' इत्युच्यते विषयायत्तत्वात् ज्ञानस्य। सुख-रूपतया ब्रह्मैव सुखम्। तदिदमाह—'रसो वै स', 'रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति ब्रह्मैव सुखमिति ब्रह्म लब्ध्वा सुखी भवतीत्यर्थ। परमपुरुष स्वेनैव स्वयमनवधिकातिशयसुख

---

१ "अस्माक चाविद्यारूपेण कर्मणा स्वरूपनित्यधर्मभूतज्ञानप्रकाश सकुचित", "आत्मधर्मभूतस्य चैतन्यस्य स्वाभाविकस्यापि कर्मणा पारमार्थिक सकोच विकास च ब्रुवता सर्वमिद परिहृतम।" वही, पृ० ११।

२ वही, पृ० ११।

३ इण्डियन फिलासफी डा० राधाकृष्णन् भा० २, पृ० ७११।

४ "अत कर्मकृतमेव परमपुरुषव्यतिरिक्तविषयाणा सुखत्वम्, अतएव तेषामस्थिरत्वम् ... परमपुरुषस्यैव सुखत्वम्, अत तदेव स्थिरमनवधिकातिशय च।" वेदार्थसग्रह, पृ० ४५।
"ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य ... अत कर्मावसाने तदपैतीत्यर्थ।" वही, पृ० ४५।

५ वही, पृ० ३६ तथा ३३।

सन् परस्यापि सुख भवति, सुखरूपत्वाविशेषात् । ब्रह्म यस्य ज्ञानविषयो भवति स सुखी भवतीत्यर्थ ।"[1]

रामानुज का यह आनन्द-स्वरूप ब्रह्म शकर के आनन्द-स्वरूप ब्रह्म के समान निर्गुण एव निर्विशेष नही है, सविशेष एव सगुण है, इतना ही नही वह दिव्य रूप, दिव्य आकृति, एव दिव्य वैभव मे भी परिपूर्ण है । इस प्रकार रामानुज का आराध्य ब्रह्म अनन्त कल्याण गुणो मे विशिष्ट नारायण पुरुषोत्तम भी है । उनके इस ब्रह्म स्वरूप मे, जैसा कि डा० राधाकृष्णन् ने प्रतिपादित किया है, वेद-आगम-पुराण और प्रबन्धम् का समन्वय हुआ है ।[2] इस प्रकार मुक्त जीव के द्वारा की जाने वाली ब्रह्मानन्द की अनुभूति निर्विशेष एव अनुभूति मात्र न होकर सविशेष, सगुण, साकार सौन्दर्य की अनुभूति है । रामानुज का ब्रह्म वेद्य भी है, अनुभवनीय भी । उसमे दर्शन और भक्ति मिलकर एक हो गयी है ।

वस्तुत रामानुज के चिन्तन की एक विशिष्ट दिशा है । वे ज्ञान एव आनन्द को एक करके देख सके है । इसीलिए उनका ब्रह्म और जीवात्मा ज्ञानानन्दैक-रूप है । उस ब्रह्म का स्वरूप केवल सगुण ही नही, सविभूति एव स-रूप भी है । जीव के द्वारा उसकी अनुभूति मात्र सवेदनात्मक नही, साक्षात्कारात्मक भी है । उसकी इतिश्री साक्षात्कारात्मक ध्यान तक ही सीमित रहकर नही हो जाती, अपितु वैकुण्ठवासी नारायण की लीला का अग बनकर होती है । उसका 'रस' मात्र आध्यात्मिक नही, लीला-रस भी है । इस प्रकार रामानुज के चिन्तन की समस्त दिशाओ मे ज्ञान और आनन्द तथा ज्ञान एव आनन्द के उपकरणो एव परिस्थितियो की एकाकारता और समष्टि दृष्टिगोचर होती है । रामानुज के विशिष्टाद्वैत से प्रभावित भक्ति-साहित्य मे यह विशेषता प्रचुर मात्रा मे दिखायी पडती है । अत परमतत्त्व की कतिपय प्रमुख विशेषताए हमे यहा रामानुज की दृष्टि से समझ लेना उचित होगा ।

हम पीछे कह चुके है कि रामानुज का परमतत्त्व चिद्-अचिद्-विशिष्ट है । अचित् प्रकृति परिणामिनी है, और चित् अनेक अणु एव स्वरूपत अपरिणामी है । फिर भी चित् अणुओ के स्वरूप का परिणाम न होते हुए भी कर्म-रूपा अविद्या के सम्पर्क से ज्ञानानन्द गुणो का सकोच-विकास होता है । परमेश्वर इनकी उक्त दुर्बलताओ से रहित है । वह निरतिशय ज्ञानानन्द-स्वरूप है । ये दोनो तत्त्व परमात्मा के विशेषण है, परमात्मा विशेष्य है । चित् और अचित् की दो अवस्थाए होती है—एक सूक्ष्म कारणावस्था जिसमे उनके नाम-रूप अभिव्यक्त नही होते, दूसरी स्थूल जिसमे नाम-रूप व्यक्त होते है, यह कार्यावस्था है । वस्तुत ये विशेषण-रूपा अवस्थाए है । पहली मे ब्रह्म कारणावस्था मे होता है, दूसरी मे कार्यावस्था मे । दोनो प्रकार के तत्त्व भिन्न स्थिति रखते हुए भी अपने विशेष्य रूप ब्रह्म आधार तत्त्व पर ही आधारित है । वस्तुत ब्रह्म इनके उत्पत्ति, लय, विकास, सकोच आदि सभी परिणामो का नियन्ता है, ये नियाम्य हैं । अत ब्रह्म की विशिष्टता को कारण-कार्य-भाव, नियाम्य-नियामक-भाव, आधारा-धेय-भाव, अशाशी-भाव, शेष-शेषी-भाव, शरीर-शरीरी-भाव आदि के परिप्रेक्ष्य मे ही समझना चाहिए । जिस प्रकार जीव का ऐन्द्रिय शरीर सूक्ष्म और पाच-भौतिक शरीर स्थूल होता है, उसी प्रकार ब्रह्म के लिए जीव सूक्ष्म शरीर है, प्रकृति स्थूल शरीर । और इस दृष्टि से जीव

---

१ वेदार्थसग्रह, पृ० ४४ ।

२ इडियन फिलास्फी डा० राधाकृष्णन् पृ० ६८६, भा० २ ।

भी ब्रह्म ही है,[१] जगत् के घट-पटादि समस्त स्थूल पदार्थ भी ब्रह्म ही है ।[२] इतना ही नही, तत्त्व-दर्शियो की दृष्टि मे सभी शब्द, जैसे घट-पट आदि, इसी ब्रह्म को अभिधा से ही बताते है ।[३] श्रुतियो के 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' आदि नाना प्रतिपादक शब्द भी सामानाधिकरण्य से इसी विशिष्ट ब्रह्म को बताते है ।[४] रामानुज के अनुसार सामानाधिकरण्य का अर्थ है अनेक विशेषणो का आधार किसी एक विशेष्य का होना ।[५] और, इस विशेषणता के लिए यह अपेक्षित नही कि विशेषण-भूत वस्तु अनिवार्यत गुण ही हो। जाति गुण, द्रव्य सभी किसी विशेष्य के विशेषण हो सकते है ।[६] विशेष्यता का अर्थ यही है कि वस्तु नियन्तृतया आधार हो । चित् तथा अचित् तत्त्वो के लिए ब्रह्म ऐसा ही विशेष्य है । वह अशी है, शेषी है, कारण है, शरीरी है, नियन्ता है, एक शब्द मे 'विशिष्ट' है । उसकी निर्विशेषता की कल्पना करना, जैसी की शकर ने की है, रामानुज के अनुसार सर्वथा मूर्खतापूर्ण है ।

यह विशिष्ट ब्रह्म तत्त्व एक ओर तो समस्त हेय दोषो से शून्य है, दूसरी ओर अनन्त कल्याण गुणो से युक्त । इस प्रकार उसकी विशिष्टता चिदचिद्विशिष्टता तक ही सीमित नही, असख्य-कल्याण गुणो की विशिष्टता के रूप मे भी आती है।

जहा इस परमतत्त्व मे रामानुज ने सत्य-सकल्पता, सत्य-कामता, सर्वेश्वरता, नियन्तृता, अन्तर्यामिता आदि अनन्त कल्याण गुणो की कल्पना की है, वहा उसमे अपार करुणा की भी सम्भावना की है । शकर के ब्रह्म के समान भक्तो का परमाराध्य निर्हृदय हो ही नही सकता, इसीलिए रामानुज ने भक्तो की भावना के अनुरूप उसमे इस श्रेष्ठ कल्याण गुण करुणा को भी प्रतिष्ठित किया है ।[७] रामानुज ब्रह्म के द्वारा सृष्टि की रचना के मूल मे दो ही बाते मानते है—लीला और उपकार ।[८] विश्व का सर्जन, पालन, विलयन उनकी लीला है । बैकुण्ठ मे रह कर अपने समस्त परिकर के साथ अपने ही आनन्द मे मग्न रहना भी उनकी लीला है । यह लीला उनके लिए एक 'रस' है ।[९] और, उनकी कृपा से ही परम भक्त जीव इस लीला-रस का अनुभव करता है ।[१०] सृष्टि के सर्जन मे दूसरा हेतु है उपकार का । इसी उपकार-भावना से

---

१ "जीवात्मा तु ब्रह्मण शरीरतया प्रकारत्वात् ब्रह्मात्मक "। वेदार्थसग्रह, पृ० ४ ।

२ वही, पृ० ४ ।

३ वही, पृ० ४-५ ।

४ श्रीभाष्य १।१।१ ।

५ "भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताना शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्ति सामानाधिकरण्यम" वही, पृ० ६ ।

६ "जातिर्वा, द्रव्य वा, गुणो वा, न तत्रादर । कञ्चन द्रव्यविशेष प्रति विशेषणतयैव यस्य सद्भाव , तस्य तदपृथक्सिद्धे तत्प्रकारतया तत्सामानाधिकरण्येन प्रतिपादन युक्तम् ।" वही, पृ० १६ ।

७ श्रीरग-गद्य, पृ० १७९ ।

८ "ज्ञानानन्दामलत्वैकस्वरूपमपरिच्छेद्यमाहात्म्य पर ब्रह्मैव स्वलीलायै स्वसकल्पमात्रत विचित्र-स्थिरत्रसरूपजगत्सस्थान स्वाशेनावस्थितमिति" । वेदार्थसग्रह, पृ० ३ ।

"प ब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य निखिलजगदुपकाराय स्वेच्छया स्वेनैव रूपेण देवादिष्ववतार,—अस्य देवादि-रूपेणावतारेष्वपि न प्राकृतो देह ।" वही, पृ० ३१ ।

९ "परस्य ब्रह्मण सर्वत्रान्तर्यामितयावस्थितस्यापि न दोषगन्ध सभवति, अपि तु सर्वनियमनरूपलीलारस एव ।" श्रीवेदान्तदीप ३।२।३२५ ।

१० "तथा मुक्तोपि लीलाप्रवृत्तेश्वरसृष्टै पितृलोकादिभिर्लीलारस भक्ते ।" वही, ४।४।५३६ । पृ० १२७ ।

प्रेरित होकर परब्रह्म-स्वरूप परमात्मा अवतार धारण करते है।[१] इसी से प्रेरित होकर वे भक्तो को अपनी ओर लगाते है। वस्तुत यह उपकार-भावना करुणा ही है।

विशिष्टता एव सगुणता के अतिरिक्त रामानुज ने ब्रह्म की साकारता की कल्पना भी की है। इसीलिए वह ब्रह्म होते हुए भी 'पुरुषोत्तम' भी है, उसमे दिव्य पुरुषता भी है। वह वैकुण्ठवासी शेष-शायी नारायण है। उनका शरीर भौतिक नही, सत्व रजस्, तमस् वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति से भी बना नही, वह शुद्ध सत्त्व का है। विशिष्टाद्वैतवाद मे 'अचित्' तत्त्व को तीन रूपो मे माना गया है—त्रिगुणात्मिका प्रकृति, काल और विशुद्ध सत्त्व।[२] यह विशुद्ध सत्त्व प्रकृति के गुण सत्त्व से भिन्न, मात्र सत्त्व है। भगवान् वासुदेव का विग्रह, वैकुण्ठ मे प्रविष्ट भक्तो का विग्रह एव स्वय वैकुण्ठलोक इसी विशुद्ध सत्त्व के होते है।[३]

वैकुण्ठवासी भगवान् पुरुषोत्तम का रूप दिव्य है। उसका सौन्दर्य, उसका लावण्य, उसका सौकुमार्य, औज्वल्य, यौवन सभी कुछ अचिन्त्य, दिव्य एव अद्भुत है। वे अनेक दिव्य आभूषण धारण किये रहते है। किरीट, मुकुट, चूडा, अवतस, कुण्डल, हार, केयूर, कटक, श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि, मुक्ता-दाम, पीताम्बर, काचीगुण, नूपुर आदि अनेक ऐसे दिव्य आभूषण, जिनका सौन्दर्य नित्य निरवद्य और निरतिशय है, उन्होने धारण किये हुए है। शख, चक्र, गदा शार्ङ्ग—अनेक दिव्य आयुध, और वैजयन्ती वनमाला से वे शोभित है। नित्य सौन्दर्यमयी श्री उनके पार्श्व मे है। विष्वक्सेन, गरुड प्रभृति नाना कृपापात्रो के द्वारा उनके चरण-युगल सेवित किये जाते है। इस प्रकार वैकुण्ठ के अचिन्त्य, निरतिशय, अद्भुत, दिव्य वैभव मे भगवान् विष्णु की कल्पना रामानुज ने लगभग अपने सभी ग्रन्थो मे उपस्थित की है।[४] उनके इसी लीला-परिकर मे वे कृपापात्र मुक्त जीव भी सम्मिलित हो जाते है जो अपनी परम-भक्ति मे वहा के अधिकारी हो चुकते है। ये ही इस लोक के निरतिशय आनन्द की अनुभूति करते है।

रामानुज का यह पुरुषोत्तम दिव्य व्यक्तित्व से सम्पन्न ही नही, बहुत कुछ व्यक्तिगत (Personal) भी है। वह अपारकरुणाम्बुधि है, प्रणतार्तिहर है, आपत्सखा है। अपने आश्रितो के प्रति उसमे उमडता वात्सल्य है, विपन्नो के प्रति करुणा है, प्रपन्नो के प्रति प्यार।[५] वह 'भक्तजनसश्लेषैकभोग' भी है।[६] अपने प्रिय भक्तो के साथ मिलकर स्वात्मानन्द का भोग उसकी लीला है, जिसके रस का वह स्वय भी रसिक है।

रामानुज ने दर्शन-सवेद्य ब्रह्म को पुरुषोत्तम नारायण के रूप मे वैकुण्ठ मे ही प्रतिष्ठित नही किया, वैकुण्ठ और मर्त्य लोको के बीच की खाई को भी पाटा है। दर्शन का अन्तर्यामी और वैकुण्ठ का वह नारायण आश्रितो के वात्सल्य मे विवश होकर जगत् के प्रति उपकार की

---

१ "स भगवान् पुरुषोत्तम सर्वेश्वरो जगदुपकृतिमर्त्य आश्रितवात्सल्यविवश." श्रीगीताभाष्य अवतरणिका, पृ० २।

२ इण्डियन फिलासफी डा० राधाकृष्णन्, पृ० ६७९, भा० २।
तत्त्वमुक्तावली १।६ तथा १।७, उद्धृत—सर्वदर्शनसग्रह, पृ० ११०।

३ इण्डियन फिलासफी डा० राधाकृष्णन्, भा० २, पृ० ७११।
वेदार्थसग्रह, पृ० ३१।

४ श्रीवैकुण्ठगद्य, श्रीरगगद्य, शरणागतिगद्य, वेदार्थसग्रह, पृ० ४० आदि।

५ श्रीरगगद्य, पृ० १७८। शरणागतिगद्य, पृ० १७४।

६ श्रीगीताभाष्य अवतरणिका, पृ० २।

भावना से मर्त्य लोक मे अवतरित होता है।[1] रामानुज ने ब्रह्म के पाँच रूपो की कल्पना की है— अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म, अन्तर्यामी।[2] अर्चा प्रतिमादि वाला रूप है। विभव अवतार वाला। व्यूह के चार प्रकार माने गये है—वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध। चोथा रूप 'सूक्ष्म' है। यह वैकुण्ठवासी भगवान् नारायण का है जिसकी चर्चा अभी ऊपर की गयी है। इसे ही 'वासुदेव' परब्रह्म कहा गया है। यही रूप मुक्त परम भक्तो का प्राप्य है। भक्तो का यही 'रस' है। अगला रूप 'अन्तर्यामी' है, यह चिदचिद् का नियामक है। यह रूप दर्शन-सवेद्य है। रामानुज ने इन पाचो रूपो को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माना है, अर्थात् साधक अपनी उत्तरोत्तर साधना से इन रूपो के दर्शन पाता है।[3] रामानुज ने इन रूपो की प्रेरणा पाचरात्र सहिताओ मे ली है।

यही विशिष्ट, सगुण, लीलामय, ज्ञानान्द-स्वरूप, ज्ञानानन्दैकगुण, अन्तर्यामी, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव रामानुज के दर्शन का प्रतिपाद्य रस तत्व है।

रामानुज के इस 'रस-तत्त्व' के विषय मे निम्न बाते हमारे समक्ष आती है—

१ 'रस' परमात्म तत्त्व ब्रह्म का पर्याय है, परम तत्त्व 'रस-स्वरूप' है।

२ 'रस' वस्तुत ब्रह्म का स्वरूप नही, उसका स्वरूप-निरूपक धर्म है। वह स्वय आनन्द नही, आनन्द-गुण से युक्त है। उसका यह आनन्द निरतिशय-निरवधिक है।

ब्रह्म के इस आनन्द गुण को, जो वस्तुत ज्ञान का पर्याय ही है, परम भक्त जीव अनुभव करता है।

३ परम तत्त्व नारायण लीलामय प्रभु है। वह चिदचिद्-मय विश्व के सर्जन-निमीलन की लीला करता है। इस लीला मे वह रसास्वादन करता है। इस प्रकार वह अपने ही 'लीला-रस' का भोक्ता है।[4] अपने भक्तो के साथ घुल-मिल जाना उस भक्तवत्सल का भोग है।[5]

४ रसास्वादन करने वाले भक्त की दृष्टि से वास्तविक रस है उस शेषी के शेष रूप मे अपनी सच्ची स्थिति के परिज्ञान के साथ नित्य कैंकर्य की अनुभूति। भक्त जीव का यह चरम दास्य भाव है, जो रत्यात्मक है। यह रति अपने शेषी परमेश्वर के प्रति है। इसमे अपने शेषी के प्रति अपनी शेषता का ज्ञान भी है, और उसके प्रति गहरी अनुरागानुभूति भी। अत यह रति ज्ञान और अनुभूति का घोल है। इसे रामानुज 'अशेषशेषतैकरतिरूप नित्य कैंकर्य'[6] कहते है, और इस स्थिति को ही भक्त की एकरसात्मता बताते है।[7]

इस प्रकार रामानुज का 'रस' परम भक्त जीव की अपने आराध्य शेषी परमात्मा के प्रति अशेष-शेषतामयी नित्य कैंकर्य की रत्यात्मिका अनुभूति है जिसमे शेषी परमात्मा के

---

१ श्रीवैकुण्ठगद्य, पृ० १७८।

२ सर्वदर्शनसग्रह, पृ० ११५-११६।

३ वही, पृ० ११६।

४ "परस्य ब्रह्मणः सर्वत्रान्तर्यामितयावस्थितस्यापि न दोषगन्ध सम्भवति, अपितु सर्वनियमनरूपलीला रस एव।" श्रीवेदान्तदीप, पृ० ७७, ३।२।३२५।

५ "भक्तजनसश्लेषैकभोगस्य"। श्रीवैकुण्ठगद्यम्, पृ० १७८।

६ "तदनुभवजनितानवधिकातिशयप्रीतिकारिताशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिरूपनित्यकिंकरो भवानि"। श्रीरगगद्यम, पृ० १७७।

७ प्रबुद्धनित्यनियाम्यनित्यदास्यैकरसात्मस्वभावोऽहम्"। श्रीरगगद्यम्, पृ० १७७।
"भगवानेव स्वनियाम्यस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिस्वशेषतैकरसेन अनेनात्मना।" नित्यग्रन्थ, पृ० १८४।
" नित्यदास्यैकरसात्मस्वभावानुसन्धानपूर्वक "। श्रीरगगद्यम्, पृ० १७७।

निरतिशयनिरवधिक आनन्द का आस्वादन भक्त को होता है।

'रस' का आस्वादन-कर्ता

रामानुज के इस रस तत्त्व का आस्वादयिता परम भक्त जीव है। जीव स्वरूपत निर्मल ज्ञानानन्दस्वरूप और ज्ञानानन्दैकगुण है। उसका ज्ञान भी स्वरूपत अपरिच्छिन्न है। वह भी ब्रह्म का सूक्ष्मशरीर-स्थानीय होने के कारण ब्रह्म ही है।[1] उसमे भी सत्यसकल्पता, सत्यकामता आदि के गुण विद्यमान है, हा, ससार-दशा मे उसकी सकल्पता परम पुरुष परमात्मा की सकल्पता से तिरोहित रहती है, अत उसके सकल्प मे सर्जन की क्षमता नही होती।[2] वस्तुत वह अणु एव परमात्मा का नियाम्य है। वह एक शेषी सत्ता का शेष है, अशी का अश है, विशेष्य का विशेषण है। वह परमात्मा का शरीर स्थानीय है, जिसका सच्चा आत्मा परमेश्वर है। वह कर्म-रूपा अविद्या के प्रभाव मे आ जाता है, जिससे उसका ज्ञान और आनन्द सकुचित हो जाता है।[3] वह कर्म-चक्र मे पडकर नाना योनियो मे सुख-दुखो का भोग करता है, अनेक प्रकार के शरीर पाता है। सासारिक दुखो का एक ही कारण है—कर्म-रूपा अविद्या के फलस्वरूप पाये हुए शरीरो मे आत्माभिमान। कर्म एव ज्ञान से सवलित भक्ति[4] द्वारा प्राप्त भगवत्कृपा से उसकी अविद्या का नाश हो जाता है, और वह अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान कर लेता है। उसकी वास्तविक स्थिति है एक शेषी का शेष होना। अपनी इस स्थिति के ज्ञान के साथ वह अपने शेषी के प्रति कैंकर्य की अनुभूति करता हुआ उसके आनन्द मे आनन्दित होता है। उसका अपना ज्ञानानन्द स्वरूपत अपरिच्छिन्न होते हुए भी निरतिशय नही होता, अविद्या से प्रभावित हो सकता है। वह स्वरूपत अविकारी है, किन्तु उसके धर्म ज्ञानानन्द सकोच-विकास के परिणामो को प्राप्त हो सकते है, होते है। मुक्त होकर वह यदि केवल अपने स्वरूप ज्ञान मे अवस्थित हो गया तो 'केवली' होकर अपने स्वरूपानन्द का अनुभव करता है, यदि परमा प्रीति के माध्यम से भगवान् की कृपा से उनके परिकर मे सम्मिलित हो सका तो 'नित्य-मुक्त' होकर भगवान् वासुदेव के निरतिशय आनन्द की अनुभूति करता है।[5] पर प्रत्येक दशा मे वह रहता परम सत्ता का एक प्रकार या विशेषण ही है। इस प्रकारात्मकता के रूप मे ही, अपनी पारमार्थिक स्थिति मे भी, उसका ब्रह्म से स्वरूप-भेद बना रहता है। हा, यह स्वरूपभेद भी, होता अद्वैत की परिधि मे ही है, अद्वैत विशिष्टता के रूप मे होता है। इस 'स्वरूपभेद' को रामानुज ने स्वसवेद्य और वाणी का अगोचर कहा है। अविद्या-मुक्त जीव शेष या विशेषण के रूप मे अपने इस स्वरूप-भेद को अनुभव करता है। और, इस स्वरूप-भेद के कारण ही समस्त जीव एक-दूसरे से भी भिन्न होते है

"जीवात्मस्वरूप देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषरूपनानाभेदरहित ज्ञानानन्दैकगुणम्।

---

१ "जीवात्मा तु ब्रह्मण शरीरतया प्रकारत्वात् ब्रह्मात्मक"। वेदार्थसग्रह, पृ० ४।

२ "जीवस्य सत्यसकल्पत्व स्वाभाविकमपि ससारदशाया परमपुरुषसकल्पात् तिरोहितमासीत न जीवस्य सत्यसकल्पमात्रेण। स्रष्टृत्वमुपपद्यते।" श्रीवेदान्तदीप, ३।२।३१५ पृ० ७५।

३ वेदार्थसग्रह, पृ० ११।

४ "परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया वेदान्तोदित ज्ञानकर्मानुगृहीत भक्तियोगमवतारयामास।" गीताभाष्य - अवतरणिका, पृ० १।

५. इण्डियन फिलासफी' डा० राधाकृष्णन्, पृ० ६९५, ७।

तस्यैतस्य कर्मकृतदेवादिभेदेऽपध्वस्ते स्वरूपभेदो वाचामगोचर स्वसवेद्य, ज्ञानस्वरूपमित्येतावदेव निर्देश्यम् । तच्च सर्वेषामात्मना समानम् ।"[1]

'रस' की उपलब्धि का साधन एव प्रक्रिया

निरतिशय निरवधिक परमानन्द की अनुभूति जीव को भक्ति के द्वारा ही सम्भव है । रामानुज के अनुसार 'परमा भक्ति' ही एकमात्र साधन है जिसके द्वारा जीव इस परम रस-तत्त्व का आस्वादन कर सकता है ।[2] भगवान् भक्त को निरतिशय एव अत्यर्थ प्रिय होने चाहिए, तभी भक्त भी भगवान् को अत्यर्थ प्रिय होगा । जहाँ उसका 'रस' भक्ति-प्राप्य है वहाँ दूसरी ओर उसकी कृपा भी अनिवार्यत अपेक्षित है । उपनिषद् मे भी कहा गया है—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्य ।" इस परम तत्त्व को वही पाता है जिसका यह स्वय वरण करता है । रामानुज की व्याख्या है कि प्रियतम ही वरणीय होता है । अत परमात्मा अपने प्रियतम का ही वरण करता है, और अपने निरतिशय आनन्द से उसे आनन्दी बनाता है । और, उनका प्रियतम तो वही हो सकता है जिसे भगवान् निरतिशय और अनवधिक रूप से प्रिय हो

"यमेवैष वृणुत इति भगवता वरणीयत्व प्रतीयते, वरणीयश्च प्रियतम, यस्य भगवति अनवधिकातिशया प्रीतिर्जायते, स एव हि भगवत प्रियतम ।"[3]

इसका अर्थ हुआ जीव को ब्रह्मानन्द की उपलब्धि उस ब्रह्म की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है, और उसकी कृपा निरतिशया भक्ति से ही मिल सकती है । इस प्रकार रामानुज की इस रसोपलब्धि मे भगवान् के प्रति प्रीति ही नही, भगवान् की प्रीति भी सम्मिलित है । और इसी भाव की पूर्णता के लिए रामानुज ने भक्त मे प्रपत्ति का तत्त्व अनिवार्यत अपेक्षित माना है ।[4] यह प्रपत्ति या शरणागति की भावना साधना-पथ की ओर उन्मुख होने के लिए, साधना-पथ पर चलने के लिए, और अन्त मे साध्य की उपलब्धि के लिए—सभी स्तरो पर अपेक्षित है । साध्य की सिद्धि हो जाने पर भी जीव को अपनी स्थिति की अनुभूति इस प्रपन्नता के रूप मे ही होती है । वह एक शेषी के शेष रूप मे अपनी स्थिति पाता है, उसके प्रति कैंकर्य की अनुभूति करता है, और अविरता प्रपत्ति के साथ परम आनन्द का आस्वादन करता है ।[5]

---

१ वेदार्थसग्रह, पृ० १ ।

२ "अनन्यप्रयोजनानवरतनिरतिशयप्रियविशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूपभक्त्यैकलभ्य" वेदार्थसग्रह, पृ० २३ ।
"तदुपासन साग तत्प्रापक" । वही, पृ० १६ ।
"परभक्तिरूपापन्नमेव वेदन तत्वतो भगवत्प्राप्तिसाधनम्" । वही, पृ० ४५ ।

३. वेदार्थसग्रह, पृ० ४५ । "परमपुरुष स्वेनैव स्वयमनवधिकातिशयसुखस्सन् परस्यापि सुखं भवति, सुखरूपत्वाविशेषात ।" वही, पृ० ४४ ।

४ शरणागतिगद्य, पृ० १७३-१७८ ।
"अशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकरूपनित्यकैंकर्यप्राप्त्यपेक्षया पारमार्थिकी भगवच्चरणारविन्दशरणागतिर्यथावस्थिता अविरताऽस्तु मे ।" वही, पृ० १७३ ।
"परमपुरुषचरणारविन्दशरणागतिजनिततदाभिमुख्यस्य" । वेदार्थसग्रह, पृ० २३ ।
"एतेषा ससारमोचन भगवत्प्रपत्तिमन्तरेण नोपपद्यते ।" वही, पृ० १६ ।

५ शरणागतिगद्य, पृ० १७३ ।

रामानुज की भक्ति ज्ञानरूपा है, मात्र प्रीति नही, उन्होने इस तथ्य का स्थल-स्थल पर प्रतिपादन किया है ।[1] परन्तु वह सामान्यत बौद्ध-ज्ञान नही, ज्ञान-विशेष है ।[2] केवल बौद्ध ज्ञान मेधा की क्रिया है, उसमे अनुराग का योग होने पर जो ज्ञान का विशेष रूप बनता हे वही भक्ति है

"भक्तिरूपापन्नोनुध्यानेनैव लभ्यते, न केवलवेदनमात्रेण, न मेधयेति निषिद्धत्वात् । यदा तस्य तस्मिन्नेवानुध्याने निरवधिकातिशया प्रीनिर्जायते तदैव तेन लभ्यने पर पुरुप ।[3]

इस प्रकार, रामानुज की भक्ति मे दो अश है—एक है वेदन का, दूसरा है प्रीति का । और, वे इस प्रीति को भी ज्ञान का ही एक विशेप रूप मानते हे

"भक्तिशब्दश्च प्रीतिविशेपे वर्तते । प्रीतिश्च ज्ञानविशेष एव ।"[3]

अपने बौद्ध पक्ष मे भक्ति ध्यान-रूपा है । यह ध्यान अनन्त कल्याण गुणो एव दिव्य रूप से विशिष्ट भगवान् की दर्शन-समानाकारा भावना है । यह क्षणिक नही, निरन्तर गिरती हुई तैल-धारा के समान चलने वाली अविच्छिन्न स्मृनि-सतति है

"ध्यान च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृनिसन्तानरूपम् ।"[4]

इसी निरन्तरता तथा साक्षात्कारात्मिकता के आधार पर रामानुज ने[5] इसे केवल 'ध्यान' या 'स्मृति' न कहकर 'अनुध्यान', 'अनुस्मृति' या 'ध्रुवा-स्मृति' कहा है ।

'ज्ञान-पक्ष' मे भक्ति जीव की अपनी स्थिति और स्वभाव तथा परमात्मा की स्थिति और स्वभाव की वास्तविकता की चेतना है । जीव स्वरूपत प्रकृति के विकारो से परे ज्ञानानन्दैकगुण हे । परमात्मा अनन्त कल्याण गुणो से विशिष्ट एव दिव्य रूप वाला हे । जीव और परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध शेष और शेषी का है । स्वभावत जीव नियाम्य हे, परमात्मा नियन्ता । इस स्थिति का वास्तविक परिज्ञान रामानुज की भक्ति के ज्ञान-पक्ष मे अपेक्षित है ।[6] यह वेदन का अश है ।

रामानुज का परम तत्त्व दिव्य-गुण-विशिष्ट ही नही, दिव्य-रूप तथा दिव्याकार भी है, यह हम पीछे जान चुके है । अत उनकी भक्ति के ज्ञान पक्ष मे ही सम्मिलित 'ध्यान' दर्शनात्मक है । 'ध्यान' अविच्छिन्न स्मृति-सन्तान रूप है, और 'स्मृति' दर्शनरूप । दर्शन मे दृश्य वस्तु की प्रत्यक्षात्मक अनुभूति होती है । स्मृति मे उसी की बिम्बात्मक उपस्थिति मन-पटल पर होती हे । भक्त की भावना की परिपक्वता से आराध्य की दर्शन-रूपता इस स्मृति मे

---

१ "शेमुपी भक्तिरूपा" । श्रीभाष्य वन्दनाश्लोक, पृ० ४८ ।
"भक्तिरपि निरतिशयप्रियानन्यप्रयोजनसर्वेतरवैतृष्ण्यावहज्ञानविशेप एव" । वेदार्थसग्रह, पृ० २३ ।
"भक्तिश्च ज्ञानविशेष एवेति सर्वमुपपन्नम् ।" वही, पृ० ४५ ।

२ वेदार्थसग्रह, पृ० २३ ।

३ वही, पृ० ४४ ।

४, श्रीभाष्य, पृ० ५३ ।

५ "भक्तिरूपापन्नानुध्यानेनैव लभ्यते" । वेदार्थसग्रह, पृ० २३ ।
"विशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूपभक्त्येकलभ्य " । वही, पृ० २३ ।
"एवरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते ।" श्रीभाष्य, पृ० ५३ ।

६ देहातिरिक्तात्मस्वरूप-तत्स्वभाव-तदन्तर्यामि-परमात्मस्वरूप-तत्स्वभाव " वेदार्थसग्रह, पृ० १ ।
"जीवात्मस्वरूप देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषरूपनानाविधभेदरहित ज्ञानानन्दैकगुणम ।"
वही, पृ० १ ।

सम्भव हो जाती है। इसलिए ठीक शब्दो मे स्मृति दर्शन-रूप न होकर 'दर्शनसमानाकार' होती है। इस दर्शनसमानाकारा स्मृति मे आत्म और परमात्म के स्वरूप और स्वभाव की चेतना के साथ अविच्छिन्नता एव ध्रुवता होती है, अत यह 'अनुस्मृति' या 'ध्रुवा स्मृति' है।[1] इसी दर्शनसमानाकारता के रूप मे भक्त को भगवान् का ध्यान मे सामीप्यलाभ होता है। इसी उप-आसन के आधार पर इस अनुस्मृति को 'उपासना' भी कहा गया है।[2]

इस प्रकार के गहरे अनुध्यान की स्थिति मे भी साधक भक्त और साध्य भगवान् के बीच अद्वैत स्थापित नही होता। वस्तुत भक्त मे अपनी और परमात्मा की स्वरूप और स्वभाव की पार्थक्य चेतना बनी ही रहती है। अपनी स्थिति के ठीक परिज्ञानपूर्वक इस पार्थक्य-ज्ञान को रामानुज आवश्यक समझते है

"पृथगात्मान प्रेरितार च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेतीति आत्मान प्रेरितार चान्तर्यामिण पृथक् मत्वा, तत पृथक्त्वज्ञानाद्धेतो, तेन परमात्मना जुष्ट अमृतत्वमेतीति साक्षादमृतत्वप्राप्तिसाधनमात्मनो नियन्तुश्च पृथग्भावज्ञानमित्यवगम्यते।"[3]

रामानुज की इस भक्ति मे जब पार्थक्य-ज्ञान के साथ प्रीति-सम्बन्ध की स्थापना है तो यह स्वाभाविक है कि आराध्य से किसी प्रकार का व्यक्तिगत सम्बन्ध भी जुड जाय। भक्ति कितनी ही ज्ञान-रूपा क्यो न हो, वह अन्तत एक व्यक्तिगत अनुभूति ही है। रामानुज की भक्ति मे आराध्य की गहरी महत्त्व-प्रतिष्ठा है। उस आराध्य के साथ स्वामित्व का, सुहृत्त्व का, गुरुत्व का कोई सम्बन्ध जोडा जा सकता है।[4] पर रामानुज मे सर्वत्र आराध्य की महत्त्व-स्वीकृति परिव्याप्त है। इसी कारण उनकी भक्ति-भावना मे सेवक-सेव्य-भाव पर भारी बल है।[5] उनके भक्त की एक ही कामना है, उस आराध्य की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सेवा।[6] यह सेवा किसी अन्य कामना-पूर्ति के हेतु नही, स्वय अपने मे ही फल है, अपने मे ही 'रस' है।[7] 'नित्य-दास्य' और 'नित्य-कैंकर्य' रामानुज की भक्तिभावना मे अनिवार्यत अपेक्षित है।[8] इसी लिए उनकी भक्ति न केवल ज्ञान-रूपा है, न केवल ध्यान-रूपा, न मात्र प्रेम-लक्षणा, वह 'सेवा' भी है।[9] प्रेम, ज्ञान, ध्यान, दर्शन, उपासना, सेवा और वैध कर्मकाण्ड का अनूठा घोल रामानुज की भक्ति-चेतना मे परिलक्षित होता है

---

१ "ध्यान च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपम्", "सेय स्मृतिर्दर्शनरूपा प्रतिपादिता", "दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्ति", "भवति च स्मृतेर्भावनाप्रकर्षाद् दर्शनरूपता।", "सा च स्मृतिर्दर्शनसमानाकारा।" श्रीभाष्य, पृ० ५३।

२ "उपासन स्याद् ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च, इति तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम्।" वही, पृ० ५३।

३ वेदार्थसग्रह, पृ० ७१।

४ "स्वामित्वेन सुहृत्त्वेन, गुरुत्वेन च परिगृह्य।" श्रीवैकुण्ठगद्य, पृ० १७८।

५ "नारायण ध्यानयोगेन दृष्ट्वा ततो भगवतो नित्यस्वाम्य, आत्मनो नित्यदास्य च यथावस्थितमनुसन्धाय।" वही, पृ० १८०।
"पुनरपि शेषभावमेव याचमान।" वही, पृ० १८०।

६ "माम् ऐकान्तिकात्यन्तिकपरिचर्याकरणाय परिगृह्णीष्व—इति याचमान प्रणम्य आत्मान भगवते निवेदयेत्।" वही, पृ० १८०।

७ श्रीगीताभाष्य अध्याय ६ श्लोक ४७।

८. श्रीरगगद्य, पृ० १७७।

९ "इयमेव भक्तिरूपा सेवा—वेदनशब्देनाभिधीयत इत्युक्तम्।" वेदार्थसग्रह, पृ० ४५।

जहा रामानुज ने भक्ति को ज्ञान से मिलाकर देखा है, वहा कर्म को भी नही छोडा है। उनका भक्ति-योग वस्तुत ज्ञान-योग और कर्म-योग से अनुगृहीत है।[1] इसीलिए कर्म-समुचित ज्ञान परम लक्ष्य का प्रापक है।[2] फिर भी, जैसे भक्ति अपने मे साध्य है, उसी प्रकार कर्म अपने मे साध्य नही। वह ध्रुवानुस्मृति-रूपा भक्ति का साधन-मात्र है

"एवरूपाया ध्रुवानुस्मृतेस्साधनानि यज्ञादीनि कर्माणीति"[3]

रामानुज के अनुसार अनादि अविद्या के प्रभाव से किये हुए कर्म भव-बन्धन मे डालने वाले है। फल-कामना से किय हुए भोग-लालसा से प्रेरित कर्मो का अनादि चक्र ही रामानुज की अविद्या है। ये कर्म पुण्य हो चाहे पाप। उभय प्रकार के कर्म होते ज्ञान-विरोधी ही है। ये रजस् और तमस् को बढाने वाले होते है। जीव इनसे सुख और दु ख परिणाम रूप मे पाता है, और इन्ही की ओर आकृष्ट होता है। भव की ओर उन्मुख करने वाले उभय-विध कर्म ज्ञानी के लिए पाप-रूप ही है। ज्ञान के उदय के लिए इन उभय-विध कर्मों को छोडना अपेक्षित है। इनके छोडने का अर्थ है इनके प्रति फलासक्ति का त्याग। फलानुसन्धान को छोडकर किये कर्तव्य कर्म सत्त्व को बढाते है और ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करते है। अत रामानुज ज्ञानोदय के लिए तथा भक्ति-पथ की ओर उन्मुख होने के लिए वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार वैध कर्तव्य कर्मों का किया जाना अनिवार्यत अपेक्षित मानते है।[4]

कर्म का वास्तविक उपयोग अविद्या-प्रवाह से उभरे रजस्-तमस् को शान्त कर सत्त्व का उद्रेक करने मे है। कर्म स्वय ज्ञान नही देता, पर 'विविदिषा' ज्ञान की इच्छा और क्षमता पैदा करता है। पर विविदिषा हो जाने पर और ज्ञान तथा भक्ति मार्ग पर बढ जाने पर भी रामानुज कर्मकाण्ड को यावज्जीवन उपादेय मानते है। यद्यपि सीधा कारण तो मुक्ति के लिए कर्म नही, तथापि ज्ञान-दीप को जागरित रखने के लिए वह प्रयाण-पर्यन्त अपेक्षित है।[5] इसी प्रकार विवेकादि भी अपेक्षित है।[6]

रामानुज की भक्ति के अगभूत कर्म-काण्ड मे श्रौत और स्मार्त दोनो प्रकार के कर्मों का बधान है। एक ओर मीमासा-प्रतिपादित यज्ञादि कर्मों की अपेक्षा है, स्मृतियो द्वारा प्रतिपादित वर्ण और आश्रमो की व्यवस्था के अनुसार कर्म अपेक्षित है, साथ ही दूसरी ओर पूजा-पाठ, छापा-तिलक, आचमन-तर्पण, गन्ध-पुष्प, आवहन-अभ्यर्चन आदि का साडम्बर मडान भी है।[7] रामानुज के भक्त को ध्यान, अर्चन, प्रणाम, स्तुति, कीर्तन आदि कर्म अत्यर्थं

---

१. "परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया वेदान्तोदित स्वविषय ज्ञानकर्मानुगृहीत भक्तियोगमवतारयामास।" श्रीगीताभाष्य अवतरणिका, पृ० १।

२ "तदपेक्षितम् च कर्मविज्ञानमेव, , कर्मसमुच्चितात् ज्ञानादपवर्गश्रुते।" श्रीभाष्य, पृ० ५१।

३ श्रीभाष्य, पृ० ५३।

४. "ज्ञानविरोधि च कर्म पुण्यपापरूपम्। ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिविरोधित्वेन अनिष्टफलतयोभयोरपि पापशब्दाभिधेयत्वम्। अस्य च ज्ञानविरोधित्व ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतशुद्धसत्त्वविरोधिरजस्तमोविवृद्धिद्वारेण। अतश्च ज्ञानोत्पत्तये पाप कर्म निरसनीयम्। तन्निरसन च अनभिलषितफलेनानुष्ठितेन कर्मणा। तदेव ब्रह्मप्राप्तिसाधन ज्ञान सर्वाश्रमकर्मापेक्षम्।" श्रीभाष्य, पृ० ५४।

५. "एवरूपाया ध्रुवानुस्मृतेस्साधनानि यज्ञादीनि कर्माणीति सर्वाण्याश्रमकर्माणि यावज्जीवमनुष्ठेयानि।" वही, पृ० ५३-५४।

६ "तल्लब्धिर्विवेकाभ्यास-क्रिया-कल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यस्सम्भवात्।" वही, पृ० ५४।

७. नित्यग्रन्थ, पृ० १८५-१८८।

प्रिय है, उतने ही प्रिय है जितना स्वय आराध्य प्रिय है। वह इनमे लीन होकर उतना ही आनन्द अनुभव करता है जितना प्रिय के सामीप्य लाभ मे करता है। उसका यह सब कर्म-जाल 'अनन्ययोग' है

"ये तु लौकिकानि देहयात्राशेषभूतानि देहधारणार्थानि चाशनादीनि कर्माणि, वैदिकानि च यागहोमतप प्रभृतीनि सर्वाणि सकारणानि सोद्देश्यानि अध्यात्मचेतसा मयि सन्यस्य, मत्परा — मदेकप्राप्या, अनन्येनैव योगेन—अनन्यप्रयोजनेन योगेन, मा ध्यायन्त उपासते-ध्यानार्चनप्रणाम-स्तुतिकीर्तनादीनि स्वयमेवात्यर्थप्रियाणि प्राप्यसमानि कुर्वन्तो मामुपासत इत्यर्थ ।"[1]

अनादि अविद्या के फलस्वरूप भोगोन्मुख जीव मे अपने शरीर और उसके द्वारा मिलने वाले सुख-दु खो मे आत्माभिमान होता है। इस भक्ति-गामी ज्ञानोद्बोधक कर्म-काण्ड से उसका यह आत्माभिमान छूटता है, और उसे अपने स्वरूप तथा स्वभाव और परमात्मा के स्वरूप तथा स्वभाव का ठीक-ठीक परिज्ञान होने का मार्ग खुल जाता है। वह अपने को एक शेषी सत्ता का शेष अनुभव करता है, उस शेषी सत्ता के प्रति गहरी अनुराग भावना का अनुभव करता है। ध्यान-योग से उसका साक्षात्कार करता है। उसे अपना आराध्य ही परम-प्रिय होता है, निरवधिक अनतिशय चरम सीमा तक प्रिय। तब वह करुणासागर प्रेम-मय प्रभु भी उस पर स्नेह-वर्षा करता है। वह स्वय आनन्दमय, 'रस-रूप' है, अपने आराधक भक्त को भी आनन्दमय बना देता है।

सक्षेप मे रामानुज के अनुसार उनके दर्शन द्वारा प्रतिपादित रस तत्त्व की उपलब्धि 'परम-भक्ति' द्वारा होती है। परम-भक्ति ही एकमात्र उसकी प्राप्ति का उपाय है। किन्तु उनकी भक्ति केवल प्रेम-लक्षणा नही है, वह ज्ञान-रूपा है। वह ज्ञान, प्रीति, ध्यान, दर्शन, उपासना, सेवा, कर्मकाण्ड, पूजा, वर्णाश्रम-धर्म, विवेक-वैराग्य सबकी चेतनाए लिए हुए है। एक शब्द मे कर्मयोग और ज्ञानयोग से अनुगृहीत भक्तियोग है। रामानुज की व्याख्याओ के अनुसार समस्त वेदान्त-वाक्य और गीतादि इसी का प्रतिपादन करते है।[2]

रसास्वादनकालीन अनुभूति

रामानुज के अनुसार श्रेष्ठ भक्तो की प्राप्य उपर्युक्त रसानुभूति मे विशुद्ध सत्त्व का उदय होता है। उनकी चेतना मात्र शुद्ध सत्त्व की होती है। उनका अपना स्वरूपात्मक ज्ञानानन्द तो आविर्भूत होता ही है, परमात्मा का निरवधिक अनतिशय ज्ञानानन्द भी उनका आस्वाद्य होता है। इन क्षणो का अनुभव एक वाक्य मे एक शेषी सत्ता के प्रति अशेषत शेषता की अनुभूति है। अपने नित्य कैंकर्य के साथ अशेष-शेषता की अनुभूति ही उसके लिए चरम रस है—वह 'स्वशेषतैकरस' होता है। यह अशेषशेषता नित्य कैंकर्य या चरम दास्य की अनुभूति ही है, जिसमे अपनी नियाम्यता तथा शेषी की नियन्तृता का परिज्ञान

---

१ श्रीगीताभाष्य अ० १२ श्लो० ६-७, पृ० ११०।

२. "अस्य जीवात्मनोऽनाद्यविद्यासञ्चितपुण्यपापरूपकर्मप्रवाहहेतुकब्रह्मादिसुरनरतिर्यक्स्थावरात्मकचतुर्विधदेह-प्रवेशकृततत्तदा माभिमानजनितावर्जनीय भवभयविध्वसनाय देहातिरिक्तात्मस्वरूप-तत्स्वभाव-तदन्तर्यामि-परमात्मस्वरूप-तत्स्वभाव-तदुपासन-तत्फलभूतात्मस्वरूपाविर्भावपूर्वकानवधिकातिशयानन्दब्रह्मानुभवज्ञापने प्रवृत्त हि वेदान्तवाक्यजातम् ।" वेदार्थसग्रह।

और अभेद—तीनो को समेटने वाली रामानुज की प्रक्रिया से समझौता नही कर पाते। वे स्पष्टत 'भेदवाद' के समर्थक है।[1]

मध्व के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् तीनो मे तात्विक भेद है। वे 'भेद' को पाँच रूपो मे स्वीकार करते है[2]

१ ब्रह्म और जीवो मे भेद।

२ ब्रह्म और जड मे भेद।

३ जीवो मे परस्पर भेद।

४ जीवो और जड मे भेद।

५ जडो मे परस्पर भेद।

ये सभी भेद वास्तविक है, अत जीव मुक्त दशा मे भी ब्रह्म तथा अन्य जीवो से भिन्न ही रहते है।

यह प्रपचात्मक पचविध भेद मिथ्या नही। इसे जो मायामात्र कहा गया है, वह भी ठीक है। 'मायामात्र' की व्याख्या मध्व की अपनी है। माया उनके अनुसार ईश्वरी इच्छा ही है। 'मा' मान या परिज्ञान का द्योतक है, 'त्र' त्राण का। अत ईश्वरीय इच्छा माया के द्वारा परिज्ञात एव परित्रात होने के कारण यह प्रपच सत्य है।[3]

मध्व ने समस्त तत्त्वो को दो वर्गों मे बाटा है—स्वतन्त्र और परतन्त्र। परब्रह्म भगवान् विष्णु स्वतन्त्र है, जीव और प्रकृति-काल आदि परतन्त्र।[4]

परम तत्त्व विष्णु या वासुदेव स्वतन्त्र, समस्त दोषो से रहित, अखिल गुणो का आकर, एव नियामक है। वही 'आनन्दमय' है, वेद का प्रतिपाद्य है। वह जीवो का सेव्य एव प्राप्य है। उसी के प्रसाद से जीव उसको प्राप्त होकर आनन्द पाते है। ब्रह्मा, रुद्र, अग्नि, वायु आदि जितने भी नाम है, मध्व के अनुसार सभी विष्णु के वाचक है। वे इस सम्बन्ध मे भाल्लवेय श्रुति के इस वचन के अनुयायी है—"नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति त वै विष्णु परममुदाहरन्ति।"[5]

ब्रह्म और जीवो के बीच सेव्य-सेवक भाव पर मध्व ने अधिक बल दिया है। यह बात भी भेद की प्रतिष्ठापिका है। जीव को उसकी प्राप्ति बिना उसके अनुग्रह या प्रसाद की प्राप्ति के नही हो सकती। भगवत्प्राप्ति मे एकमात्र कारण उनकी कृपा को स्वीकार करके भी वह प्रसाद-प्राप्ति को अहैतुकी नही मानते। कर्म से, श्रवणादि से, तथा ज्ञान से भगवत्प्रसाद उपलब्ध हो सकता है। पहले का स्थान अवर, दूसरे का मध्यम, तीसरे का उत्तम है। श्रवण,

---

१ सर्वदर्शनसग्रह पूर्णप्रज्ञदर्शनम्, पृ० १२८।

२ "जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥
मिथश्च जडभेदो य प्रपचो भेदपचक॥" सर्वदर्शनसग्रह पू० प्र० द०, पृ० १४७।

३. "न चायमविद्यमान, मायामात्रत्वात्। मायेति भगवदिच्छोच्यते। । सैव प्रज्ञा मानत्राणकर्त्री च यस्य तन्मायामात्रम्। ततश्च परमेश्वरेण ज्ञा त्वाद्रवितत्वाच्च न द्वैत भ्रान्तिकल्पितम्।" स० द० स० पू० प्र० द०, पृ० १४०-१।

४ "स्वतन्त्र परतन्त्र च द्विविध तत्त्वमिष्यते।
स्वतन्त्रो भगवान् विष्णुर्निर्दोषोऽशेषसद्गुण॥" वही, पृ० १२८।

५ "ब्रह्मशब्दश्च विष्णावेव । इत्यादि।" वेदा० सू० भा० १।१।१।

मनन, ध्यान तथा भक्ति ज्ञानप्राप्ति के सर्वोत्तम साधन है। इस प्रकार भक्ति, श्रवणादि, सेवा[२] ज्ञान के साधन है। यह ज्ञान भगवान् के गुणोत्कर्ष का ज्ञान है।[3] अद्वैत या अभेद का ज्ञान नही। अभेद की कल्पना को तो मध्व अपराध-कोटि मे रखते है।[४]

"घातयन्ति हि राजानो राजाहमिति वादिन ।
ददत्यखिलमिष्ट च स्वगुणोत्कर्षवादिनाम् ॥"

साधन, भक्ति और ज्ञान के सोपानो से जीव भगवत्प्रसाद को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है, और भगवान् का सालोक्यादि प्राप्त करता है। मुक्ति मे भी वह तत्त्वत तो परमेश्वर से भिन्न ही रहता है। इस प्रकार मध्व तात्विक भेदवाद का प्रतिपादन करते है।

'आनन्द'

'आनन्द मध्व के अनुसार परब्रह्म विष्णु का 'गुण' है, स्वरूप नही। ज्ञान और आनन्द दोनो ही गुण-रूप मे स्वीकार किये गये है।[५] आनन्दमय विष्णु को ही कहा गया है। उसमे आनन्द की भूमता या प्रचुरता है, जिसका वाचक 'मयट्' प्रत्यय है।[६] यो तो 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' इत्यादि उपनिषद्-शब्दो मे ब्रह्म को आनन्दमय के अवयव-रूप मे दिखाया गया है, किन्तु वह बात उस प्रसग मे विशेष रूपक की दृष्टि से कही गयी है।[७]

मुक्त जीव भगवत्प्रसाद से उनके सालोक्यादि को पाकर 'आनन्दी' होते है, ब्रह्म-भोग्य गुणो का अनुभव करते है।[८] किन्तु मुक्तो के आनन्द-भोग मे भी मध्व तारतम्य और भेद स्वीकार करते है।[९] इसका कारण यही है कि वे जीवो की मुक्त दशा मे भी परस्पर भेद एव ब्रह्म-जीव भेद की चेतना स्वीकार करके चलते है।

'रस'

मध्व ने 'रसो वै स' श्रुति वाक्य मे 'रस-शब्द को ब्रह्म का पर्यायवाची न मानकर

---

१ "ना ायणप्रसादमृते न मोक्ष, न च ज्ञान िनात्यर्थप्रसाद" "श्रवण मनन चैव ध्यान भक्तिरतथैव च। साधन ज्ञानसम्पत्तौ प्रधान नान्यदिष्यते।" भाष्य १।१।१।

२. "सा च सेवा अकननामकरण भजनभेदात्त्रिविधा।" स० द० स०, पृ० १३७।

३ "प्रसादश्च गुणोत्कर्षज्ञानादेव, नाभेदज्ञानादित्युक्तम्।" स० द० स०, पृ० १४४।

४ वही, पृ० १३६।

५. "ज्ञानानन्दादिभि सर्वैर्गुणै पूर्णाय विष्णवे।
नमोऽस्तु गुरवे नित्य सर्वथातिप्रियाय मे॥" भाष्य ४।४।२३।

६ "तथापि न ते आनन्दमयशब्देनोच्यन्ते, किन्तु विष्णुरेव।" भा० १।१।१२।
"प्रचुरानन्दत्वाद् ह्यानन्दमय, न तु तद्विकारत्वात्।" भा० १।१।१३।

७ "तच्च "ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा" इत्यानन्दमयावयवरूप प्रतीयते, न ह्यवयविन विनावयवमाश्रय ज्ञेयतेऽत्याह आनन्देति।" भा० १।१।१२।

८ "ये भोगा परमात्मना भुज्यते त एव मुक्तैर्भुज्यन्ते। ।मुक्ता प्राप्य पर विष्णु तद्भोगाल्लेशत क्वचित्। बहिष्ठान् भुजते नित्य नानन्दादीन् कथचन।" भा० ४।४।४।

९ "सत्य आत्मा सत्यो जीव सत्य भिदा सत्य भिदा सत्य भिदा मैवारुवण्येन मेवारुवण्यो मैवारुवण्य इति मोक्षानन्दभेदप्रतिपादकश्रुतिभ्य।" स० द० स०, पृ० १३९।

विशेषण के रूप मे स्वीकार किया है। 'स' विशेष्य है, 'रस' विशेषण।[१] ब्रह्म के सन्दर्भ मे सत्, चित्, आनन्द तीन शब्दो की चर्चा चला करती है, जिनमे प्राय 'रस' शब्द को 'आनन्द' का पर्यायवाची प्रतिपादित किया गया है। किन्तु मध्व ने उसे 'चित्' के पर्याय के रूप मे दिखाया है

"रसो वै स, रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति इति रसशब्देन विशेषणात् तत्सारभूत चिन्मात्रमेवोच्यते।"[२]

जीव की आनन्दोपलब्धि

स्वरूपत जीव को मध्व ने बल, आनन्द, ज्ञान, ओज आदि धर्मो से युक्त माना है। वे इस सम्बन्ध मे गौपवन श्रुति की मान्यता स्वीकार करते हे

"बलमानन्द ओजश्च समज्ञानमनाकुलम्।
स्वरूपान्येव जीवस्य व्यज्यते परमाद् विभो॥"[३]

परमात्मा का आनन्द प्रचुर, असीम एव नित्य है। किन्तु जीव का बद्ध दशा मे तिरोहित हो जाने वाला तथा ससीम है। जीव के इस निजानन्द की अभिव्यक्ति भगवत्सा-निध्य से मुक्ति-दशा मे होती है। "व्यज्यते परमाद् विभो।" बद्ध दशा मे वह दुखी होता है, अज्ञानी होता है, अबल होता है। मुक्त दशा मे परमात्म-सम्पर्क से उसके ज्ञान-आनन्दादि धर्म व्यक्त हो जाते है

"जीवस्य ज्ञानानन्दादिरूपत्वमुच्यते। स दुखाद् विमुक्त आनन्दी भवति, सोऽज्ञानाद् विमुक्तो ज्ञानी भवति, सोऽबलाद् विमुक्तो बली भवति, स नित्यो निरातकोऽवतिष्ठत इति पैङ्गिश्रुतावानन्दादिरूपत्व प्रतीयते। अत आह—यथा बालस्य सदेव पुस्त्वयौवनेऽभिव्यज्यते, एव सतामेवानन्दादीना व्यक्त्यपेक्षया तदुक्ति।"[४]

इसी स्थिति को "रस ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दी भवति" ये श्रुति-वचन निरूपित करते है। हमने अभी देखा है कि मध्व ने रस' को चिदात्मक स्थिति कहा है। यह ज्ञान-दशा है। बद्ध दशा अज्ञान की होती है, जिसमे दुखादि का अवकाश होता है। पूर्ण चिदात्मक परमेश्वर को जो रस-रूप है 'रसो वै स' श्रुति जिसकी रस-विशिष्टता बताती है, प्राप्त कर मुक्ति-योगी जीव भी आनन्दी हो जाता हे, उसके स्वरूपात्मक आनन्द-ज्ञानादि गुणो या धर्मो की अभिव्यक्ति हो जाती है।

निम्बार्क दर्शन एव रस

द्वैताद्वैतवाद—निम्बार्क[५] का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद के नाम से

---

१. भाष्य. १।१।१६।
२. भाष्य १।१।१६।
३ मध्वभाष्य. २।३।३१।
४ वही, २।३ ३१, तथा डॉ० राधाकृष्णन् इण्डियन् फिलासफी, पृ० ७४३-४।
५ निम्बार्क का मूल नाम नियमानन्द था। एक निम्ब वृक्ष से आदित्य के दर्शन करा देने से उनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पडा। उनका समय १२वी शती का उत्तरार्ध है। भण्डारकर ने ११६२ ई० निर्धारित किया है। उनको नारद का शिष्य कहा जाता है। निम्बार्क सम्प्रदाय की परम्परा हसावतार से

प्रसिद्ध है। ब्रह्म और जीव मे तथा ब्रह्म और जगत् मे स्वरूपत भेद भी है, अभेद भी। जीव और जगत् ब्रह्म के ही अश है, ब्रह्म अशी है। अशी की सत्ता अशो से अतिक्रान्त भी होती है। अत ब्रह्म जीवरूप भी है, जगद्रूप भी, साथ ही इनसे अतिक्रान्त भी। जीवो तथा ब्रह्म मे स्वरूपत भेद है, अश ही तो अशी नही होता। यह भेद जीव की बद्धावस्था मे ही नही, मुक्तावस्था मे भी बना रहता है। किन्तु कोई भी अश अशी से स्वतन्त्र तथा सर्वथा भिन्न नही होता। इस प्रकार ब्रह्म जीव-जगत् से भिन्न भी है, अभिन्न भी। सक्षेप मे निम्बार्क के भेदाभेद का यही दृष्टिकोण है।

अशी सत्ता पर एक व्यापक दृष्टि रखकर निम्बार्क अद्वैत का ही प्रतिपादन करते है। अशी का प्रत्येक अश अशी से अभिन्न है, अशी ही है। इसी प्रकार जीव और जगत् भी मूलत ब्रह्म ही है। इन अर्थो मे उन्हे जीव-ब्रह्म और जगद्-ब्रह्म भी कह सकते हे। परम सत्ता को निम्बार्क निर्गुण और सगुण दोनो रूपो मे स्वीकार करते है। निर्गुण रूप 'अक्षर' है, सगुण 'ईश्वर'। इस प्रकार उनकी दृष्टि से ब्रह्म को चार रूपो मे युगपत् समझा जा सकता है—अक्षर, ईश्वर, जीव और जगत्।

१ **अक्षर ब्रह्म** ब्रह्म का मूल पारमार्थिक रूप सत्-चित्-आनन्द है। यह निर्गुण, नित्य आनन्दमयी स्थिति है। यह आनन्द पूर्ण, अनन्त एव पूर्ण चिदात्मक है। किन्तु इस आनन्द-स्थिति को निर्विशेष, अनुभवमात्र समझना चाहिए।

२ **ईश्वर ब्रह्म :** इस रूप मे ब्रह्म निर्गुण न होकर सगुण है। ईश्वर जगत् की सृष्टि-स्थिति-सहार का कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, विभु, समस्त अचिन्त्य शक्तियो का आधार एव विश्वरूप है। इस स्थिति मे उसमे अपने ही अश-रूप नानारूपी जगत् एव असख्य जीवो का समष्ट्यात्मक अनुभव समाविष्ट है। वस्तुत यह लीलार्थ व्यक्त अपने ही चित् और आनन्द के विभिन्न रूपो का पूर्णानुभव है। जगत् ब्रह्म के आनन्द तत्व का नाना-रूपी प्रकाशन है। असख्य जीव भी उसके चित् के असख्य अणु रूप अश है। 'ईश्वर' इन सब अनन्त रूपो के समग्रभाव का नित्य आनन्दात्मक अनुभव है।

३ **जीव ब्रह्म** असख्य जीव ब्रह्म की चिदात्मक विभु-सत्ता के ही अणु है। वे अग्नि के स्फुलिग या सूर्य की किरणो के समान है। अत ब्रह्म से अभिन्न ही है। इनकी दो अवस्थाए बद्ध और मुक्त होती है। बद्धावस्था मे चिदश विभिन्न मात्राओ मे विस्मृत एव विलुप्त रहता है, अत उद्भिज्ज स्वेदज, मनुष्य, देवता आदि के रूप मे अनेक-रूपी बद्ध जीव दिखाई पडते है। मुक्त जीवो की सर्वज्ञता पुन प्रकाशित हो जाती है। इस प्रकार जीवो की विभिन्न स्थितिया चित् या चैतन्य की विभिन्न स्थितिया ही है। समस्त जीव भी ब्रह्म ही है।

४ **जगत् ब्रह्म :** जगत् आनन्दात्मक ब्रह्म की नाना-रूपी अभिव्यक्ति ही है। "आनन्दाद्ध्येव इमानि भूतानि जातानि" इत्यादि श्रुतियो पर बल देकर जगत् को निम्बार्क-

---

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और नारद के साथ जोडी जाती है। इस सम्प्रदाय को निम्बार्क सम्प्रदाय, निम्बादित्य सम्प्रदाय, चतु सन सम्प्रदाय, तथा ऋषि सम्प्रदाय आदि नामों से पुकारा जाता हे। इस सम्प्रदाय का साहित्य बहुत विशाल नही हे। वेदान्त सूत्र पर निम्बार्क का एक सक्षिप्त भाष्य 'वेदान्तपारिजात-कौस्तुभ' तथा एक दश श्लोकों की सिद्धान्त प्रतिपादिका पुस्तक 'दश श्लोकी' उपलब्ध होती है। उनके भाष्य के साथ ही उनके साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य का 'वेदान्त-कौस्तुभ' नामक भाष्य भी मिलता है। एक केशवाचार्य की टीका भी मिलती है। यही प्रमुख प्राचीन साहित्य ह।

मत मे ब्रह्मात्मक एव ब्रह्म-विकार के रूप मे ही स्वीकार किया गया है ।

इस प्रकार ब्रह्म के चार रूप है,[१] जिनमे अक्षर और ईश्वर उसकी निर्गुण और सगुण स्थितिया हे, जीव और जगत् उसकी अश-स्थितिया । इस प्रकार की चिन्तन-धारा अपना कर निम्बार्क मूलत अद्वैत का ही प्रतिपादन करते है ।

किन्तु यह अद्वैत शकर के अद्वैत के समान नही है, जिसमे जीवो के भेद को सोपाधिक तथा जगत् की प्रतीति अनिर्वचनीय मिथ्यात्मक मानी गयी है । निम्बार्क की दृष्टि से तो जगत् और जीव उसी ब्रह्म की विभिन्न-रूपा अशात्मक स्थितिया है, अत परमार्थ सत् हे । साथ ही उनका द्वैत या भेद सोपाधिक या मायाकृत न होकर मौलिक एव पारमार्थिक है । यह भेद नित्य हे, मुक्तावस्था मे भी जीव ब्रह्म के अणु अश ही रहते है । इस प्रकार निम्बार्क को सिद्धान्तत द्वैताद्वैत या भेदाभेद ही मान्य है ।

निम्बार्क के इस भेदाभेदवाद के दृष्टिकोण को समझने के अनन्तर यहाँ हम उनके अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् सम्बन्धिनी मान्यताओ को कुछ और बिस्तार से प्रस्तुत करना चाहेगे ।

ब्रह्म निम्बार्क का ब्रह्म नानारूपी विश्व की सृष्ट्यादि का हेतु, अचिन्त्य शक्तियो का आधार, वेद का प्रतिपाद्य, जगत्-जीवमय विश्वात्मा, सबसे भिन्न तथा साथ ही अभिन्न, आनन्दमय परम तत्त्व वासुदेव है ।[२] वह जगत् का निमित्त तथा उपादान उभयविध कारण है ।[३] जगत् उसी की शक्ति का परिणत रूप है, एक प्रकार से विकार है ।[४] फिर भी ब्रह्म विकारी नही है । कारण, वह लीला के लिए अपने सकल्पमात्र से जगत् की सृष्टि करता है, न कि किसी कुम्भकारादि के समान मृदादि किसी अन्य पदार्थ मे से ।[५]

ब्रह्म आनन्दमय है । आनन्दमय का अर्थ आनन्द का विकार नही, आनन्द-प्रचुर है । आनन्द की यह प्रचुरता अनन्त और असीम है, उसका आनन्द भूमा है ।[६] आनन्द है तो उसका एक विशिष्ट गुण ही, किन्तु यह गुण नित्य एव स्वरूप-विधायक है ।[७] 'रसो वै स' 'आनन्दो ब्रह्म' आदि श्रुतियो का वही प्रतिपाद्य है । जगत् उसके आनन्दाश की अभिव्यक्ति है । ब्रह्म पूर्ण चिद्रूप है, विभु है । जीव उसी के चिदश की किरणे है ।[८] वह स्वरूपत अव्यक्त होते हुए भी भक्तो का ध्यान-गम्य होता है ।[९] भक्ति ही उसकी प्राप्ति का सरलतम साधन है ।

---

१. वेदान्त-दर्शन द्वैताद्वैत-सिद्धान्त भूमिका, पृ० ११-१६ ।

२ "सर्वज्ञ सर्वाचिन्त्यशक्तिविश्वजन्मादिहेतुर्वेदैकप्रमाणगम्य सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव" । निम्बार्क-भाष्य १।१ ४ ।

३ वही, १।४।२३,२५ ।

४ "सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकार स्वात्मान परिणम्य अव्याकृतेन रूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति" । वही, १।४।२६ ।
"आकाशादिप्रपचस्य ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनेन विकारत्व निश्चीयते" । २।३।३६ ।

५. वही, २।१।३२ । "कामात् सकल्पादेव " वही, १।१।१९ ।

६ वही, १।१।१३,१४ । तथा "निरतिशयसुखरूपत्वामृतत्वस्वमहिमाप्रतिष्ठितत्वादीना परमात्मन्येवोपपत्तेश्च भूमा परमात्मैव ।" १।३।९ ।

७ "आनन्दादयस्तु गुणा गुणिन सर्वत्रैक्यादुपसंह्रियन्ते ।" वही, ३।३।१३ ।

८ "अविभागेऽपि समुद्रतरगयोरिव, सूर्यतत्प्रभयोरिव तयोर्विभाग स्यात्" । वही, २।१।१३ ।

९ "भक्तियोगे ध्याने तु व्यज्यते " । वही, ३।२।२४ ।

वह सत्यकाम और सत्यसकल्पवान् है। वह निर्दोष एव अपहतपाप्मा है। वह जीवो के स्वरूप का आविर्भाव-हेतु है, उन्हे मुक्ति-प्रदाता है। उसी की कृपा से जीव उसे प्राप्त करते है, और जगत्-सृष्टि आदि से सम्बन्धित कतिपय ऐश्वर्यो को छोड उसके गुणो को प्राप्त करते है।[1] वह सर्वान्तर्यामी है। इस अन्तर्यामिता के कारण ही वह स्वरूपत अपने से भिन्न जीवो और जगत् से अभिन्न है, उनके दोषो से परे है।[2]

जीव ब्रह्म का अश होने के नाते जीव भी ब्रह्म ही है, तथापि जीव ब्रह्म का पूर्णत अभेद नही। उनका भेदाभेद सम्बन्ध ही नर्क-सम्मत है। उसके स्वरूप का आविर्भाव परमात्मा मे से ही होता है।[3] ब्रह्म को जीवस्वरूपाविर्भावहेतु कहा गया है। नाना जीवो मे भगवान् का चिदश विभिन्न मात्राओ मे प्रकाशित होता है। बद्ध जीव इसीलिए 'अज्ञ' कहे गये है। अज्ञ का अर्थ अल्पज्ञ है। ब्रह्म विभु है, जीव अणु है।[4] मुक्त जीव भगवदुपासना से भगवत्साधर्म्य प्राप्त कर सर्वज्ञ तो हो जाता है, किन्तु विभु नही हो सकता। अत अणु-चित् होते हुए उसका ब्रह्म से निन्य भेद बना रहता है। जीव को स्वरूपत अणु मानते हुए भी निम्बार्क ने उसके ज्ञान गुण को 'विभु' माना है।[5] फलत उसका अनन्त अन्त करणो से सयोग सम्भव हो जाता है। जीव शरीर-प्रकाशक है, जैसे दीप का आलोक एकत्र रखा हुआ भी समस्त कोष्ठ को प्रकाशित करता है वैसे ही अणु जीव भी समस्त शरीर को प्रकाशित करता हे।[6] वैसे तो चिदश-रूप होने के नाते जीव और उसके ज्ञान मे कोई अन्तर नही, तथापि निम्बार्क ने ज्ञान और जीव मे धर्म-धर्मी भाव स्वीकार किया है।[7]

निम्बार्क के अनुसार आनन्द ब्रह्म मे ही होता है, जीव मे नही। जीव आनन्दमय नही है।[8] ब्रह्म का सयोग पाकर जीव आनन्दानुभव करता है।[9] जगत् ब्रह्म के आनन्दाश की अभिव्यक्ति है। किन्तु बद्ध जीव को आनन्दात्मक जगत् का अनुभव जड रूप मे प्रतिभात होता है। उसका चिदश विस्मृत-प्राय जो होता है। मुक्त जीव मे चित् के उदय के कारण जगत्-ब्रह्म का अनुभव भी केवल आनन्दात्मक न होकर चिदानन्दात्मक होता है। वह ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसके पूर्ण आनन्द मे निमग्न होता है।

जीव अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा नियन्त्रित है। अणु जीव और विभु ईश्वर के बीच यह नियाम्य और नियन्ता का भेद नित्य है।[10] जीव कर्मफलभोक्ता है, परमात्मा अपहतपाप्मा है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के बीच स्वरूपत, गुणत, शक्तित नित्य भेद है। किन्तु यह भेद बहुत दूर का नही। समुद्र और तरग या सूर्य और प्रभा की दूरी तक ही उनमे भेद-

---

१ "जगद्व्यापारेसर मुक्तैश्वर्यम्।' ४।४।१७। तथा ४।४।२१।

२. वही, २।१।६।

३ "जीवस्य परमात्मकार्यतया परमात्मानन्यत्वात्"। नि० भा० १।४।२०। तथा १।३।२०।

४. वही, २ ३।१६।

५. "जीवोऽणुपरिणामको गुणेन विभुरिति विशेष" २।३।२८।

६ "देहे प्रकाशो जीवगुणादेव, कोष्ठे दीपालोकवत्।" नि० भा० २।३।२५।

७ "जीवतज्ज्ञानयोर्ज्ञानाविशेषत्वेपि धर्मधर्म्मिभावो युक्त एव"। वही, २।३।२७।

८ वही, १।१।१७, १८।

९ वेदान्त-दर्शन द्वैताद्वैत-सिद्धान्त भूमिका, पृ० १३-१४।

१० वही, १।१।२१, १।२।१२१।३।४३।

विभाग किया जा सकता है ।[1] श्रुतिया एक ओर तो उनमे अज्ञ और ज्ञ आदि कहकर भेद-प्रतिपादित करती है, तो दूसरी ओर तत्त्वमसि कहकर अभेद भी दिखाती है । अत उनमे न अत्यन्त भेद है, न अत्यन्त अभेद । भेदाभेद ही तर्क-युक्त है ।[2]

जगत् जगत् ब्रह्म की लीलार्थ की हुई अपने आनन्दाश की सकल्पमूलक परिणति है । ब्रह्म इसका निमित्त एव उपादान उभय-विध कारण है । अनन्तरूपी जगत् उसी का ईक्षण-शक्तिमूलक, उमके स्वरूपस्थ आनन्दरूप उपादान से प्रकाशित हुआ है, अपने स्वरूपस्थ आनन्द को अनन्तरूप से अनुभव करने के लिए अपनी चित् शक्ति की मानो अनन्त चित्कणरूप शाखाविस्तार करके वह इस आनन्द का अनन्त प्रकार से आस्वादन करता है ।[3] क्षीर के परिणाम दधि के समान जगत् ब्रह्म का ही परिणाम हे ।[4] पर ब्रह्म विकारी नही, कारण सत्य-काम सत्यसकल्प ब्रह्म इसका उन्मीलन अपने सकल्प से करता है ।[5] जैसे तह किया हुआ पट खोलकर फैला दिया जाय, फिर उसकी तह कर ली जाय, इसी प्रकार अनादि रूप से इस विश्व का उन्मीलन निमीलन चलता रहता है ।[6] जैसे कोई मर्प कुण्डली मारे बैठा हो, तब उसके फण-पुच्छ आदि कोई अग व्यक्त नही होते, किन्तु अन्य कालो मे वे सब स्पष्टत व्यक्त होते है, इसी प्रकार विश्व प्रपच है । इस अहि-कुण्डल[7] न्याय से स्थित विश्व को ब्रह्म से भिन्न भी नही कह सकते और मर्वथा अभिन्न भी नही । कारण और कार्य मे सर्वथा न भेद होता है, न अभेद । उनमे भेदाभेद ही होता है । कार्य के दोष कारण को स्पर्श नही करते । अत जगत् के दोष भी ब्रह्म मे नही होते ।[8] निम्बार्क ने इस सम्बन्ध मे सत्कार्यवाद और परिणामवाद का यत्किंचित् उपयोग करते हुए भी अपनी मान्यता को साख्य और वैशेषिक से भिन्न ही रखा है ।[9] जगत् की सृष्टि-आदि तथा नानारूपता मे परिणति ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता द्वारा ही होती है । यह उसकी चित् या ईक्षण शक्ति ही हे जो उसके आनन्दाश को नानारूपा परिणति प्रदान कराती है । नियन्ता एव अन्तर्यामी होने के कारण जगत् का ब्रह्म ही आधार हे ।[10] वह जगत् से अभिन्न होकर भी, उसका निमित्तोपादान कारण होकर भी, उससे विलक्षण है । अत

---

१. वही, २।१।१३ ।

२. "अशाशिभावाज्जीवपरमात्मनोर्भेदाभेदौ दर्शयति—परमात्मनो जीवाश 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावि' त्यादिभेदव्यपदेशात्, 'तत्त्वमसी' त्यादि-अभेदव्यपदेशाच्च । अपि च आथर्वणिका 'ब्रह्मदाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मकितवा' इति ब्रह्मणो हि कितवादित्वमभिधीयते ।" वही, २।३।४२ ।

३ वेदान्त-दर्शन द्वैताद्वैत सिद्धान्त पृ० १४६, १।१।२० की टीका ।

४ क्षीरवत् कार्याकारेण ब्रह्म परिणमते स्वकीयासाधारणशक्तिमत्त्वात्", नि० भा० २।१।२३ ।

५ कामात् सकल्पादेव 'सोकामयत्' बहुस्यामित्यादि श्रुते ।" वही, १।१।१९ ।

६ "यथा च पूर्वं सवेष्टित पश्चात् प्रसारित पटस्तद्वत् विश्वम् ।" वही, २।१।१८ ।

७. "मूर्तामूर्तादिक विश्व ब्रह्मणि स्वकारणे भिन्नाभिन्नसम्बन्धेन स्थातुमर्हति भेदाभेदव्यपदेशादहिकुण्डलवत् ।" वही, ३।२।२६ ।

८ "कार्यस्य कारणान य वमस्ति, न त्वत्यन्तभिन्नत्वम्" । वही २।१।१४ ।

९. "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् इति सामानाधिकरण्यनिर्देशेनावरकालीनस्य कार्यस्य कारणे सत्त्वात् तदनन्य-त्वम् ।" वही, २।१।१६ ।
"क्षीरवत् कार्याकारेण ब्रह्म परिणमते ।" वही, २।१।२३

१० वही, १।१।३२ "प्राणाद्यचेतनान्तर्यामि वेन "

अशाशिभाव के रूप मे दोनो मे भेदाभेद ही प्रतिपादित किया गया है ।[1]

रस का स्वरूप

निम्बार्क के अनुसार भी 'रस' या आनन्द ब्रह्म का पर्याय ही है, जिसका प्रतिपादन 'रसो वै स ' श्रुति द्वारा किया गया है । अपने भाष्य के प्रथम अध्याय के १३वे सूत्र मे लेकर २०वे सूत्र तक उन्होने ब्रह्म की आनन्दमयता का ही प्रतिपादन किया है । उनकी स्पष्ट मान्यता है कि आनन्दमयता का सम्बन्ध ब्रह्म से ही है, जीव से नही

"आनन्दमय परमात्मा, न तु जीव , कुत ? परमात्मविषयकानन्दपदाभ्यासात् ।"

भा० १।१।१३ ।

"रस ह्य वाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति इति वाक्येन लब्धृलब्धव्ययोर्भेदव्यपदेशाच्च जीवोऽनानन्दमय ।" भा० १।१।१८ ।

सामान्यत 'आनन्द' एक गुणवाचक शब्द है, अत आनन्द गुण है, ब्रह्म गुणी है, ऐसा कहना चाहिए । तथापि, आनन्द ब्रह्म का नित्य एव स्वरूप-निरूपक धर्म है, अत गुण-गुणी मे ऐक्य या अभेद मानकर ब्रह्म को ही 'रस' या 'आनन्द' कहा जा सकता है ।[2] फिर भी आनन्द शब्द श्रुतियो मे गुण और गुणी दोनो के लिए मिल जाता है । 'आनन्दो ब्रह्म' 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जातानि' इत्यादि मे आनन्द शब्द गुणी ब्रह्म का वाचक है तो 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन' इत्यादि मे गुण-वाचक ।

ब्रह्म मे आनन्द की अनन्तता कही गई है । उसे आनन्दमय कहा गया है । यहा मयट् प्रत्यय विकारार्थक न होकर प्राचुर्य अर्थ मे है, और यह प्राचुर्य अनन्तता और भूमता की कोटि का है, इसीलिए ब्रह्म को 'सत्य ज्ञानम् अनन्तम्' कहा गया है । यह अनन्तता आनन्द की ही अनन्तता है ।[3]

ब्रह्म को सत्, चित्, आनन्द कहा जाता है । इन तीन शब्दो मे सत् उसकी नित्य सत्ता का वाचक है, चित् ज्ञान का । यह चित् ब्रह्म की ज्ञान, भोग या ईक्षण की शक्ति है, जिसके द्वारा वह स्वस्वरूपात्मक आनन्द का अनुभव करता है । इस प्रकार यद्यपि चित् और आनन्द दोनो ब्रह्म के स्वरूपभूत ही है, तथापि यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म के आनन्दानुभव मे उसका आनन्द उसके चित् का विषय बनता है । चित् की भोगकर्तृता और आनन्द की भोग्यता बनती है ।[4]

चित् तत्त्व की चर्चा हम निम्बार्क दर्शन मे दो रूपो मे पाते है । एक तो ब्रह्म के साथ विभु एव पूर्ण चित् के रूप मे, दूसरे जीवो के साथ अल्पज्ञता या अणुचित् के रूप मे । और, इन दोनो स्थितियो मे ही चित् के सम्बन्ध मे दो-दो रूपो से विचार किया जा सकता है ।

---

१ " जगदभिन्नत्वनिमित्तोपादानत्वजगद्विलक्षणत्वपरिणतशक्तिमत्त्वविषयकश्रुतिकदम्बात् ' । वही, २।१।२६ । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "य पृथिव्या तिष्ठन्" इत्यादिभेदव्यपदेश , "सर्व खल्विद ब्रह्म" इत्यादि अभेदव्यपदेश । वेदान्तदर्शन टीका, पृ० ४३१ ।

२ "सर्वत्र गुणिना भेदानन्दादयो गुणा प विद्य सूपसहर्तव्या ।" भाग ३।३।११ । "आनन्दादयस्तु गुणा गुणिन सर्वत्रैवयदुपसह्रियन्ते ।" भा० ३।३।१२ ।

३ सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्मेति मन्त्रप्रोक्त मान्त्रवर्णिक तदेवानन्दशब्देन गीयते ।" वही, १।१।१६।

४ "उसके ईक्षण के विषयस्थानीय स्वीय स्वरूपगत आनन्दाश में भी अनन्तरूप से दृष्ट होने की योग्यता नित्य वर्तमान है ।" वेदान्तदर्शन द्वैताद्वैत-सिद्धान्त उपसहार, पृ० ६८२ ।

ब्रह्म के सम्बन्ध मे अक्षर और ईश्वर के रूप मे, तथा जीवो के सम्बन्ध मे मुक्त तथा बद्ध जीवो के सन्दर्भ मे ।

'चित्' की इन स्थितियो को इस रूप मे रखा जा सकता है

ब्रह्म—	अक्षर	चिन्मात्र, निर्विशेषचित् ।
	ईश्वर	सर्वज्ञतामय, पूर्ण विभु चित् ।
जीव—	मुक्त	ईश्वर-साक्षात्कार से ब्रह्म-साधर्म्य प्राप्त होने से सर्वज्ञतामय, पूर्ण, किन्तु अणु जीव की विभु चित् ।
	बद्ध	दशा-भेद से विभिन्न मात्राओ मे सकुचित, अपूर्ण एव विस्मृत-प्राय चित् ।

जब आनन्दरूप भोग्य पक्ष के भोग करने वाली चित् शक्ति की उपर्युक्त चार स्थितिया हम बना सकते है तो यह कहने की आवश्यकता नही कि इनके अनुसार भोग्य या अनुभूत आनन्द तत्त्व भी चार रूपो मे रखा जा सकता है

१ अक्षर ब्रह्म का आनन्दानुभव ।
२ ईश्वर का आनन्दानुभव ।
३ मुक्त जीवो का आनन्दानुभव ।
४ बद्ध जीवो का आनन्दानुभव ।

स्वय आनन्द तत्त्व को अव्यक्त तथा व्यक्त दो रूपो मे रखा जा सकता है । यह नाना-रूपी जगत् आनन्द तत्त्व का ही व्यक्त रूप है, यह श्रुतियो मे अनेक प्रकार से कहा गया है

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रत्यभिसविशन्ति ।"[1]

आनन्द की अव्यक्तावस्था अक्षर ब्रह्म की मात्र स्वरूपात्मक अवस्थिति है, जिसमे वह निर्विशेष चिदानन्दमय होता है ।

उपर्युक्त चार प्रकार के आनन्दानुभवो मे से अक्षर ब्रह्म के आनन्दानुभव का सम्बन्ध आनन्द-तत्त्व की अव्यक्तावस्था से मान लेने पर शेष तीन प्रकार के आनन्दानुभवो का सम्बन्ध आनन्द की व्यक्तावस्था से ही रह जाता है । ईश्वर का आनन्दानुभव उसकी अपनी सर्वज्ञतामयी पूर्णा विभु चित् शक्ति के द्वारा नानारूपो मे अभिव्यक्त आनन्दात्मक विश्व का समग्रतामय अनुभव है । यह ब्रह्म का अपने ही पूर्ण एव व्यक्त स्वरूप का पूर्णानुभव है । यह उसकी क्रीडा या लीला है, जिसे वह इसी आनन्दानुभव के लिए नित्य किया करता है । इसे ब्रह्म का लीला-रस कहकर निम्बार्क ने निर्देशित किया है ।[1]

हमारे विवेचन का सम्बन्ध जीवो के आनन्दानुभव से रहता है । बद्ध जीवो की चित् शक्ति विस्मृत या तिरोहित रहती है, और देह-धर्मों के साथ उनका अभिनिवेश रहता है । फल यह होता है कि चित् के आलोक से परिच्युत उनके लिए आनन्द का व्यक्त रूप जगत जडात्मक ही होता है । वे जगत् के पदार्थों के अनुभव मे आनन्द का अनुभव तो करते है किन्तु यह आनन्द चिदात्मक नही, जडात्मक ही होता है । मुक्त जीवो का अनुभव विशुद्ध एव पूर्ण चित् शक्ति के उदय हो जाने के कारण ईश्वर के अनुभव के समान ही चिदात्मक होता है ।[2]

---

१. भाष्य, ४।४।१४ ।
२ वे० द० द्वैताद्वैत-सि०, पृ० ६-१६, ६६७, ६८५ ।

इस प्रकार उपर्युक्त चार प्रकार के आनन्दानुभवो मे अक्षर ब्रह्म का आनन्दानुभव तो केवल निर्विशेष चिदानन्द मात्र होता है, वह आनन्द का अव्यक्त स्वानुभव है। बद्ध जीवो का आनन्दानुभव लौकिक, प्राकृत एव चित् के विलोप के कारण जडात्मक होता है। वास्तविक व्यक्त आनन्दानुभव तो ईश्वर और उसके सधर्मा मुक्त जीवो का ही कहा जा सकता है। इसे ही निम्बार्क ने 'भगवल्लीला-रस' नाम दिया है। वस्तुत, निम्बार्क का यही रस है।

इस 'भगवल्लीलारस' के अनुभवकर्ता ईश्वर और मुक्त जीव दोनो ही होते है। किन्तु एक अन्तर है। ईश्वर स्वभावत परिशुद्ध अपने इस लीलारस का नित्यानुभव करता है, किन्तु मुक्त जीव उसकी कृपा और प्रेरणा से ही इस अनुभव तक पहुँच पाते है।

निम्बार्क के इस 'रस-तत्त्व' के विवेचन से हम निम्न निष्कर्षो पर पहुँचते है

१ 'रस' परमात्म तत्त्व का पर्याय है। ब्रह्म ही रस है।

२ 'रस' या आनन्द ब्रह्म का स्वरूपात्मक धर्म होते हुए भी भोग-योग्य है। उसका भोग या आस्वादन चित् या ज्ञान के द्वारा होता है। चित् ब्रह्म की ज्ञानात्मिका या अनुभवात्मिका शक्ति है।

३ अक्षरात्मक स्थिति का आनन्दानुभव चिदानन्द मात्र होता है, बद्ध जीवो का जडात्मक। वस्तुत आस्वाद्य भगवान् का लीलारस है।

४ 'भगवल्लीलारस' जीव और जगत् के व्यक्त नानारूपो के साथ भेदाभेद सम्बन्ध से अवस्थित ब्रह्म का अनुभव है।

५ इस अनुभव के कर्ता ईश्वर और मुक्त जीव दोनो है। ईश्वर का रसानुभव अपने व्यक्त स्वरूप का स्वानुभव है। जीव का रसानुभव लीलामय भगवान् के पूर्ण स्वरूप का आनन्दात्मक अनुभव है।

रसानुभूति

यह कहने की आवश्यकता नही कि हमारी विवेच्य रसानुभूति का सम्बन्ध जीव की रसानुभूति से ही है। बद्ध जीव किस प्रकार उपर्युक्त दर्शन-प्रतिपाद्य रस का अनुभव करता है, और इस अनुभव का क्या स्वरूप होता है, यही इस विवेचन का लक्ष्य है।

मुक्त जीव की उपर्युक्त आनन्दानुभूति के सन्दर्भ मे निम्बार्क ने निम्न बातो की चर्चा की है

१ कलुषात्मक आवरण का क्षय—बद्ध जीव देह धर्मो मे अभिनिविष्ट रहता है, अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार पुण्य-पाप-मय सुख-दु खो का भोग करता है। अविद्या से आवृत वह अपने विशुद्ध चित् रूप को विस्मृत किये रहता है।

रसानुभूति का अधिकारी मुक्त जीव इस स्थिति से छूटकर द्रोष-मुक्त और 'अपहतपाप्मा' हो जाता है।[1]

२ विशुद्ध सत्त्व का आविर्भाव—मुक्त जीव मे ब्रह्म ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान के प्रसाद से उसमे विशुद्ध सत्त्व का उदय होता है। वह प्राकृत चित्त की भूमिका से छूट

१ "अपहतपाप्मत्वादिब्राह्मेण गुणेन युक्त प्रत्यागात्माऽऽविर्भवतीति जैमिनिर्मन्यते।" भा० ४।४।५।
"अपहतपाप्मत्वादिमद्विज्ञानस्वरूपाविर्भावादविरोध भगवान् बादरायणो मन्यते।" वही, ४।४।७।

जाता है। भगवान् के साक्षात्कारात्मक आविर्भाव के लिए विशुद्ध सत्त्व का मच-फलक अनिवार्य है।[१]

३ अनुरागात्मक ध्यान—रति—भगवत्प्राप्ति के साधनो मे भक्तो की दृष्टि मे भक्तियोग सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति अनुरागरूपा है, साथ ही निम्बार्क की भक्ति मे ध्यान भी है। इस ध्यान मे ही अनुराग के कारण वह परम तत्त्व, जो स्वभावत अव्यक्त है, व्यक्त रूप मे आविर्भूत होता है।

"भक्तियोगे ध्याने तु व्यज्यते—"ब्रह्मज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु त पश्यति निष्कल ध्यायमान", "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविध अर्जुन, ज्ञातु द्रष्टु च तत्त्वेन प्रवेष्टु च परतप" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्याम्।"[२]

४ विज्ञानस्वरूपता या चिद्रूपता का उदय—जीव का स्वरूप शुद्ध चिन्मात्र है। बुद्ध जीव की चित् सकुचित रहती है। चिद्रूप ब्रह्म के सामीप्य लाभ से उसका यह विज्ञानमय चित्स्वरूप उदित हो जाता है।

"ब्रह्मणि चिद्रूपे उपसन्न प्रत्यगात्मा चिन्मात्रेण रूपेणाविर्भवति"[३]

"विज्ञानमात्रस्वरूपत्वप्रतिपादने सत्यपि अपहतपाप्मत्वादिमद्विज्ञानस्वरूपाविर्भावाद-विरोध भगवान् बादरायणो मन्यते।"[४]

यह चिद्रूपता का उदय जीव के स्वाभाविक रूप का उदय है।[५] इस रूप मे जीव स्वरूपत अणु होते हुए भी अपने विभु ज्ञान को पा लेता है। विज्ञान-प्राप्ति के फलस्वरूप वह दो बाते ठीक रूप मे जान लेता है—अपनी वास्तविक स्थिति, और परमात्मा का स्वरूप। वह चिन्मात्र, अणु-चित्, अशी ब्रह्म का अश है, जिससे उसका सम्बन्ध भेदाभेद का है। यह उसकी अपनी स्थिति का सच्चा ज्ञान है। ईश्वर नाना-रूपी जगत् और असख्य जीवो का अशी, उनका नियन्ता तथा उनसे विलक्षण परम तत्त्व है, जिसके आनन्दाश की चिदात्मक अभिव्यक्ति जगत् है, जगत् ब्रह्म चिदात्मक व्यक्त आनन्द है। इस प्रकार अपनी भेदाभेदात्मक वाली अशात्मक स्थिति के ज्ञान के साथ अशी के लीलामय पूर्ण स्वरूप का ज्ञान उसकी चिद्रूपता के विज्ञान की छाया मे उदित होता है।

५. सकल्प-शक्ति का विकास—मुक्त जीव मे सत्यसकल्पता का उदय होता है। जगत् की सृष्टि से सम्बन्धित बातो को छोडकर उसमे ईश्वर-सान्निध्य से ईश्वर-साधर्म्य आ जाता है, ऐसी निम्बार्क की मान्यता है।[६] वह एक सीमा तक सत्यकाम और सत्यसकल्प हो जाता है। जहाँ, जिस लोक मे, जिस विषय के आस्वादन के लिए चाहता है, तदनुरूप अपने शरीरादि का निर्माण कर सकता है, वहाँ जा सकता है, आदि। यह उपलब्धि उसे ईश्वरेच्छा से भी हो जाती है, स्वेच्छा से भी, जिसमे मूलत ईश्वर ही नियामक होता है। यह सब वासना-तृप्ति के लिए नही होता, भगवल्लीलारस के आस्वादन के लिए होता है।[७]

---

१ नि० भा०, ३।२।२४।
२ वही, ३।२।२४।
३ वही, ४।४।६।
४. वही, ४।४।७।
५ वही, ४ ४।१।
६. वही, ४।४।८ तथा ४।४।१७।
७ वही, ४।४।१४।

६ **व्यक्त ब्रह्म का साक्षात्कारात्मक अनुभव**—ऊपर सख्या १ मे ५ तक की बाते अनुभविता से सम्बद्ध है, अत उन्हे विषयि-पक्षीय समझना चाहिए। प्रस्तुत बात का सम्बन्ध विषय-पक्ष से है।

अभी हम कह चुके है कि निम्बार्क यह मानते है कि भक्तियोग के ध्यान मे स्वरूपत अव्यक्त भी परम तत्त्व अभिव्यक्त होता है। काव्यशास्त्रीय शब्दो मे यह विषयी के विशुद्ध सत्वात्मक चित्त मे आलम्बन-रूप परमात्मा की प्रत्युपस्थिति है।

७ **आनन्द का आविर्भाव**—भेदाभेद मे ही समाविष्ट अभेद-परक दृष्टिकोण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीव मे आनन्दमय ब्रह्म अन्तर्यामी रूप से परिव्याप्त है, जीव भी आनन्दमय है। किन्तु यह बात निम्बार्क की मान्यता से कुछ दूर पडती है। स्वरूपत जीव उनके अनुसार चिद्रूप तो है, पर आनन्दमय नही। अत जीव की आनन्दानुभूति मे आनन्द तत्त्व का मूल सम्बन्ध विषयी से नही, विषय से है। वह स्वय आनन्द नही, रसरूप ब्रह्म को पाकर उसके योग से आनन्दी होता है। "रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति।" यह जीव द्वारा ब्रह्म-साधर्म्य प्राप्त करने के कारण होता है। आनन्दमय परमात्मा, आनन्द जिसका स्वरूप, गुण, या शक्ति कुछ कहिए, परम भक्त जीव के विशुद्ध अन्त करण मे उदित होता है, और वह उस परम तत्त्व के स्वरूपात्मक अनन्त भूमा आनन्द की अनुभूति करता है। इस प्रकार निम्बार्क की यह रसानुभूति एक विशुद्ध विषयी के द्वारा आनन्दमय धर्मी के साथ तादात्म्य-मूलक परम सौख्यमयी अनुभूति है।

इस अनुभूति मे काव्याचार्यो की रसानुभूति से निम्न साम्य देखे जा सकते है—

निम्बार्क के **दार्शनिक रस की** अनुभूति	आचार्यो के **काव्य रस की** अनुभूति
१ कलुषात्मक आवरण का क्षय	लौकिक मोह-सकटता का निवारण
२ विशुद्ध सत्त्व का आविर्भाव	चित्त मे सत्त्व का उद्रेक
३ अनुरागात्मक ध्यान	रति स्थायी भाव और वर्ण्य विषय साधना
४ चिद्रूपता का उदय	प्रमातृ-चेतना की मुक्त-हृदयता, शुद्ध सत्ता
५ सकल्प-शक्ति का विकास	कल्पना या प्रतिभा
६ ब्रह्म का साक्षात्कार	आलम्बन की भावना
७ आनन्द का आविर्भाव	यह मान्यता विभिन्न दार्शनिक चेतनाओ से सम्बन्ध रखती है। शैव या वेदान्त से प्रभावित आचार्यों के अनुरूप तो आनन्द का विषयि-पक्ष से सीधा सम्बन्ध होता है, द्वैतवादियो के अनुसार विषय-पक्ष से सीधा। निम्बार्क-मत मे भी इसका लगाव विषय-पक्ष से ही है। पर हमे यह नही भूलना चाहिए कि वे द्वैतवादी नही, द्वैताद्वैतवादी है, और इसी आधार पर उनके इस आनन्द तत्त्व का सम्बन्ध भी विषय और विषयी दोनो से अलग-अलग दृष्टियो से जोडना होगा।

वल्लभ-दर्शन एव रस

शुद्धाद्वैतवाद

महाप्रभु वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतवाद' के नाम से प्रचलित है। स्वय वल्लभ ने इसे अनेक स्थलो पर 'ब्रह्मवाद' भी कहा है।[1] जगत्, जीव, ब्रह्म—तीनो को, एक नयी दृष्टि से पारमार्थिक सत्य मानकर, वे ब्रह्म ही मानते है। शकर के द्वारा मानी हुई, ब्रह्म को भी बलात् परिच्छिन्न कर देने वाली, अनिर्वचनीया माया के लिए वल्लभ के यहाँ कोई स्थान नही है। वह यहाँ उस अनन्तशक्ति की लीला-शक्ति के रूप मे स्वीकार की गयी है, जो वस्तुत ब्रह्म का ही स्वरूप है। इस प्रकार व्यापक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म की ही, माया-शाबल्य से परे, शुद्ध ब्रह्म[2] की ही सत्ता स्वीकार करने के कारण वल्लभ-दर्शन शुद्धाद्वैतवादी और ब्रह्मवादी है।

वस्तुत वल्लभ-दर्शन सर्वात्मवाद की प्रतिष्ठा करता है।[3] इसके सम्बन्ध मे वल्लभ की आविर्भाव-तिरोभाव की मान्यता उल्लेखनीय हे। समस्त सृष्टि, जिसमे हम जीव और जगत् दोनो को ही सम्मिलित कर सकते है, लीला-रसिक ब्रह्म से उसकी इच्छा के द्वारा आविर्भूत होती है, उसी मे लय होती है। इस सृष्टि के आविर्भाव मे ब्रह्म के सत्, चित्, आनन्द तीन धर्मो मे से जब आनन्द का निरोभाव हो जाता है, तब अग्नि से असख्य स्फुल्लिगो के समान असख्य जीव आविर्भूत हो जाते है, और इसी प्रकार आनन्द और चित् दो धर्मों के तिरोहित हो जाने पर केवल सत् से विभिन्न नाम-रूपात्मक जगत् का आविर्भाव होता है। अत. तत्त्वत जीव ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म जिसका आनदाश तिरोहित है। जगत् भी ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म, जिसके आनन्द और चैतन्य दो अश तिरोहित है। फलत ब्रह्म से अतिरिक्त किसी अन्य तत्व की सत्ता का प्रश्न ही नही उठता।[4]

न आविर्भाव का अर्थ उत्पत्ति है, और न तिरोभाव का नाश। ये अभिव्यक्ति या अनभिव्यक्ति की अवस्थाएँ है। अभिव्यक्ति सत् पदार्थ की ही होती है, असत् की नही। अत ब्रह्म के अशरूप जगत् और जीव की भी पारमार्थिक सत्ता है, अज्ञानमूलक आभासात्मक नही।

सृष्टि के आविर्भाव-तिरोभाव के मूल मे, जैसा कि हम अभी सकेत कर चुके है, भगवान् की लीलात्मिका इच्छा ही है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप नित्य रमणशील है। कभी अपने मूल अनभिव्यक्त स्वरूप मे रमण करता है, कभी प्रपच रूप मे अभिव्यक्त होकर

---

१ अ० भा० १।२।५।१७, १।४।१।१, २।२।२।८, २।३।१।१, ३।२।१।६, ३।२।३।१०, त० दी० नि० सर्व० पृ० १५०, अ० भा० २।३।१२।२५ में इसे ब्रह्मसिद्धान्त भी कहा है।

२. "सर्वस्य शुद्धब्रह्मत्व दर्शितम्।" अ० भा०, १।१।४।६।

३ "आत्मेव तदिद सर्वं ब्रह्मैव त दिद तथा।
अयमेव ब्रह्मवाद शिष्ट मोहाय कल्पितम्।" त० दी० नि० : सर्व०, पृ० १५०।
"तस्माज्जडजीवरूपत्वात्सर्वात्मक ब्रह्मैवेति महावाक्यार्थ सिद्ध।" अ० भा०, १।१।१०।३०।
"तस्माद्योनिरपि भगवान्, पुरषोपि, सर्व वार्य जीवश्च, सर्व भगवानिति।" अ० भा०, १।४।७।२७।

४ "विस्फुल्लिगा इवाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्गता।" अ० भा०, २।३।१६।४३।
वही, भाष्यप्रकाश • भा० ड०, पृ० ३।

"कदाचिद्रमते स्वस्मिन्, प्रपचेऽपि क्वचित्सुखम् ।"[१]

जब वह आत्मरूप मे रमण करना चाहता है, जगत्प्रपच्च को अपने मे समेट लेता है, जब प्रपच मे रमण करना चाहता है, इसका अपने मे से ही विस्तार कर लेता है। इस प्रकार पहले का ही भगवान् मे लीन जगत् उसमे से ही उसी की इच्छा से आविर्भूत हो जाता है

"यदा स्वस्मिन् रमते, तदा प्रपचमुपसहरति । यदा प्रपचे रमते, तदा प्रपच विस्तारयति । प्रपचभावो भगवत्येव लीन प्रकटीभवतीत्यर्थ ।।"[२]

प्रपच-रमण की इसी इच्छा को 'एकाकी न रमते, बहु स्या, प्रजायेय' आदि शब्दो से उपनिषदो मे व्यजित किया गया है।[3] यह इच्छा दो रूपो मे होती हे--'बहु स्याम्' मैं अनेक हो जाऊँ, तथा 'प्रजायेय' मैं उत्पन्न करूँ। इस अनेक-भवन की इच्छा से ही सत्-चित्-आनन्दात्मक ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द तीन अशो मे बिखर जाता है।[४] ये अश स्वरूपाश होते हुए भी धर्म के रूप मे अलग-अलग हो जाते है। वल्लभ के सर्ववाद मे धर्म-धर्मी मे तथा शक्ति-शक्तिमान् मे सर्वथा अभेद है। इन्ही बिखरे अशो के आविर्भाव-तिरोभाव से 'प्रजायेय' रूपा इच्छा के फलस्वरूप जीवो और जगत् की उत्पत्ति होती है। आनन्दाश के तिरोधान से जीवो की, चिदानन्द के तिरोधान से जगत् की। प्रत्येक जीव मे भीतर अवस्थित रहकर उसको नियन्त्रित करने वाले अनन्त ईश्वरीय रूप 'अन्तर्यामियो' की भी कल्पना वल्लभ ने की है। ये प्रत्येक जीव के साथ अलग-अलग होते है, अत असख्य होते है। इन अन्तर्यामियो का उद्भव केवल आनन्दाश से होता है। इन सबकी सृष्टि वह्नि से विस्फुल्लिगो के समान होती है, यह कहा जा चुका है।[५]

इस प्रकार जैसे दूध की दधि मे परिणति होती है, इसी प्रकार ब्रह्म की सृष्टि मे परिणति होती है, फिर भी वह अविकारी है, ब्रह्म के मूल रूप मे कोई विकार नही आता। अत अविकृत परिणाम वाद और आविर्भाव-तिरोभाव की मान्यताओ को अपना कर वल्लभ अपने सर्ववादात्मक शुद्ध अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा करते है

"एव शुद्धो ब्रह्मवाद सिद्धो भवति मन्मते ।
अन्यस्याणोरपि प्राप्तौ मायापक्षो न कि भवेत् ।।"[६]

यहाँ हम वल्लभ-दर्शन के अनुसार ब्रह्म, जीव, जगत् आदि के सम्बन्ध मे कुछ

---

१ त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ११५।

२ वही, पृ० ११६।

३. "बहु स्या प्रजायेय वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती। वही, पृ० ६७।

४ क, सुबोधिनी द्वितीय स्कन्ध, ख, प्रस्थानरत्नाकर पृ० ५४-५, त० दी० नि० शा० प्र० योजना एव आवरण भग पृ० ७० के आधार पर। "अत्र तत्तदशाज्जीवाद्युदगमकथनेन तत- पूर्व सच्चिदानन्दानामपि पृथक्करण सूचितम्।" आवरणभग, पृ० ७०।

५ "तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूताशचेतना ।
सृष्ट्यादौ निर्गता सर्वे निराकारास्तदिच्छया ।।
विस्फुल्लिगा इवाग्नेस्तु सदशेन जडा अपि ।
आनन्दाशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिण ।।" त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ६८-६।

६ त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ६२।

विशिष्ट मान्यताओ का उल्लेख कर देना उपयुक्त समझते है, जिससे हम वल्लभ की रस-दृष्टि को स्पष्टता से समझ सके।

ब्रह्म—वल्लभ के अनुसार ब्रह्म एक, अद्वितीय और पर है।[1] वे उसे 'सधर्मक'[2] मानते है, जबकि शकर ने उसे निर्धर्मक और गुणातीत प्रतिपादित किया है। अत वह जगत्कर्ता है, नियन्ता हे, भोक्ता[3] है। किन्तु उसके ये कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म लौकिक नही, अलौकिक है।[4]

ब्रह्म की एक बडी भारी विशेषता वल्लभ के अनुसार है विरुद्ध-धर्माश्रयत्व और सर्वभवनक्षमत्व।[5] देखा जाता है, श्रुतियाँ कभी उसे अणु कहती है तो कभी महत्। कभी सगुण कहती है, तो कभी निर्गुण। उसके सम्बन्ध मे नाना विरोधी धर्मो का उल्लेख मिलता है। वल्लभ ब्रह्म मे विरुद्धधर्माश्रयत्व और सर्वभवनक्षमत्व मानकर उन समस्त श्रुतियो की अनौपचारिक अभिधामूलक व्याख्या करने मे समर्थ हुए है। वल्लभ की श्रुतिव्याख्याओ की दो उल्लेखनीय विशेषताएँ हे जो अन्य भाष्यकारो मे कम ही पायी जाती है। एक तो वे ज्ञानपरक उत्तरमीमासा के साथ कर्मपरक पूर्वमीमासा का भी समझौता[6] करके चले है, दूसरे उनका अधिकतम प्रयत्न इस बात पर रहता है कि श्रुतियो की व्याख्या अभिधामूलक की जाय।[7] इन दो बातो के कारण उनके भाष्य और मान्यताओ मे सब-कुछ समेट लेने की प्रवृत्ति पायी जाती है, और उन्हे अनेक प्रकार का भेदीकरण स्वीकार करना पडा है।

विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्म सगुण भी है, निर्गुण भी। उसकी सगुणता प्राकृत गुणो के कारण नही, अलौकिक गुणो के कारण है। उसमे व्यापकत्व, अव्ययत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, स्वातन्त्र्य, सर्वज्ञत्व एव प्राकृतगुण-राहित्य ये छ विशिष्ट गुण या धर्म है, इनके अतिरिक्त सत्य, शोच, दया आदि अनन्त औत्पत्तिक गुण है जो उसमे नित्य रहते है।[8] प्राकृतगुणराहित्य तथा उनके अभिमान से रहित होने के कारण वह निर्गुण है।[9] वह सर्वात्मा, सर्वनियन्ता, मूलकर्ता है।[10] वह अनन्तमूर्ति होने के नाते अनेक है, अद्वैत होने के नाते एक है। वह कूटस्थ भी है, चल भी है, आदि।[11] फिर भी वह सजातीय, विजातीय, स्वगत समस्त भेदो से रहित

---

१. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त, पृ० ८७।

२ अ० भा० १।१।१।२, ३।२।१२।३७।

३ वही, १।१।१।२ "तस्माद्ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम्, एव भोक्तृत्वमपि।"

४ वही, १।१।१।२, पृ० ३२।

५ "सर्वभवनसमर्थत्वाद् विरुद्ध-सर्वधर्माश्रयत्वेन", अ० भा०, १।१।४।४।

६ "चकाराज्जैमिनिसूत्राणि। एवकारेणव्याससूत्राविरोधेनैव तदङ्गीकरणम्।" त० दी० नि० शा०, पृ० ३६।

७ "वेदश्च परमाप्तो तस्मात्रमप्यन्यथा न वदति।" अ० भा०, १।१।२।२।
"भगवति सर्वे शब्दा स्वभावत एव प्रवर्तन्ते, औपचारिकत्वज्ञापकाभावात्।" अ० भा०, ३।३।१४।३६।

८. त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० १११, ११४।

९ "स एव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो नहि। वही, पृ० १२६।

१० वही, पृ० १३०।

११ वही, पृ० ११६।

है। वह न स्वजातीय जीवो से भिन्न है, न विजातीय जडात्मक प्रपच से, न स्वगत अन्तर्यामियो से।[१] वह जगत् का समवायी तथा निमित्त—उभय-विध कारण है।[२] कारण और कार्य मे अभेद होता है, जैसे स्वर्ण मे और कटककुण्डलादि मे। इसी प्रकार जगद्रूप कार्य ब्रह्म मे और कारणरूप पर ब्रह्म मे अभेद हे।[३] वह आविर्भाव और तिरोभाव के द्वारा नाना रूपो से मोहन-कर्ता है। वह उसी की इच्छा और कृपा से जाना और देखा जा सकता है, अन्यथा अगम्य है।[४] अनन्त जीव उसी के अश है। वह सृष्टि के आदि मे ही अनन्त उच्च-नीच जीवो को उत्पन्न करता हे। बिना उच्चावचता के विलक्षणता एव विचित्रता रचना मे आ ही नही सकती, और क्रीडाशील की क्रीडा पूरी नही हो सकती। पर ऐसा करने के कारण ब्रह्म पर किसी पक्षपात या निर्घृणता का दोषारोपण नही किया जा सकता। यह तो तब होता जब वह किसी अन्य को उच्च-नीच के रूप मे स्थापित करता। वह तो स्वय अपनी इच्छा से, अपनी ही शक्ति से, अपने ही को इन उच्चावच रूपो मे आविर्भूत करता है, तब दोष कैसे ?[५]

वल्लभ अक्षर और पर ब्रह्म मे अन्तर करते है। अक्षर ब्रह्म का वह रूप है जिसे ज्ञानी प्राप्त करते है। यह एक प्रकार से वही रूप है जिसकी शकर ने निर्गुण ब्रह्म के रूप मे कल्पना की है। पर ब्रह्म पुरुषोत्तम कृष्ण है, जो लीलामय एव आनन्दमय है। पर ब्रह्म का आनन्द भी अक्षर से उत्कृष्ट है।[६]

वल्लभ का ब्रह्म साकार है।[७] वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। ब्रह्म की साकारता आनन्दरूप होने के कारण है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

जीवो के लिए ब्रह्म ही प्राप्तव्य है, किन्तु उस प्राप्ति का साधन भी वही है। उसकी कृपा या अनुग्रह के बिना न तो साधनावलम्बन ही हो सकता है, न वह प्राप्त ही किया जा सकता है। इसी 'अनुग्रह' को 'पोषण' या 'पुष्टि' कहा गया है, और इसी के कारण वल्लभ का सम्प्रदाय 'पुष्टि-सम्प्रदाय' और उनकी श्रेष्ठ भक्ति 'पुष्टि-भक्ति' कहलाती है। इसी पुष्टि

---

१ त० दी० नि० शा प्र०, पृ० ११३।

२ वही, पृ० ११५।

३ पुष्टिमार्गी सिद्धान्त पृ० १०१।

४ "आविर्भावतिरोभावैर्मोहन बहुरूपत ।
इन्द्रियाणा तु सामर्थ्यादृश्य, स्वेच्छया तु तत्।"
"आविर्भावोऽवतारो मत्स्यादिरूपेणप्राकट्यम्, तिरोभावोऽवतारसमाप्ति —ते सर्वे प्रकारा मोहका एव, नटवद् बहुरूपत्वात्। —चक्षुर्न स्वसामर्थ्येन भगवन्त विषयीकरोति, किन्तु भगवदिच्छयैव मा सर्वे पश्यन्त्वितिरूपया तद् दृश्यम् ।"
त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० १२०।

५ "आत्मसृष्टेर्न वैषम्य नैर्घृण्य चापि विद्यते।" वही, पृ० १२७।
अ० भा० २।१।१०।३३, २।१।१२।३४।

६. "ब्रह्मानन्दो ह्यरानन्द.।" त० दी० नि० सर्व० प्र०, पृ० १५३।
"अक्षरब्रह्मणि आनन्दात्मके सत्यपि तस्य परिच्छिन्नत्वात् न परमफलत्वम्।" अ० भा०, १।१।५।११।

७ "अनन्तमिति अनन्तमूर्तिता च ब्रह्मण प्रतिज्ञाता। । तस्मात्साकार तादृशमेवब्रह्म। ब्रह्मण शरीरमिति तु सर्वथा सम्भवम्।" अ० भा०, १।१।६।१६।

के आधार पर वल्लभ ने जीवो का भी वर्गीकरण किया है ।[१]

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म सर्वशक्ति एव अचिन्त्यशक्ति है । उसकी अनन्त शक्तियाँ है, जिनके साथ उसका स्वरूपात्मक अभेद है । इनमे द्वादश प्रमुख है[२], जिनमे माया, विद्या और अविद्या भी हे । माया उनकी सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, जिसके द्वारा लीला का विस्तार एव सृष्टि का आविर्भाव-तिरोभाव होता है । अविद्या और विद्या का सम्बन्ध जीव से ही है, पर ब्रह्म से नही ।[3] जीव अविद्या से ससार मे फँसता है, विद्या से उसे स्वरूप-ज्ञान एव अक्षर-ब्रह्म का ज्ञान होता है । एक प्रकार से इन शक्तियो का भी आविर्भाव होता है । जब ब्रह्म बहु स्याम् की कामना से सिसृक्षु होता है, तो मायाशक्ति से युक्त हो जाता है । तब यो समझिए, वह शुद्ध व्यापक ब्रह्म माया-वेष्टित हो जाता है ।[४] इसी माया-परिवेष्टन के कारण वह लीलार्थं स्वेच्छा से अपने आनन्द एव चिद् अशो को तिरोहित करके सृष्टि का आविर्भाव करता है । अत माया उसकी ही इच्छा के वशीभूत है, वेदान्त (शाकर) के समान स्वतन्त्र नही ।[५]

जीव—जीव ब्रह्म का अश है, अत ब्रह्म रूप ही है । पर ब्रह्म ही नही है । अश अशी-भूत होकर भी अशी ही नही हो सकता । उसका आविर्भाव भगवान् की इच्छा से, उनसे ही, उनके आनदाश के तिरोहित हो जाने पर होता है, अत उसमे सत्-चित् दो ही अशो का आविर्भाव होता है । वह चेतन है ।[६] जीव अनन्त एव असख्य हे, जो ब्रह्मवह्नि के विस्फुलिंग है ।

जीव को वल्लभ ने दो विभिन्न दृष्टियो से साकार भी कहा है और निराकार भी । वे जीव को अणु मानते है, विभु या व्यापक नही । उसे श्रुतियो मे 'आराग्र-मात्र' कहा गया है । आराग्र का अर्थ होता है यव के तीकुर का अग्रभाग । इस प्रकार जीव सूक्ष्म-परिच्छेदी होने के कारण साकार है, उसका शरीर मे स्थान हृदय है । दूसरी ओर वह निराकार भी है, इन्द्रियग्राह्य भी नही है । वल्लभ के अनुसार साकारता आनन्दाश का परिणाम हे । जब तक आनन्द आविर्भूत न हो साकारता आ ही नही सकती । जीव मे आनन्दाश तिरोहित रहता है, अत वह निराकार होता है । साकार भगवान् का अश होने के नाते साकार होकर भी इस प्रकार जीव निराकार है, क्योकि लीला के लिए उच्चावचता रखने की दृष्टि से आनन्दाश को तिरोहित करके उनकी आविर्भूति की गयी है ।[७]

---

१ पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त, पृ० १-४ ।

२. "अविद्यापि तच्छक्ति, मुख्यासु द्वादशशक्तिषु गणनात् ।" त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ६० ।

३ "माया हि भगवत शक्ति सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता, यथापुरुषस्य कर्मकरणादिसामर्थ्यम् ।" "पञ्चपर्वा त्वविद्या हि जीवगा मायया कृता ।" "जीवमेव गच्छति, न त्वशान्तरम् ।" त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ६० तथा ६४ ।

४. सर्वाधार वश्यमायमानन्दाकारमुत्तमम् । वही, का० ६७ ।

५. आकाशवद् व्यापक हि ब्रह्म मायाशवेष्टितम् ।" वही, का० २५ ।

६. "तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूताशचेतना ।
सृष्ट्यादौ निर्गता सर्वे निराकारास्तदेच्छया ।" त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ६८-६ ।

७. अशा साकारा सूक्ष्मपरिच्छेदा । चैतन्याशिचत्प्रधाना । सर्वे असख्याता । सृष्ट्यादौ प्रथमसृष्टौ । तत साकारा भगवद्रूपा अपि उच्चनीचभावेच्छयानिर्गता इति निराकारा जाता ।" वही, पृ० ६८-६ । "चिति आनदस्य । आनदाशतिरोभावस्यापि ज्ञापकमाह अतएव निराकाराविति ।" वही, पृ० ७० ।

प्रत्येक जीव उसके भीतर अवस्थित ब्रह्म के ही एक रूप-विशेष 'अन्तर्यामी' से नियमित होता है। ये अन्तर्यामी भी जीवो के समान ही असख्य होते है।[1] माया-निर्मित अविद्या और विद्या शक्तियाँ इसी जीव को स्ववश किये रहती है। अविद्या से वह ससार मे फँसता है। अविद्या के कारण उसके विषय मे पॉच प्रकार के अध्यासो का वल्लभ ने उल्लेख किया है—अन्त करणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास देहाध्यास और स्वरूपविस्मरण। विद्या से अविद्या का नाश होता है, किन्तु उसको भगवत्प्राप्ति की सफलता तो भगवदनुग्रह से ही मिलती है। भगवत्कृपा मिलने पर उसमे आनन्दाश का आविर्भाव हो जाता है, और वह मुक्त हो जाता है या भगवान् के साथ सायुज्य प्राप्त कर लेता है।[2]

जीव अणु है, चेतन है, व्यापक नही, किन्तु उसका चैतन्य गुण व्यापक है। पुष्प एकदेशस्थित होता है, किन्तु उसका गुण गन्ध वातावरण मे दूर तक व्यापक होता है। अत वह व्यापक न होकर भी उसका चैतन्य समस्त शरीरव्यापी होता है। जब भगवत्कृपा से वह भगवत्सायुज्य पा लेता है, तब उसमे 'ब्रह्मभाव' का उदय हो जाने से ब्रह्म की अनेक शक्तियो एव गुणो का उदय हो जाता है। उसमे व्यापकत्व भी आ जाता है। किन्तु उस समय भी वह अणु ही रहता है, परिच्छिन्न ही रहता है।[3]

इस प्रकार जीव चेतन, अणु, तिरोहितानन्द, निराकार एव अज्ञान-गम्य है। वह ब्रह्म से अपनी इन सीमाओ के कारण ही भिन्न है, पर अशी की परिधि से स्वरूपत अश कभी भिन्न नही होता।

जीवो की उच्चावचता की प्रथम सृष्टि मे ही निर्धारणा कर्मसापेक्षता के साथ, पर वस्तुत लीलावैचित्र्य के हेतु भगवान् द्वारा ही कर दी जाती है।[4] जीवो के वल्लभ ने विभिन्न दृष्टियो से भेद और वर्गीकरण दिखाये है। प्रवाहजीव, मर्यादा जीव, पुष्टि जीव आदि के रूप मे उनकी विभिन्न स्थितियो का निरूपण किया गया है। सर्वश्रेष्ठ जीव भगवदनुग्रह प्राप्त पुष्टि-पुष्ट जीव है।

जगत्—जगत् जिसे 'प्रपच' नाम भी दिया गया है, भगवान् के सदश का आविर्भाव है। इसमे चित् और आनद अशो का तिरोभाव रहता है। फिर भी उसमे चित् और आनद अश अनुस्यूत है, यह हम अनुभव से भी जानते है। जगत् की सत्ता का अनुभव तो हम प्रत्यक्ष करते है। वह प्रकाशित हो रहा है, और हमे प्रिय लगता है। यह 'प्रकाशन' या 'भान' उसमे अनुस्यूत चित् अश के कारण है, 'प्रियत्व' आनदाश के कारण।[5]

जगत् का उपादान और निमित्त ब्रह्म ही है। वह नाना नामरूपात्मक है। वह भी ब्रह्म का स्फुल्लिगात्मक अश ही है, जिसका मूल सत्ता से तात्त्विक अभेद है।

---

१. त० दी० नि० · शा० प्र०, पृ० ७०।

२ वही पृ० ६७ से ७६ तक के आधार पर।

३ "जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गन्धवद् व्यतिरेकवान्।
आनदाशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटय।
प्रतीयेरन्, परिच्छेदो व्यापकत्व च तस्य तत्॥" त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ९२-४।

४ अ० भा० १।१।३।३, २।१।१२।३४।

५ "तद् ब्रह्मैव समवायिकारणम्, कुत? समन्वयात् सम्यगनुवृत्तत्वात्। अस्ति-भाति-प्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात्।" अ० भा०, १।१।३।३।

जगत् मे ब्रह्म के सदश का आविर्भाव होता है, अन्यो का तिरोभाव। फिर भी जगत् की रचनात्मक परिणति आनदाश से ही होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् मे कहा गया है—"को ह्येवान्यात्क प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।" अन्यत्र भी कहा गया है, "आनन्दाद्ध्येमानि भूतानि जातानि।" इन वचनो मे 'आनन्द' को प्रपच का कारण बताया गया है।[1] जगत् मे साकारता इसी आनन्द अश से आयी है। कारण, साकारना देने वाला तत्त्व आनद ही है,[2] केवल सत्त्व नही। पर आनन्द जगत् मे प्रकट एव आविर्भूत नही है, अनुस्यूत एव समन्वित है इसी कारण जगत् 'आनन्दमय' नही है।[3]

जगत्प्रपच प्रवाह से नित्य है। प्रलय मे वह ईश्वरेच्छा से ब्रह्म मे विलीन हो जाता है, सृष्टि मे आविर्भूत। यह सब भगवान् की माया शक्ति से होता है। साख्य इसकी उत्पत्ति सत्कार्यवाद को अपनाकर प्रकृति मे मानता है, वैशेषिक परमाणुओ से, शकर इसे ब्रह्म-विवर्त कहते है, आदि-आदि। वल्लभ इसे अविकृतपरिणामवाद के अनुसार ब्रह्म का ही परिणाम मानते है।[4]

वल्लभ जगत् और ससार मे अन्तर करके चलते है। जगत् भगवान् की माया की सृष्टि है, ससार जीव की अविद्या की। अत जगत् नित्य है, ससार अनित्य। ससार का स्वरूप अहता-ममनात्मक है। ससार की वास्तविक सत्ता नही, वह जीव द्वारा कल्पित है

"तस्माद्धेतोरस्य भगवत शक्त्या अविद्यया जीवससार उच्यते, न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्, असत्त्वेनास्य गणनात्। अज्ञान, श्रम आदित्यादिशब्दा अहममेतिरूपे ससारे एव प्रवर्तन्ते, न तु प्रपच इत्यर्थ, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्।"[5]

जिस प्रकार वल्लभ का अक्षर ब्रह्म शकर का ब्रह्म है, उसी प्रकार शकर का जगत् भी वल्लभ का ससार है, और शकर की माया वल्लभ की अविद्या। जीव की मुक्तावस्था मे ससार का लय हो जाता है, प्रपच बना रहता है। प्रपच का लय प्रलयावस्था मे ही होता है जब भगवान् आत्मरूपमात्र मे रमण करना चाहते है, प्रपच रूप मे नही।[6] इस प्रकार जीव

---

१ यजुर्वेदघटकीभूततैत्तिरीयशाखास्थब्रह्मभृगुप्रपाठकद्वयेन आनन्दस्य जगत्कारणत्व आनन्दमयादिवाक्याना ब्रह्मप्रतिपादकत्व चोत्पद्यते।" अ० भा० विवरण, पृ० १११।

"सर्वस्यापि विकारभूतस्यानन्दस्यायमेवानन्दमय कारण यथा ।" अ० भा०, १।१।५।१३।

"अत केशादयो पि सर्व आनन्दमया एव तादृशमेव ब्रह्मस्वरूपमिति मन्तव्यम्। सविवरण अ० भा०, पृ० १६६।

२. "आन दो ब्रह्मवादे आकारसमर्पक।" त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ८५।

३ "तर्हि जडो भवत्वान दमय। न। आन्त त्वान्न कार्यरूपो भवति, किन्तु कारणरूप स स्वमतेनास्त्येव।" अ० भा०, १।१।१७।

४. "प्रपचो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत्।
तच्छक्त्या विद्यया त्वस्य जीवससार उच्यते॥" त० दी० नि० शा० प्र०, का० २३।

अय प्रपचो नापि प्राकृत., नापि परमाणुजन्य, नापि विवर्तात्मा, नाप्यदृष्टादिद्वारा जात, नाप्यसत सत्तारूप, किन्तु भगव कार्य परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्य।" वही, पृ० ५८-६।

५ त० दी० नि० - शा०, पृ० ६०-१।

६ "ससारस्य लयो मुक्तौ न प्रपचस्य कर्हिचित्।
कृष्णस्यात्म तौ त्वस्य लय सर्वसुखावह॥"
त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ६३।

और जगत् विस्फुल्लिग-न्याय से ब्रह्म के ही अश और ब्रह्मभूत ही हे। तथापि ब्रह्म इतना ही नही है। इनसे परे है, जिसके सिवा अन्य कुछ नही।[1]

आनन्द तत्त्व

वल्लभ ने आनन्द तत्त्व पर दार्शनिक दृष्टि से विचार प्राय अपने अणु भाष्य आदि दार्शनिक ग्रन्थो मे एव रसात्मक दृष्टि से श्रीमद्भागवत-सुबोधिनी मे किया है। उनके षोडश ग्रथो मे भी इतस्तत एतद्विषयक दृष्टिकोण बिखरे मिल जाते है। उनके दर्शन का अन्तिम प्रतिपाद्य आनन्द तत्त्व पर ब्रह्म है, और भावना का अन्तिम लक्ष्य आनन्द तत्त्व रसेश्वर श्रीकृष्ण। और, यह कहने की आवश्यकता नही कि उनका परब्रह्म पुरुषोत्तम लीलामय रस-स्वरूप श्रीकृष्ण ही है। यहाँ हम वल्लभ की दृष्टि से इसी आनन्द तत्त्व की दार्शनिक स्थिति समझने का प्रयास करेंगे।

स्वरूपात्मक तत्त्व—मूलत आनन्द परब्रह्म का स्वरूपात्मक तत्व है, ब्रह्म सच्चिदानद हे। यह आनन्द अपने मे पूर्ण, चेतन, निरतिशय एव निरवधिक है। स्वयप्रकाश और ब्रह्म का स्वानुभव हे।

बल्लभ के अनुसार ब्रह्म की दो स्थितियाँ निर्धारित की जा सकती है—कारणावस्था और कार्यावस्था। प्रथम अवस्था अनभिव्यक्त एव प्रपचोत्तीर्ण कही जा सकती है, दूसरी अभिव्यक्त प्रपच की। ब्रह्म कभी अपने लीन अनभिव्यक्त स्वरूप मे रमण करता है, कभी अभिव्यक्त होकर प्रपच रूप मे।[2] दोनो ही स्थितियो मे वह अपने स्वरूपात्मक आनन्द मे रमण करता है।

इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूपात्मक आनन्द की दो स्थितियाँ सामने आती ह—एक अनाविर्भूत दूमरी आविर्भूत। अनाविर्भूत अवस्था 'तिरोहितानन्द' की अवस्था नही है। पूर्ण चित् ब्रह्म के आनन्द के तिरोहित होने का प्रश्न ही नही उठता।

कश्मीरी शैव दर्शन भी परम सत्ता की लगभग ऐसी ही मान्यता रखता है। वह उसे विश्वोत्तीर्ण एव विश्वमय दो रूपो मे देखता है। किन्तु दोनो दृष्टिकोणो मे एक विशेष अन्तर भी है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का परम विश्वोत्तीर्ण रूप निर्गुण, निर्धर्मक है। वह शकर के ब्रह्म के रूप का है। किन्तु वल्लभ का प्रपचोत्तीर्ण पर रूप भी नित्य लीलामय एव नित्य सधर्मक है।

तो, वल्लभ के अनुसार परानन्द की दो स्थितियाँ होती है—एक जब ब्रह्म एकाकी रमण करता है, दूसरी तब आविर्भूत होती है, जब वह एकाकी रमण नही कर सकता और बहु स्याम्, प्रजायेय की कामना से सवलित होता है। और, यहाँ हमारे सामने आनन्द तत्त्व की अभिव्यक्ति का प्रश्न आता है।

---

१ "विस्फुल्लिगाइवाग्नेस्तु सदशेन जडा अपि।" त० दी० नि० ' शा० प्र०, का० २८।
"यदि ब्रह्म तावन्मामात्र भवेत्तदाय दोष । तत् पुनर्जीवाज्जगतश्चाधिकम्।"
अ० भा०, २।१।१।२२।

२ "कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपचेपि क्वचित्सुखम्।"
"यदा स्वस्मिन् रमते तदा प्रपञ्चमुपसहरति, यदा प्रपचे रमते तदा प्रपच विस्तारयति। प्रपचभावो भगवत्येव लीन प्रकटीभवतीत्यर्थ।" त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ११५-६।

धर्म और शक्ति के रूप मे—श्रीमद्‌भागवत द्वितीय स्कन्ध की सुबोधिनी कहती है कि बहु स्याम् की कामना होने पर आत्म-सिसृक्षु सच्चिदानन्द ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द तीन धर्मों या शक्तियो के रूप मे बिखर जाता है, पीछे क्रमश आनन्द और चिदानन्द के तिरोभाव से जीव और जगत् की सृष्टि होती है ।[१]

---

१ "तत्र सदान दरूपो भगवानेककोटिनिविष्ट चिद्रूपशपर । तस्य माया द्विधेति पूव निरूपितम् । । इय प्रक्रिया सर्वश्रुतिवाक्यानुरोधेन श्रुतार्थापत्तिसिद्धि तदा सजागति ।" श्रीमद्‌भागवत-सुबोधिनी द्वितीय स्कन्ध अध्याय ८ श्लोक १, पृ० २३४ । देवकीनन्दन प्रेस, वृन्दावन सस्करण, स० १९६० ।

प्रस्तुत सस्करण का सुबोधिनी का पाठ अत्यन्त अपरिष्कृत है, अत उससे भ्रान्ति हो सकती है । इसी स्थल के आधार पर प्रस्थानरत्नाकरकार श्री पुरुषोत्तम जी ने सिद्धा त-निरूपण इन शब्दो में किया है, जो अपेक्षाकृत विश्वसनीय है

"सा—सृष्टिप्रक्रिया—तु द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्या श्रीमदाचार्यचरणैरेव प्रदर्शिताब्रह्म हि धर्मरूपेण भवत् ज्ञानानदकालेच्छाक्रियामायाप्रकृतिरूपेण पूर्वं भवति । न च सर्वदा तथा भवतीति शकनीय, आपादकस्य कालस्याभावात्, जाते च काले तस्यैव नियामकत्वात् न सर्वदा भविष्यति । कालस्य नियामकत्व तु प्रत्यक्षसिद्धमेव । कालेन सहोत्पन्नाना इच्छादिशक्तीना च सदैकरूपत्व भगवान् स्थापयतीति नित्यास्ता ।

तत्र काल क्रियाशक्तिरूप । । इच्छा त्वधिध्यानरूपा, सैव काम 'सोऽकामयते' ति श्रुत्युक्त । तदाकारश्च 'बहु स्या, प्रजायेये' ति द्विविध । तत्राद्यो भेदरूप ।

तेन सच्चिदानन्दधर्मा कालातिरिक्तक्रियाज्ञानानदरूपा स्वय भिद्यमाना स्वाश्रयमपि भिंदति, क्रियावन्त ज्ञानिनमानन्दिन च कुर्वन्तीत्यर्थ । तदा स भगवान् त्रिरूपोपि सन्त पाणिपादान्तो भवन् साकारतामापद्यते । एव भिन्नोपीच्छया स्वस्याभिन्नत्वालोचनरूपयाभिन्न इवाखण्डो भवतीति कार्यविचारेणावसीयते ।

अतएव च सद्रूपस्य प्रत्येकपर्यवसायित्वम्, एवमेवेतरयोरपि ज्ञेयम् । तयोरान्तरत्वेन शीघ्र तथा बुद्धावनारोहेऽपि समानयोगक्षेमत्वात्, अस्तिभातिप्रियत्वेन बुद्धावारोहाच्च ।

शक्तिस्तु सदशस्य क्रियारूपा, चिदशस्य व्यामोहिका माया—त्रिगुणा, सा जगत्कर्तृभूताया मायाया अशभूता; आनदरूपस्य जगदुत्पत्तौ कारणभूता,—मूलरूपोपरि सचायकरूपा सा भवति, ततो मूलरूपे निर्गते अक्षराशभूतस्य तत्र प्रवेशस्तदा तस्मिन् तामाकृतिमिय सम्पादयति-इति देशकालवस्तुरूपा सती कदाचिद् भगवदिच्छया कर्त्र्यपि भवति, न तु तावता मूलकर्तृत्वम् ।

एतत्त्रितयरूपाशक्ति सच्चिदानदरूपस्य भाव त्वतलादिवाच्य इत्यादिक पूर्वाकारकस्य कामस्य प्रपच ।

द्वितीयस्य तूपकर्षापकर्षरूप । तेन त्रिषु आनन्द उत्कृष्ट, इतरौ यथोत्तरमपकृष्टौ । तदेतरौ त सेवमानौ जातौ, ततस्तयो धर्मो ज्ञानक्रिये भगवच्छक्तिरूपे जाते, तदा स आनन्दो ज्ञानक्रियाशक्तिमान् जात ।

तदा चिदशस्य शक्तिर्या व्यामोहिका माया, अविद्येति यावत्, सा चिदशात् ज्ञानरूपे धर्मे गते न व्यामोहयति । स तु बोधरूपोपि धर्मरूपज्ञानाभावात् तया ध्यासुरथ आनन्दस्य पृथग्भूतत्वात् त सम्बन्धेनानदो भविष्यतीति बुद्ध्या तया सबध्यते । ततो व्याकुल सन् सदानदकृतसृष्टौ या सूत्रात्मा आसन्यो दशविध-

आकार-समर्पक—वल्लभ के अनुसार सत् चित् आनन्द तीनो तत्त्वो मे केवल आनन्द ही आकार-समर्पक[1] तत्त्व है। अन्य दोनो निराकार है, आनन्द साकार। इसी तत्त्व के कारण परम पुरुषोत्तम साकार होते है, उन्हे इसी के कारण वल्लभ 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि' कहते है।[2] चित् और सत् दोनो तत्त्वो की निराकारता का रहस्य यही है कि उनमे आनन्द धर्म तिरोहित रहता है।[3]

जगत् का कारण—यो तो सिद्धान्तत ब्रह्म के सत् अश से जगत् का आविर्भाव होता

सदशस्तु क्रियाशक्तेर्गतत्वाद् अव्यक्ततामापद्यते, जडश्च भवति। पश्चान्मूलक्रियाशाभि क्रियाभिर्यथायथ श ोगादिरूपेणाभिव्यज्यते। पश्चात्तस्या क्रिया तत्कृतधर्मे वा तिरोभूते तिरोभवति।

एव चिद्रूपोपि ज्ञानशक्त्यशभूतैर्ज्ञानैरभिव्यज्यते तिरोभवति च।

"तदा चिदशस्य शक्ति आनन्दे गतत्वात् ज्ञानधर्मस्य न व्यामोहयति।" सुबोधिनी

आनन्दरूपस्य विभागस्तु सर्गादीना दशाना "अदीनलीलाहमिते" निश्लोकरीत्या स्वरूपधर्मत्वेन ज्ञेय।

प्रस्थानरत्नाकर प्रमेयपरिच्छेद, पृ० ५४-५५।

मूल सच्चिदानन्द ब्रह्म सर्जन के लिए धर्मरूप में परिणत होता है, सत् चित् आनन्द स्वरूपात्मक तत्त्व से धर्म या शक्ति के रूप में आ जाते हे। यह धर्मरूपता बाह्य या दूर की नही। जैसे ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व उसका भाव होता है, वैसे ही ये धर्म भी ब्रह्म के भावरूप होते है। अत धर्म-धर्मी या शक्ति-शक्तिमान् में अभेद रहता है। ये तीनों धर्म मूल-रूप में अभिन्न है। किन्तु बहु स्याम् की इच्छा तो अभिन्न स्थिति में भिन्नता और बहुत्व लाने की कामना है। फलत तीनों धर्म बिखर जाते है। इनमें सत् क्रियाशक्ति रूप होता है, चित् ज्ञानशक्तिरूप, और आनन्द आनन्दशक्तिरूप। इन्ही धर्मो से, जो बिखर चुके होते हे, ब्रह्म भी क्रियावान्, ज्ञानवान् और आनन्दी हो जाता है। इनके बिखरने के कारण वह भी बिखर जाता है, भले ही उसमें मूल अखण्डता बनी रहे।

इन तीनों धर्मो में आनन्द ही उत्कृष्ट होता है। वही लीलामय ब्रह्म को साकारता प्रदान करता है। क्रिया और ज्ञान के आधार सत् और चित् अश उसी की सेवा करते है, उसे अपने मूल तत्त्व समर्पित करते है। सत् की मूल क्रियावत्ता आनन्द में तिरोहित हो जाता है, चित् की ज्ञानवत्ता। अपनी मूल शक्ति से वचित ये तत्त्व क्रमश जड जगत् और जीव के रूप में आविर्भूत होते है। चिदश मे निचली कोटि की ज्ञानशक्ति, जो अविद्या है, रह जाती है। उसी से व्याप्त जीव उद्भूत होता है। सत् मे से भी उसकी अपनी मौलिक क्रियावत्ता निकल जाने पर जड़ता और अव्यक्तता आ जाती है। पीछे कुछ मूल क्रियाशक्ति के अशों के आविर्भाव से वह जड जगत् के नाना रूपों में अवसृष्ट हो जाता है। सच्चे अर्थों में तो ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न वह आनन्द ही रहता है। यही आनन्द जगत् प्रपञ्च और जीव सृष्टि का इस प्रकार मूल एव वास्तविक कारण ठहरता है। यही आनन्दशक्ति ब्रह्म को आकार प्रदान करती है, यही, देशकालवस्तु के रूप में परिणत होती है, यही कभी कर्त्री का रूप धारण करती है।

१ "आनन्दो ब्रह्मवादे आकारसमर्पक।" त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ८५।

२ वही, श्लो० ४४।

३. "सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता।
अतएव निराकारौ पूर्वावानन्दलोपत।" वही, श्लो० २६।
लोपस्तिरोभाव। वही, पृ० ७०।

है, किन्तु अनेक स्थलो पर आनन्द को ही जगत् का कारण कहा गया है ।[1] हम सुबोधिनी के विगत उद्धरण मे सृष्टिविवेचन मे देखते है कि आनन्द तत्त्व ही सत् और चित् की वास्तविक शक्तियो को अपने मे अन्तर्भूत करते हुए प्रपच-सर्जन का अवकाश खोलता है । वस्तुत जगत् मे जो रस है, जो प्रियता हे, वह इसी आनन्द तत्त्व की है, नही तो उमके शुष्क पदार्थो मे प्रियता आती ही कहाँ से ? आनन्द स्वरूपत व्यापक होने के नाते सत् से अभिव्यक्त ममस्त जगत्पदार्थो मे निहित रहता है, इसीलिए वे प्रिय लगते हे ।[2]

अत जगत् और जीवो मे भी आनन्द का सर्वथा अभाव नही समझना चाहिए । और आविर्भाव की बात भी सापेक्ष दृष्टि से कही गयी है । जड जगत् मे मत् का आविर्भाव और चित् तथा आनन्द का तिरोभाव कहा गया है । यह तारतम्य की दृष्टि मे ही कहा गया है । सर्वाधिक आविर्भाव सत् का ही होता ह, पर अन्य अशो का भी एक मात्रा तक आविर्भाव रहता है ।[3]

इस प्रकार जगत् की पर कारणता आनन्दमय की ही सिद्ध होती हे ।

अविकारी—यद्यपि आनन्द तत्त्व कारण कहा गया हे, किन्तु अनेक विकार-रूप आनन्दो का कारण होकर भी वह विकारी नही होता । सत् और चित् अश भी नाना विकार-रूपो को स्वय से आविर्भूत करके विकारी नही होते

"सर्वस्यापि विकारभूतस्य आनन्दस्यायमेवानन्दमय कारण, यथा विकृतस्य जगत कारण, ब्रह्माविकृत सच्चिद्रूपम्, एवमेव आनन्दमयोपि कारणत्वादविकृतोऽन्यथा तद्वाक्य व्यर्थमेव स्यात् ।"[4]

आनन्दमय केवल ब्रह्म—आनन्दमय केवल ब्रह्म, पर पुरुषोत्तम ही है, जीव और जगत् नही । जीव मे जो आनन्दानुभव होता है वह परमात्मा का ही होता है । उसे परमात्मा ही आनन्दित करता है । और जगत् मे भी जिस आनन्द-सन्निवेश की चर्चा हमने पीछे की है वह भी कारण रूप से आन्तर रहता है, कार्य रूप से बाह्य एव व्यक्त नही होता । अत आनन्दमय केवल परम पुरुषोत्तम होता है ।[5]

तारतम्य—वल्लभ आनन्द की अनेक तर-तम भूमिकाएँ स्वीकार करते हैं । ये भूमिकाएँ जड-जगत् मे अनभिव्यक्त अन्तर्निविष्ट आनन्द से लेकर परब्रह्म की स्थिति तक फैली

---

१ "आनन्दरूपस्य जगदुत्पत्तौ कारणभूता" प्रस्थानरत्नाकर, पृ० ५५ ।
"आनन्दाशस्यैव कारणत्वेन ब्रह्मत्वप्रतिपादनार्थत्वात् ।" अ० भा० सविवरण, पृ० ११४ ।
"आनन्दाशस्य जगत्कारणत्वबोधार्थमानन्दाशप्रवेशमकृत्वेत्यर्थ ।" वही विवरण, पृ० १४ ।
"प्रपाठकेन जगत्कारणत्वेन परपदार्थे ब्रह्मत्वमुपपादनीयम् ।" वही विवरण, पृ० ४ ।

२ "जडे शुष्के रसाभावात्, भगवान् व्यापक आनन्दमयश्च ।" सुबोधिनी द्वितीय स्कन्ध अ० ४, श्लो० २३ ।
"अस्तिभातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात् ।" अ० भा० सविवरण, पृ० ५६ ।

३. सद्रूपे दृष्ट-रूप-क्रियास्विव तारतम्येनाविर्भाववत्, जडेपि भानत्वादिप्रतीतेस्तारतम्येन आविर्भावोंगीकर्तव्य:, भगवदिच्छाया नियामकत्वात् ।" सविवरण अ० भा०, पृ० ५७ ।

४. अ० भा०, १।१।५।१३ ।

५ "तर्हि जडो भवत्वानन्दमय । न । आन्तरत्वान्न कार्यरूपो भवति, किन्तु कारणरूप स स्वमतेनास्त्येव ।" अ० भा०, १।१।५।१७ ।

हुई है। जीव को जो लौकिक आनन्द का इन्द्रियादिक के स्तर पर आनन्दानुभव होता है, वह भी मूलत आनन्दमय ब्रह्म का ही अशाविर्भाव है,[1] और अन्तर्यामी[2] तथा अक्षर ब्रह्म का आनन्द भी वही है। माला का अन्तर है।

अक्षर ब्रह्म आनन्दात्मक होते हुए भी परमकाष्ठापन्न आनन्द नही है, परिच्छिन्न आनन्द है।[3] ज्ञानियो को अधिक से अधिक इसी अक्षर ब्रह्म के आनन्द की उपलब्धि हो मकती है। परानन्द को तो पुष्टि-प्राप्त भक्त ही पा सकता है। साकार होने से मनोवागि्वषय—वल्लभ आनन्द को आकारसमर्पक तत्त्व मानते है।

इस साकारता का तात्पर्य भगवान् के चतुर्भुजादि आकार से है। जब भक्तो को भगवदनुग्रह से यह परमानन्द आस्वाद्य बनता है तो अपनी साकारता मे ही आस्वाद्य बनता है। अत वल्लभ उमे भक्त के मन और वाणी का विषय मानते है—"पूर्णानन्दात्मक पुरुषोत्तमस्वरूप फलरूप प्राप्य उक्तर्गर्थरीत्या तेन सह सर्वकामाशनमेव मनोवाग्विषयानन्दवेदन तद्वान् भवतीति।"[4]

किन्तु भक्त की जिन मन और वाणी का गोचर यह परानन्द तत्त्व स्वीकार किया गया है, वे मन-वाणी लौकिक तथा प्राकृत नही है, भगवद्विभूतिरूप शुद्ध सत्त्व की अभिव्यक्ति है, यह अभी आगे स्पष्ट होगा।

जीवो के आनन्दभोग मे ब्रह्म का आनन्दभोग—परब्रह्म ने रमण के लिए प्रपच-सर्जन की लीला की है, अत इस प्रपच के अन्तर्गत जो भी लौकिक स्त्री-पुरुषो का सुख-भोग है, यहाँ तक कि विषय-सुख-भोग भी, सब लीलामय ब्रह्म का भोग है। स्त्री-पुरुष तो अवयव है, जिनके माध्यम से वह अपनी ही रति के अभिव्यक्त रूप का रसास्वादन करता है। एकाकी दशा मे यह आस्वादन उपलब्ध न होने के कारण ही तो उसने व्यक्त भोग की उपलब्धि के लिए अपने को विभक्त और बहु किया है

"तत्र स्वरूपेणैव स्वरूपानुभवे तथा रसो न भवति, स्त्रीपुरुषाद्यवयवेषु तथोपलम्भात्। अत स्वस्थितरसाविर्भावेन स्पष्टभोगार्थ भेदरूपमात्मान विधाय, तस्मिन्स्वस्मिन् प्रविष्टे बहुधा भिन्न सन् अन्योन्यस्य रसमनुभवति।"[5]

आनन्द-भोग की प्रक्रिया

जीव द्वारा उपर्युक्त आनन्द तत्त्व के आस्वादन को वल्लभ ने भोग, साक्षात्कार, अशन आदि शब्दो से विवेचित किया है।[6] उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि पर आनन्द की उपलब्धि

---

१ "तेन भगवान् जगद्रूपेणाविर्भूय स्वाशजीवैस्तानि तानि साधनानि कारयित्वा तानि तानि फलानि ददन् क्रीडतीति सिद्ध्यति। तत्र फल सुखमेव। तदप्येतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति इति श्रुत्या ब्रह्मानन्दस्याशभूतमेव।" अ० भा० विवरण प्र० अ० प्र० पा०, पृ० १५६।

२. "आनन्दाशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिण।" त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ६६।

३ अक्षरब्रह्मण्यानन्दात्मके सत्यपि तस्य परिच्छिन्नत्वान्न परमफलत्वम्।" सविवरण अ० भा०, पृ० ११६ प्र० अ०।

४ "भगवदाकारश्चतुर्भुजत्वादिराकारशब्देनोच्यते।" त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० ७०। उद्धरण—अ० भा० सविवरण प्र० अ०, पृ० १२८-९।

५. सुबोधिनी सप्तमस्कन्ध अध्याय चतुर्थ श्लो० २४, पृ० ६७।

६ सविवरण अ० भा० विवरण, पृ० १२६।

केवल पुष्टि-मार्गीय भक्तो को ही होती है, ज्ञानमार्गी भक्त या मर्यादा वाले भक्त आदि नीचे की आनन्दानुभूतियो तक ही रह जाते है। ज्ञानी अक्षर-ब्रह्म के आस्वादन तक ही रह जाता है, किन्तु उसका आनन्द लीलामय परब्रह्म के आनन्द से बहुत निकृष्ट है।[1]

पुष्टि-पुष्ट के इस आनन्दभोग की प्रक्रिया मे यह आधारभूत मान्यता अपना कर चला गया है कि इस आनन्द की भक्त को उपलब्धि भगवत्कृपा से, उनकी ही इच्छा से होती है। वल्लभ का सारा ढाचा इसी पर खडा है।[2]

आनन्द-भोग की प्रक्रिया एव सिद्धान्त स्पष्ट करने के लिए वल्लभ ने तैत्तिरीयोपनिषद् के भृगु और ब्रह्म दो प्रपाठको का सर्वाधिक सहारा लिया है। वेदान्तसूत्र के आनन्दमयाधिकरण के मूल मे उनके अनुसार ये ही स्थल है। जिन उपनिषद् वचनो को मूलाधार बनाया गया है, वे इस प्रकार हे

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म। यो वेद निहित गुहाया परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।"

वल्लभ के अनुसार इन उपनिषद्वचनो मे बताया गया है कि पहले साधक 'ब्रह्मवेत्ता' बनता है, पीछे 'पर' की प्राप्ति करता है। ब्रह्मविद् होना अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति है, पर की प्राप्ति लीलामय भगवान् का साक्षात्कार है। पहली तो ज्ञानियो को भी हो जाती है, किन्तु दूसरी के लिए भगवदनुग्रहरूपा पुष्टि अनिवार्यत अपेक्षित है। अत पर-प्राप्ति तक की मोटे तौर पर तीन भूमिकाएँ बनती है•

१ साधना से अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति।
२ भगवदनुग्रहरूप पुष्टि की प्राप्ति।
३ लीलामय भगवत्साक्षात्कार की प्राप्ति।

'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' शब्दो की दो प्रकार की व्याख्याएँ वल्लभ ने प्रस्तुत की है। एक व्याख्या के अनुसार इन तीनो शब्दो से अक्षर ब्रह्म के स्वरूप का ही परिचय दिया गया है, जिसमे अनन्त अपरिच्छिन्न सत् और चित् तो है, अनन्त आनन्द नही है। ब्रह्मविद् इसी तक पहुँच जाता है। आगे उस लीलामय साकार ब्रह्म की चर्चा है जो भक्त के हृदयरूप गुहा मे आविर्भूत होता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' शब्दो से अक्षर नही, परब्रह्म का ही स्वरूप निर्धारित किया गया है, जिसे भगवत्कृपापात्र भक्त सीधे प्राप्त कर लेता है।[3] दोनो व्याख्याएँ देकर भी वल्लभ ने अन्यत्र अनेक स्थलो पर पहली व्याख्या का ही अधिक प्रयोग किया है। टीकाकारो के अनुसार पहली व्याख्या क्रम मुक्ति की प्रक्रिया दिखाने के लिए है, दूसरी सद्योमुक्ति की, पहली ज्ञान के माध्यम से जाने वाले भक्तो के

---

१ "ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षरब्रह्मप्राप्ति, पुष्टीमार्गीयस्य भक्तस्य तु सोऽश्नुत इत्यनेनोक्ता परप्राप्तिरिति।" अ० भा०, ४।४।२।११।
तथा ४।४।१।७, ४।४।२।५, "तेन नायमात्मेति श्रुति परप्राप्तिविषयिणी, इहैवेति श्रुतिस्तु मर्यादामार्गीयविषयिणीति मन्तव्यम्।" वही, ४।४।२।११।

२ "पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्य प्रमाणविलक्षण।" अ० भा०, ४।४।२।६।
"अत्रेदमाकूतम्—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम्' मु० ३।२।३ इति श्रुत्या वरणेतरसाधनाप्राप्यत्वमुच्यते।" वही• सविवरण, पृ० ११६ अ० १, पा० १।

३. सविवरण अ० भा०, पृ० ११८-९।

लिए है, दूसरी सीधे अनन्य पुष्टिमार्गियो के लिए ।[1] इन उपलब्धियो की प्रक्रिया वल्लभ विभिन्न स्थलो पर इस रूप मे स्पष्ट करते हे

भक्त जीव मे भक्तिमार्गीय श्रवणादि के द्वारा अज्ञान का नाश होता है, विद्या का प्रकाश होता है, और चित्त शुद्ध होता है । इस शुद्ध चित्त की भूमिका मे उसे अक्षर ब्रह्म की उपलब्धि होती है । अक्षर-प्राप्ति मे उसकी अविद्या पूर्णत निवृत्त हो जाती है, और उसका चित्त प्राकृत धर्मो से रहित नितान्त शुद्ध हो जाता हे । यह पहली सीढी ओर आवश्यकता है, जिस भूमिका मे पुरुषोत्तम का आविर्भाव उसके हृदय मे हो सकता है । इसे वल्लभ ने 'स्वरूपयोग्यता' नाम दिया है, अर्थात् भगवत्स्वरूप के आविर्भाव की योग्यता ।[3]

"अक्षरब्रह्मज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्या प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धत्वसम्पादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता सम्पाद्यते ।[2]

यह भूमिका ब्रह्मवेत्ता की भूमिका हे । इसी के लिए कहा गया हे—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।' उसमे ब्रह्म के अनेक धर्म उदित हो जाते हें । किन्तु यह ब्रह्मज्ञान तो पर प्राप्ति मे साधन-स्थानीय है, स्वय साध्य नही । इस भूमिका का आनन्द परिच्छिन्न होता है, इसकी लघुता का तो तब पता चलता है जब परानन्द की प्राप्ति हो जाती है । इसी कारण इसे 'गणितानन्द' कहा गया है ।[3]

यह स्वरूप-योग्यता इस बात की गारटी नही कि भक्त को पर-प्राप्ति हो ही जायेगी । वह तो उसी को होती हे जिस पर वह कृपा करता है । अत उसके द्वारा वरण या अनुग्रह सहकारी योग्यता के रूप मे अनिवार्यत अपेक्षित है ।[4]

ब्रह्मज्ञान की स्वरूप-योग्यता और भगवदनुग्रह की सहकारी योग्यता आने पर भक्त हृदय मे वास्तविक भक्ति का उदय होता है । यही भक्ति परम प्रेम रूपा होती है । इसी परिपक्व अवस्था मे भक्तहृदय मे भगवान् का आविर्भाव सम्भव होता हे ।

"तादृशे जीवे स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तम-प्राप्तिर्भवति ।"[5]

इस भूमिका मे एक उल्लेखनीय बात होती हे । भक्त के लौकिक प्रकृति-गुणो से निर्मित शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि के स्थान पर विशुद्ध सत्त्व के अलौकिक अप्राकृत शरीरादि का आविर्भाव हो जाता है । इसे वल्लभ ने कही लीलोपयोगी प्रपच, कही परम व्योम, कही भगवद्विभूत्यात्मक सघात, कही शुद्ध सत्त्व आदि के रूप मे निरूपित किया है । वल्लभ का आग्रह है कि साक्षात् लीलामय साकार भगवान् का साक्षात्कार शरीर के बिना हो ही नही

---

१ सविवरण अ० भा०, पृ० ११९, १२० विवरण ।
"ज्ञानमार्गीयजीवज्ञेयप्रकाराद् वशिष्ट्येनापि तथा ।" अ० भा० वही, पृ० १२० ।

२ सविवरण अ० भा० १।१।५। पृ० ११९ ।

३. "परप्राप्तिसाधनीभूतब्रह्मज्ञानदशाया तदानन्दो य पूर्वमनुभूत स गणितान द इत्येतदानन्दानुभवान तत्तुच्छत्वेन भाति ।' वही, पृ० १३३ ।

४ "एव प प्राप्ति कथाञ्चिदेव भवति । तत्र हेत्वपेक्षायामाह—भजनान द दातु यमेव सकल्पविषयीकरोति स एवैव प्राप्नोति, इति भगवत्सकल्प एव तत्र हेतु ।" अ० भा० ४।४।२८ ।
"स्वरूपात्मकभजनानन्द दित्साया त कृत आविर्भावो भवत्यव । । तथा च भगव स्वरूपबलेनैवाविर्भाव इत्यर्थ ।" अ० भा० ४।४।११ ।

५. सविवरण अ० भा०, पृ० ११९ ।

सकता, भक्त उपनिषद्वचनो के अनुसार परब्रह्म के साथ कामो का भोग करता है, वह भोग बिना शरीर के सम्पादित हो ही नही सकता, उपनिपद् कहती हे—गुहा मे परम व्योम का आविर्भाव होता है, तो गुहा तो बिना शरीर के हो ही नही सकती, अत अलौकिक लीला-मय के आविर्भाव के लिए उसके आसन के रूप मे उसी के अनुरूप शरीरादि का उदय होना चाहिए। अत पूर्ववर्ती प्राकृत शरीरादि का नाश होकर नित्य, सच्चिदानन्दरूप, भगवद्विभूतिमय, चित्प्रकाशात्मक, शुद्ध सत्त्व के शरीरादि का आविर्भाव इस भूमिका मे वल्लभ प्रतिपादित करते हे।[1]

इस विभूतिमय विग्रह के आविर्भाव के लिए एक और विशिष्ट तर्क वल्लभ ने दिया है। भगवद्वरण से भक्त मे परम प्रेम रूपा तीव्र रति का उदय होता हे। इसके उदय होने पर भगवान् के पूर्ण आविर्भाव तक भक्त एक अत्यन्त तीव्र विरह का अनुभव करता हे। वल्लभ इस विरह को अपनी भक्तिभावना मे बडा महत्त्व देते हृ। यह विरह इतना तीव्र होता है कि इसे 'सर्वोपमर्दी' कहा गया है, सब-कुछ को तोड-ताड देने वाला। अब यदि इसके आने से पूर्व ही भक्त के शरीरादि मे भगवद्-विभूति का अनुप्रवेश न माना जाय, तो यह विरह लौकिक शरीरादि से कब सहन होगा ? विज्ञानमय अक्षर की भूमिका मे पहुचा जीव भी इसके आघात से नष्ट होकर अक्षर मे लीन हो जायेगा। तब लीलारस का अनुभव ही कौन करेगा ? अत यह सगत हे कि उसका विग्रह अलौकिक, नित्य, भगवद्-विभूत्यात्मक, शुद्ध-सत्त्व-मय, सच्चिदानन्दात्मक हो। इस प्रकार भक्त के शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण और अन्त -करण मे भगवान् के विभूति-तत्त्व अनुप्रविष्ट हो जाते हे, और जीव मे स्वय आनन्दमय। तभी वह भगवद्विरह और भगवदाविर्भाव की वास्तविक योग्यता उपलब्ध करता हे।[2]

इस विरह को वल्लभ दु खमय नही मानते, रसाब्धि और आनन्दात्मक मानते है। आनन्दमय पुरुषोत्तम के अनुप्रवेश के अनन्तर शुद्ध चित्त की भूमिका मे आविर्भूत यह विरह दु खरूप हो ही नही सकता।[3] इस विरह मे भक्त मे 'सर्वात्मभाव' का उदय हो जाता है, उसे वैसे भी सब ओर अपना प्रिय ही दिखायी देता है, इस विरह भाव मे तो और विशेषत

---

१ "एतेन लौकिक पूर्वदेह त्यक्त्वा साक्षाद्भजनोपयोगिन भगवद्विभूत्यात्मक सधान प्राप्नोत्याद ।।" सवि० अ० भा० अ० १ पा० १, पृ० १२८। "प्राकृतगुणमय प्रपञ्चमतिक्रम्य गुणातीत पपञ्च साक्षाल्लीलोपयोगिन प्राप्नोति।" वही पृ० १२६। "श्रुति पुरुषोत्तमेन सह सर्वकामभोग वदति, स च विग्रह विना न सम्भवतीति श्रुतिबलादेव तथा म तव्यम्।" अ० भा० ४।४।१।१, "यो वेद निहित गुहायामित्यत्र गुहाया उक्तत्वात्त या विग्रह एव सम्भवात्।" वही, ४।४।२।६, "भक्तस्येव कामा वक्तुमुचिता, ते च न विग्रह विना सम्भवन्ति।" वही, ४।४।२।७, "आश्रयेण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तानश्नुत इति।" वही, ४।४।२।५, "तथा च परप्राप्तेर्मुक्तिरूपत्वात् पुष्टिमार्गीयायास्तस्या एव रूपत्वादक्षरब्रह्मण. पुरुषोत्तमाय-तनरूपत्वात् तदात्मकमेव शरीर तस्य वक्तुमुचितम्, न तु प्राकृतम्।" वही, ४।४।२।५, "ब्रह्मसम्बन्ध-योग्यानि शरीराणि नित्यानि सन्त्येव।" वही, ४।४।२।७, "मुक्तोपि जीव पुष्टिमार्गेगीकृतो भगवद्दत्त विग्रह प्राप्य भजनानन्द प्राप्नोतीति सिद्धम।" ४।४।२।१०।

२ सवि० अ० भा० अ० १, पृ० १३० तथा १२८ के आधार पर।

३. "जीवे त्वानन्दमय पुरुषोत्तम प्रविशतीति रसात्मकत्वादानन्दात्मकमेव विरहरसाब्धिमनुभूय " सविवरण अ० भा०, पृ० १३०।

प्रिय के रूप के अतिरिक्त कुछ दिखायी ही नही देता। इस प्रकार यह विरहानुभव प्रेम की अत्यन्त तीव्र एव चरम कोटि की अनुभुति है जिसके अनन्तर लीलामय भगवान् का आविर्भाव होना है।[1]

इस भमिका मे अभी भक्त के विग्रह-परिवर्तन के साथ शुद्ध सत्त्व के उदय की बात हमने कही है। उपनिषद् वचनो मे कहा गया है—"यो वेद निहित गुहाया परमे व्योमन्"। वल्लभ इसके आधार पर प्रतिपादित करते है कि भक्त के शुद्ध हृदय मे परम व्योम अर्थात् अक्षरात्मक व्यापी वैकुण्ठ का उदय होता है। यह व्यापी वैकुण्ठ ही तो पुरुषोत्तम का गृह रूप है। इसी गृह मे निहित वह पर तत्त्व भक्त के साक्षात्कार का विषय बनता है।[2] तत्वार्थदीपनिबन्ध के शास्त्रार्थ प्रकरण मे इसे ही शुद्ध सत्त्व कहा है।[3]

उक्त दूसरी भूमिका के अनन्तर फलभूमिका आती है जिसमे लीलामय आनन्दमय परम पुरुषोत्तम का साक्षात्कार भक्त को होता है। भगवान् के इस आविर्भाव से उसका

---

१ तत्र सर्वात्मभाववान् भक्तो भगवता मह तत्तत्स्वरूपात्मकान् कामान् भुक्ते इत्युक्तव्याख्यानेन तदथावधायते, उक्त-भक्तस्य सदैव विरहभावे तु विशेषन प्रियस्वरूपातिरिक्तास्फूर्त्याऽ नप्राणादिरूप स एवेति ज्ञापनाय तत्तद्रूपत्वमुच्यते। तेन परमप्रेमवत्त्व सिद्ध्यति।" सवि० अ० भा० अ० १, पृ० १३२।

२ "तत्रैव गुहाया परमव्योमाविर्भाव। परो मीयतेऽनेनेति।" "गुहाया हृदयाकाशे यदाविर्भूत परम व्योमाक्षरात्मक व्यापिवैकुण्ठ तस्य पुरुषोत्तमगृहरूपत्वात् तत्र स्थापितमिव वर्तमान यो वेद "
सवि० अ० भा०, पृ० ११९ तथा १२०।

३ "आनन्दरूपे शुद्धस्य सत्त्वस्य फलन यदा।
तदा मरकतश्याममाविर्भावे प्रकाशते।"
"आनन्दरूप, आनन्द एव ब्रह्मणि रूपस्थानीय। तत्र शुद्धस्य सत्त्वस्य देवतारूपस्य भगवदिच्छया श्रीभगवदासनत्वेन स्फुरितस्य श्यामत्वात् तस्य प्रतिफलनेन आनन्दो नीलमेघवत् भासत इत्यर्थ। यथा स्फटिको जपाकुसुमेन। श्वेतपाषाणेषु प्रविष्टोपि स्फटिको जपाकुसुमलौहित्य गृह्णन् पाषाणेभ्यो वैशिष्ट्य-मात्मन प्रतिपादयति।" त० दी० नि० शा० प्र०, पृ० १२१।

इस उद्धरण पर विचार करने से एक उल्लेखनीय बात सामने आती है, वह यह कि वल्लभ शुद्ध सत्त्व का वर्ण श्याम मानते प्रतीत होते है। भगवान् के आसन के रूप मे शुद्ध सत्त्व का आविर्भाव हो चुका है जिसमे भगवान् का प्राकट्य होता है। भगवान् का रूप आनन्दात्मक है। आनन्द को साकार और रूपात्मक मानकर वल्लभ चलते है। आनन्दकारी भगवान् में वे श्वेत वर्ण मानकर चलते प्रतीत होते हैं। उनमें आकार या रूप तो है, वर्ण नहीं। जब श्याम शुद्ध सत्त्व में वह अवतरित होते है तो शुद्ध सत्त्व का श्याम वर्ण उनके आकार मे प्रतिफलित होता है, और वह उनका आनन्दात्मक आकार भी उसी भाति श्याम प्रतीत होने लगता है जैसे श्वेत स्फटिक लाल जपाकुसुम के प्रतिफलन से लाल प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार आनन्द के द्वारा समर्पित आकार वाले पुरुषोत्तम में शुद्ध सत्त्व की श्यामता से श्याम वर्ण आ जाता है।

इस मान्यता का हमें वल्लभ के किसी अन्य ग्रंथ में पोषण नहीं मिला। वल्लभ के समूचे साहित्य का अनुशीलन भी हमारी शक्ति के बाहर रहा है। किन्तु यदि यह मान्यता इसी रूप में पुष्ट होती है तो वल्लभ की एक मौलिक स्थापना कही जा सकती है। कृष्ण के, शृंगार के, काम के प्रसग में जो श्यामता का उल्लेख आता है, उसकी व्याख्या में शुद्ध सत्त्व को ही श्याम मानकर कुछ और जोड़ा जा सकता है।

विरह शान्त हो जाता है, और वह उनके अनन्त आनन्द का भोग करता है।

इस प्रकार तीसरी भूमिका भगवदाविर्भाव की है। इस भूमिका मे भक्त के हृदय मे आविर्भूत होने वाला पर-ब्रह्म ज्ञानियो का ब्रह्म नही, लीला-मय लीला-रसिक श्रीकृष्ण है, जिसका प्रतिपादन भागवत करती है यह आनन्दमय होना है। केवल आनन्दमय नही, विज्ञानानन्दमय रूप मे उदित होता है। वल्लभ का कहना है कि यदि इस उदित रूप मे केवल आनन्दमय होगा तो उस भक्त को, जो पहले से विरह मे सब-कुछ खोये बैठा है, भगवान् के आविर्भाव का पता ही न चल सकेगा। अत 'सर्वज्ञानान्दरूप' का आविर्भाव होता है।[१] आनन्दमय होने के नाते यह भगवद्रूप अनन्त सौन्दर्य का अकार साकार होता है।[२]

भगवान् के परमकाष्ठापन्न स्वरूप की कल्पना पुष्टिमार्ग लीलामय के रूप मे ही करता है।[३] रसो वै स श्रुति का प्रतिपाद्य तत्त्व लीलाहीन नही, लीलामय है।[४]

भगवान् की लीला नित्य है। वह उनके स्वरूप की अभिव्यक्ति है। अत उनके रसमय स्वरूप के ही अन्तर्गत है।[५] भगवान् की दृष्टि से लीला भगवत्कर्तृक भोग है, क्योकि रमण के लिए ही तो वह अपने इस लीलामय रूप मे आविर्भूत होता है।[६] यदि भक्त की दृष्टि से देखे तो लीला ही उसका परम कैवल्य या परम मुक्ति है।[७] लीला मे प्राकृत जगत् दूर रहता है, रसस्वरूपमध्यपातिनी लीला मे प्राकृत जगत् एव उसके विकारो का ससपर्श कहाँ ?[८] लीला के अनेक रूप है, वह नित्य अनेक रूपो मे चलती रहती है।[९] उपर्युक्त तीसरी भूमिका मे आविर्भूत होने वाला पुरुषोत्तम इसी लीला से विशिष्ट आविर्भत होता है।

आनन्द-भोग

शैवो और शकर के समान पूर्ण अभेद वाली अद्वैत दृष्टि न अपनाने के कारण वल्लभ उपलब्ध फल और उसके भोग मे अन्तर करके चलते है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' के अनुसार ब्रह्मज्ञान साधन है, भगवदनुग्रह सहकारी है, भक्त फल-प्राप्तिकर्ता है, और पर ब्रह्म फल है।

---

१ "सर्वज्ञानन्दरूप फलमुपपाद्य।" सवि० अ० भा०, पृ० ११४। "ततो भगवदाविर्भावे सत्यपि पूर्वभावस्याति तीव्रत्वेन ज्ञानादिसर्वतिरोधानेनाग्रिमरसानुभवो न भविष्यतीति स्वयमेव तदनुभवात्मको भवतीति ज्ञापनाय विज्ञानरूपत्वमुच्यते।" वही, पृ० १३०।

२. "आन दमात्रकरपादमुखोदरादि।" तदी० नि०, शा० प्र०, पृ० ८५।

३ "लीलाविशिष्टमेव शुद्ध पर ब्रह्म, न कदाचित्तद्रहितमित्यर्थ.। अ० भा० ४।८।३।१४।

४ "एतेन रसो वै स" इतिश्रुतिर्लीलाविशिष्ट एव प्रभुस्तथेति तादृश एव फलमिति ज्ञापितं भवति।" वही, ४।४।५।१६।

५ अतो रसरवरूपमध्यपाति वाल्लीलाया, रसस्य च भगवदात्मकत्वाद् भगवद्रूपेण सर्वमुपपद्यते लीलायाम्।" अ० भा० ४।४।५।१६।

६. "भगवत्कर्तृकभोगस्य लीलारूपत्वात्।" अ० भा०. ४।४।४।१६।

७ "लीलैव कैवल्यम्, जीवाना मुक्तिरूपम्। तत्र प्रवेश परमा मुक्तिरिति यावत्।" अ० भा० : ४।४।३।१४।

८ "तेन स्वरूपात्मकत्व लीलाया.।" अ० भा० ४।४।३।१४।
"लीलाया कालमायाद्यतीतत्वेन प्राकृत जगत् दूरतरमितोऽपि हेतोर्न तत्सम्भव।" अ० भा० ४।४।५।१७।

९ अ० भा० ४।४।५।१०।

'सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' के अनुसार सर्वकाम-भोग उस उपलब्ध फल का आस्वादन या भोग है ।[1] इस प्रकार वल्लभ भगवत्स्वरूप को फल या पुरुषार्थ मानते है, और उसके भोग को, स्वरूपानुभव को, उनके लीलामय स्वरूप के आस्वादन को 'भोग' मानते है ।

इस आनन्द-भोग का प्रधान भोक्ता भक्त ही होता है । वल्लभ की व्याख्या के अनुसार 'सोश्नुते सवान् कामान् सह ब्रह्मणा' मे स्वतन्त्र कर्ता भोक्ता जीव ही है, भगवान् की स्थिति तो तृतीया विभक्ति मे होने से गौण है ।[2] अत आनन्दभोग भक्त का ही सवेद्य माना गया है, आर भगवान् को भक्ताधीन कहा गया है । यह भगवान् की ही लीला एव भक्त-परवशता है कि वे भक्त को अपना मख्य देते है, उसके आत्मनिवेदन को स्वीकार करते है, करुणा करके उसे अपने अनुग्रह का पात्र बनाते है, अपने लीलामय आनन्दमय स्वरूप का आस्वादन कराते हे, और उसे ही प्रधान बना देते है ।[3] वल्लभ का अनुयायी भक्त इसी आकर्षण से अद्वैत-साधना की ओर नही जाता कि उसका यह आस्वादन का अवकाश ही समाप्त न हो जाय ।

जीव के इस आनन्दभोग मे पारमार्थिक अशतामूलक द्वैत बना रहता है । यह जो भोग होता है, उसमे उसकी नैसर्गिक ज्ञान-क्रिया शक्तियो का आविर्भाव[4] नही होता, आविर्भूत भगवान् की शक्तियो का ही होता है । फिर भी जैसे भक्त चरम स्नेह से भगवान् को धारण किये रहता है, वैसे ही भगवान् भी उसे स्नेह से गले लगाये रहते है ।[5]

जीव के इस आनन्दभोग मे भगवल्लीला का ही दर्शन, उसी का रसास्वादन होता है, लौकिक व्यापार, इन्द्रिय-सुख आदि का सस्पर्श नही होता ।[6] इस प्रकार इस परम रस का आस्वादन सर्वथा अलौकिक, पुष्टिमार्गीय भक्त-जनैक-सवेद्य एव अद्भुत होता है ।[7] भगवद्विभूतिरूप जो शरीर, मन आदि भक्त मे आविर्भूत हो चुके होते है, उनका वह गोचर माना गया हे

---

१ "प्रभोरेव प मफलत्व सिध्यति । । न चात्र कामभोगस्य फलत्व शकनीयम्, आप्नोति परमित्ये-तद्व्याकृतिरूपत्वात् स्वरूपानुभवत्वातद भोगस्य। अनुभयमानस्यैव हि सुखस्य लोके पुरुषार्थ वोध्यते ।" अ० भा० ४।४।५।२१ ।

२ "शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वादत्र भक्तस्य स्वातन्त्र्य भोग उच्यते, सहभावोक्त्या ब्रह्मणो गौणत्वम् । अतएव भक्ताधीनत्व भगवत स्मृतिष्वप्युच्यते ।" सवि० अ० भा०, पृ० १२१ ।

३ यत सख्य दत्त्वा तत्कृतात्मनिवेदनमगीकुर्वन्नतिकरुण स्वस्वरूपानन्दमनुभावयस्त प्रधानीकरोति । अन्यथा भवतोनुभावयितु न शक्नुयात् ।" अ० भा० ४।४।५।२१ ।

४ "न हि तदा नैसर्गिकज्ञानक्रियाभ्या तथा भोक्तु शक्तो भवति, किंतु भगवांस्तस्मिन्नाविशति यदा तदायमपि तथैव भवतीति सर्वमुपपद्यते ।" वही, ४।४।१५ ।

५ "वरणजस्नेहातिशयेन भवतेनापि भ्रियमाण सन्, स इव स्वयमपि त स्वस्मिन् बिभर्ति । अ० भा० ४।४।४।१५ ।

६ "या लीला करोति ता भक्ता पश्यन्तीति ।" वही, ४।४।३।१४ ।

७ तदापि लीलामयपातिना न लौकिकव्यापारस भव ।" वही, ४।४।५।१७ ।
"पूर्वोक्तस्य जगत्सम्बन्धी लौकिको यो व्यापार कायवाङ्मनसा तद्वर्ज तद्रहित भोगकरणम् ।" वही, ४।४।५।१७ ।

"यत्र गुहाया भगवद्वरणेन परव्योमाविर्भावस्तत पूर्णानन्दात्मक पुरुषोत्तमस्वरूप फलरूप प्राप्य, उक्तगर्भरीत्या तेन सह सर्वकामाशनमेव मनोवाग्विषयानन्दवेदन तद्वान् भवतीति ॥"[१]

रस-निष्पत्ति

महाप्रभु वल्लभ ने अपने विविध ग्रन्थो मे, विशेषत सुबोधिनी मे अपनी चेतना के अनुसार निरूपित रस-तत्त्व का विवेचन काव्य-शास्त्र की पदावली मे भी किया है। बात करते-करते वे काव्यशास्त्रीय शब्दावली पर आ जाते है। सामान्यत उन्होने अपने युग तक परिनिष्ठापित अभिव्यक्तिवाद की मान्यताओ का अवलम्बन लिया है। फिर भी भक्तिरस की आवश्यकताओ के अनुरूप अनेक मौलिक बाते भी निरूपित हुई है। हम यहाँ उन सबकी ओर न जाकर केवल रस-निष्पत्ति से सम्बद्ध कतिपय प्रमुख बातो का ही उल्लेख करेगे।

आविर्भाववाद—वल्लभ के रस-सिद्धान्त को 'आविर्भाववाद' का नाम दिया जा सकता है। यद्यपि उन्होने 'उत्पत्ति' 'अभिव्यक्ति', आदि शब्दो का भी प्रयोग किया है, तथापि उनका मन्तव्य वहाँ आविर्भाव से ही होता है। उनके अनुसार लीलामय कृष्ण आविर्भूत होकर ही पूर्ण रस है, अत उनके अनुसार 'रसाविर्भाव' का सिद्धान्त निरूपित होता है।[२]

रस लीलामय कृष्ण—यह हम देख चुके है कि वल्लभ का रस तत्त्व लीलामय कृष्ण है। ब्रह्म अनाविर्भूत लीला वाला रस तत्त्व है, कृष्ण आविर्भूत लीला मय।[३] वल्लभ रस को काव्यशास्त्रीय प्रक्रिया पर दश प्रकार का मानते है—[४]। उसी के आधार पर यह रसमय कृष्ण भी दशविध लीलामय होता है। जिस भक्त मे जिस प्रकार की भावना-वासना होती है, उसमे उसी प्रकार की लीला के साथ भगवान् का आविर्भाव होता है।[५] इसी प्रकट लीलामय रूप की चर्चा श्रीमद्भागवत मे है। यह स्वरूपत आनन्दमय होने के कारण साकार है। भक्तो को उसकी ही कृपा से अभौतिक इन्द्रियादि से ग्राह्य है।

यह कृष्ण स्वय रसमय एव रस-स्वरूप होते हुए जिसमे आविर्भूत होता है, उस भक्त हृदय को रसात्मक बना देता है, जैसे उद्गत अग्नि सर्वत्र लीन अग्नि का आविर्भाव कर देता है, वसे ही उसके आविर्भाव से आश्रय भक्त की अनुभूतियाँ भी रस-रूप हो जाती है।[६]

---

१ सवि० अ० भा०, पृ० १२६ अ० १, पा० १।

२ "तारतम्येन रसाना क्रमेणाविर्भावे महान् रस।" सु० श्रीमद्भाग० १०।२१ अ ४।
"सम्यक्प्रवृत्तिर्निरन्तरमाविर्भाव।" वही, १०।३३।३।
एव प्रधानस्य रसाविर्भावमुक्त्वा शिष्टाना रसाविर्भावो जात इत्याह।" वही, १० ४३ १६।
"ततस्तेषा रस आविर्भूत इति वदन्तु।" वही, १० २३ २०।

३. "यदा भगवान् लीलारूपेण प्रकटो जात तदा तस्या लीलाया यो रस स एव ब्रह्मणि, पर नाभिव्यक्त।"
"तस्माद्य कश्चन भगवत्स्वरूपात्मको रस निरतिशयत्वेपि सातिशय स्वाभिव्यक्ति-भोक्तव्य.।"
सु० २ : १।३६।

४ सु० १० ४३ ' २२।

५ वही, १० ४३। २२। "प्रमेयेण निरोधऽत्र कर्तव्यो हरिणा भृशम्। लोकाश्च दशधा भिन्नास्ततो दशविधोऽभवत्। यस्य भावो यथालोके तस्यानुसरणे कृते।"

६ सु० १० ४३ ३।

लीलामय कृष्ण रस-स्वरूप एव रसमय ही नही, इस प्रकार सर्वरसमय भी है। आचार्य वल्लभ ने इस सर्वरसमयता का प्रतिपादन सुबोधिनी मे अनेक स्थलो पर पर्याप्त विस्तार से किया है।[1] दशम स्कन्ध के १२ से १८ तक के अध्यायो की सुबोधिनी मे यह तथ्य अधिक स्पष्टत सामने आया है।

फिर भी इस सर्वरसमयता मे उनका शृगारी रूप ही सर्वश्रेष्ठ है, जिसका आस्वादन केवल गोपियो को ही हुआ है।[2] इन गोपियो के साथ रसमय रास मे स्वय कृष्ण का रसमय रूप पूर्णत आविर्भूत होता है, और उनके सम्पर्क से इन गोपियो मे भी रस आविर्भूत होता है।[3] इस प्रकार गोपियो की समस्त काम चेष्टाएँ रसमयी एव रस-रूपा हो जाती है।[4] इन काम चेष्टाओ मे एक चरम निष्कामता रहती है, इसी कारण ऊपर से लौकिक काम के समान दिखायी देने पर भी वैसी नही होती।[5]

रस के दो रूप—वल्लभ लीलामय रसरूप कृष्ण को दो रूपो मे स्वीकार करते है, धर्ममहित और केवल। इस दृष्टि से वे रस के भी दो भेद करते है—धर्मसहित और केवल। केवल रस का सम्बन्ध नाट्यात्म रस से है, जिसकी चर्चा वे काव्यशास्त्रीय पदावली मे करते है, धर्मसहित रूप भगवान् की सम्भोगात्मक लीलाओ से सम्बन्ध रखता है। कहना चाहिए, एक का सम्बन्ध काव्यात्मक रूप मे अनुभव करने वाले आस्वादयिताओ से है, दूसरे का मूल गोपी आदि लीला-पात्रो से। भागवत १० २१ ७ की सुबोधिनी मे वे यह चर्चा इस प्रकार करते है

"रसो हि द्विविध —धर्मसहित केवलश्च। केवलो नाट्ये प्रसिद्ध, धर्मसहित सम्भोगे। भगवतो वपुरुभयविधमपि।"

निष्पत्ति—अणु भाष्य मे आनन्दमय अधिकरण मे काव्यशास्त्रीय पदावली के साथ निष्पन्न रस का स्वरूप इन शब्दो मे वल्लभ ने प्रस्तुत किया है

---

१ "तत्रेश्वरो हि सर्वरसभोक्ता भवति, 'सर्वरस' इति श्रुते।" सु० १० १९ १६।
"मल्लानामशनिर्नृणा नरवर" इत्यादि भा० १० ४३ १६ की सुबोधिनी।
"रौद्रोद्भुतश्च शृगारो हास्य वीरो दया तथा।
भयानकोपि बीभत्स शान्तो भक्तिरसस्तथा॥
एतान् दर्शयितु भावान् हरिरेव बभौ महान्।"
"सु० १०. १५ ४२। "एव पुरुषार्थचतुष्टयसहिता दशरसयुक्ता लीला च प्रदर्शिता एव सर्वरसयुक्त भगवन्त पश्यन्त्योपि।"

२ "ब्रह्मादिभि श्रुतिभिश्च भगवानत्र प्रार्थनयानीत, रसस्तु गोपिकाभिरेव भुक्त, त एव हि रस जानन्ति।" सु० १० १५ ४३।

३ 'सुबोधिनी' रासपचाध्यायी, विशेषत १० ३३ ३।

४ "रसो वै स इतिश्रुतेरिद सर्व रसमव्यपातित्वेन स्वरूपात्मकमेवेति।" वही, १० २३ १७।

५ क्रिया सर्वापि सैवात्र पर कामो न विद्यते। तासा कामस्य सपूर्तिर्निष्कामत्वेन जायते। कामेन पूरित काम ससार जनयेत्स्फुट। कामाभावेन पूर्णस्तु निष्काम स्यान्नसशय। सु०, १० २९ ४२।
"पूर्व० निरुपाधिरेव स्नेह स्थितो भगवता पर रसशास्त्रोक्त्या स्वरूपानन्द दातु तत्सजातीय कामोपाधिक स्नेहोऽधुना जनित इति।" वही, १० : २१ ' ४३।
"यथा तासा महानेव रस आविर्भवति तथा कामशास्त्रसिद्धा लीला सर्वा एव कृतवान्।" वही, १० १९ ४३।

"तदानुभवविपय प्रकट आनन्दमय इति तत्स्वरूपमुच्यते। तत्र निरुपधिप्रीतिरेव मुख्या नान्यदिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रधानाङ्गत्वमुच्यते।

तदा प्रियेक्षणादिभिरानन्दात्मक एव विविधरसभावसन्दोह उत्पद्यते य, स दक्षिण पक्ष उच्यते। तत स्पर्शादिभि पूर्वविलक्षण प्रकृष्टानन्दसन्दोहो य, स उत्तर पक्ष उच्यते। नानाविधपक्षसमूहात्मकत्वात् तये पक्षयोर्युक्त तथात्वम्।

स्थायिभावस्यैकरूपत्वादात्मत्वमुच्यते यतस्तै एव विभावादिभिर्विविधभावोत्पत्ति ।"[1]

ये स्थल तैत्तिरीयोपनिषद् के निम्न शब्दो की व्याख्या की दृष्टि से वल्लभ ने लिखे है

"तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय। तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वय पुरुषविध। तस्य प्रियमेव शिर। मोदो दक्षिण पक्ष। प्रमोद उत्तर पक्ष। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा तदप्येश श्लोको भवति ॥"[2]

वल्लभ के अनुसार उपनिषद् के इन शब्दो मे आनन्दमय रसरूप के आविर्भाव का प्रतिपादन हे। उपनिषद् इसका विवेचन पुरुष के, पक्षी के रूपक से करती ह। इस आविर्भूत आनन्दमय का शिर अर्थात् सर्वप्रमुख तत्त्व वल्लभ के अनुसार निरुपधि प्रीति हे। यह रति ही स्थायी भाव हे।

प्रिय के दर्शनादि से इस रति का पूर्ण परिपाक होता है। यह रति स्वरूपत आनन्दात्मक है, उसका विषय आनन्दमय कृष्ण हे। इस रति के उद्बोधन के लिए यही प्रियदर्शनादि ही प्रमुख विभावादि सामग्री है। वेणुगीत अ० २१।८ की[3] सुबोधिनी मे इस भाव-विकास की प्रक्रिया को और स्पष्ट किया गया है। श्रवणादि से भगवत्-शास्त्र के अनुशीलन से पहले भावकलिका का उदय होता हे। पीछे, जेसा कि पुष्टिमार्ग की मूल धारणा हे, भगवदनुग्रहरूपा पुष्टि की उपलब्धि मे यह प्रीति भाव कलिका से पूर्ण विकसित पुष्प के रूप मे आ जाती हे। इसका परिणाम स्वभावत होता हे प्रिय रूप फल का आविर्भाव, जिसके सम्पर्क से वह रति ओर उसमे उद्भूत समस्त अनुभूतियाँ रसात्मक हो जाती हे।

इस रति की भूमिका मे विभाव-स्थानीय प्रिय के आविर्भाव होने पर उसके साथ भक्त का दो प्रकार का सम्पर्क स्थापित होता है। केवल दर्शनादि के रूप मे, दूसरे उससे और अधिक निकटता का स्पर्श-सम्भोगादि के रूप मे। पहले सम्पर्क मे प्रिय-दर्शन के फलस्वरूप भक्त मे अनेक प्रकार की भावात्मक अनुभूतियाँ उद्भूत होती है, दूसरे मे इससे

---

१ सविवरण अ० भा०, पृ० १३०-३, अ० १, पा० १।

२ तैउ० ब्र० भृ० प्रपाठक।

३ गुणा माया च वेषार्थसुपयुक्ता भवन्ति हि। अता रसस्याभिनये चत्वारोथा निरूपिता।
रसरूपसुग धाना प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिता। धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र निरूप्यते।
वस्तुनिर्देशमात्रेण श्रोतृणा काव्यवद्रस। रसवत्फलबोधाय प्रथम पल्लवो मत।
शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात् भावस्य कलिका भवेत्। ततस्तस्य च वैचित्र्य पुष्पस्थानमिहोच्यते।
अहोरात्र वासना रयात् तत आच्छादन स्मृतम्। रसोऽपरयर्थमेतावन्निरूपितमिति स्थिति।
आविर्भावे रसास्वादात् नृय शोभा ततो भवेत्। अतोऽतिगुप्तो भगवान् रसत्व प्रतिपद्यते।
सु०, १० २१ ८।

और गहरा प्रकृष्ट कोटि का आनन्दसन्दोह अनुभव मे आता है। वल्लभ के अनुसार दूसरा ही चरम कोटि का आनन्द है, जिसे उपनिषद् मे 'प्रमोद' नामक उत्तर पक्ष कहा है। पहला 'मोद' नामक दक्षिण पक्ष है।[1]

रसास्वादयिता के ये अनुभव वस्तुत और स्वरूपत अपनी रति के ही प्रोच्छलन है, अत स्थायी भाव से भिन्न नही। स्थायी भाव के आनन्दात्मक होने के कारण ये भी स्वरूपत आनन्दात्मक ही होते है।

इस प्रकार इस स्थल के विवेचन से निम्न बाते स्पष्ट होती है

१ रस स्वरूपत कृष्ण का लीलामय रूप है, किन्तु वह भक्त के हृदय मे स्वेच्छा से कृपा करके आविर्भूत होता है, और उमकी रति के विभाव के रूप मे आता हे। इम स्थिति मे वह अनुभूतिमात्र नही अनुभति-गोचर होता है।

२ भक्त की रति का परिपाक ही उसकी दृष्टि से रस हे, जिसका आस्वादन उसे ठीक काव्यशास्त्रीय प्रक्रिया के अनुरूप होता है।

३ रति की भावकलिका का उदय एव विकास क्रमिक है, एव पुष्टिसाध्य है।

४ स्थायी भाव रति स्वरूपत आनन्दात्मक है, उसका विषय आनन्दमय है।

५ वल्लभ के अनुमार आनन्द के साकार होने के कारण इस अनुभव मे प्रिय के दर्शन-स्पर्शन आदि होते है। यह आनन्द केवल कल्पना की भूमि मे ही परिसीमित नही रहता।

६ यह रमानुभव ब्रह्मानन्द से उत्कृप्ट है, इसलिए उपनिषद् वचनो मे उसे 'पुच्छ' का स्थान दिया हे, जबकि प्रीति को सिर का।[2]

७ भक्त द्वारा अनुभूयमान रम इन अर्थों मे अखण्ड है कि जितनी भी अनुभूत्यात्मक प्रतिक्रियाएँ उसमे उदित होती है, इसी का स्वरूपात्मक प्रोच्छलन होती हे।

चैतन्य-दर्शन एव रस

अब तक हम रामानुज-दर्शन, मध्व-दर्शन, निम्बार्क-दर्शन एव वल्लभ-दर्शन की दृष्टि से रस का स्वरूप समझ चुके है। हमारे चुने हुए पॉच वैष्णव दर्शनो मे चैनन्य-दर्शन शेष रहता हे। महाप्रभु चैतन्य ने स्वय किसी दार्शनिक ग्रथ का प्रतिपादन नही किया, फिर भी उनके अनुयायियो द्वारा एक सुव्यवस्थित दर्शन की प्रतिष्ठा हुई है। सम्प्रदाय मे अन्य सम्प्रदायो के समान ही वेदान्तसूत्र पर भाष्य भी लिखा गया है। सामान्यत मध्व-दर्शन की मान्यताओ से यह दर्शन बहुत मेल खाता है और प्राय दोनो के दर्शन का नाम मिलाकर मध्व-गौडीय दर्शन कहा जाता हे।

---

१ "पक्षपुच्छादित्वेन मोदप्रमोदादीनामुक्तत्वात् च।" सवि० अ० भा०, पृ० १३७।
"मोदप्रमोदावपरिनिष्ठितपरिनिष्ठितावानन्दातिशयो। आनन्दस्तु स्वरूप, साधनरूपत्वाद् ब्रह्मपुच्छम्।" वही, पृ० १४०।

२ "परप्राप्तिसाधनी भूतब्रह्मज्ञानदशाया तदानन्दोपि य पूर्वमनुभूत स गणितानन्द इत्येतदानन्दानुभवान्तर तुच्छत्वेन भातीष्टगतावसाधनत्वेन स्वरूपतोपि तस्माद्धीनत्व चेति पृष्ठभागादपि दूरस्थितपुच्छरूपत्व ब्रह्मण उच्यते।" वही, पृ० १३३-३४।

इन दार्शनिक ग्रथो के आधार पर रस का स्वरूप यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता हे। किन्तु इम चैतन्य-दर्शन के प्रमुख दाशनिक एव भक्त आचार्य रूप-गोस्वामी और जीव-गोस्वामी के द्वारा रस-स्वरूप के निरूपण के रूप मे दो उल्लेखनीय ग्रन्थो का स्वतन्त्र प्रणयन हुआ हे। य ग्रन्थ हं श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु एव उज्ज्वलनीलमणि। इन ग्रन्थो मे रस-स्वरूप का इतना मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है कि उसे वैष्णव-काव्य का एक प्रकार मे उपयुक्त मानदण्ड बनाया जा मक्ता हं। अत उसके अध्ययन के लिए हमे अगले अध्याय मे पृथक् से अवकाश निकालना है। तब यहाँ इस अध्याय मे चैतन्य-दर्शन की दृष्टि से रस-स्वरूप के और विवेचन की आवश्यकता नही रह जाती। रूप-गोस्वामी और जीव-गोस्वामी का रस-निरूपण इस सम्प्रदाय की आधार-भूत दाशनिक दृष्टि के ही सर्वथा अनुरूप हे। वैसे भी ये ही आचार्य इस दर्शन के आधार-स्तम्भ हं।

अत हम अगले अध्याय मे रूप-गोस्वामी ओर जीव-गोस्वामी के रम-निरूपण की ओर आते हे।

३
भक्ति-काव्यशास्त्र में रस

भक्ति-काव्यशास्त्र

ईसा की १६वी शती के मध्य मे गोराग महाप्रभु चैतन्य की भाव-धारा मे बहने वाले आचार्य रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी के द्वारा रस-सिद्धान्त की भापा मे भक्ति-सिद्धान्तो का विवेचन प्रस्तुत करने वाले दो ग्रन्थ 'श्रीहरिभक्ति-रसामृतसिन्धु' एव 'उज्ज्वलनीलमणि' मध्यकालीन कृष्णभक्ति के साहित्य मे एक उल्लेखनीय घटना के रूप मे हमारे सामने आते हे। ये दोनो ग्रन्थ गोस्वामी रूप की कृतियाँ है, जिनपर उनके भतीजे गोस्वामी जीव की विद्वत्ता-पूर्ण टीकाएँ हे। भक्तिरसामृतसिन्धु की रचना शक स० १४६३ अर्थात् १५४१ ई० मे हुई थी, उज्ज्वलनीलमणि की इसके बाद।

इन ग्रन्थो की साम्प्रदायिक चेतना चैतन्य महाप्रभु की है। उन्ही की दार्शनिक आधार-भूमि को इन गोस्वामी आचार्यो ने अपनाया है। चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् कृष्ण के जिस रहस्यमय शृगारी मधुर रूप की झाँकी भक्तो के बीच दिखायी, उसी रूप को सामने रखकर इन गोस्वामियो ने मधुर भक्ति-रस की प्रतिष्ठा अपने ग्रन्थो मे की हे। यो तो इन्होने अनेक भक्ति-सम्बन्धी ग्रन्थो का उपयोग किया है, किन्तु सर्वाधिक उपजीव्य श्रीमद्भागवत ही हे। इस प्रकार इन ग्रन्थरत्नो मे एक ओर तो चैतन्य की साम्प्रदायिक मधुर चेतना परिलक्षित होती हे, दूसरी ओर भक्ति-मार्ग के अनेक सिद्धान्त बडे ही सुव्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत किये गये ह। तीसरी ओर ध्वनिवाद के साथ मिलकर चलने वाले रस-सिद्धान्त की पदावली और चौखटा इन ग्रन्थो के विवेचन को काव्यशास्त्र का जामा पहनाते हे। इस प्रकार इन ग्रथो का वास्तविक रूप केवल भक्तिशास्त्र का न रहकर भक्ति-सम्बन्धी काव्यशास्त्र का हो गया है। इसी हेतु इनकी उपलब्धियो को 'भक्तिकाव्यशास्त्र' नाम देना ही उपयुक्त होगा। भक्ति-सिद्धान्तो और काव्यशास्त्रीय मान्यताओ के अनूठे घोल की ओर स्वय जीव गोस्वामी ने सकेत किया है

"सिद्धान्त-रसभावाना ध्वन्यलकारयोरपि।
अनन्तत्वात्स्फुटत्वाच्च व्यज्यते दुर्गम त्विह॥"[१]

प्रस्तुत अध्याय मे हम इन्ही भक्ति-काव्यशास्त्रीय ग्रथो के आधार पर 'रस' का स्वरूप समझने का प्रयास करेगे। वस्तुत इनकी रस-दृष्टि मे उस काल की भक्ति-साहित्य के एक बडे भाग की रस-चेतना का स्वर मुखरित हे। १६वी-१७वी शती के हिन्दी वैष्णव साहित्य को इस चेतना के बिना समझे सर्वांश मे समझ सकना कठिन ही है।

---

१ भ० र० सि० दु० स, पृ० ६।

मूल प्रतिपाद्य

रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी की इन कृतियो का मूल प्रतिपाद्य भक्ति-रस की मूर्धन्य प्रतिष्ठा है। ऐसा लगता है, मानो काव्यशास्त्र के प्राचीन ग्रथो मे भक्ति को देवादि-विषयक रति के रूप मे जो 'भाव' के अन्तर्गत ही गिना गया था, उसे 'रस' की पदवी नही दी गयी थी, उसी खलने वाले अभाव का प्रत्युत्तर इन गोस्वामी आचार्यो ने[1] भक्ति को ही एक वास्तविक एव मूर्धन्य रस के रूप मे सिद्ध करके दिया हो। इतना ही नही, रसामृतसिन्धु मे काव्यशास्त्रीय समस्त रसो, व्यभिचारियो एव सात्विको आदि को भक्ति के रग मे रग-कर तथा भक्ति की परिधि मे सिमटने की सम्भावना दिखाकर भक्ति-रस की सर्वाङ्गीणता को भी सामने रखा गया है।

भक्ति-रस के निरूपक इन ग्रथो के विषय मे कुछ उल्लेखनीय बाते है, जो विवेचन के स्पष्टीकरण के लिए अपेक्षित है।

१ इन ग्रन्थो के मूल रचयिता रूप गोस्वामी ही है, अत जहाँ तक किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन या स्थापना का सम्बन्ध है, वह उन्ही की है। किन्तु जीव गोस्वामी की टीकाओ का महत्व भी कम नही है। भक्ति की विभिन्न स्थितियो की अनुभूतियो का जितना मनोवैज्ञानिक पक्ष जीव मे उभरकर आया है, उतना काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थो मे भी कम देखने को मिलेगा। अनेक स्थलो पर तो ऐसा लगता है कि जीव चेतन और अवचेतन को अलग-अलग करके अनुभूति की समस्या पर विचार कर रहे है। ये दोनो आचार्य समकालीन तथा एक ही विचारधारा के है, अत हम किसी भी समस्या पर इन आचार्यो की मिली-जुली मान्यता को मूल और टीका दोनो को आधार बनाकर चल सकते है।

२ इन ग्रथो मे प्रतिपादित भक्ति-रस की प्रतिष्ठा की ओर लेखक दो ओर से बढते दिखायी पडते है—एक भक्तिशास्त्र की ओर से, दूसरे काव्यशास्त्र की ओर से। हम यहाँ इनकी दृष्टि से 'रस' के स्वरूप को समझना चाहते है, अत प्रमुखतया इनके काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को ही सामने रखेगे, आवश्यकतानुरूप ही भक्ति और दर्शन की ओर जाएँगे।

३ भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि के प्रतिपाद्य की दिशा एक ही होने पर भी दोनो के क्षेत्र की परिधि कुछ अलग-अलग है। भक्तिरसामृतसिन्धु मे भक्ति के लगभग सभी रूपो को लिया गया है, जैसे शान्त, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, मधुर। साथ ही अन्य सभी काव्यशास्त्रीय रसो को भी समेटा गया है। इनमे मधुर रस ही इन आचार्यो की अपनी साम्प्रदायिक चेतना के अनुसार वास्तविक प्रतिपाद्य है। किन्तु उसका सविस्तर विवेचन तो 'उज्ज्वल रस' के नाम से उज्ज्वलनीलमणि मे हुआ है, न कि रसामृतसिन्धु मे। इस प्रकार उज्ज्वलनीलमणि एक अर्थ मे अधिक साम्प्रदायिक ग्रन्थ है। रसामृतसिन्धु भक्ति की व्यापक समस्याओ और विविध रूपो को स्वीकार करके चलता है। फिर भी, उसमे अपने सम्प्रदाय के दृष्टिकोण की एक सयोजना है। उदाहरणस्वरूप मधुर रस की मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठा और अन्य भक्ति-रूपो को उससे निचले स्थानो पर प्रतिष्ठित किया गया है। पुष्टिमार्गीय भक्ति-भावना को साधनान्तर्गत आने वाली रागानुगा भक्ति के रूप मे दिखाया गया है, न कि साध्य कोटि मे आने वाली भक्ति के रूप मे।[2]

---

१ स्वय 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नाम भी इसी दृष्टिकोण का सूचक है।

२. 'कृष्णानद्भक्तकारुण्यमात्रलाभैकहेतुका।
पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं 'रागानुगोच्यते ॥' भ० र० सि पू० वि ल० २ का० ८१।

भक्ति का स्वरूप

गोस्वामी आचार्यो के प्रतिपादित भक्ति-रस को समझने के लिए उनकी भक्ति के स्वरूप को समझ लेना उचित होगा। उनके अनुसार भक्ति चाहे साधनावस्था मे हो, चाहे साध्यावस्था मे, दोनो ही रूपो मे एक आनन्दमयी अनुभूति है। भक्ति का लक्षण रूप गोस्वामी के शब्दो मे इस प्रकार है

"अन्याभिलाषिताशून्य ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन भक्तिरुत्तमा ॥"[1]

श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भोगो और मोक्ष तक की अभिलाषा से शून्य, ज्ञान और कर्म के आवरणो से मुक्त, भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने की भावना से ओतप्रोत कृष्ण का अनुशीलन ही उत्तम भक्ति है।"

यह उत्तम भक्ति का लक्षण बताया गया हे। अनुशीलन एक क्रिया हे। वह मानसिक भी हो सकती है, कायिक भी। अत भगवान् की प्रसन्नता के लिये की गयी कायिक चेष्टाएँ पूजा-सेवा आदि भी भक्ति की कोटि मे है। किन्तु प्रधानता भावात्मिकता मानसी भक्ति की ही स्वीकार की गयी है। 'अनुशीलन' मे आया अनु उपसर्ग कृष्णविषयक शीलन की मुहुर्मुहुता एव निरन्तरता की अपेक्षा बताता है।

भोग और मोक्ष दोनो की अभिलाषा से भक्त को दूर होना चाहिए। भक्ति विशुद्ध एव निरुपाधिक अनुभूति है, भोग और मोक्ष इसकी उपाधियाँ है।[2] भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य अथवा सारूप्य किसी प्रकार की मोक्ष की कामना नही करता। भगवत्प्रेम की परिपूर्णता के लिए जो सालोक्य या सामीप्य अपेक्षित हो, मिलता रहे।

ज्ञान के दो रूप हम ले सकते है। एक तो आत्मा और परमात्मा के बीच अद्वैत की प्रतिष्ठा कराने वाला, दूसरा आत्मा को परमात्मा के आनन्दमय स्वरूप को समझाने वाला। भक्तिमार्ग मे प्रथम प्रकार का ज्ञान सर्वथा बहिष्कार्य है। दूसरे प्रकार के ज्ञान को ही अवकाश दिया जा सकता है। सूर ने भी भक्ति-विरोधी ज्ञान की निन्दा की है। अद्वैत ज्ञान निर्मला भक्ति के लिए मल या आवरण है। उत्तमा भक्ति इस आवरण से मुक्त होती हे।

भक्त की दृष्टि मे नित्य-नैमित्तिकादि कर्मो को भी, जिनका प्रतिपादन स्मृति-आदि मे मिलता है, निर्मला भक्ति का आवरण ही मानता है। अपने आराध्य भगवान् की प्रसन्नता के लिए जो परिचर्यादिक कर्म अपेक्षित हो, उतने भर के लिए भक्ति मे अवकाश है।[2]

इस प्रकार गोस्वामी आचार्यो की प्रतिपादित भक्ति मुख्यतया 'भावरूपा' है, जबकि रामानुज की भक्ति 'ज्ञानरूपा' थी। गोस्वामियो की भक्ति मे कर्म-रूपता उतने ही अश मे स्वीकार्य है, जितने अश मे भगवत्परिचर्यादि के रूप मे कर्म भक्ति मे अव्यभिचारी रूप मे अनुप्रविष्ट है।[3]

भक्ति सुकुमारतम एव कोमलतम अनुभूति है। ज्ञान और वैराग्य चित्त मे काठिन्य और रूक्षता लाते है। अत ज्ञान-वैराग्य को भक्ति का आवरण ही मानकर चला गया है।

---

१ भ० र० सि० पू० वि ल० १ का० ११।

२ भ० र० सि० तथा दु० स०, पृ० ११-१३ के आधार पर।

३ "भक्ति भावरूपा, तथाप्येतदव्यभिचारिणी क्रियारूपापि लक्ष्यते।" दु० स०, पृ० [illegible]।

ससार मे होने वाले अतिराग को रोककर भक्ति मे प्रवेश कराने भर के लिए ज्ञान-वैराग्य की उपयोगिता स्वीकार की जा सकती है, अन्यथा वे भक्ति की चरम सीढी पर पहुँचने के लिए सोपान भी नही हे। भक्ति स्वय साधन है, स्वय साध्य। उसकी प्रारम्भिक अवस्था ही आगे बढने के लिए साधन बनती जाती है।[1]

भक्ति स्वत आनन्दमयी अनुभूति हे, उसका उद्देश्य वह स्वय है। वस्तुत उसका चरम उद्देश्य है कृष्णानुकूल्य, जिसमे अपने आनन्दलाभ की भावना भी तिरोहित हो जाती है।

भक्ति की भावना का क्रमिक विकास होता हे।[2] इसी हेतु उसकी साधन और साध्य अवस्थाओ की चर्चा की गयी है। साध्य स्थिति ही वस्तुत आनन्दात्मिका है, तथापि उस स्थिति तक ले जाने वाला साधन या मार्ग भी स्वरूपत आनन्दात्मक हे। अत भक्ति की सभी भूमिकाओ से आनन्द का सीधा सम्बन्ध है। रूप ने भक्ति विकास के क्रम को इस प्रकार दिखाया है

"आदौ श्रद्धा तत साधुसगोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्ति स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्तत।
अथासक्तिस्ततो भाव तत प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामय प्रेम्ण प्रादुर्भावे भवेत् क्रम।"[3]

इस क्रमिक विकास को ध्यान मे रखकर भक्ति के सामान्यत तीन भेद किये गये है—साधन, भाव, प्रेमा।[4] साधन भक्ति का उद्देश्य भाव भक्ति का उदय करना ही है। भावोदय के अनन्तर साधन भक्ति का क्षेत्र समाप्त हो जाता हे। भाव नामक भक्ति की ही पूर्ण परिणत अवस्था को 'प्रेमा' नाम दिया गया है।[5] प्रणय, स्नेह, राग, मान, अनुराग, महाभाव आदि इसी प्रेमा की विशिष्ट स्थितियाँ हे।[6]

जीव ने रूप गोस्वामी की मान्यताओ को आधार बनाकर कुछ अधिक काव्य-शास्त्रीय रूप देकर जो भक्ति-भेदो का निरूपण किया हे, उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है

---

१ 'ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तिप्रवेशायैवोपयोगिता।
ईषत्प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचित तयो॥
यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्राय सता मते।
सुकुमारस्वभावेय भक्तिस्तद्धेतुरीरिता।" भ० र० सि० पू० वि० ल० २ का० ४८-९।
"तस्य भक्तिप्रवेशस्य हेतुर्भक्तिरीरिता, उत्तरोत्तरभक्तिप्रवेशस्य हेतु पूर्वपूर्वभक्तिरवेत्यर्थ।"
दु० स०, पृ० ८२।

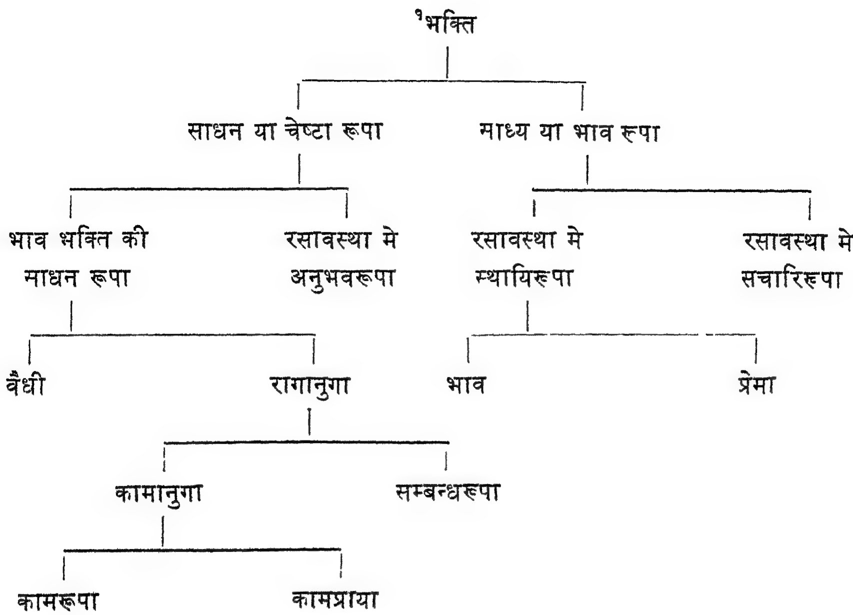
२ "तर्हि महाय विनोत्तरोत्तरभक्तिप्रवेश कथ स्यात्?" दु० स०, पृ० ८२।

३ भ० र० सि० पू० वि० ल० ४ का० ६-७।

४ "सा भक्ति साधन भाव. प्रेमा चेति त्रिधोदिता।" भ० र० सि० पू० वि०. ल० २ का० १।

५ "भाव स एव सान्द्रात्मा बुधै. प्रेमा निगद्यते।' वही ल० ४ का० १।

६ दु० स०, पृ० २३।



इस प्रकार मोटे तौर पर भक्ति के दो ही रूप है, साधन भक्ति और साध्य भक्ति। साध्य भक्ति मे 'भाव' प्रारम्भिक स्थिति है तो 'प्रेमा' उसकी परिनिष्ठित दशा। और निकट से देखा जाय तो यह भावभूमिका भी साधना भक्ति की रागानुगा स्थिति का ही विकास है। वैधी भक्ति रागानुगा को उदित करके समाप्त हो जाती है, रागानुगा ही क्रमश बढते-बढते प्रेमा की कोटि प्राप्त करती है।

साधन भक्ति के दो भेद ऊपर दिखाये गये है—वैधी और रागानुगा। इनमे वैधी मे शास्त्र का आदेश प्रधान होता है, हृदय का लगाव गौण। इसके अनेक अग है। इनमे प्रमुख ६४ अगो का उल्लेख रूप ने किया है।[2] शास्त्र मर्यादा का अनुसरण होने के कारण ही इस वैधी भक्ति को मर्यादा मार्ग कहा गया है।[3]

रागानुगा मे शास्त्र की नही, चित्त की रागात्मिका वृत्ति की, प्रधानता होती है। किसी अभीष्ट वस्तु मे चित्त की जो स्वारसिकी आवेशात्मक प्रवृत्ति होती है, उसी का नाम तो राग है। वस्तुत रागानुगा भक्ति ही 'भक्ति' की प्रथम सीढी है। मानव मे कामादि चित्त-वृत्तियाँ स्वत उत्पन्न होती है, किसी शास्त्र के विधान की अपेक्षा नही रखती। रागानुगा भक्ति इन्ही वृत्तियो के उदात्तीकरण का द्वार खोलती है। इस प्रकार रागानुगा भक्ति मे चित्त की किसी वृत्ति को भक्ति-भावना का साधन बनाया जा सकता है। यह वह पथ है, जिसमे मनोवृत्तियो को तोडा नही जाता, मोडा जाता है। नारद ने तो काम, द्वेष, भय आदि

---

१ हु० म०, पृ० ७३ तथा १०० के आधार पर।

२ भ० र० सि० पू० वि० ल० २, पृ० ४६-८५।

३. "शास्त्रोक्त्या प्रबलया तत्तन्मर्यादयान्विता।
वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते।" वही, ल० २, का० ५९-६०।

सभी वृत्तियो के द्वारा भगवदुपासना स्वीकार की है। किन्तु गोस्वामियो ने भय और द्वेष की वृत्तियो को छोडकर ही अन्य वृत्तियो का अवकाश स्वीकार किया ह। उनकी भक्ति-भावना मे 'कृष्णानुकूल्य' भी एक प्रमुख शर्त है जो भय ओर द्वेष मे पूरी नही होती।[1] अत काम, वात्सल्य, सख्य दास्य आदि की वृत्तियाँ भी प्रमुखतया इसके भीतर आती है।

गोस्वामी आचार्यो की निजी प्रतिपाद्य मधुरा भक्ति ह, जिसमे कान्ता भाव की प्रधानता हे। लौकिक दृष्टि से यह 'कामवृत्ति' हे। उसपर विशेष बल देने के लिए उन्होने रागानुगा के दो भेद किए ह—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। काम-सम्बन्ध के कान्ता भाव को छोड अन्य समस्त भावात्मक सम्बन्धो को सम्बन्धानुगा के भीतर माना गया है, और कामानुगा को ही शुद्ध रागानुगा कहा गया हे।[2] जिस सख्य भाव के स्नेह की धारा अनेक सूर आदि भक्त कवियो मे दिखायी पडती है, उसे ये आचार्य शुद्ध रागानुगा मे नही गिनते, दूसरे भेद सम्बन्धानुगा मे ही रखते है। उनका तर्क हे कि सख्य के इस स्नेह भाव मे आराध्य के ऐश्वर्य का ज्ञान प्रधान हो जाता है, अत उसकी विशुद्धता दब जाती है।[3]

कामानुगा भक्ति गोपी भाव की भावना है। इसकी चर्चा हम कुछ आगे करेगे। यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक हे कि इसमे लौकिक काम जैसी गर्हित वृत्ति का चरम निर्मलीकरण और उदात्तीकरण ही नही है, चरम निवयक्तीकरण भी हे। गोपियो मे जो सहज सम्भोग लालसा है, उसका उद्देश्य स्व-सुख नही, अपितु कृष्ण को आनन्दित करना हे। स्वसुख की स्वार्थ-गन्ध से भी दूर यह सम्भोग की इच्छा वाली काम भावना व्रजदेवियो मे पायी जाती है। इस भावना मे लौकिक सभोग भावना घुलकर विशुद्ध 'काम-रूपा' रह जाती है

"सा कामरूपा सम्भोगतृष्णा या नयति स्वताम्।
यदस्या कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यम ॥
इय तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते।
आसा प्रेमविशेषोऽय प्राप्त कामपि माधुरीम्।
तत्तत्क्रीडानिदानत्वात् काम इत्युच्यते बुधै।"[4]

यह विशुद्ध भावात्मिका वृत्ति है। मानसी स्थिति हे। कुब्जा मे यह नही पायी जाती। उसमे स्वसुख की कुछ लालसा थी, अत उसका काम भावात्मक न रहकर चेष्टात्मक बन गया था। वह कृष्ण के वस्त्रादि खीचने लग गयी थी, आदि। इसीलिए उसकी रति को 'कामरूपा' न कहकर 'कामप्राया' कहा गया है।[5] रागानुगा के दोनो भेदा कामानुगा एव कामप्रया मे यही अन्तर है।

साध्यरूपा भाव भक्ति—मनोरागो के उदात्तीकरण रूप साधन से साधक मे साध्यरूपा भाव भक्ति का उदय होता है। इसकी दो स्थितियाँ मोटे तौर पर दिखायी गयी है—भाव और

---

१ आनुकूल्य विपर्यासाद् भीतिद्वेषौ पराहतौ। भ० र० सि० पू० वि० ल० २ का० ६३।

२ अयमर्थ —पारण्टवता य स्नेह स सख्यरूपरागात्मिकायामेव पर्यवस्यति, तथाप्यैश्वर्यज्ञानप्रधानत्वात्तेषा विधिमार्गे प्रधानत्वमेव स्यादिति शुद्धरागात्मिकाया नोपयोग।"

३ दु० स०, पृ० ९०।

४ भ० र० सि०, पू० वि०, ल० २, का० ६८-७०, दु० स०, पृ० ९०।

५ कामप्राया रति किन्तु कुब्जायामेव सम्मता। वही, का० ७१।

प्रेमा। प्रेम यदि परिपूर्ण सूर्य के समान है तो भाव उसके अशुओ के समान। वस्तुत ये कृष्ण-रति की प्रारम्भिक और विकसित अवस्थाएँ हे।[1]

वस्तुत कृष्णविषयक रति का पर्याय ही 'भाव' शब्द ह, प्रेमा आदि जिसकी प्रौढ अवस्थाएँ है।[2] यह कृष्णरति ही भक्तिरस के रूप मे परिणत होती है, अत यही भक्तिरस का 'स्थायी भाव' है।[3]

अधिकारी भक्तो के अधिकार-भेद से इस रति भाव को पाँच रूपो मे माना गया है। वासना-भेद के कारण भक्तो के पाँच वर्ग माने गये है—शान्त, दास-सुत आदि भगवान् के अनुग्राह्य, सखा, वात्सल्य के अधिकारी गुरु-जन तथा प्रेयसियाँ।[4] इन्ही की दृष्टि मे रति भाव के ये ५ भेद होते है—शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता।[5] फिर भी यह रति मनोविकार रूप नही हे, यद्यपि प्रीति, वात्सल्य आदि मनोविकारो के रूप मे ही परिलक्षित होती है। इस अन्तर को भी तभी समझा जा सकता हे जब उपर्युक्त रति भाव का दार्शनिक स्वरूप समझा जाय।

भाव का दार्शनिक स्वरूप—'भाव' जो कि कृष्णरति का पर्याय हे, मूलत शुद्ध सत्त्व रूप है। यह शुद्ध सत्त्व प्राकृत सत्त्व गुण से सर्वथा भिन्न है। वस्तुत यह शुद्ध सत्त्व आनन्दमय भगवान् की स्वरूपात्मिका शक्ति का ही दूसरा नाम है। भगवान् की स्वरूपशक्ति जब आत्मप्रकाशन करती है तब उसे 'शुद्ध सत्त्व' कहा जाता है। इसे ही 'ह्लादिनी' 'सन्धिनी' 'सवित्' आदि नाम दिये गये हे।

"अत्र शुद्धसत्त्व नाम स्वप्रकाशिका स्वरूपशक्ते सविदाख्या वृत्ति, न तु माया-वृत्तिविशेष।"[6]

भाव को रूप गोस्वामी ने इसी शुद्ध सत्त्व का एक विशेष रूप कहा है

"शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्याशुसाम्यभाक्।[7]
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते।"

इस भाव-स्थिति का सीधा सम्बन्ध राधा से है। राधा भगवान् कृष्ण की नित्य प्रिया हैं, वे उनकी आह्लादिनी शक्ति हे। उनका कृष्ण से नित्य मिलन है। माधुर्य भावना

---

१ "शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्याशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥" भ० र० सि० पू० वि० ल० ३ का० १।
"सूर्यस्तत्राचिरादुदयिष्यमाणो गृह्यते, ततश्च तदशुसाम्यभागिति प्रेम्ण प्रथमच्छविरूप इत्यर्थ।" दु० स०, पृ० १०१।
"भाव स एव सान्द्रात्मा बुधै प्रेमा निगद्यते।" भ० र० सि० पू० वि० ल० ४ का० १।

२ "रत्यप पर्यायस्थायिभावाङ्कुररूप भाव लक्षयति।" दु० स०, पृ० १००।

३ "एषा कृष्णरतिरेव स्थायी भाव, सैव च भक्तिरसो भवेत्।" दु० स०, पृ० १२०।

४ "भक्तास्तु कीर्तिता शान्तास्तथा दाससुतादय।
सखायो गुरुवर्गाश्च प्रेयस्यश्चेति पचधा॥" भ० र० सि० द० वि० ल० १ का० ११३।
"अत्र विधिमार्गापलक्षणत्वेन वासनाविभेदोपि ज्ञेय।" दु० स०, पृ० ६८।

५ "भक्ताना भेदत सेय रति पचविधा स्मृता।" भ० र० सि० पू० वि० ल० ३ का० ११।
"शुद्धा प्रीतिस्तथा सख्य वात्सल्य प्रियतेत्यसौ।" वही द० वि० ल० ५ का० ६।

६ दु० स०, पृ० १००।

७ भ० र० सि० पू० वि० ल० ३ का० १।

से ओत-प्रोत यह राधा उस चरम कान्ता-भाव की प्रतीक है, जिसमे कृष्ण के आनुकूल्य की ही उदात्त एव परम वृत्ति होती है। इस प्रकार भाव के रूप मे 'शुद्धसत्त्व-विशेष' दार्शनिक दृष्टि से भगवान् की स्वरूपात्मिका ह्लादिनी शक्ति का वह प्रकाशन है जिसमे कृष्ण के आनुकूल्य की, उन्हे परम आनन्दित करने की, न कि स्वय स्वार्थपूर्ति की, वृत्ति रहती है। 'भाव' की इस प्रकार की चरम परिणति को ही 'महाभाव' या 'मोदन-भाव' कहा गया है।[1]

इस प्रकार ह्लादिनी के समुदय-रूप रति भाव मे कृष्णानुकूल्य और तत्सौख्यदातृत्व की अभिलाष ही प्रमुख होती है। इसीलिए इसे 'ह्लादिनी' की सारवृत्ति कहा गया है, शुद्ध-सत्त्व का विशेष रूप बताया गया है।[2]

इस भाँति यह स्पष्ट है कि साधक भक्त के हृदय मे कृष्णरति के भाव के उदय का अर्थ है उसके उदात्तीकृत मनोरागो वाले चित्त-फलक पर भगवान् की स्वरूपात्मिका ह्लादिनी शक्ति का उदय। इसी हेतु रति या भक्ति की उत्पत्ति नही होती, प्रादुर्भाव या उदय होता है, कारण यह भक्ति भगवच्छक्ति-रूपा होने के कारण नित्य है, कार्य या उत्पाद्य नही।

यहाँ यह समझ लेना अनिवार्य है कि इन आचार्यो ने नित्य प्रिय भक्त, प्रपच-गत प्रिय भक्त तथा साधक भक्तो को अलग-अलग ध्यान मे रखा है। नित्य प्रिय भक्त वे है जो भगवान् के नित्य लीला परिकर मे सम्मिलित रहते है, जैसे राधा आदि व्रजदेवियाँ, यशोदा आदि। किन्तु प्रपचगत भक्त वे है जो है तो सिद्ध भक्त, किन्तु उनमे या तो साधना भक्ति के द्वारा या भगवत्कृपा से शुद्ध भक्ति का उदय हुआ है। साधक भक्त साधना भक्ति के पथिक होते है, उनमे 'भाव' भक्ति के आगे चल कर उदित होने की बात है। तो, इनमे नित्य भक्तो मे तो कृष्णरति के उदित होने का प्रश्न ही नही उठता, उन्हे तो इसका नित्य लाभ है। जो भक्ति के उदय की बात है, उसका सम्बन्ध प्रपचगत भक्तो से

१ "ह्लादिनी या महाशक्ति सर्वशक्तिवरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता॥" उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ७६।
"अत्र शुद्धसत्त्व नाम स्वप्रकाशिका स्वरूपशक्ते सविदाख्या वृत्ति।—
"शुद्धसत्त्वविशेषत्व चात्र या स्वरूपशक्तिवृत्त्यन्तरलक्षणा—
"ह्लादिनी सन्धिनी सवित् त्वय्येका सर्वसस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥"
इति विष्णुपुराणानुसारेण ह्लादिनीनाम्नी महाशक्तिस्तदीयसारवृत्तिसमवेत-तत्साराशत्वमेवेत्यवगन्तव्य, तयो समवेतयो सारत्व च तन्नित्यप्रियजनाधिष्ठानकतदीयानुकूल्येच्छामयपरमवृत्तित्व, ह्लादिनीसारसमवायित्व चास्यैव भावस्य परमपरिणामरूपमोदनाख्ये भावे श्रीमदुज्ज्वलनीलमणिमधिकृत्य व्यक्तीभविष्यति।" दु० स०, पृ० १००।

२ "ततश्चायमर्थ —असौ सामान्यतो लक्षिता भक्ति निजाशविशेषे भाव उच्यते। स च किंकिस्वरूप ? तत्र—कृष्णस्य सर्वशक्तिरूप शुद्धसत्त्वविशेषो य स एवासौ तन्नित्यप्रियजनाधिष्ठानतया नित्यसिद्ध स्वरूप यस्य स, किंच रुचिभि प्राप्त्याभिलाषस्वकर्तृकानुकूल्याभिलाषसौहार्दाभिलाषै चित्तार्द्रताकृदिति।" दु० स०, पृ० १०१।

सारवृत्तिता और विशेषरूपता का जीव गोस्वामी ने यही अर्थ लिया है कि कृष्णानुकूलता के भाव की वृत्ति ही उदय हो—"तयो सारत्व च तन्नित्यप्रियजनाधिष्ठानकतदीयानुकूल्येच्छामयपरमवृत्तित्वम्" वही, पृ० १००।

है। उनके भीतर ही पहले की कामादि वृत्तियो का उदात्तीकरण एव परिष्कार होकर शुद्ध भक्ति का उदय होता है, जो मूलत कृष्ण की ह्लादिनी सवित् का ही प्रकाश है।

प्रश्न उठता है, इस शुद्धसत्त्वविशेष-रूपा ह्लादिनी रति-शक्ति का इन भक्तो के कामादि वृत्ति वाले हृदयो मे आविर्भाव किस प्रकार होता है? हम यह जान चुके है कि रागानुगा साधना भक्ति की भूमिका मे कामादि मनोवृत्तियो का परिष्कार एव उदात्तीकरण हो जाता है। तभी ह्लादिनी-सार वृत्ति-रूपा रति के उदय की सम्भावना बनती है। भक्त का चित्त अपने-अपने सस्कारो के अनुरूप विशेष-विशेष मनोवृत्तियो वाला होता है, किसी का काम-प्रधान, किसी का सख्य-प्रधान, तो किसी का दास्य-प्रधान। यह शुद्ध मनोवृत्तियो का साँचा जैसा होता है, कृष्णरति उन-उन भक्तो की मनोवृत्ति वाले चित्त के साँचे मे आकर उसी रूप मे ढल जाती है, और उसी वृत्ति के रूप की बन जाती है। इस प्रकार शुद्धसत्त्वविशेषरूपा रति भक्त की मनोवृत्ति से तादात्म्य करती हुई तत्स्वरूप हो जाती है, न कि वृत्तियाँ अपना अस्तित्व खोकर शुद्ध सत्त्व मे तादात्म्य करती हो। इसीलिए इस भक्तिमार्ग मे वृत्तियो के निरोध या नाश की किसी अवस्था मे आवश्यकता नही आती। रूप गोस्वामी ने इस उदय-प्रक्रिया का निरूपण इस प्रकार किया है

"आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्।
स्वयप्रकाशरूपापि भासमाना प्रकाश्यवत्॥
वस्तुत स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ।
कृष्णादिकर्मकास्वादहेतुत्व प्रतिपद्यते॥"[1]

शुद्धसत्त्वविशेषरूपा रति के इस वृत्तितादात्म्य का एक परिणाम होता है। अपने मौलिक शक्तिरूप मे रति स्वयप्रकाश है, ह्लादिनी है, 'सवित्' है। स्वयप्रकाश होने के कारण उसे कोई अन्य तत्त्व प्रकाशित नही करता। ह्लादिनी-सार-वृत्ति होने के कारण उसमे चरम कृष्णनुकूल्य की भावना रहती है। 'सवित्' होने के कारण वह 'प्रकाशिका' भी है, वह कृष्णादि सभी के स्वरूप को प्रकाशित करती है। इसीलिए उसे 'श्रीकृष्णादिसर्व-प्रकाशिका' भी कहा गया है।[2] दूसरी ओर जो भक्त-हृदय की कामादि वृत्तियाँ है, वे चाहे कितनी ही उदात्तीकृत क्यो न हो, स्वरूपत जड और परत प्रकाश्य होती है। जब स्वय-प्रकाशा परप्रकाशिका रति उन वृत्तियो से सारूप्य कर लेती है, तो यह स्वाभाविक है कि वह भी प्रकाशिका न रहकर प्रकाश्य बने। किन्तु होता यह है कि वह स्वरूपत तो प्रकाशिका और स्वयप्रकाशा ही रहती है, तथापि प्रकाश्य वृत्तियो के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण प्रकाश्य जैसी ही भासित होने लगती है। इसीलिए अन्य दर्शको को भक्त की कृष्णरति लौकिक कामादि वृत्तियो के रूप मे दिखायी देती है, किन्तु यह उनका भ्रम है। ये वृत्तियाँ तो उस रति के लिए साँचा मात्र रह गयी है। उसका मूल रूप प्रकाशात्मक एव सविदात्मक ही है।

"असौ शुद्धसत्त्वविशेषरूपा रतिमूलरूपत्वेन मुख्यवृत्त्या तच्छब्दवाच्या सा रति श्रीकृष्णादिसर्वप्रकाशकत्वेन स्वयप्रकाशरूपाऽपि प्रापञ्चिकतत्प्रियजनाना मनोवृत्तावाविर्भूय

१. भ० र० सि० पू० वि० ल० ३ का० २, ३।
२ "श्रीकृष्णादिसर्वप्रकाशकत्वेन स्वयप्रकाशरूपापि ।" दु० स०, पृ० १०२।

तत्स्वरूपता तत्तादात्म्य व्रजन्ती तद्वृत्त्या प्रकाश्यवद्भासमाना ब्रह्मवत् तस्या स्फुरन्ती ”[1]

यहाँ एक प्रश्न उठाया गया है—रति स्वय आस्वादरूपा है, अथवा आस्वाद का हेतु ? यदि वह आस्वादरूपा है, तो फिर कृष्णादि के आनन्दमय रूप का आस्वादन कैसे करा सकती है ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है—रति स्वरूपत आस्वादरूपा है। वह भगवान् की आनन्दमयी शक्ति है, अत आनन्दरूपा है। साथ ही वह ह्लादिनी भी है, जिसका अर्थ है आनन्दित करने वाली। अत वह भगवान् को भी आनन्दित करती है। इसीलिए उसमे चरम कृष्णानुकूल्य होता है। इसके साथ ही उसका एक पक्ष सविदात्मक भी है, जिसके द्वारा वह प्रकाशन करती है। वह भगवान् के स्वरूप का भी प्रकाशन करती है।[2] अत जब भक्त के हृदय-फलक पर इस सविदात्मिका रति का उदय होता है तो यह भी स्वाभाविक ही है कि उसके सवित् अश के द्वारा उसी फलक पर भगवान् कृष्ण, उनका परिकर, उनकी लीलाएँ प्रकाशित हो जाएँ, उभर उठे। तो, रति अपने सविद् अश से कृष्णादि को चित्त-फलक पर प्रस्तुत करती है, और ह्लादिनी अश मे उनका आस्वादन कराती है। अत स्वरूपत आस्वाद-रूपा होते हुए भी इस अलौकिक रति का आस्वादक रूप मानने मे कोई बाधा नही है।[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिरस का स्थायी भाव मानी गयी कृष्णरति, चाहे कान्ता भाव के रूप मे हो चाहे दास्यादि अन्य किसी भाव के रूप मे, स्वरूपत मनोविकार रूप नही, शुद्धसत्त्वविशेषरूपा है। लगती वह लौकिक मनोविकारो के रूप मे है।

भक्ति की ६ विशेषताएँ—रूप गोस्वामी ने भक्ति के ६ गुण या विशेषताओ का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है[4]

१ क्लेशघ्नी — २ शुभदा
३ मोक्षलघुताकृत् — ४ सुदुर्लभा
५ सान्द्रानन्दविशेषात्मा — ६ श्रीकृष्णाकर्षणी।

इन ६ विशेषताओ मे से प्रथम दो का सम्बन्ध ही साधना भक्ति मे जुड पाता है। भाव भक्ति की भूमिका मे प्रथम ४ गुण आ जाते है, तथा भाव की प्रौढावस्था 'प्रेमा' की भूमिका मे समस्त विशेषताएँ आविर्भूत हो जाती है।

क्लेश से तात्पर्य उन समस्त प्रारब्ध-अप्रारब्ध कर्मो, जिनके कारण जन्म-मरण के दुःखो का चक्र चलता है, उनके सस्कार-रूप बीजो, तथा सबकी मूल अविद्या से है। भक्ति इन क्लेशो का हनन करने वाली है। साधना भक्ति की भूमिका मे ही भक्त इन क्लेशो के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

भक्ति शुभदा है। इसमे लोक-प्रणयन और लोक-कल्याण निहित है। भक्त मे

---

१ दु० स०, पृ० १००।

२ "अस्याप्राकृतत्व तादृशशुद्धसत्त्वविशेषह्लादिनीसाररूपत्व च मोक्षसुखस्यापि तिरस्कारकत्वात्, श्रीभगवतोपि प्रकाशकत्व दानन्दकरत्वाच्च।" दु० स०, पृ० १०१।

३ भ० र० सि० पू० वि० ल० ३ का० ३ तथा उसकी दु० स०, पृ० १०२-३।

४ भ० र० सि० पू० वि० ल० १ के आधार पर।

लोक-मगल रूप शुभ गुणो का उदय हो जाता है, जिससे उसे प्राणि-मात्र का अनुराग मिलता है ।

भक्ति मे भोगो की ही नही, मोक्ष की भी अत्यन्त लघुता एव हेयता है । भाव भक्ति की भूमिका मे पहुँचे हुए भक्त की दृष्टि मे मोक्ष की निस्सारता स्पष्ट हो जाती है । चारो ही पुरुषार्थ उसे तृण-वत् प्रतीत होते है ।

भक्ति की उच्च भूमिका अत्यन्त दुर्लभ है । वस्तुत वह केवल साधन मार्ग पर चल कर बिना भगवान् या उनके प्रिय भक्तो की कृपा के प्राप्त नही होती। भगवान् भी अपनी निर्मल भक्ति को सहज नही दे देते, इसीलिए भक्ति को 'आश्वदेया' आशु अदेय कहा गया है।

भक्ति की उच्च भूमिका पूर्ण आनन्दमयी है । वह स्वय भगवान् की आनन्दमयी शक्ति का विस्फुरण हे । एक प्रकार से भगवान् की आनन्दमयी, आनन्ददात्री शक्ति है। यह आनन्द अत्यन्त 'सान्द्र' घनीभूत होता है, जिसकी समता मे ब्रह्मानन्द अत्यन्त हेय एव तुच्छ होता है । लौकिक सुख, और ब्रह्म-सुख से बढकर, आत्म-स्वरूप-बोध के सुख को अतिक्रान्त करने वाला भक्ति का सुख होता है। वह विशुद्ध आनन्द है, परम 'रस' तत्त्व ।

भक्ति की उच्च भूमिका मे एक भारी विशेषता आ जाती है कि भगवान् स्वय भक्त से प्रेम करने लगते है । वह श्रीकृष्णाकर्षणी कही गयी है । कृष्ण ही नही, उनका परिकर, जिसके सन्दर्भ मे ही उन्हे 'श्रीकृष्ण' कहना चाहिए, भक्त के प्रति आकृष्ट होकर उसके प्रति प्रेमभाक् हो जाता है ।

भक्ति मे आनन्द और अशान्ति—भक्ति स्वरूपत आनन्द-प्रवाह-रूपा है । वह आनन्द अत्यन्त शान्त हे । फिर भी उसमे एक बडी भारी उष्णता है, प्यास है । उत्तरोत्तर और अधिक अभिलाषा उसमे बढती चली जाती है । अत उसमे एक स्वाभाविक अशान्त-स्वभावता और उष्णता भी सन्निविष्ट रहती है, जिसका उल्लेख रूप ने इस भाँति किया है

"रतिरनिशनिसर्गोष्णप्रबलतरानन्दपूररूपैव ।
ऊष्माणमपि वमन्ती सुधाशुकोटेरपि स्वाद्वी ।"[1]

'रस'

इन गोस्वामी आचार्यो की दृष्टि मे रस' मुख्यत भक्तिरस ही है, अन्य किसी के लिए इस शब्द का प्रयोग औपचारिक ही समझना चाहिए । उदाहरण-स्वरूप निम्न श्लोक मे श्रीमद्भागवत को 'रस' कहा गया है

"निगमकल्पतरोर्गलित फल शुकमुखादमृतद्रवसयुतम् ।
पिबत भागवत रसम् आलय मुहुरहो रसिका भुवि भावुका ।।"[2]

भागवत को रस इसीलिए कहा गया है कि उसमे भगवद्-भक्ति-रस है । वह भक्ति-रस-मय है । इतनी मात्रा तक भक्तिरस-मय है कि उसमे अन्य कुछ नही, कहना चाहिए,

१ भ० र० सि० पू० वि० ल० ३ का० ३५ ।
२ उ० स०, पृ० ७४ श्रीमद्भागवत से उद्धृत ।

'रसैकमय' है। इसीलिए ओपचारिक रूप मे उसे 'रस' कहा गया है। यह रस 'भागवत' अर्थात् भगवद्भक्ति से सम्बद्ध है, यह भी स्पष्ट ही है।[1]

इतना ही नही, जीव गोस्वामी तो तैत्तिरीय के 'रसो वै स' इत्यादि शब्दो मे भगवान् के लिए प्रयुक्त 'रस' शब्द को भी कुछ औपचारिक ही दिखाना चाहते है

"स च रसो भगवद्भक्तिमय एव, 'यस्या वै श्रूयमाणायामित्यादि-फलश्रुते, यन्मयत्वेनेव भगवति रसशब्द श्रुतौ प्रयुज्यते 'रसो वै स' स एव च प्रशस्यते—'रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दीभवति' इति।"[2]

भगवान् को जीव के अनुसार इसीलिए 'रस' कहा गया है कि वे भक्तिमय है। भक्ति उनकी ह्लादिनी शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् मे अभेद होता है।[3] अत भगवान् भी भक्तिरसमय है, अत उन्हे 'रस' कहा गया है। 'रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दीभवति' अर्थात् 'रस' को प्राप्त करके ही यह आनन्दित होता है, इन शब्दो मे तो सीधे-सीधे उस भक्ति-रूप रस की प्रशसा की गयी है।

इस प्रकार 'रस' शब्द का मुख्य अर्थ है 'भक्ति-रस'।

रस और उसकी परिधि

रूप गोस्वामी ने अपने भक्तिरसामृतसिन्धु मे यथास्थान ४ विषयो का निरूपण किया है—भाव, भावाभास, रस और रसाभास। इनमे से वे भावो, भावाभासो, रसो और कुछ ही रसाभासो को 'रस' की परिधि मे मानते है

"भावा सर्व तदाभासा रसाभासाश्च केचन।
अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञै सर्वपि रसनाद्रसा ॥"

रसाभासो के उन्होने तीन भेद किये है—उपरस, अनुरस, अपरस। इनमे उपरस उत्तम कोटि के रसाभास है। ये ही 'रस' की परिधि मे गिने जाने योग्य है, अन्य नही।[4]

रस की परिधि मे आने वाले इन तत्त्वो पर रस-स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए कुछ और दृष्टिपात कर लिया जाय तो अच्छा रहेगा।

भाव—भाव की दार्शनिक स्थिति हम पीछे समझ चुके है। भक्त के हृदय मे उसके वृत्यात्मक चित्तफलक के ऊपर शुद्धसत्त्व के विशेष रूप का उदय ही भाव है, जिसे सामान्य शब्द मे कृष्णरति कहा जा सकता है। यह कृष्णरति अधिकारी-भेद से कान्ताभाव, दास्य, वात्सल्य आदि विविध रूपो मे हो सकती है।

यह कृष्णरति ही भक्तिरस का स्थायी भाव है।

यहाँ एक बात विशेषत उल्लेखनीय है। काव्यशास्त्रीय रस के प्रतिपादक आचार्यों

---

१. भागवतस्य यन्छास्त्र तत खलु रसवदपि रसैकमयत्वविवक्षया रसशब्देन निर्दिष्ट, भागवतस्य तदीयत्वेन रसस्यापि तदीयत्वाक्षेपात शब्दश्लेषेण च भगवत्सम्बन्धि रसमिति गम्यते।" दु० स० पृ० ७४।

२ दु० स०, पृ० ७४।

३ भ० र० सि० उ० वि० ल० ६ का० २४।

४ भ० र० सि० उ० वि० ल० ६ का० २ तथा २३-२४।

की मान्यता है कि स्थायी भाव स्वरूपत वासनात्मक होता है, और मानवमन मे सस्कार या वासना के रूप मे ही सुप्तप्राय अवस्थित रहता है। विभावादि सामग्री के साथ उपयुक्त सयोग होने पर ही वह अभिव्यक्त होता हुआ 'रस' बनता है। इस प्रकार काव्य-दृष्टि से 'स्थायी भाव' की कोई विशिष्ट स्थिति नही होती। काव्यशास्त्र मे ही एक और प्रकार से उद्बुद्ध भावो के लिए 'भाव' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग किया गया है। देवादि-विषयक रति, व्यजित व्यभिचारी और किसी-किसी आचार्य की दृष्टि मे पूर्णत व्यजित स्थायी भी 'भाव' कहे गये है। किन्तु ये सब स्थितियाँ पारिभाषिक हैं, और रस की एक हल्की स्थिति दिखाने के लिए पारिभाषिकतया अलग की गयी है। विश्वनाथ आदि ने रस की व्यापक परिधि मे इन्ही पारिभाषिक भावो को परिगणित किया है, सीधे-सीधे स्थायी भावो को नही।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्यशास्त्रीय आचार्यो की दृष्टि मे भाव और रस के बीच, अर्थात् स्थायी और उससे निष्पन्न होने वाले रस के बीच अनभिव्यजित और अभिव्यजित दशा का अन्तर है। किन्तु रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी द्वारा प्रतिपादित स्थायी रूपा कृष्णरति और तन्निष्पन्न भक्तिरस मे यह बात नही है। कृष्णरति-रूपा 'भाव' दशा भक्ति की एक प्रौढ दशा है, जिसका समुदय साधना भक्ति के अनन्तर होता है, कभी-कभी भगवत्कृपा या भक्त-कृपा से भी। रस-दशा उसकी प्रौढतम आनन्दमयी अनुभूति-विशेष है, किन्तु भाव-स्थिति स्वय अपने मे अनभिव्यक्त और वासनात्मतया सुप्तप्राय स्थिति नही है।

इस प्रकार सिद्धान्तत अभिव्यक्तिवाद का अनुमरण करते हुए भी ये आचार्य अपने निरूपण मे अपनी मान्यताओ के फलस्वरूप उपचयवाद के अधिक समीप पहुँच जाते है। इनकी स्थायी रूपा भाव-स्थिति मे और रस मे मात्रा का अन्तर रहता है। फिर भी यह ध्यान रखने की बात है कि न इनके भाव की और न रस की, उत्पत्ति किसी की सम्भव नही। नित्य शुद्धसत्त्व का आविर्भाव ही होता है, उत्पत्ति नही।

इस दृष्टि से इनका भक्तिरस असलक्ष्यक्रम भी नही है। इसके विपरीत स्थल-स्थल पर उसमे क्रम की चर्चा की गयी मिलती है

"अथासक्तिस्ततो भावस्तत प्रेमाऽभ्युदचति।
साधकानामय प्रेम्ण प्रादुर्भावे भवेत् क्रम।"[1]

"तस्य भक्तिप्रवेशस्य हेतु भक्तिरीरिता, उत्तरोत्तरभक्तिप्रवेशस्य हेतु पूर्वपूर्वभक्तिरेवेत्यर्थ।"[2]

क्रमयोगेनैव रसा सम्पद्यन्ते, नेतरथेति भाव।[3]

भाव और भावाभास—भाव और भावभास के बीच अन्तर उपाधि का होता है। कृष्णरति का भाव एक निर्मल एव निरुपाधिक शुद्धसत्त्वविशेष है। ज्ञान और कर्म उसके मलात्मक आवरक है, भुक्ति-मुक्ति की स्पृहा उसकी उपाधि। भुक्ति-मुक्ति के कामी साधक शुद्धा भक्ति को अपनाकर चल ही नही सकते, उनका मार्ग तो प्राय ज्ञान और कर्म के बीच से जाता

---

१ भ० र० सि० पू० वि० ल० ४ : का० ७।

२ दु० स०, पृ० ८२।

३ दु० स०, पृ० १६५।

है। ऐसे भुक्ति के इच्छुको अथवा मुमुक्षुओ मे कभी किसी प्रकार से आये हुए भक्ति के चिह्न दिखायी पडे, जैसे हृदय की ममृणता और आर्द्रता, अश्रुपात आदि, तो उनमे मामान्य दर्शक को उनमे भाव की भ्रान्ति हो जाती है। वह उनके इस रूप को देखकर उनसे प्रभावित हो उठता है। किन्तु अभिज्ञ पुरुष की दृष्टि इससे धोखा नही खा सकती। उनमे भाव नही, भावभास है।[1]

इस प्रकार भाव का मुख्यत स्वरूप है अन्याभिलापिताशून्य होना, अन्याभिलाष की उपाधि से रहित होना—भावाभास का स्वरूप है उपाधि से आवृत रति के चिह्नो का आभास।

"तस्मान्निरुपाधित्वमेव रतेर्मुख्यस्वरूप, सोपाधित्वमाभासत्व, तच्च गौण्या वृत्त्या प्रवर्तमानत्वम्।"[2]

यह भावाभास प्रतिबिम्ब और छाया भेद से दो प्रकार का माना गया है, जिसमे प्रथम उत्कृष्ट हे।[3]

भक्ति का पथ एक ओर आनन्दमयी अनुभूति का पथ है, तो दूसरी ओर साधना का भी। इसीलिए उसमे क्रमत्व का समावेश है। इसी दृष्टि से उसमे उत्थान और पतन दोनो की सम्भावनाएँ हे। भगवान् ओर उनके प्रिय भक्तो की कृपा और ससर्ग से भावाभास से भाव की स्थिति आ सकती है, भाव से प्रेमा की। उनके प्रति अपराध और उपेक्षा से भाव भी आभास बन सकता है, अभावता को भी प्राप्त हो मकता हे।[4]

हम देख चुके है कि रूप गोस्वामी ने रस की व्यापक परिधि मे भावो के साथ उनके आभासो को भी समेटा है। इमके दो ही कारण हो सकते ह। एक तो काव्यशास्त्रीय आचार्यो की वह मान्यता, जिसके अनुसार रस की 'रस्यत इति रस' इस व्युत्पत्ति के आधार पर रस की परिधि मे रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति, भावशवलता इस सभी को सम्मिलित किया गया हे। दूसरी बात यह कि रसामृतसिन्धु मे रूप गोस्वामी स्वय भक्तिरस की व्यापक परिधि मे प्रतिष्ठा करते हुए उसकी सर्वांगीणता प्रतिपादित करने का उद्देश्य सामने रखकर चले थे।

रस-भेद और उनके स्थायी भाव—रूप गोस्वामी ने भक्तिरस के प्रमुखतया दो भेद किये हे—मुख्य और गौण। इनमे मुख्य रस ५ प्रकार का होता हे—शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल और मधुर। गौण सात प्रकार का माना गया है—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र,

---

१ "व्यक्त मसृणतेवान्तर्लक्ष्यते रतिलक्षणम्।
मुमुक्षुप्रभृतीना चेद् भवेदेषा रतिर्न हि॥
किन्तु बालचमत्कारकारी तच्चिह्नवीक्षया।
अभिज्ञेन सुबोधोऽय रत्याभास॰ प्रकीर्तित।" भ० र० सि पृ० वि० : ल० ३ का० १७-२०।

२ दु० स०, पृ० ११०।

३. प्राय प्रम समनसा भोगमोक्षादिरागिणाम्।
केषाञ्चिद्धृदि भावेन्दो प्रतिबिम्ब उदञ्चति॥
तद्भक्तहृन्नभस्थस्य तत्ससर्गप्रभावत।" भ० र० सि० पू० वि० ल० ३ का० २१-२४।
क्षुद्रकौतूहलमयी चचला दु खहारिणी।
रतेश्छाया भवेत् किञ्चित् तत्सादृश्यावलम्बिनी।" वही, का० २४-२५।

४ भ० र० सि० पू० वि० ल० ३ प० आधारित।

भयानक, एव बीभत्स। काव्यशास्त्र मे मान्य नौ रसो मे से शान्त और शृङ्गार को ही एक उदात्तीकरण के साथ मुख्य रसो मे स्थान मिला है, शेप सात गौण रस माने गये है। रसो के भेद मूल स्थायी रूप रति के भेदो एव स्थिति के आधार पर किये गये है। रसो एव उनके स्थायी भावो का सम्बन्ध इस प्रकार माना गया है

	रस	स्थायी भाव
मुख्य रस	१ शान्त भक्तिरस	शान्ति
	२ प्रीत भक्तिरस	प्रीति
	३ प्रेयान् भक्तिरस	सख्य
	४ वत्सल भक्तिरस	वात्सल्य
	५ मधुर भक्तिरस	प्रियता या मधुरा रति
गौण रस	६ हास्य भक्तिरस	हासरति
	७ अद्‌भुत भक्तिरस	विस्मयरति
	८ वीर भक्तिरस	उत्साहरति
	९ करुण भक्तिरस	शोकरति
	१० रौद्र भक्तिरस	क्रोधरति
	११ भयानक भक्तिरस	भयरति
	१२ बीभत्स भक्तिरस	जुगुप्सारति

इस प्रकार कुल बारह रस माने गये है, पॉच मुख्य और सात गौण। यहॉ यह स्पष्ट है कि मुख्य रसो मे भक्तिशास्त्र की विविध उद्‌भावनाओ को समन्वित रूप मे बॉधने का प्रयास है, तो गौण रसो मे काव्यशास्त्र की उपलब्धियो को। दोनो ओर की व्यापकता को समेटकर रूप गोस्वामी अपने भक्तिरस को एक व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहते है।

मुख्य और गौण रसो का अन्तर—मुख्य और गौण रसो मे अन्तर रस के स्थायी भाव रति की स्थिति की दृष्टि से माना गया है। रति की एक स्वतन्त्र, पूर्ण एव उभरी हुई स्थिति हो सकती है, जिसमे विरुद्ध या अविरुद्ध सभी भाव उसके पोषक बनते है। यह रति चाहे शान्त रूप मे हो चाहे वात्सल्यादि के रूप मे, यह तो दूसरी बात है। किन्तु अन्य हासादि भावो से वह दबी हुई नही होती। किन्तु रति की एक स्थिति यह भी हो सकती है जब रति स्वय सकुचित होकर किसी अन्य भाव के पीछे छिप गयी हो, और वह अन्य भाव ही उभर कर सामने आ गया हो। उदाहरणस्वरूप यह श्लोक लिया जा सकता है

"मया दृगपि नार्पिता सुमुखि ! दध्नि तुभ्य शपे
सखी तव निरर्गला तदपि मे मुख जिघ्रति।
प्रशाधि तदिमा मुधा छलितसाधुमित्यच्युते
वदत्यजनि दूतिका हसितरोधने न क्षमा।"[1]

वन मे गोपिया ने दही की मटकियॉ उतारकर कही एक स्थल पर रख दी, और उनकी रखवाली के लिए किसी एक सखी को छोड स्वय इधर-उधर कुछ फूल चुनने चली गयी। दही रखाने वाली सखी को एकान्त मे पाकर कृष्ण को कुछ लीला करने का अवसर मिल गया। जब उनका मुख उसके समीप था, एक गोपी उधर आ निकली। लगे कृष्ण

१ भ० र० सि०, पृ० २६५।

बहाना बनाने। उससे बोले—सुमुखि, तुम्हारी सौगन्ध, मैने तो दही की ओर नजर भी नही उठाई, यह तुम्हारी सखी व्यर्थ ही मेरा मुँह सूँघकर यह जाँच कर रही है कि कही मैने दही खाया तो नही। ऊपर से यह सीधी लगती है, तुम इसे रोको। कृष्ण की इस उक्ति पर वह दूती अपनी हँसी को न रोक सकी।

यहाँ ऊपर-ऊपर से हास्य का चित्र है, सभी सामग्री हास्य के ही उपयुक्त है। किन्तु इसके मूल मे रति सन्निहित है। पर वह रति मुख्य नही गौण है। वह स्वार्था न रहकर परार्था हो गयी है। रूप गोस्वामी के समस्त गौण रसो मे इसी प्रकार की परार्था कृष्ण रति का योग है।

इस प्रकार गौण रति के स्थलो मे दो भाव सामने आते है—उभरा हुआ हासादि भाव, और सकुचित होकर पृष्ठभूमि मे सन्निहित कृष्णरति। ऊपर के हास के उदाहरण मे हास है और रति है। इस स्थिति का मिला-जुला नाम 'हास-रति' है। इसमे गौण रूप से अवस्थित रति को भी हासरति कहा जा सकता है, और उभरे हुए हास को भी। जीव गोस्वामी ने दोनो की दृष्टि से हासरति शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ दी है

१ हासो रतिरिव हासरति। पुरुषव्याघ्र इव समास।[1]

हास जो रति के समान है। इस शब्द मे 'पुरुषव्याघ्र' शब्द के समान समास होगा। पुरुष, व्याघ्र के समान। इस व्युत्पत्ति के आधार पर उस उभरे हुए हास को ही हासरति कहा जायेगा।

२ हासोत्तरा रति हासरति। शाकपार्थिवादिवत् समास।[2]

ऐसी रति जिसके ऊपर-ऊपर से हास छाया हुआ है। "शाकप्रिय पार्थिव शाकपार्थिव" के समान इसमे समास माना जायेगा। इस अर्थ मे दृष्टि हास पर न होकर रति पर है। अत उस गौणी रति को भी हासरति कहा जा सकता है।

रसाभास रस की व्यापक परिधि मे आने वाला चौथा नाम रसाभासो का है। हम अभी कह चुके है कि रूप गोस्वामी ने तीन प्रकार के रसाभास माने है—उपरस, अनुरस, अपर। सामान्यत रसाभास का लक्षण यही दिया गया है कि जहाँ रस के लक्षण मे कोई हीनता होती है वहाँ रसाभास होता है। किन्तु इनकी उच्चता-अवरता उस हीनता पर निर्भर करती है।

उपरस वे रसाभास है जहाँ कृष्णरति का सम्बन्ध तो रहता है किन्तु उसमे किसी प्रकार का अनौचित्य आदि आ जाता है। उदाहरणस्वरूप शान्त भक्तिरस मे कृष्ण के विषय मे अद्वैत भावना का आधिक्य हो जाना। ये उपरस १२ माने गये है, जो प्रत्येक मुख्य और गौण रस मे भाव या विभाव की स्थिति मे कुछ भी विरूपता आ जाने पर हो सकते है। इन उपरसो मे कृष्णरति से सीधा लगाव बना रहने के कारण ही इन्हे उत्तम रसाभास कहा गया है, और इनमे ही रसत्व की सम्भावना स्वीकार की गयी है।[3]

---

१. दु० स०, पृ० २९५।

२ दु० स०, पृ० २९५ के आधार पर। रूप गोस्वामी केवल इसी को मानकर चले है।

३ "उत्तमास्तु रसाभासा कैश्चिद्रसतयोदिता.।"
"भावा सर्वे तदाभासा रसाभासाश्च केचन।
अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञैः सर्वेपि रसनाद्रसा।" भ० र० सि० • उ० वि० ल० ९ का० २४।

अनुरस रसाभासो मे आश्रय पात्र तो भक्त ही होते है, किन्तु प्रस्तुत भाव का सम्बन्ध कृष्ण से नही रह जाता। आलम्बन कृष्ण से सम्बन्ध छूट जाने के कारण उन विभादिको से निष्पन्न भाव रसाभास को ही ला सकते है, रस को नही। इस कोटि के रसाभास 'अनुरस' कहे गये है, और मध्यम माने गये है। कृष्णरति से लगाव न रह जाने के कारण इन रसाभासो को रस की परिधि मे नही लिया जा सकता। इन अनुरस रसाभासो की सख्या केवल आठ ही मानी गयी है। सात तो गौण रसो के रसाभास हो सकते है, तथा मुख्य रसो मे से केवल एक शान्त ही कृष्ण से असम्बद्ध होकर अनुरस के रूप मे आ सकता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है। रूप ने उन साहित्यिक स्वतन्त्र रसो की कोई चर्चा नही की जिनका कृष्ण से सम्बन्ध नही है, लौकिक व्यक्तियो से है। सामान्यत इन रसो को प्राकृत रस कहा गया है। अनुरस कोटि के रसाभासो मे भी वे ही रस आते है जिनमे कृष्ण आलम्बन न हो, पर आश्रय पक्ष का भक्तो से ही सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति मे एक अकेले शान्त को ही अनुरस रसाभासो मे गिना गया है। शान्त का स्वाभाविक सम्बन्ध भक्त श्रेणी के ही व्यक्तियो से हो सकता है, अत कृष्ण मे असम्बद्ध होने पर भी वह भक्तो से सम्बद्ध होने के कारण इस कोटि के रसाभासो मे गिन लिया गया है। अन्य चार मुख्य वर्ग के भक्तिरसो मे तो कृष्ण के साथ सीधा सम्बन्ध चाहिए, अत वे तो इस रसाभास के अन्तर्गत किसी प्रकार आ ही नही सकते। तब प्रश्न उठता है, कृष्ण और उनके भक्तो से भी असम्बद्ध लौकिक व्यक्तियो से सम्बद्ध साहित्यिक रसो के लिए रूप गोस्वामी के निरूपण मे कौन-सा स्थान है? उन्होने इसका कोई स्पष्ट उत्तर नही दिया। पर इतना स्पष्ट है कि इन लौकिक रसो को रूप की दृष्टि से रस कोटि मे तो रखा ही नही जा सकता, उन रसाभासो मे भी नही रखा जा सकता जिनमे भक्ति रसत्व की सम्भावना भी है। वे अधिक से अधिक इसी 'अनुरस' नामक रसाभास के वर्ग मे रखे जा सकते है।

अपरस रसाभासो मे वे भावस्थितियाँ आती है जहाँ विषय और आश्रय भाव विरोधियो और विपक्षियो के अनुकूल होता है। उदाहरणस्वरूप किसी शत्रु के द्वारा कृष्ण के प्रति हास की अभिव्यक्ति ली जा सकती है। ऐसी स्थितियो को काव्यशास्त्र मे भी रसाभास ही कहा गया है, जैसे रावण की सीता के प्रति भावाभिव्यक्ति आदि। अपरस रसाभास का सम्बन्ध कृष्ण-चरित से ही है, इतनी ही विशेषता है।

इस प्रकार हम रूप गोस्वामी के 'रस' की व्यापक परिधि का परिचय प्राप्त करते है। इसमे रति को स्थायी भाव के रूप मे रखकर भी नाना रूपो मे देखा गया है, जिनमे मुख्य के पाँच भेद तथा गौण के सात भेद है। स्वय भाव की विभिन्न स्थितियाँ है, जो रस की परिधि मे आती है, और रस की क्रमता का प्रतिपादन करती है। इस अलौकिक रस परिधि मे प्राकृत रस नही आते। साहित्यिक रसो के लिए उनकी दृष्टि मे अधिक से अधिक रसाभास का ही स्थान है, उस रसाभास का जिसमे सच्चे 'रसत्व' की सम्भावना नही।

रस-भेदो पर एक दृष्टि

अभी रस की परिधि का विचार करते हुए मुख्य और गौण दोनो को मिलाकर हमने देखा है कि भक्ति रस के १२ भेद होते है। पर यदि समन्वयात्मक व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो गौण रसो मे विभिन्न सात भावो के स्थायी रूप मे रहते हुए भी उनके मूल मे कृष्णरति ही स्थायी के रूप मे विद्यमान है। वही अपने पाँचो रूपो मे से किसी न किसी एक रूप मे

इन भावो के मूल मे रहती है, नही तो इन रसो का भक्ति-रस के अन्तर्गत परिगणन भी सम्भव नही हो सकता। रूप गोस्वामी ने इस तथ्य का स्पष्ट शब्दो मे उल्लेख किया है

"तस्मादनियताधारा सप्त सामयिका इमे ।
काप्यव्यभिचरन्ती सा स्वाधारान् स्वस्वरूपत ।
रतिरात्यन्तिकस्थायी भावो भक्तजनेऽखिले ॥"
स्युरेतस्या विनाभावाद् भावा सव निरर्थका ॥[1]

इस दृष्टि से मूलत एक ही भक्तिरस है, जिसके शान्त, प्रीत आदि पाँच उपभेद है।[2]

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो हास्यादि सात तो उस स्थायी कृष्णरति के सचारी भावो के स्थान पर है।[3] इस प्रकार रस सख्या पाँच ही रह जाती है।

इन ५ प्रमुख रसो को भी तीन वर्गो मे रखा जा सकता है

१ शान्त
२ प्रीत, प्रेयान् और वत्सल
३ मधुर

जहाँ तक शान्त का सम्बन्ध है, वह चाहे अन्य लौकिक रसो और ज्ञान-मार्गी साधनाओ मे भले ही श्रेष्ठ हो, किन्तु इन पाँच भक्तिरसो मे उसका स्थान अवर है। उसमे कृष्णरति का योग कुछ हल्का हो जाता है और कृष्ण के प्रति ब्रह्मभावना प्रमुख हो जाती है। कृष्ण के चतुर्भुज रूप की धारणा करते हुए उनके ब्रह्म रूप की ओर जाना और लीलामय रूप की ओर आकृष्ट न होना ही वह मुख्य कमी है जिसके कारण इस रस मे अन्य भक्तिरसो के समान सान्द्र घनीभूत आनन्द की अनुभूति नही हो पाती। इस रस का आनन्द आत्मस्वरूप के आनन्द से कुछ घनीभूत अवश्य होता है, किन्तु उसमे चरम उत्कृष्टता नही आ पाती।[4] सिद्धान्तत ब्रह्म और कृष्ण मे अभेद है, तथापि ब्रह्म कृष्णसूर्य का अशुरूप ही है। इसलिए रूप गोस्वामी की मान्यता है

---

१. भ० र० सि० द० वि० ल० ५ का० ३५-३७।

२ "एव भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते।
वस्तुतस्तु पुराणादौ पचधैव विलोक्यते॥" वही, का० ९८-९।

३ पञ्चधेवेति-हासादीना व्यभिचारिषु पर्यवसानात्।" दु० स०, पृ० ३०६।

फिर भी रूप गोस्वामी ने यत्र तत्र मुख्य रसों को एक मानकर तथा गौण रसों को सात गिनकर रस सख्या आठ भी कही है, जो सम्भवत काव्यशास्त्र की अन्त-मान्य सख्या से मेल बिठाने के लिए है—"पचधापि रतेरैक्यान्मुख्यस्त्वेक इहोदित ।
सप्तधाऽत्र तथा गौण इति भक्तिरसाऽष्टधा॥" भ० र० सि० द० वि० : ल० ५ . का० ९५-६।

४ "प्राय' स्वसुखजातीय सुख स्यादत्र योगिनाम्।
किन्त्वात्मसौख्यमघन घन त्वीशमय सुखम्॥"
"तत्रापीशस्वरूपानुभवस्यैवोरुहेतुता।
दासादिवन्मनोज्ञत्वलीलादेर्न तथा मता॥" भ० र० सि० प० वि० ल० १ का० ५-६।

"ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्धगुणीकृत ।
नैति भक्तिरसाम्भोधे परमाणुतुलामपि ॥"[१]

दूसरे वर्ग के तीन रसो मे मधुर भक्ति को छोड समस्त भक्ति रूपो को समन्वित करने का प्रयास है। इन सभी रूपो की पर्याप्त प्रशसा करते हुए रूप गोस्वामी ने इनमे वात्सल्य को उत्कृष्ट स्थान दिया है।[२] फिर भी, इन तीनो रसा म सान्द्र आनन्द की अनुभूति भक्त को होती है, वे तीनो ही अद्भुत हे।[३] इन भावो के उदाहरण भक्तो मे कभी-कभी सकुल भी पाये जाते है, जैसे उद्धव मे दास्य और सख्य का मेल, युधिष्ठिर मे प्रीति, सख्य और वात्सल्य का मेल।[४]

तीसरे वर्ग मे मधुर रस रखा जा सकता है जो इन आचार्यो की साम्प्रदायिक मान्यता से परिपुष्ट है। इसे ही इन्होने 'भक्तिरस-राज' का नाम दिया हे,[५] और उज्ज्वल नीलमणि मे इसी का विस्तार के साथ अलग से निरूपण प्रस्तुत किया हे। एक प्रकार से यह समझना चाहिए कि रूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु की रचना तो सभी सम्प्रदायो की भक्ति की दृष्टि को समन्वित करने के लिए की है, किन्तु अपने सम्प्रदाय की चेतना को उज्ज्वल-नीलमणि मे ही उतारा है। उज्ज्वलनीलमणि इसी मधुर रस की सागोपाग काव्यशास्त्रीय भाषा मे प्रस्तुत व्याख्या है।

इन पाचो रस-भेदो मे एक ही रति मूल मे अवस्थित है। उसी रति के पात्रवैशिष्ट्य से विभिन्न रूप विभिन्न भक्तो मे प्रतिफलित होते हुए दिखायी पडने है, जैसे सूर्य के विभिन्न प्रतिफलन स्फटिक, जल, दर्पण आदि मे विभिन्न रूप से दिखायी पडते है।[६] भक्तो मे उनके सस्कार, रुचि और वासनाओ के भेद के कारण उनके मन अलग-अलग प्रकार के होते है। कृष्णरति तो स्वरूपत शुद्धसत्त्वविशेषरूपा है। जैसे मन फलक पर प्रतिफलित होती है उसी का सा रूप धारण कर लेती है। उसी के अनुरूप उसके द्वारा प्रकाशित होने वाले विभावादि विभिन्न रूपो मे भक्त की अनुराग भूमि मे प्रतिष्ठित होते है, वत्सल भक्त की चेतना मे कृष्ण का शिशु रूप ही विभाव बनकर आता है, मधुरोपासक की चेतना मे रसिक लीलामय रूप। इस प्रकार भक्तो के भेद तथा विभावादि के विभावनादि के भेद से रति के विभिन्न रूप हो जाते

---

१ भ० र० सि०, पू० वि० ल० १ का० १९-२०।
"सिद्धान्ततस्त्वभेदेपि कृष्णश्रीशस्वरूपयो ।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थिति ॥" वही पू० वि० का० १८ ल० २।
"तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात् किरणार्कोपमाजुषो ।" वही, पू० वि० ल० २ का० ६६।

२ "अप्रतीतौ हरिरते प्रीतस्य स्यात्पुष्टता।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षति ।" वही, प० वि० ल० ४ का० २८।

३ "एषा रसत्रयी प्रोक्ता प्रीतादि परमाद्भुता ।" वही, का० २९।

४. वही, का० २९-३२। "तत्र केषुचिदप्यस्या सकुलत्वमुदार्यते।"

५ उज्ज्वलनीलमणि पृ० ४, श्लो० २।

६ "वैशिष्ट्य पात्रवैशिष्ट्याद् रतिरेषोपगच्छति।
यथार्क प्रतिबिम्बात्मा स्फटिकादिषु वस्तुषु।" भ० र० सि० द० वि० ल० ५ का० ७।

है,[1] जिनके आधार पर उपर्युक्त पाँच रस-भेदो को स्वीकृति देनी पडती है।

रस के विषय, आश्रय और अधिकारी

यहाँ इस पचरूपी भक्तिरस के विषय, आश्रय और अधिकारियो के विषय मे रूप गोस्वामी का दृष्टिकोण समझ लेना उपयुक्त होगा। जहाँ तक रति भाव के विषय का सम्बन्ध है, उसका एक ही विषय है श्रीकृष्ण। भक्तिमार्ग की यह मान्यता हे कि भगवद्विषयक प्रेम को ही भक्ति कहा गया हे। यद्यपि रूप ने यह दिखाया है कि भक्ति का श्रेष्ठ गुण उसका 'श्रीकृष्णाकर्षणी' होना है, अत भगवान् भी भक्त मे प्रेम करने लगते है। भक्ति उन्हे और उनके भक्तो को प्रेमभाक् बना लेती है।[2] मधुरा रति मे तो राधा की ही रति माधव की ओर नही, माधव की भी रति राधा की ओर होती है। किन्तु सिद्धान्त यह हे कि माधव की उस रति का स्थान उद्दीपन का ही है, स्थायी भाव का नही। प्रिया की रति ही रसकोटि तक पहुँचती मानी गयी है, इसीलिए 'प्रियाया भाव प्रियता' ऐसा मानकर मधुरा रति को 'प्रियता' नाम दिया गया है।[3] इस प्रकार भक्तिरस मे समस्त रति-रूपो का एक ही विषय होता है 'श्रीकृष्ण'। किन्तु आश्रय के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही हे।

आश्रय से तात्पर्य इन आचार्यो ने रति के उन मूल पात्रो मे लिया है जिनमे यह भक्तिरूपा रति नित्यरूप मे अवस्थित रहती है। अत ये भक्त वे ही हो सकते हे जो भगवान् के नित्य लीला-परिकर मे सम्मिलित है, जिनका उनसे नित्य सम्बन्ध है।[4] भगवान् के लीलापरिकर मे सभी प्रकार के भक्त विद्यमान है। शान्त भाव के आराधक सनकादि मुनि हे, दास्य का अवलम्बन करने वाले उद्धव, दारुक, अनन्त परिचारक, असख्य देव गण आदि है, सखा-भाव वाले अनेक गोप है, वात्सल्य मे डूबे नन्द, यशोदा आदि है, और माधुर्य भाव की प्रतिमूर्तियाँ व्रजदेवियाँ हे जिनमे राधा परम मुख्या है। इसी परिकर के ये नित्य कृपापात्र भक्त ही वस्तुत विभिन्न भक्तिरूपो के वास्तविक आश्रय हे। अन्य आधुनिक भक्त तो उनके भक्तिरस के निष्यन्द से रसाप्लावित हो उठते है।[5]

---

१ विभावनादिवैशिष्ट्याद् भक्ताना भेदतरतथा।
प्रायेण सर्वभावाना वैशिष्ट्यमुपजायते॥
विविधाना तु भक्ताना वैशिष्ट्याद् विविध मन।
मनोनुसाराद् भावाना तारतम्य किलोदये॥" वही, ल० ४ का० १२२-४।

२. कृत्वा हरि प्रेमभाज प्रियवर्गसमन्वितम्।
भक्तिर्वशीक रोतीति श्रीकृष्णाकर्षणी मता।" वही, पू० वि० ल० १ का० २०-१।

३ "भक्ताश्रयाया श्रीकृष्णविषयाया एव रते रस्यमानतया निर्दिश्यत्वात्, भक्तविषयकश्रीकृष्णरतेरतु तत्रोद्दीपनत्वात्, प्रियाया भाव प्रियतेति निरुक्ते"। दु० स०, पृ० २८१।
"कान्ताया पूर्वरागो भक्तिरसत्वेनोच्यते, कान्तस्य तु तदुद्दीपनत्वेन गम्यते।" वही, पृ० ४३२।

४ "हरिप्रिये साक्षादनुभवितरि तल्लीलापरिकरे रति परमाश्रये।" दु० स०, पृ० ३०७।
"अत्राय विवेक —यमुद्दिश्य रति प्रवर्तते स विषय, स च श्रीकृष्ण एवात्र, आधारस्तु रतेराश्रय', सच मूल रते पात्र गृह्यते, तन्निष्यन्देन ह्याधुनिका अपि भक्ता स्निग्धा भवन्ति। स पुन स्थापयिष्यमाणमहारसमूर्ति तल्लीलापरिकरगण एव, अन्यत्राश्रयता तु गौरवमत्यनुसारेण।" दु० स०, पृ० १२२-३।

५ भ० र० सि० में निरूपित विभिन्न रसों के आश्रयालम्बनों के आधार पर।
"तन्निष्यन्देन ह्याधुनिका भक्ता अपि स्निग्धा भवन्ति।" दु० स०, पृ० १२३।

इन गोस्वामी आचार्यो ने इन दोनो विषय तथा आश्रय के रूप मे चर्चित श्रीकृष्ण और उनकी रति का अनुभव करने वाले भक्तो को 'आलम्बन विभाव' के अन्तर्गत परिगणित किया है। अन्य काव्यशास्त्र के आचार्यो के विवेचन मे उनके विवेचन की यह विशेषता है। ये आश्रय भक्त सामाजिक या सहृदय के स्थानीय नही, अपितु शकुन्तलाविषयक दुष्यन्त-गत रति के उदाहरण मे दुष्यन्त के स्थानीय है। मामाजिक आस्वादनकर्त्ता के स्थानापन्न इनके विवेचन मे वे अधिकारी हे जिनका निरूपण अलग-अलग भक्तिरूपो मे पर्याप्त विस्तार के साथ रसामृतसिन्धु मे किया गया है। उन अधिकारी भक्तो मे भक्ति-रूपा रति के उन्मीलन के लिए उपर्युक्त विषय और आश्रय के रूप मे माने हुए दोनो प्रकार के तत्त्व आलम्बन विभाव का काम करते है, ऐसा माना गया हे। अलग-अलग प्रकृति का अधिकारी भक्त अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अपनी भावधारा के सजातीय आश्रय भक्त से तादात्म्य स्थापित करता हे, और उसकी भक्ति को प्राप्त कर आनन्दित होता है।

सामान्य काव्य के आश्रय पात्रो एव भक्तिरस के आश्रय पात्रो मे एक विशेष अन्तर की ओर इन आचार्यो ने ध्यान आकृष्ट किया हे। सामान्य काव्य के आश्रय पात्र मे जो भाव की स्थिति होती हे, उसे रस नही माना जाता। उसके भाव लौकिक ही होते है, अत उनमे दु खादिरूपता रहती है। रस की आनन्दमयता का आस्वादन उन्हे नही हो पाता। किन्तु भक्तिरस के ये आश्रय पात्र तो वस्तुत सच्चे मूल रस का आस्वादन करने वाले होते है। इनमे आनन्दस्वरूपिणी ह्लादिनी शक्ति की सार रूपा श्रीकृष्णरति निरुपाधिक एव निर्मल रूप मे नित्य उद्भासित रहती है।[1]

आश्रय और अधिकारी का अन्तर करके चलते हुए भी जितना आश्रय शब्द का व्यवस्थित प्रयोग किया गया है, उतना अधिकारी का नही। इस सम्बन्ध मे दो बाते उल्लेखनीय है—एक तो वे आश्रय रूप मे माने हुए भक्त भी भक्ति के 'अधिकारी' है ही। वे रसास्वादयिता भी हे। अत नित्यसिद्ध अधिकारियो के रूप मे उन्हे भी सम्मिलित कर लिया गया है। दूसरे अधिकारी भक्तो के उदाहरण इन्ही के बीच से देने मे सरलता और भक्ति पद्धति की रक्षा भी हुई है। उदाहरणस्वरूप मधुरा का उदाहरण राधा को चुनकर तथा वात्सल्य का नन्द-यशोदा को चुनकर ही देना उपयुक्त होगा, न कि किन्ही कल्पित अधिकारी भक्तो को। अस्तु, हुआ यह है कि अधिकारी की सीमा निर्दिष्ट नही रह सकी है।

यह हम ऊपर सकेन कर चुके है कि भक्तिरस के भक्तो की मनोवृत्ति और तत्प्रभावानुरूप विभावादि के विभावनादि के वैशिष्ट्य के अनुमार विविध रूप स्वीकार किये गये है। इन विविध रस-रूपो मे अधिकारियो का विभिन्न रूप होना भी स्वाभाविक है।[2]

---

१ "अलोकिकी त्विय कृष्णरति सर्वाद्भुतदाद्भुता।
योगे रसविशेषत्व गन्छ त्येव हरिप्रिये॥" भ० र० सि० द० वि० ल० ५ का० ८९-९०।
"हरिप्रिये साक्षादनुभवितरि तत्लीलापरिकरे रते परम श्रये।" दु० स०, पृ० ३०७।

२ वैधी के अधिकारी मे, उदाहरणस्वरूप, शास्त्र-श्रद्धा का योग प्रधान माना गया है, रागानुगा में भाव-वृत्ति का, रति का। रसकोटि तक पहुँचती हुई भाव भक्ति वस्तुत रागानुगा के कामानुगा और सम्बन्धानुगा भेदों मे आयी भाव-भूमियों का प्रसार है। इन भावभूमियों में अनेक प्रकार के भक्त अधिकारियों को वर्गीकृत करके रखा गया है, जिनका वास्तविक सम्बन्ध रसशास्त्र की अपेक्षा भक्ति की शास्त्रीय मान्यताओं से अधिक है।

रस-सामग्री

काव्य-शास्त्रीय ग्रथो की प्रेरणा के अनुरूप ही भक्तिरस की विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और सात्विक सामग्री का सविस्तार विवेचन किया गया है। इस विवेचन मे मोटे तौर पर कोई नूतन मान्यता का स्थापन नही किया गया। फिर भी, भक्तिरस की प्रतिष्ठा की आवश्यकता के अनुरूप और भक्ति-सम्बन्धी चेतनाओ के अनुरूप अनेक छोटी-मोटी मौलिक बातो की ओर दृष्टि ले जायी गयी है। सामान्यत भरत का नाम लेकर विश्वनाथ आदि आचार्यो की मान्यता का अनुसरण किया गया है। यहाँ इस सामग्री के तत्त्वो के सम्बन्ध मे कुछ उल्लेखनीय बाते प्रस्तुत है।

विभाव—विभावो के विषय मे अग्निपुराण के इस लक्षण को सामने रखा गया है

"विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र, येन विभाव्यते।
विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मक ॥"[1]

विभाव रत्यास्वादन के हेतु रूप मे ही स्वीकार किये गये है, और परम्परानुसार इनके आलम्बन और उद्दीपन दोनो भेद स्वीकार किये गये है। जैसा कि हम पीछे उल्लेख कर चुके है, आलम्बन विभाव के अन्तर्गत विषय रूप मे श्रीकृष्ण और आश्रय या आधार रूप मे उनके नित्यप्रिय भक्त, दोनो को सम्मिलित किया गया है।

उद्दीपन विभावो मे अन्य तत्त्वो के साथ तीन चीजे उल्लेखनीय है। वे है—कृष्ण के गुण, भक्त और कृष्ण-गत भक्त-विषयक रति। कृष्ण के गुणो को आलम्बन और उद्दीपन दोनो के अन्तर्गत दिखाया गया है। जब वर्णन मे गुण से अधिक गुणी पक्ष पर अधिक बल होता है, तब गुण आलम्बन के अग होते है, किन्तु जब उन्हे अलग से उभार कर प्रस्तुत किया जाता है, तो वे उद्दीपन का काम करते है। सुरम्याग कृष्ण के चित्रण मे सुरम्यागता उपसर्जनीभूत है, अत आलम्बन का अग है, किन्तु कृष्ण के सुरम्यागत्व के चित्रण मे वह आश्रय पात्र की रति का उद्दीपन करने वाली है, और प्राधान्येन निरूपित है।[2]

भक्तो को आलम्बन के आश्रयात्मक भेद के रूप मे भी माना गया है, और उद्दीपनो मे भी उन्हे परिगणित किया गया है। भक्तो के दो रूप यहाँ ध्यान मे रखे गये है। एक तो वे भक्त जो नित्यसिद्ध है, जिन्हे भगवान् का प्रेम साक्षात् रूप मे प्राप्त है। इन्हे महाभक्त की उपाधि दी गयी है। दूसरे सामान्य भक्त है। रसास्वादयिता भक्त के रत्युद्बोधन मे आलम्बन का काम महाभक्त ही करते है, दूसरे उद्दीपन की कोटि मे आते है।[3]

---

१ भ० र० सि०, पृ० १२२।

२ "तत्र गुणा द्विधा निरूप्यन्ते—प्राधान्येनोपसर्जनत्वेन च। क्वचित् सुरम्यागत्वमित्यादिना तथा क्वचित् सुरम्यागमित्यादिना चेति। यत्र प्रथमेन निरूप्यन्ते तत्र तेषामुद्दीपनत्वं, यत्र द्वितीयेन तत्रालम्बनत्वम्।" दु० स०, पृ० १२४।

३. "सजातीयमहाभक्तविशेषा आलम्बना इत्यर्थः, अन्ये तूद्दीपना इति भावः। तथैवोद्दीपनेष्वपि भक्ता गणयिष्यन्ते।" दु० स०, पृ० १८२।
"अत्र दासादयो द्विधा—भावमयाः, सत्ताप्रासदाग्यादयश्च। तत्रोत्तरेषामेव मुख्यालम्बनत्वमभिप्रेतम्।" दु० स०, पृ० १८७।

तीसरा उल्लेखयोग्य उद्दीपन है श्रीकृष्ण की भक्त-विषयक रति जिसकी चर्चा हम पीछे कर चुके है। भक्ति भक्त की एक व्यवस्थित भावना है। यदि भक्त को भगवत्प्रेम मिलता है, तो इससे उसकी भगवद्रति और पुष्ट होती है, सिद्धान्तत उसकी रति का लक्ष्य भगवान् की ओर ही होता है। यही रति रस पर्यवसायिनी मानी गयी है। कृष्ण की रति उद्दीपन।

आलम्बन के दो भेद विषय और आश्रय की आवश्यकता सभी प्रकार के रसास्वादयिताओ के लिए आवश्यक समझी गयी है, केवल राधा को रसानुभूति विषयात्मक आलम्बन के सम्पर्क से ही हो जाती है। लीलापरिकर से बाहर के प्रापचिक भक्तो के लिए तो लीलापरिकरगत नित्यसिद्ध भक्तो की आलम्बन विभाव के रूप मे अपेक्षा है ही है, स्वय लीलापरिकर मे परिगणित भक्तो को भी विषयालम्बन के अतिरिक्त आश्रयालम्बन अपेक्षित है। लीलापरिकर के भक्तो मे परम मुख्या राधा है। अन्य सामान्य लीलापरिकरीय भक्तो के लिए तद्गत मुख्य भक्त आश्रयालम्बन के रूप मे आते है, और उन मुख्य भक्तो के लिए परम मुख्या राधा। किन्तु जब परम मुख्या राधा की रसानुभूति होती है, तो विषय रूप श्रीकृष्ण से सर्वथा अभेदात्मक तादात्म्य एव अत्यन्त सन्निकटता के कारण उनके रसाविर्भाव के लिए श्रीकृष्ण ही सीधे आलम्बन का काम करते है। इस प्रकार उनके रसोद्बोध मे एकविध आलम्बन होता है, अन्यो के मे द्विविध।[1]

अनुभाव—अनुभावो के सम्बन्ध मे कोई विशेष उल्लेखनीय बात नही है। आश्रय भक्तो की भावानुभूति के परिणामस्वरूप होने वाली चेष्टाएँ इनमे परिगणित है। सामान्यत इन्हे रसानुभूतिकाल मे चेष्टारूपा भक्ति के अन्तर्गत माना गया है।[2]

व्यभिचारी भाव—व्यभिचारी भावो का रूप काव्यशास्त्र के ही अनुसार है, और उनके विषय मे सामान्यत दशरूपककार का अनुसरण किया गया है। भरतपरम्परा की सख्या तैंतीस को ही अक्षुण्ण मानने का प्रयास है।

सात्विक भाव—भरत का अनुसरण करते हुए सात्विको का सम्बन्ध विशेषत कृष्णरति से जोड दिया गया है। कृष्णसम्बन्धी भावो से परिप्लुत चित्त को सत्व नाम देकर उससे विशेषत निस्यूत विकारो को सात्विक कहा गया है।[3]

रसास्वादयिता

काव्य-रस के आस्वादनकर्ता सहृदय मे आचार्यो ने कतिपय विशेष योग्यताएँ अपेक्षित मानी है। भक्तिरस तो एक अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की अनुभूति ठहरी। उसके आस्वादनकर्ता मे कुछ विशिष्टताएँ होना स्वाभाविक ही है।

सामान्यत जिन अधिकारियो की चर्चा पीछे की गयी है, वे ही अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भक्ति-रस के तत्तत् रूपो के आस्वादनकर्ता कहे जा सकते है। हम देख चुके है कि

---

१ "तदेव द्विविधाऽऽलम्बनशालिता च तल्लीलापरिकरादन्येषा, तस्मिन् लीला परिकरगणेषि परममुख्य-मुख्याद् इतरेषा, परममुख्यमुख्यस्य तु केवलश्रीकृष्णालम्बनशालिता ज्ञेयेति।" दु० स०, पृ० १२३।

२ "तत्र चेष्टा रूपा द्विविधा—भावभक्ते साधनरूपा, कार्यरूपा तु रसावस्थया अनुभावरूपा च। तयो पूर्वा दर्शिता, उत्तरा रसप्रसगे दर्शयिष्यते।" दु० स०, पृ० १००।

३ "कृष्णसम्बन्धिभि साक्षात् किंचिद्वा व्यवधानत।
भावैश्चित्तमिहाक्रान्त सत्त्वमित्युच्यते बुधै।" भ० र० सि० द० वि० ल० ३ का० १।

इन अधिकारियो की परिधि मे भगवान् के लीलापरिकर-गत नित्य-सिद्ध भक्त भी आ जाते है, और अन्य सिद्ध तथा साधक भक्त भी। सामान्यत इन सभी मे रसास्वादन की सम्भावना मानी गयी है।

जीव गोस्वामी ने एक प्रसग मे मानव प्राणियो के पॉच वर्ग बनाये है—भाव्य भक्त, भावक भक्त, प्राज्ञ, अज्ञ और ग्राम्य। ग्राम्य कोटि के तो वे लोग है जिनकी दृष्टि अपने पैरो तले के भौतिक सुख-दुखो तक ही परिसीमित रहती है। इन्हे उन्होने पगु-प्राय माना है। अज्ञ वे लोग है जो भले ही अनन्त शास्त्रो के पारगत हो, किन्तु रस-शास्त्र का परिज्ञान न होने के कारण भक्तिरस के मर्म को ही नही समझ सकते है। तीसरी कोटि के लोग प्राज्ञ है, जिनमे स्वय तो यद्यपि भक्तो के रसात्मक अनुभव को पाने की क्षमता नही होती, किन्तु रस-शास्त्र का परिज्ञान होने के कारण उसके मर्म को जानते है। ऐसे लोगो मे भाव तत्त्व की अपेक्षा बुद्धिवाद की प्रधानता होती है, इसी हेतु इन्हे 'प्राज्ञ' कहा गया है। शेष दो वर्ग वास्तविक भक्तो के है, जो भक्त होते हे और भक्तिरस के सच्चे अधिकारी होते हे। इनमे भाव्य भक्त वे है जिनका परिगणन भगवान् के लीलापरिकर मे किया गया है, दूसरे वे है जिन्हे प्रपचगत कहा गया है। भावक भक्त भक्तिरस की भावना करने वाले है, नित्यसिद्ध लीलापरिकरीय भक्त उनके भाव्य होते है। इसी कारण लीलापरिकरीय भक्तो को 'भाव्य' भक्त कहा गया है। भावक भक्तो को प्रपचगत कहने से उनके प्रति कोई हेय भावना व्यक्त नही की गयी, केवल यह दिखाना हे कि ये वैधी या रागानुगा की साधना से, अथवा भगवत्कृपा से भक्ति की उपलब्धि करके सिद्धावस्था को प्राप्त करते है, इनका पथ प्रपचात्मक जगत् के बीच से जाता हे।[1]

तो, रसास्वादन भाव्य और भावक, दोनो ही प्रकार के भक्तो को होता है। फिर भी, रस-स्वरूप का जो विवेचन किया गया है, उसका सीधा सम्बन्ध भावक भक्तो से ही है, यह ध्यान रखने की बात है। भाव्य भक्त तो भावक भक्तो की रसोपलब्धि मे विभाव कोटि मे गिने गये है। श्रीकृष्ण उनके लिए विषयालम्बन है, तो भाव्य भक्त आश्रयालम्बन। अत भाव्य लीलापरिकरीय भक्त तो भावक भक्तो के रसोद्बोध के हेतु हे। अत, भले ही हम इन गोस्वामी आचार्यो द्वारा निरूपित रस-स्वरूप को भाव्य भक्तो की रसानुभूति पर भी घटित कर सके, उसका सीधा सम्बन्ध भावक भक्तो मे ही है।

अपेक्षित योग्यताएँ—भक्तिरस के आस्वादयिता भावक भक्त मे भक्तिमार्ग की मान्यताओ के अनुरूप अनेक योग्यताएँ अपेक्षित है। सामान्यत उसकी भक्ति भुक्ति-मुक्ति की अभिलाषा से परे, और ज्ञान-कर्म के आवरणो से मुक्त होनी चाहिए। भक्तिमार्गीय परिचर्यादि कर्म और भक्त्युपयोगी वैराग्य उसमे हो सकता है।[2] भक्ति के विविध अगो के अनुशीलन से उसका चित्त एक निर्मल भूमिका मे पहुँच चुका होता है।

काव्य-रस और भक्ति-रस मे एक बडा भारी अन्तर यह है कि काव्य-रस स्थायी नही है, उसकी अवधि बडी परिसीमित है। अनुशीलनकर्ता को जल्दी मिलता है, जल्दी चला जाता है। भक्ति-रस एक साधना-गम्य अनुभूति है। उसमे एक बडी भारी स्थायिता है,

१ "तत्र तावत्पचविधा जना परामृश्यन्ते—भाव्यभक्ता भावकभक्ता प्राज्ञा अज्ञा ग्राम्याश्चेति ।" दु० स० पृ० ३१०-१।

२ भ० र० सि० पृ० ८२।

जिसका च्यवन कुछ विशेष कारणो से ही होता है। इस अन्तर के कारण जिन योग्यताओ की अपेक्षा काव्यरसिक मे अस्थायी रूप से भी करके काम चल जाता है, उन्ही को भक्तिरस के रसिक मे स्थायी रूप से अपेक्षित माना गया है। उदाहरणस्वरूप काव्य के रसयिता मे रजस् तमस् को दबाकर सत्त्व के उद्रेक की बात कही गयी है, उसका व्यक्तिगत भावभूमि से ऊपर उठना रसानुभव के लिए अनिवार्य समझा गया है। किन्तु ये अपेक्षाएँ उसके भीतर काव्यरसास्वादन के क्षणो मे ही अपेक्षित होती है। काव्यास्वादन से हटकर उसकी भूमि सर्वथा लौकिक ही होती है। दूसरी ओर भक्त के विषय मे यह भूमिका अपेक्षाकृत स्थायी रूप से अपेक्षित मानी गयी है। साधना के द्वारा उसके व्यक्तित्व का स्थायी विकास अपेक्षित समझा गया है। भक्तिरस की उपलब्धि मे पूर्व जो साधना-भूमि का अभ्यास है, वह इसी का निर्देश करता है।

भक्तिरस के आस्वाद के लिए आस्वादयिता मे कृष्णरति की गहरी वासना अपेक्षित है। रसानुभूतिकाल की ही नही, पूर्वजन्मो की भी प्राक्तनी वासना जब तक उसमे न होगी, उसे रसास्वादन न हो सकेगा—

"प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
एष भक्तिरसास्वादो तस्यैव हृदि जायते॥"[1]

अतीत और वर्तमान की परिपुष्ट रति-वासना और प्रेम-सस्कार वाले लोग ही रस-मर्मज्ञ हो सकते है, उन्हे ही भावुक और रसज्ञ कहा गया है।[2]

वासना के इस मानसिक वातावरण की परिपुष्टि के लिए भक्त को अन्य रसिक भावुक भक्तो का आसग अपेक्षित माना गया है।[3]

कृष्णरति के उद्बोधन के लिए पाँच चीजो पर अधिक बल दिया गया है—भगवान् की मूर्ति, श्रीमद्भागवत का श्रवण, कृष्ण-भक्तो का सत्सग, नाम-श्रवण और मथुरा-निषेवण। इनमे श्रीमूर्ति का सम्बन्ध दर्शन से है, भक्त-सग और मथुरा-निवास का वातावरण से, तथा श्रीमद्भागवत और नाम का 'श्रवण' से। रूपगोस्वामी ने इन पाचो पदार्थो को 'अलौकिक' कहा है, और इनके सम्बन्ध मे एक विशेष उल्लेखनीय बात कही है। सामान्यत लौकिक पदार्थो के ज्ञान की प्रक्रिया यह होती है कि वे ज्ञाता की ज्ञानभूमि मे आकर या तो अपने प्रति किसी भाव का उद्बोधन कराते है, अथवा अपनी सादृश्य-वैसादृश्य आदि की, या सम्बन्ध की चेतना से किसी अन्य सम्बद्ध वस्तु की चेतना मन मे लाते है। तदनन्तर उस वस्तु के प्रति भावोद्बोध होता है। इस नियम से होना यह चाहिये कि इन पाँचो पदार्थो मे से किसी के ज्ञान से भक्त के मन मे पहले कृष्णादि विभावो की चेतना आनी चाहिए, पीछे तद्विषयक रति का उद्बोधन होना चाहिए। किन्तु इन पाचो अलौकिक पदार्थो की यह विशेषता है कि ये अपने प्रयोक्ता के मन फलक पर रति और उसके विषय कृष्ण दोनो को

---

१ वही, द० वि० ल० १ का० ७।

२. "अत्र रसिका इत्यनेन प्राचीनार्वाचीनसस्काराणामेव तद्धिशत्व दर्शितम्।" दु० सं० पृ० ७४।
"रसिका भगवद्भक्तिरसज्ञा इत्यर्थ।" वही, पृ० ७४।
"भावुका इत्यत्र रसविशेषभावनाचतुरा इति टीका। दु० स० पृ० ७५।

३ "श्रीभगवतरक्ताना रसिकासगरगिणाम्।
जीवनीभूतगोविन्दपादभक्तिसुखश्रियाम्।" भ० र० सि० द० वि० ल० १ का० ८-९।

साथ ही साथ उपस्थित कर देते है

"अलौकिकपदार्थानामचिन्त्या शक्तिरीदृशी ।
भाव तद्विषय चापि या सहैव प्रकाशयेत् ।"[1]

इनकी शक्ति अद्भुत है। इनके अत्यन्त स्वल्प सम्पर्क से ही निर्मल-चैता भक्तो मे रति का उद्बोधन हो जाता है :

"दुरूहाद्भुतवीर्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तु पचके ।
यत्र स्वल्पोपि सम्बन्ध सद्धिया भावजन्मने ।।'[2]

रस-निष्पत्ति का निरूपण करते हुए हम देखेगे कि रूपगोस्वामी ने इन श्रवणादि तत्त्वो को कितना महत्त्व दिया है।

स्वसजातीय आश्रय भक्त से तादात्म्य—अपने-अपने सस्कार और वासना के अनुरूप भावक भक्त कई प्रकार के हो सकते हे। उनकी रागात्मिका वृत्ति को कान्ताभाव और कान्तेतर-भाव के वर्गो मे रखकर कामानुगा और सम्बन्धानुगा के रूपो मे देखा गया है। सम्बन्धानुगा मे दास्य, सख्य और वात्सल्य के सम्बन्ध प्रमुखतया आते है। भावक भक्त अपनी-अपनी वासना के अनुरूप अपनी कोटि के भाव्य भक्तो की भावना को पाता हे। काव्यशास्त्रीय शब्दो मे कहे तो कह सकते है कि वह स्वसजातीय आश्रय पात्र से तादात्म्य स्थापित करता है।

कहना चाहिए, भावक भक्त अपने भाव्य भक्त की भाव-भूमि का अपने मे अभिमान करता है, या आरोपण करता है। सेवक, सखा या पितादि के सम्बन्ध की धारणा मननात्मक रूप से प्रारम्भ होती है और पीछे इस भाव की पूर्ण उपलब्धि मे पर्यवसित होती है। अत कहना चाहिए, इसका प्रारम्भ बौद्ध धरातल से होकर व्यापन भाव के क्षेत्र मे होना है। इसका उल्लेख रूपगोस्वामी ने इस प्रकार किया है

"सा सम्बन्धानुगा भक्ति प्रोच्यते सद्भिरात्मनि ।
या पितृत्वादिसम्बन्धमननारोपणात्मिका ।।
लुब्धैर्वात्सल्यसख्यादौ भक्ति कार्याऽत्र साधकै ।
व्रजेन्द्रसुबलादीना भावचेष्टितमुद्रया ।।"[3]

फिर भी यह ध्यान रखने की बात है कि जीवागोस्वामी ने इस तादात्म्य-भावना को अभेद-भावना के रूप मे नही लिया, सम्बन्ध-भावना के रूप मे लिया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार भगवान् से अद्वैतात्मक अभेद की कल्पना करना अपराध हे, उसी प्रकार उनके परिकर के पूज्य भक्तो के साथ पूर्णत अभेद-भावना करना अपराध है, अत यह तादात्म्य अपने मे पितृत्वादि का आरोपण नही, पितृत्वादि के सम्बन्ध का आरोपण है

"पितृत्वादिसम्बन्धस्य यन्मनन विशेषचिन्तन पुनस्तस्यारोपण स्वस्मिन्नभिमनन तदात्मिकेत्यर्थं ।

व्रजेन्द्रेति—न तु व्रजेन्द्रादित्वाभिमानेनापीत्यर्थं । पितृत्वाद्यभिमानो हि द्विधा सम्भवति—स्वतन्त्रत्वेन, तत्पित्राद्यभेदभावनाया च । तत्रात्यन्तमनुचित भगवदभेदोपासनावत्

---

१ भ० र० सि० पू० वि० ला० २ का० ४५।
२ वही, का० ४४।
३ वही, का० ८६-८।

तेषु भगवद्वदेव नित्यत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणेषु तदनौचित्यात्, तथा तत्परिकरेषु तदुचितभावना-विशेषेणापराधापातात् ।"[1]

साधना-काल मे भी पितृत्वादि की लिप्सा नही, पितृत्वादि भाव की लिप्सा ही अभीष्ट मानी गयी है

"सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि ।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारत ॥"[2]

"साधकरूपेण यथावस्थितदेहेन, सिद्धरूपेण अन्तश्चिन्तिताभीष्टतत्सेवोपयोगिदेहेन, तस्य व्रजनाथस्य निजाभीष्टस्य श्रीकृष्णप्रेरकस्य यो भावो रतिविशेषस्तल्लिप्सुना ।"[3]

यह सम्बन्ध भाव का मननात्मक आरोपण कान्ताभाव की रति के विषय मे कुछ प्रश्न पैदा कर सकता है । क्या दाम्पत्य भाव की वह शृगारात्मिका रति पुरुषो मे भी सम्भव हे ? क्या पुरुष भक्त भी कृष्ण के प्रति सभोगात्मिका रति की चेतना लेकर राधा-भाव का अपने मे आरोपण कर सकते है, आदि ? इनका उत्तर एक शब्द मे 'हाँ' मे है । उद्धव जैसे श्रेष्ठ भक्त इसी मधुर भाव की कामना करते हे ।[4] प्रक्रिया वही भावाभिमान की है, व्यक्त्यभिमान की नही ।"[5] एक दूसरे ढग से भी इसके समाधान का प्रयत्न है । पद्म पुराण के आधार पर यह कहा गया है कि दण्डकारण्यवासी मुनियो ने राम के रूप को देख कर उन्हे कान्ता भाव से प्राप्त करने की कामना को । उनकी यह वासना पूरी हुई और गोकुल मे कृष्णावतार के साथ उन्होने गापियो मे जन्म पाकर श्रीकृष्ण को प्रिय रूप मे पाया ।[6] किन्तु यह समाधान दूर का, इससे अनुभूति की समस्या का समाधान नही होता ।

रस का स्वरूप एव निष्पत्ति

रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु मे काव्यशास्त्रीय पदावली और निरूपण-प्रक्रिया को अपनाते हुए अपने 'भक्तिरस' का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया है

"विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभि ।
स्वाद्यत्व हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभि ॥
एषा कृष्णरति स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् ।"[7]

इस पर जीवगोस्वामी की टिप्पणी इस प्रकार है

"श्रवणादिभि कर्तृभि विभावादिभि करणैर्भक्ताना हृदि स्वाद्यत्वमानीता सम्यक् प्रापिता चमत्कारविशेषेण पुष्टेत्यर्थ ।"[8]

---

१. दु० स०, पृ० ६८ ।

२ भ० र० सि० पू० वि० : ल० २ का० ८० ।

३ वही, पृ० ६५ ।

४ "इत्युद्धवादयोप्येत वाञ्छन्ति भगवत्प्रिया ।" भ० र० सि० पू० वि० ल० २ का० ७१ ।

५. "एत एतादृशेन कान्तत्वाभिमानरूपेण भावेनोपलक्षितो य प्रेमातिशयस्तमेवेति ज्ञेय, तादृशेन विशिष्टं तमिति तु न ज्ञेयन् ।" दु० स० पृ० ६३ ।

६ भ० र० सि० पृ० ६७ ।

७ भ० र० सि० द० वि० ल० १ का० ५-६ ।

८ दु० स० पृ० १२१ ।

इस टिप्पणी पर ध्यान रखते हुए भक्तिरस का स्वरूप निम्न शब्दो मे प्रस्तुत किया जा सकता है

"भक्तो के हृदय मे स्वाद्यता को प्राप्त हुआ कृष्णरति नामक स्थायी भाव ही भक्तिरस है। इसे स्वाद्यता की कोटि तक पहुचाने का काम विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारियो की सहायता से श्रवणादि करते हे। रति के स्वाद्य कोटि तक पहुचने का अर्थ है भक्तो के हृदय मे सम्यक् रूप से उद्भावित करा देना, जो वह एक विशेष चमत्कार से युक्त हो उठे।"

सामान्यत यह रस-स्वरूप काव्यशास्त्रीय रस-स्वरूप से अधिक भिन्न नही है। केवल इस निरूपण मे श्रवणादि को अधिक महत्त्व दिया गया है। हम यदि चाहे तो काव्य-रस पर इस लक्षण को घटित कर सकते हे। काव्य के श्रवण से या नाटक के दर्शन से सामाजिक के मानस पट पर उपस्थापित विभावादि के द्वारा परिपुष्ट हुए उसी के स्थायी भाव रस बनते है। किन्तु ये गोस्वामी आचाय भक्तिरस के विषय मे इन शब्दो मे ही कुछ अधिक कहना चाहते है।

भक्तिरस का यह स्वरूप अपने निरूपण मे कुछ निष्पत्ति-प्रक्रिया को भी समेटे हुए है। सामान्यत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो की भी यही पद्धति रही है। अत इसमे विवेचित स्वरूप को निष्पत्ति-प्रक्रिया पर ध्यान ले जाते हुए ही समझा जा सकता हे। कुछ विशेष ध्यान देने योग्य बाते इस प्रकार है

१ कृष्णरति से निष्पन्न होने वाले इस भक्तिरस की अवस्थिति 'भक्त-हृदय' मे हे। केवल काव्यानुशीलन के अभ्यासी व्यक्तियो को इस अलौकिक रस का आस्वादन नही हो सकता। हम देख चुके ह कि इस विवेचन के लक्ष्य प्रमुखत भावक भक्त ही ह।

२ भक्तो के जिस हृदय मे कृष्णरति के उद्भासित होने की बात कही गयी हे, वह स्वरूपत निर्धूत-कल्मष हो चुका होता हे। उसमे तत्कालोपयोगी नही, स्थायी सत्त्वोद्रेक हो चुका होता हे। रूपगोस्वामी ने ऐसे चित्त को 'प्रसन्न' और 'उज्ज्वल' कहा हे।[1] जीव गोस्वामी के अनुसार प्रसन्न का अर्थ है सत्त्वोद्रेक के कारण ऐसा निर्मल चित्त जिसमे शुद्धसत्त्वविशेष ह्लादिनीसाररूप रति का आविर्भाव हो सके। और उज्ज्वल से तात्पर्य हे उसमे ऐसी पारदर्शकता हो जो शुद्धसत्त्वविशेष के उदय हो जाने से सर्वज्ञता का प्रकाशन कर सके।

"निर्धूतदोषत्वादेव प्रसन्नत्व शुद्धसत्त्वविशेषस्याविर्भावयोग्यत्व, ततश्चोज्ज्वलत्व तदाविर्भावात् सर्वज्ञानसम्पन्नत्वम्।"[2]

हम देख चुके है कि ह्लादिनी शक्ति का एक पक्ष संविद्रूप भी है, जिसका काम है सर्वज्ञापकत्व, सर्वप्रकाशकत्व। इसी विशेषता के आधार पर भक्त-चित्त मे आविर्भूत हुई वह संविद्रूपा रति सपरिकर कृष्ण का प्रकाशन करती है। चित्त की उज्ज्वलता यही विशेषता है कि वह संविद् के सर्वज्ञान का आधार बन सके।

३ रति के आविर्भाव मे जीव गोस्वामी ने श्रवणादि को कर्ता का स्थान दिया है। "श्रवणादिभि कर्तृभि"। श्रवणादि कर्ता है, विभावादि तो करण या साधन रूप है। तात्पर्य यह कि श्रवणादि के द्वारा भक्त हृदय मे सविषया रति का आविर्भाव किया जाता है। यह हम

---

१. "भक्तिनिर्धूतदोषाणा प्रसन्नोज्ज्वलचेतसाम्।" भ० र० सि० द० वि० ल० १ का० ८।

२ दु० स० पृ० १२१।

देख चुके है कि श्रवणादि को रूपगोस्वामी ने अलौकिक प्रभावशाली माना है, जिनके कारण प्रमाता के हृदय मे भाव और विषय साथ-साथ प्रादुर्भूत हो जाते है। कृष्णरति निर्विषयक भाव नही है, उसका विषय कृष्ण है। इन दोनो तत्त्वो का परस्पर पोष्य-पोषक भाव-सा रूप गोस्वामी ने दिखाया है। रति हृदय मे माधुर्य के आश्रय कृष्ण और उनके लीलापरिकर की प्रतिष्ठा करती है, और वे कृष्णादि अनुभव मे आकर उस रति को और प्रौढ बनाते है

"माधुर्याश्रयत्वेन कृष्णादीस्तुनते रति ।
तथानुभूयमानास्ते विस्तीर्णा कुवते रतिम् ।
ततस्तस्य विभावादिचतुष्कस्य रतेरपि ।
अत्र साहाय्यक व्यवत मिथोऽजस्रमवेक्ष्यते ॥"[१]

रति जितनी-जितनी प्रौढ होती जायेगी, उसे श्रवणादि की उतनी ही कम अपेक्षा रह जायेगी, फिर भी प्रेमा की भूमिका मे पहुचे भक्तो के लिये भी श्रवणादि का उपयोग है, वे रसास्वाद मे बडे भारी सहायक होते है

"हरेरीषच्छ्रुतिविधौ रसाम्वाद सता भवेत्।
रतेरेव प्रभावोऽय हेतुस्तेषा तथाकृतौ ॥"[२]

श्रवण और दर्शन मे श्रवण ही अधिक महत्त्वशाली है। मूर्ति, प्रतिमा आदि के दर्शन के समय भी श्रवण के द्वारा चेतना मे आयी हुई लीलादि की स्मृतिया अपेक्षित है, नही तो भावोद्बोधन न हो सकेगा। किन्तु श्रवण बिना दर्शन की सहायता के भी अपना काम कर सकता है।[3]

श्रवण के अन्तर्गत, जैसाकि हम देख चुके है, श्रीमद्भागवत और भगवन्नाम ही मुख्यत आते है। भगवल्लीला की कथाओ को साक्षात् रसमय कहा गया है

"अमृतद्रवस्तल्लीलारस,
"हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम् ।"
इति द्वादशे श्रीभागवतविशेषणात्, लीलाकथारसनिषेवणमिति तस्यैव रसत्व-निर्देशात् ।"[४]

इनके अतिरिक्त कृष्ण-सम्बन्धी काव्य-नाट्यो को, कहिए भक्ति-साहित्य को, भी श्रवण के अन्तर्गत लिया जा सकता है, किन्तु गौण रूप से ही। भक्तो को ध्यान मे रखकर उनकी गौणता के विषय मे दो प्रमुख तर्क दिये गये है। एक तो यह कि सभी भक्त काव्यार्थ-चर्वणा-कुशल नही हो सकते। काव्यानुशीलन के लिए कुछ अलग प्रकार की भावुकता एव कुशलता अपेक्षित है। अत उनकी पहुच व्यापक नही। दूसरे यह कि यदि भावक नया-नया है, उसमे रति का नूतन अकुर ही उत्पन्न हुआ है, और वह काव्यानुशीलन कुशल भी है, तो उसके लिए भक्तिकाव्य रत्युद्बोधन मे कुछ सहायता कर सकता है। उसकी रति के दृढ़ हो जाने पर तो वह भक्तिकाव्य ही एक मात्र साधन नही रह जायेगा। फिर भी उनका महत्त्व है। प्रौढ रति वाले भक्तो मे भी उनके अल्प श्रवण-दर्शन से ही रसास्वाद हो जाता है

---

१. भ० र० सि० द० वि० ल० ५ का० ७९-८०।

२ वही, का० ७८-९।

३ दु० स० पृ० ६७।

४ दु० स० पृ० ७५।

"हरिभक्तस्य कस्यचित्काव्यान्नर्थचर्वणविज्ञस्येत्यधिकरणे सम्बन्धविवक्षा । तत्र हर्याद्याश्रयकाव्यनाट्ययोर्विभावादिकारणत्व स्यात्, तच्च किचित् स्यात्, जातरतौ तु प्रकारान्तर-स्यापि तथा तत्कारणत्व न तथेति । तर्हि कथमारूढभावेषु तत्तदप्रयोजक स्यान् ? नेत्याह-हरेरिति, ईषच्छ्रुतिविधावपि स्यात् ।"[१]

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि भक्ति-काव्य की अनुभूति के विषय मे भक्त आस्वादयिताओ की दृष्टि से ही विचार किया गया है, काव्यानुभूति-ममज्ञ सहृदय-सामान्य की दृष्टि से नही । यद्यपि यह स्वीकार किया गया है कि काव्यानुशीलन के लिए एक विशेष प्रकार की मर्मज्ञता अपेक्षित है, तथापि विवेचित यही किया गया हे कि भक्ति-काव्य का सिद्ध भक्तो पर क्या प्रभाव पडता है, और साधक भक्तो पर क्या । प्रश्न उठाया जा सकता है कि उन सामान्य सामाजिको को, जो भक्त तो नही कहे जा सकते किन्तु काव्यानुशीलन के मर्मज्ञ हे, भक्तिरस की उपलब्धि होगी या नही ?

उत्तर मे यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन अर्थो मे भक्तिरस को 'रस' कहा गया ह, वह एक स्थायी और ब्रह्मानन्द से भी बढकर मानी हुई अलौकिक अनुभूति हे । भक्ति के सच्चे सस्कार न होने के कारण अभक्त सामाजिक को उस रसतत्त्व की अनुभूति नही हो सकती । उसकी अनुभूति उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार वह काव्य से अन्य रसो की अनुभूति पाता है। काव्य-रसिक इस दृष्टि से दो प्रकार के हो सकते है—एक तो वे जो स्वय भक्त न होकर भी इस रस के शास्त्रीय मर्म एव रचयिता कवि की मूल चेतना आदि को समझते है । ऐसे ही लोगो को शायद जीव गोस्वामी ने 'प्राज्ञ' वर्ग मे रखा है । यह हम जानते है कि सामाजिक जिस रस की अनुभूति करता है, उसकी वासना उसके हृदय मे अवश्य होती है । मीमासक और वेदाध्यायी को शृगार की अनुभूति नही होती, सन्यासी को लौकिक भावो मे रुचि नही होती । शान्त के अनुभव के लिए उस प्रकार की वासना चाहिए । तो, इस भक्तिरस के काव्यात्मक आस्वादन के लिए भी सामाजिक मे उसकी वासना अपेक्षित हे । उसकी वासना जितनी साम्प्रदायिक होगी, उतनी ही मात्रा तक वह भक्ति के साम्प्रदायिक स्वरूप को अनुभव कर सकेगा । दूसरी प्रकार का सहृदय, जिसमे इस भाव की वासना का अभाव होगा, भक्तिरस के काव्य मे कुछ भिन्न प्रकार का अनुभव प्राप्त करेगा । उसके लिए कान्ताभाव की गोपीरति मे शृगार का ही अनुभव होगा । हो सकता है, उसके सस्कारो के अनुरूप औपपत्य के चित्रो मे उसे शृगाराभास लगे । सामान्यत यह कहा जा सकता है कि काव्य के साम्प्रदायिक रूप को हटाकर जो एक मूल प्रेषणीय रूप भक्तिकाव्य का रह जायेगा, उसकी काव्यरसात्मक अनुभूति सामाजिक कर सकता है । इस विषय पर अधिक विचार करने का अवसर हमे यथास्थान मिलेगा । यहा इतना ही पर्याप्त है ।

४. श्रवणादि के द्वारा भक्त के हृदय मे कृष्णरति का उद्बोधन कराया जाता है । यह रति सविद्रूपा होने के कारण भक्त के हृदय-फलक पर कृष्णादि विभावो को प्रस्तुत कर देती है । सविषया रति अपने विषय को उपस्थापित कर देती हे । सीधे शब्दो मे कहना चाहिए, जिस प्रकार काव्य के शब्दो से सामाजिक के मन फलक पर विभावादि साक्षात्का-रायमाण रूप मे उपस्थित होते है, उसी प्रकार श्रवणादि के प्रभाव से भक्त के मन फलक पर कृष्ण और उनका लीलापरिकर आविर्भूत होता है । अन्तर केवल इतना है कि काव्यानुभूति

---

१ दु० स० पृ० ३०३-४ ।

मे श्रेय कवि के शब्दो को ही होता है, यहा विभावादि को अनुभव मे लाने का श्रेय रति को है। काव्यानुभूति मे आने वाले विभावादि कवि-कल्पित होते है, वास्तविक नही होते। उनके कल्पित रूप की चेतना प्रमाता के अवचेतन मे विद्यमान रहती है। किन्तु भक्तिरस के अनुभव मे रति द्वारा उपस्थापित ये विभावादि नित्य और अकल्पित होते है।[1]

रति अपने मूल रूप मे कृष्ण की आह्लादिनी एव प्रकाशिका शक्ति है, यह हम पीछे जान चुके है। वह स्वय-प्रकाश होते हुए कृष्णादि का प्रकाशन भी करती है, इसका रहस्य यही है कि शक्ति और शक्तिमान् मे अभेद होता है। उस शक्तिरूपा के उदित होते ही शक्तिमान् उसमे स्वत आविर्भूत होता है। यही उसका कृष्णादि को विषय या अनुभव के कर्मरूप मे उपस्थापन है।[2]

५ रूप गोस्वामी ने साधारणीकरण को भी स्वीकार किया है। इस विषय मे उनके सामने विश्वनाथ है। फिर भी विश्वनाथ का पूर्ण अनुकरण नही किया गया है। विश्वनाथ ने साधारणीकरण की चर्चा इन शब्दो मे की है

"व्यापारोस्ति विभावादे नाम्ना साधारणीकृति ।
तत्प्रभावात्परस्यासन् पाथोधिप्लवनादय ॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मान प्रतिपद्यते ।
साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ॥"[3]

रूपगोस्वामी ने भरत के नाम से यह कारिका प्रस्तुत की है, जो वस्तुत भरत की नही है। सम्भवत विश्वनाथ को ही भरतानुयायी होने के कारण भरत कहा गया है

"शक्तिरस्ति विभावादे कापि साधारणीकृतौ ।
प्रमाता तदभेदेन स्व यया प्रतिपद्यते ॥"[4]

इन शब्दो मे और विश्वनाथ के उपर्युक्त शब्दो मे, जिन्हे कि दुर्गम सगमनी मे उद्धृत किया गया है, एक ही चेतना है। इनमे साधारणीकरण का श्रेय विभावादि को दिया गया है। किन्तु रूपगोस्वामी ने साधारणीकरण का श्रेय विभावादि को न देकर रति को ही दिया है

"अलौकिक्या प्रकृत्येय सुदुरूहा रसस्थिति ।
यत्र साधारणतया भावा साधु स्फुरन्त्यमी ॥"[5]

"अथ तादृशी रतिरेव प्राचीनभक्ताना भावै सहार्वाचीनाना भावान् साधारण्यमानयति साधारण्यप्रापकेण भावेन येन रसस्थितिरपि तादृशी स्यादित्याह अलौकिक्यादिना प्रतिपद्यत इत्यन्तेन। भावा अत्र विभावादयो रत्यादयश्च।"[6]

यहा देखना यह है कि विभावानुभावादि तथा रत्यादि सभी का साधारणीकरण माना

---

१. "कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि।" भ० र० सि० द० वि० का० ११ ल० १।
"अनुभवाध्वनि गतैरिति, न तु लौकिकरसवदत्र सत्कविनिबद्धतापेक्षेति।" दु० स० पृ० १२१।

२ "वस्तुत स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ।
कृष्णादिकर्मकास्वादहेतु व प्रतिपद्यते।" वही, पू० वि० ल० ३ का० ३।

३. सा० द० परि० ३ पृ० ७४ तथा दु० स० पृ० ३०५।

४ भ० र० सि० द० वि० ल० १ का० ८५।

५ वही, का० ८२-३।

६. दु० स०, पृ० ३०४-५।

गया है। रूपगोस्वामी साधारणीकरण का अर्थ विशेष सम्बन्धो से मुक्ति ही लेते हे, और 'भावो' का साधारणीकरण मानते हे, जिसका अर्थ जीव की दृष्टि से विभावादि और रत्यादि दोनो है

"एषा स्वपरसम्बन्धनियमानिर्णयो हि य ।
साधारण्य तदेवोक्त भावाना पूर्वसूरिभि ।"[1]

किन्तु जीव गोस्वामी साधारणीकरण का अर्थ "समानुभूति" से लेते है। उनके अनुसार आधुनिक आस्वादयिताओ के विभावादि और रत्यादि भावो का प्राचीन अर्थात् आश्रय भक्तो के विभावादि और रत्यादि भावो के साथ समान हो जाना ही साधारणीकरण है

"प्राचीनभक्ताना भावै सह अर्वाचीनाना भावान् साधारण्यमानयति ।"

और इस साधारणीकरण का पूरा श्रेय स्वय रति को है।

६ हम पीछे देख चुके है कि भक्त-हृदय मे उद्भूत इस रति का स्वरूप उसी प्रकार का हो जाता है जिस प्रकार का उसकी वृत्तियो का साँचा होता है। इस भाँति रति की कामादिवृत्याकारा परिणति हो जाती है। किन्तु अब चित्त गुणात्मक वृत्तिरूप न रहकर रतिरूप होता है।

७ रति स्वरूपत आनन्दमयी है। वह आनन्दस्वरूप भगवान् की शक्ति हे। अत रति का यह आविर्भाव स्वरूपत आनन्दात्मक होता है। कष्णरति का यह आनन्द आत्म-स्वरूप के ज्ञानात्मक आनन्द से या ब्रह्मानन्द से बहुत उच्च कोटि का होना है। भक्ति के इस रसात्मक आनन्द मे भी उसके विविध रूपो की दृष्टि से तारतम्य होता है। शान्त भक्ति-रस मे अपेक्षाकृत निम्न और तटस्थ कोटि का आनन्द होता है, मधुर मे सर्वोत्कृष्ट एव निरतिशय आनन्द की अभिव्यक्ति होती हे।[2]

इन विशेषताओ को ध्यान मे रखकर रस का स्वरूप सक्षेप मे यो रख सकते है। साधना भक्ति के द्वारा नितान्त निर्मल हृदय भावक भक्त मे श्रवणादि की सहायता से शुद्धसत्वविशेषरूपा कृष्णरति का आविर्भाव होता है, जिसमे रति के सविदात्मक प्रकाशक स्वरूप के कारण कृष्णादि विभावादि का प्रकाशन होता है। अनुभव-पथ मे आये हुए ये विभावादि प्रमाता की रति को और प्रोढ बनाते है और वह चरम आस्वाद्य कोटि को पहुँच जाती है। इस रति मे स्वरूपत नितान्त निर्मलता और चरम निरभिलाषिता होती है। केवल कृष्ण-सौख्य की भावना से रति होती है, आत्म-सौख्य की लिप्सा से नही।[3] इस निर्मल और निरुपाधिक सस्कृत रति के समुदय मे एक विशेष अनुभूति-चमत्कार होता है, जिसे चरम आनन्दात्मक रस कह सकते है। भक्तो के हृदय मे इमी रस्यता की कोटि मे आयी हुई कृष्ण रति, जो शुद्धसत्त्वविशेषरूपा होने के कारण स्वत आनन्दात्मक है, रस है।

"सर्वथैव दुरूहोयमभक्तैर्भगवद्रस ।
तत्पदाम्बुजसर्वस्वैर्भक्तैरेवात्र रस्यते ॥

१. भ० र० सि० द० वि० . ल० १ . का० ८३-४।

२ "मनोनुसाराद् भावाना तारतम्य किलोदये।" भ० र० सि० पृ० २७६-२८०।

३ "भक्ताना हृदि राजन्तो सरकारयुगलोज्ज्वला।
प्रोढानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम्।" भ० र० सि० द० वि० : ल० १ . का० ६-११।

व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कृतिभारभू ।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढ स्वदते स रसो मत ॥[1]

यह रस भावना की भूमिका मे नही होता, शुद्ध सत्त्व की भूमिका मे होता हे । भावना की भृमिका मे 'भाव' की स्थिति होती हे । जिस प्रकार ध्यान की परिणतावस्था समाधि है, उसी प्रकार भावनात्मक भाव की परिणतावस्था रस है ।[2] यह चमत्कार की भूमिका है ।

रस की स्वयप्रकाशता और अखण्डता

शैव और वेदान्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने रस को स्वयप्रकाश और अखण्ड माना है । रूप गोस्वामी ने भी भक्तिरस को स्वयप्रकाश और अखण्ड माना है । किन्तु यहाँ मूल दार्शनिक चेतना कुछ भिन्न है । इस मान्यता का प्रतिपादन सभी ने कुछ न कुछ दार्शनिक सहायता से ही किया है ।

रति स्वरूपत भगवान् की स्वरूपात्मिका शक्ति है । शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न होती है । स्वयप्रकाश भगवान् की शक्ति स्वरूपत स्वयप्रकाश होती है । अत उसका एक विशेष रूप भक्तिरस भी स्वयप्रकाश होता है ।

रति स्वयप्रकाश होने के साथ ही स्वरूपत प्रकाशिका भी है । भक्त के अनुभव मे उसी के द्वारा कृष्ण और उनके लीलापरिकर का उद्भासन एव प्रकाशन होता है । इस रूप मे वह कृष्णादि के आस्वाद्य बनाने मे हेतुरूप होकर आती है ।

रति स्वरूपत स्वय प्रकाश होते हुए भी, भक्त-हृदय के कामादि मनोविकारो के साथ सारूप्य प्राप्त करके प्रकाश्य-रूपा भासित होने लगती हे । इस रूप मे वह भासित ही होती है, स्वरूपत स्वय प्रकाश ही रहती है । रस इन्ही चेतनाओ के साथ स्वयप्रकाश है ।

विश्वनाथ ने रस की अखण्डता यह दिखाकर प्रतिपादित की है कि रति का ज्ञान से तादात्म्य होता है, और ज्ञान स्वरूपत स्वयप्रकाश और अखण्ड होता है, अत रस भी अखण्ड होता[3] हे । इन गोस्वामी आचार्यो ने भी लगभग उसी शैली मे अपनी दार्शनिक चेतना से रस का अखण्डत्व इन शब्दो मे प्रतिपादित किया है

"परमानन्दतादात्म्याद् रत्यादेरस्य वस्तुत ।
रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्व च सिद्धयति ॥"[4]

इसकी जीव द्वारा व्याख्या इस प्रकार है

"परमानन्दोऽत्र ह्लादिनी शक्ति, रतिस्तन्मूला । कृष्णरूपो विभावस्तु शक्तिशक्तिमतोरेकात्मकत्वात् तच्छक्त्यात्मक । भक्तरूपो रत्याविष्ट । अनुभावा व्यभिचारिणश्च तदुत्था इति । रत्यादेस्तु तत्तादात्म्यप्राप्ति । तदेव परमानन्दतादात्म्याद् हेतोरित्यर्थ ।"[5]

---

१ भ० र० सि० द० वि० ल० ५ का० ११३-४ ।

२ भावनाया पद यस्तु बुधेनानन्यबुद्धिना ।
भाव्यते गाढसस्कारैश्चित्ते भाव स कथ्यते ।" वही, का० ११५ ।
"समाधिध्यानयोरिवानयोर्भेद इति भाव ।" दु० स० . पृ० ३१४ ।

३ सा० द० परि० ३ पृ० ८६ ।

४ भ० र० सि० पृ० ३०८ ।

५ दु० स० . पृ० ३०८-९ ।

कृष्णरति स्वरूपत ह्लादिनी शक्ति है। उसका परमानन्दमयी ह्लादिनी से तादात्म्य है। इसी कारण रस अखण्ड है। कैसे ? रति का तो ह्लादिनी से तादात्म्य है ही है। कृष्ण-रूप विभाव भी ह्लादिनीरूप ही हे। शक्ति और शक्तिमान् मे अभेद होता है। इस प्रकार कृष्ण शक्तिरूप ही है। भक्त का स्वरूप भी इस रसानुभूति मे उस शक्तिरूपा रति से आविष्ट हो चुकता है, अत उसका अन्त करण भी शक्तिरूप ही है, रतिरूप ही है। रहे अनुभाव और व्यभिचारी भाव, तो वे तो इस शक्तिरूपा रति के उच्छलन ही होते है। अत रस के प्रत्येक अवयव का, यदि उन्हे अवयव कह सके, रति के साथ, जो कि ह्लादिनी शक्ति का विशेष रूप है, तादात्म्य होता है। रति का स्वय परमानन्दमयी ह्लादिनी से तादात्म्य होता है। अत मूलत रस एक अखड अनुभूति हे। इस प्रकार रस की स्वयप्रकाशता का अर्थ हे किसी मन आदि अन्य तत्त्व के द्वारा प्रकाशित न होना और अखडता का अर्थ है किसी भिन्न तत्त्व की स्फूर्ति न होना।[1]

रस की आनन्दमयता

रस उस रति की चमत्कारात्मक रम्य परिणति ह जिसका भगवान् की परमानन्दमयी ह्लादिनी शक्ति से मूलत तादात्म्य है, यह हम देख चुके हे। अत भक्तिरस के सभी रूपो का आनन्दमय होना स्वत सिद्ध हे। रस स्वरूपत आनन्दरूप हे।

भक्तिरस के यो तो सभी रूप आनन्दमय है, तथापि वह मधुरा रति का परिपाक, जिसमे श्रीकृष्ण और गोपियो के विलासमय रूप आलम्बन विभाव के रूप मे आते है, सान्द्र, घनीभूत आनन्द के चमत्कार की परम अवधि है

"तत्रापि वल्लवाधीशनन्दनालम्बना रति ।
सान्द्रानन्दचमत्कारपरमावधिरिष्यते ॥"[2]

जब रस घनानन्दमयी अनुभूति है तो प्रश्न उठाया जा सकता हे कि गौण रसो मे परिगणित करुण, भयानक, बीभत्स आदि मे और मुख्य रसो मे परिगणित वियोग के रूपो मे अनुभवकर्ता को आनन्द का अनुभव कैसे होता है ? प्रश्न नया नही है, पुराना है, और काव्यशास्त्रियो ने भी इसके समाधान खोजने का प्रयास किया है। इन गोस्वामी आचार्यो ने इसका समाधान कुछ अधिक मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया है। साथ मे उनके दर्शन की विशेष मान्यता तो है ही।

रूपगोस्वामी ने समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है

"प्रतीयमाना अप्यज्ञैर्ग्राम्यैः सपदि दुःखवत् ।
करुणाद्या रसा प्राज्ञैः प्रौढानन्दमया मता ।
अलौकिकविभावत्व नीतेभ्यो रतिलीलया ।
सदुक्त्या च सुख तेभ्या स्यात् सुव्यक्तमिति स्थिति ॥"[3]

ऊपर-ऊपर से करुणादि रस अज्ञ लोगो को दु खमय दिखायी पडते है पर होते वे प्रौढ आनन्दमय ही है। यह इस कृष्णरति का महत्त्व है कि इनके विभाव लौकिक नही होते।

---

१ दु० स०, पृ० ३०६।

२ भ० र० सि० द० वि० ल० ५ का० ३१-२।

३. वही, का० १०५-६।

रति शुद्धसत्त्वविशेषरूपा है, उसमे जो कृष्णादि विभावो का प्रकाशन होता हे, वे अलौकिक होते हैं। उन अलौकिक विभावादि के सम्बन्ध मे इन भावो के दु खमय होने का प्रश्न ही नही उठता।

फिर होता यह है कि प्रमाता भक्तो के अवचेतन मन मे इन दु खात्मक स्थलो एव घटनाओ के अनुशीलन के समय भीतर-भीतर एक आशामयी वृत्ति इस विश्वास के साथ सन्निहित रहती है कि इस अभीष्ट पात्र की अन्त मे सुखात्मक स्थिति होगी। अभाव के चित्रण के क्षणो मे भी उसे परवर्तिनी प्राप्ति की सम्भावना की आशा से भरा विश्वास रहता है, इम विश्वास के कारण करुणादि के क्षणो का अनुभव भी सुखात्मक होता है। दूसरे करुण काव्य का रचयिता एव उसके पात्र उसे यह सूचना देकर चलते है कि अभीष्ट पात्र, जो इस समय दु खमय अवस्था मे है, अन्त मे सुखात्मक स्थिति मे ही रहेगे। अलौकिक विभावो वाले भक्तिकाव्य मे तो यह बात और भी निश्चय के साथ बनी रहती है।

"—यदनिष्टाशकामय दु ख तन्मयेपि रतिलीलया स्वत परमानन्दरूपाया रते लीलया तत्तत्काव्यप्रशस्तभाव्यभक्तेषु सर्वज्ञशतवाग्विश्वसित पूर्वपूर्ववत्प्राप्तिसम्भावनातश्च आशामय्या वृत्या, तथा सदुक्त्या भावकभक्तेषु प्रथमसूचितावसानविस्तृतमगलमय्या सद्रचनारूपया सता वक्तृणा तादृगुक्त्या च अलौकिकविभावत्व लोकचमत्कारिविभावा-विस्फूर्तिशालित्व नीतात् करुणरसात् सुख व्यक्त स्यात् इति स्थिति रसविदा रसमर्यादा।"[१]

इससे स्पष्ट है कि इन आचार्यो ने करुण की आनन्दात्मकता प्रतिपादित करने के लिए रति या उसके विभावो की अलौकिकता का ही सहारा नही लिया, कवि-रचना और प्रमाता के अवचेतन मे निहित परवर्ती फल पर लगी हुई दृष्टि का भी उपयोग किया है। किन्तु यह मान्यता उन काव्यो पर तो लग सक्ती है जो करुण-प्रधान होते हुए भी सुखान्त हो। दु खान्त काव्यो पर यह घटित नही होगी। किन्तु इससे इन आचार्यों के समाधान मे त्रुटि नही आती। उनके आराध्य कृष्ण से सम्बन्धित काव्य दु खान्त हो ही नही सकता, उसे तो अन्ततोगत्वा अवसान मे 'विस्तृत मगल मय' होना है।

यही बात वियोग के सम्बन्ध मे है। रति स्वरूपत परमानन्दस्वरूपिणी हे, उसका आलम्बन समस्त आनन्दो का मूल श्रीकृष्ण है, फिर दु ख कैसा ? दु ख जो गोचर होता है, अद्‌भुत आनन्द का 'विवर्त' है, 'आभास' रूप है। परिणाम मे जाकर वह निश्चित ही नही रहेगा, बीच मे भी प्राप्त्याशा का 'अन्तरनुसन्धान' बना रहता हे, जिसे हम अवचेतन की प्रतिक्रिया कह सकते है

"वियोगे त्वद्‌भुतानन्दविवर्तत्व दधत्यपि।
तनोत्येषा प्रगाढार्तिभाराभासत्वमूर्जिता॥"[२]

"अद्‌भुतानन्दविवर्तत्व स्वत परमानन्दरूपत्वात् सर्वानन्दमूलश्रीकृष्णालम्बनत्वाच्च, प्रगाढार्तिभराभासत्व वियोगज्ञानपरिणामदु खस्य तस्यामध्यासात्, तस्यास्तु तत्र निमित्तत्वात्

---

१ दु० म० पृ० ३११।

२ भ० र० सि० पृ० ३०७।

तद्दु खस्यापि दृढप्राप्त्याशया तिरस्कृतत्वात् ।"[१]

सामान्यत यह मानकर चला गया है कि वियोग से सयोग और पुष्ट होना है—"न विना विप्रलम्भेन सम्भोग पुष्टिमश्नुते ।"[२] बलवती भूख लगने पर भोजन मे जो स्वाद आ जाता है, वही वियोगानन्तर होने वाले सयोग मे होता है। अत जितनी दु ख और विषाद की भावनाएँ है, आनन्दमय रति की उपाधिरूपा है। उन उपाधियो के हट जाने पर अन्त मे तो सयोग का आनन्दमय सुख प्रकाशित होगा ही, अपने वर्तमान काल मे भी वे उपाधिरूपा विषादादि की भावनाएँ वस्तुत दु खमय नही हे, उनका कृष्ण मे सीधा सम्बन्ध हे। वे दु खमय-सी दिखायी पडती है—

"तदन्वयात्—कृष्णान्वयात्—विषादादयश्च तादृशसुखमया एव वक्तव्या, दुखमयत्वेन तेषा स्फुरण तु तदप्राप्त्यादिभावनारूपेणोपाधिनोपादानेनैव जायते——। प्राप्त्यादिषु तु जातेषु तद्भावनारूपस्योपाधेरुपादानस्यापगमाद्धर्मस्य पोषणाच्च बुभुक्षादिवद्विषादादययोपि सुखमयत्वेनैव स्फुरन्तीति दु खमया इव ते न तु दु खमया ।"[३]

इस प्रकार भक्तिरस अपने समस्त रूपो मे, विशेषत मधुर रूप मे पूर्ण आनन्दमय हे।

उज्ज्वल रस

गत पृष्ठो मे आचार्य रूपगोस्वामी और जीव गोस्वामी की दृष्टि से भक्तिरस के सम्बन्ध मे व्यापक दृष्टि से चर्चा हुई हे, जिसका प्रमुख आधार भक्तिरसामृतसिन्धु रहा है। इसमे कृष्णरति के सामान्य रूप को स्थायी भाव मानकर रस को मुख्य पाँच भेदो एव गौण सात भेदो के रूप मे देखा गया है। इन सभी भेदो मे मधुर रस सर्वोत्कृष्ट है। वस्तुत यही रस इन आचार्यो की अपनी साम्प्रदायिक चेतना का अभीष्ट है। इसे 'दुरूह' और 'रहस्यमय' कहा गया है। अत भक्तिरसामृतसिन्धु मे इसको विस्तार के साथ अवकाश नही दिया गया है। इस रहस्यमय परम रस के लिए पृथक् मे 'उज्ज्वलनीलमणि' की रचना हुई है।

'उज्ज्वल रस' मधुर रस का पर्यायवाची शब्द है, जो वस्तुत शृगार की चरम आध्यात्मिक परिणति है।[४] उज्ज्वलनीलमणि इसे 'भक्तिरसराट्' कहकर चलता हे

"मुख्यरसेषु पुरा य सक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात् ।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुर ॥"[५]

वस्तुत उज्ज्वलनीलमणि मे मधुर को नायिकाभेद और भाव-भूमिका की अत्यन्त विस्तृत सम्भावनाओ के साथ पूर्ण विस्तार दिया गया है। सामान्यत रस-सम्बन्धी दृष्टिकोण वही है, जिसका निरूपण रसामृतसिन्धु के आधार पर हम पीछे कर चुके हैं, तथापि इसके सम्बन्ध मे कतिपय ऐसी उल्लेखनीय बाते है जिनकी चर्चा यहाँ पृथक् से करना आवश्यकीय है। सस्कृत और हिन्दी वैष्णव साहित्य का एक बहुत बडा भाग शृगारमयी मधुर-भावना

१—२, दु० स० : पृ० ३०७।

३. वही, पृ० २६६।

४. "स एवोज्ज्वल.परपर्यायो भवित साना राजा मधुराख्यो रस०।" ला० रो० पृ० ४।

५ उ० नी० पृ० ४।

मे आरजित है। जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति, मीरा, सूर और न जाने कितने रस-सिद्ध कवियो मे इस रस की माधुरी उच्छलित है, भले ही उसके रूप मे यत्किचित् अन्तर हो गया हो। यहा हम उसी मधुर के विषय मे इन गोस्वामी आचार्यो के दृष्टिकोण की कतिपय विशिष्ट रेखाएँ प्रस्तुत करना चाहते हे।

उज्ज्वल रस की रहस्यता

उज्ज्वल रस की रहस्यता पर इन आचार्यो ने वडा बल दिया है। रसामृतसिन्धु मे रूपगोस्वामी कहते है

"निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादय रस ।
रहस्यत्वाच्च सक्षिप्य विवताङ्गोपिलिख्यते ॥"[1]

रसामृतसिन्धु मे इस रस के सक्षेप से वर्णन करने के तीन हेतु रूप ने दिए हे—यह निवृत्त पुरुषो के लिए अनुपयोगी है, दुरूह है, रहस्यमय है। उज्ज्वलनीलमणि मे इन तीनो हेतुओ को एक 'रहस्य' शीर्षक मे ही रखा गया है

"मुख्यरसेषु पुरा य सक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात् ।"[2]

मधुर रस का ऊपरी स्वरूप कामवृत्यात्मक है, स्पष्टत चरम शृगारी है। हम देख चुके है कि ह्लादिनी शक्ति किस प्रकार इन कामादि वृत्तियो के रूप मे ही परिणत हो जाती है। इस रहस्य को हर कोई तो नही समझ सकता। अत इम रस को उन सबसे रहस्य रखने की, छिपाने की साम्प्रदायिक आज्ञा है[3]। जो इसे लौकिक शृगार समझकर इससे दूर से बिदकते है, उनके लिए यह अनुपयुक्त है, या कहिए वे इसके अयोग्य है—निवृत्तानुपयोगित्वात् शब्द पर इस दृष्टि से जीव गोस्वामी की टिप्पणी द्रष्टव्य है:

"निवृत्तेषु प्राकृतशृगाररससाम्यदृष्ट्या भागवतादप्यस्माद्विरक्तेषु,
अनुपयोगित्वात्— अयोग्यत्वात् ।"[4]

जिन निवृत्तो से इस रहस्य को गोप्य रखने का निर्देश किया गया है उनकी परिधि मे निम्न कोटि के व्यक्ति आते है[5]

१ उपर्युक्त वे लोग जो इसे प्राकृत शृगार से समान पाकर इससे बिदकते है।
२ जो निवृत्तिमार्गी है, और प्रवृत्ति-मूलक भक्तिमार्ग को अनुपयुक्त समझते है। ऐसे ज्ञानमार्गियो को यह रहस्य ज्ञात नही होता कि भक्ति के इस प्रवृत्तिमार्ग मे ही चरम निवृत्ति अन्तर्भूत है।
३ भक्तिमार्ग का अवलम्बन करने वाले वे लोग जो इसके रहस्य को न समझ सकने

---

१ भ० र० सि० प० वि० ल० ५ का० २।
२ उ० नी० पृ० ४।
३ दु० स० पृ० ४२७।
४ "रहस्येव तदधिकारिण प्रति प्रकाशनीय।" लो० रो० पृ० ४।
"तत्पराङ्मुखानामनुपयुक्तत्वात् तेभ्यो गोप्य एव।" लो० रो० पृ० ४।
"तस्मात् ग्रन्थान्तरवत् यत्र कुत्रचित् नाय प्रकाशनीय, इत्युपदिष्टम्।" लो० रो० पृ० ४-५।
"अतएव तादृशै स्थूलबुद्धिभिर्दुरूहत्व चति तेभ्योयमुज्ज्वलनीलमणिरेतन्मूलयमज नद्भ्योऽनादरशकया गोप्य एवेति।" आनन्दचन्द्रिका विश्वनाथचक्रवर्ती पृ० ४।
५ लोचनरोचिनी तथा आनन्दचन्द्रिका, पृ० ४ के आधार पर निरूपित।

के कारण शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य के अन्य भक्तिरूपो की ओर उन्मुख हो जाते है। उन्हे इसमे लौकिक शृगार की गन्ध आती है।

४ वे लोग जो श्रीमद्भागवत मे आस्था रखने के कारण इस मधुर रस के प्रति अपनी सम्मान-भावना तो पदर्शित करते है, किन्तु उसके पर्यालोचन मे चतुर नही है।

५ सासारिक भोगो मे आसक्त विषयी लोग।

इन सभी लोगो से यह रस गोपनीय है। यह तो केवल उन्ही के लिए है जिनमे एक ओर तो इस शृगारमयी कृष्णरति के आस्वादन की गहरी क्षमता है, दूसरी ओर चरम कोटि की निरभिलाषिता एव आत्म-सौख्य-हीनता की भावना है। ऐसे ही लोग इसमे डुबकी लगा सकते है। अन्य स्थूल बुद्धि वालो के लिए यह दुरूह हे।[1]

रति की क्रमिक भूमिकाए

हम देख चुके हे कि भक्तिरस के स्थायी भाव का कृष्णरति मे तारतम्य है और उसकी क्रमिक भूमिकाएँ है। यह बात अन्य रस-भेदो की दृष्टि से ही नही, स्वय मधुरा रति के विषय मे लागू होती हे। कृष्णविषया गोपीरति ही मधुरा कहलाती है। पर इसकी भी क्रमिक तारतम्य की दृष्टि से सात भूमिकाएँ स्वीकार की गयी हे। वे है—रति, प्रेमा, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव। ये सब शब्द पारिभाषिक हे। ये प्रेम की उत्तरोत्तर दृढ विशिष्ट अवस्थाओ के परिचायक है। इनमे चरम स्थान भाव नामक रति का है, जिसकी महत्ता सूचित करने के लिए उसे 'महाभाव'[2] नाम दिया गया हे। यह भाव शब्द भी पारिभाषिक है।

इनमे से प्रत्येक के कई-कई उपभेद एव उनकी विशेपताओ का उल्लेख किया गया है, जिनमे भाव का शास्त्रीय निरूपण निखरा है। हिन्दी के अनेक कवियो की रचनाओ मे इन उपभेदो मे निरूपित रति के रूप अकित हुए है, जिनके आधार पर उनकी भक्तिमयी रचनाओ का भक्तिशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है।

मधुरा रति और सम्भोगभावना

मधुरा रति स्वरूपत कान्ताभावमयी है। उसमे कामवृत्ति का पूर्ण उद्रेक के साथ अवकाश है। किन्तु इस रति का यह एक रहस्य है कि यह सम्भोग-भावना को अपने मे घुला-मिलाकर छिपा लेती है।[3] जिस सीमा तक मधुर भावना सम्भोग-लालसा को अपने मे

---

१ आ० च० पृ० ४।

२. "तत्परिपाटी हि तादृशभावमाधुरीणा क्रमेणानुभव। लो० रो० पृ० ४१४।
"क्रमलीलारसस्तु तत्र न सिध्यतोऽयपरितुष्य।" लो० रो० पृ० २४।
"स्याद् दृढेय रति प्रेमा प्रोद्यन् स्नेह क्रम दयम्।
स्यान् मान प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि।" उ० नी० पृ० ४१६।
"इत्थमेव रति प्रोढा महाभावदशा व्रजेत्।
या मृग्या स्याद् विमुक्ता ना भक्ताना च वरीयसाम्।" उ० नी० पृ० ४१५।

३ 'सा कामरूपा सभोगतृष्णा या नयति स्वताम्।' भ० र० सि० पू० वि० ल० २ क० ६८।

घुला सकी, उसी सीमा तक उसकी उत्कृष्टता समझनी चाहिए। इस दृष्टि मे मधुरा रति के तीन भेद किये गये है—साधारणी, ममजमा, समर्था।

साधारणी रति मे सभोग की इच्छा प्रधान होती है, प्रेम मे घुलकर एकाकार नही हो पाती। इसमे घनीभूतता भी नही हो पाती। प्रेम और स्वार्थ की रेखाए अलग-अलग दिखाई दे जाती है। सभोग का स्वार्थ ढीला होने पर यह भी ढीली दिखाई पडती है, तीव्र होने पर तीव्र।[1] इसका उदाहरण कुब्जा मे खोजा जा सकता है।[2]

समजसा रति की निदर्शन रुक्मिणी आदि महिषिया है। इसकी चेतना पत्नीभाव की है। इसमे पर्याप्त सान्द्रता है, किन्तु कभी-कभी सम्भोगतृष्णा प्रेम से अलग दिखायी पड जाती है। पत्नीभाव मे जब-जब शुद्ध प्रेम की प्रधानता रहती है, भगवान् उसके परवश रहते है। किन्तु जब-जब सम्भोग-कामना उभरकर स्वार्थ-वृत्ति झलक आती है, उन्हे वश करना दुष्कर हो उठता है।[3] इसी कमी के कारण उसका स्थान सर्वोत्कृष्ट नही है।

सर्वोत्कृष्ट रति समर्था है, जिसमे सम्भोगलालसा कही दिखाई ही नही देती। सम्भोग की पूरी-पूरी लालसा और प्रवृत्ति होते हुए भी, उसमे आत्मसुख की कामना न करके केवल प्रियतम कृष्ण को आनन्दित करने की भावना से अनुप्राणित यह समर्था रति वस्तुत आश्चर्य की वस्तु है।[4] यहा सम्भोग के दो रूपो को समझ लेना चाहिए। एक रूप का सम्भोग तो वह है जिसमे अपने प्रिय के द्वारा दिया हुआ अपनी इन्द्रियो का परितोष प्राप्त होता है, दूसरा वह है जिसमे अपने द्वारा दिया हुआ प्रिय को परितोष प्राप्त होता है। पहले प्रकार के सम्भोग को लौकिक काम कहना चाहिए, दूसरे का स्थान शुद्ध कातारति के अन्तर्गत है।[5] यह सम्भोग रति से घुलकर एकाकार हो चुका होता है। इसी कारण सबसे उत्कृष्ट है। उसकी इसी सामर्थ्य के कारण उसे 'समर्था' नाम दिया गया है।[6]

समर्था रति मे यह नही समझना चाहिए कि प्रियतमा को किसी प्रकार का सुख होता ही नही। आलिंगन-दान मे अपने सुख की भावना का उद्देश्य न रहते हुए भी प्रिय के आलिगन का सुख प्रियतमा को स्वत ही मिलता है। ऐसा सम्भोग सुख इस मधुरा रति मे भी

---

१ "नातिसान्द्रा हरे प्राय साक्षाद्दर्शनसम्भवा।
सभोगेच्छानिदानेय रति साधारणी मता॥
असा द्रत्वाद्रतेरस्या सम्भोगेच्छा विभिद्यते।
एतस्या ह्रासनो ह्रासस्तद्धेतुत्वाद्रतेरपि॥" उ० नी० पृ० ४०८।

२ उ० नी० पृ० ४०७।

३ "पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादिश्रवणादिजा।
क्वचिद्भेदितसम्भोगतृष्णा सान्द्रा समजसा॥
समजसात सम्भोगतृष्णाया भिन्नता यदा।
तदा तदुत्थितैर्भावैर्वश्यता दुष्करा हरे॥" उ० नी० पृ० ४०९-४११।

४ उ० नी० पृ० ४१२।

५ "अयमर्थ—सम्भोग खलु द्विविध। प्रियजनद्वारा स्वेन्द्रियतर्पणसुखमय, स्वद्वारा तदिन्द्रियतर्पणसुख-भावनामयश्च। तत्र पूर्वेच्छा काम, स्वहितोन्मुखत्वात्। उत्तरेच्छा तु रति, प्रियजनहितोन्मुखत्वात्।" लो० रा० पृ० ४१२।

६ "सा रति सर्वातिक्रामिसामर्थ्याद् समर्थेति भण्यते।' लो रो० पृ० ४१२।

हे। अत नित्यलीला की सहचरी गोपियो के साथ भगवान् के विलास का नित्य सम्बन्ध है, तब उनके साथ जिस परकीयात्व और औपपत्य की चर्चा की जाती है, वह वास्तविक नही, लौकिक दृष्टि से कहा हुआ है।

गोपियां

परकीया प्रेमिकाओ के रूप मे हमारे सामने आने वाली व्रजबालाओ को मूल रूप से कृष्ण की प्रेमिका बताया गया हे। उनके औपपत्य को आभासिक सिद्ध किया गया है। व्रज मे उनके आविर्भाव के सम्बन्ध मे कई प्रकार के समाधान प्रस्तुत किये गये है, जिनके आधार विभिन्न पुराण है। सामान्यत यह मानकर चला गया है कि व्रज मे इन सभी रूपो से गोपियो का आविर्भाव हुआ है। प्रमुख रूप ये है

१ रामावतारकालीन मुनिजन—पद्म-पुराण मे एक कथा आती है। वन मे भ्रमण करते हुए राम के सौन्दर्य को देखकर तत्रस्थ मुनिजनो मे कान्ताभाव से राम के साथ रमण की कामना हुई। उनकी कान्तासक्ति की भावना उनकी प्रेमसाधना से पूरी हुई और वे लोग कृष्णजन्म के समय व्रज मे गोपीरूप मे अवतरित हुए।[1]

ध्यान रहना चाहिए, कि कान्ताभाव की प्राप्ति इसी जन्म मे पुरुषो को भी सम्भव मानी गयी है। यह तो जन्मान्तर की बात है।

२ बृहद्वामनीय पुराण मे एक और कथा आती है। एक बार उपनिषदो से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हे अपने नित्य लोक की झलक दिखायी, जिसमे वे गोपियो के साथ अनन्त आनन्दमयी लीला मे निरत थे। इस गोपी-सौभाग्य को देखकर उपनिषदो के मन मे भी उसी भाव से भगवान् को प्राप्त करने की अभिरुचि उत्पन्न हुई और तप साधना के द्वारा उन्होने कृष्णावतार के समय गोपीरूप प्राप्त किया।[2]

३ भगवती गायत्री ने कान्ताभाव से भगवान् को प्राप्त करने की कामना की, तदनुसार वे व्रज मे गोपीरूप मे अवतरित हुई और श्रीकृष्ण को प्रियतम के रूप मे प्राप्त किया।[3]

४ देव-नारियाँ—समस्त देवताओ मे भगवान् अशत विराजित रहते है। उस अश के रमणार्थ उनकी पत्नियो मे भी भगवान् की आह्लादिनी शक्ति अशत अन्तर्निहित रहती है। जब देवताओ की प्रार्थना पर लोकरक्षण के लिए भगवान् वैकुण्ठ से व्रजधाम मे अवतरित हुए तो उनका लीलापरिकर भी अवतरित हुआ। और वे देवनारियाँ भी गोपीरूप मे अवतरित हुईं।[4] ये अशिनी व्रजदेवियो की सखियो के रूप मे अवतरित हुईं।

५ नित्यसिद्धा प्रेयसियाँ—भगवान् के लीलाधाम व्रज मे भगवान् के आविर्भाव के साथ ही उनके सौख्यसम्पादनार्थ उनका लीलामण्डल भी अवतरित हुआ, जिसमे राधा, चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा आदि समस्त नित्य सखियाँ थी।[5]

---

१ उ० नी० पृ० ६५।

२ उ० नी० पृ० ६४।

३ "गायत्री च गोपीत्व प्राप्य श्रीकृष्ण प्राप्तवतीत्याख्यायते।" लो० रो० पृ० ६७।

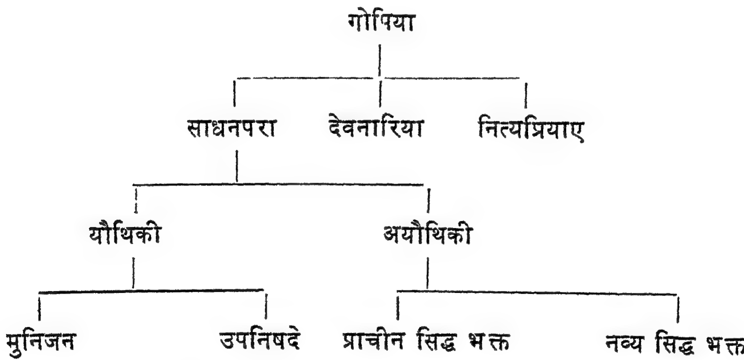
४ उ० नी० पृ० ६९-७०।

५. उ० नी० पृ० ७०।

६ सिद्ध प्राचीन भक्त—अनेक सिद्ध भक्त जो अपनी प्रेम साधना से भगवान् के नित्य लीलापरिकर के साथ नित्यप्रियाओ मे मिलकर भगवान् के मधुर भाव मे लीन थे, भगवान् के व्रज निवास काल मे नित्यप्रिया गोपियो के साथ ही गोपीरूप मे अवतरित हुए ।[1]

७ सिद्ध नव्य भक्त—अनेक सिद्ध भक्त जिन्होने नयी नयी भक्ति-सिद्धि प्राप्त की थी, अभी नित्य लीलापरिकर मे गोपियो का सालोक्य चिरकाल के लिए नही पा पाये थे, व्रजावतार काल मे भगवान के साथ गोपीरूप मे अवतरित हुए ।[2]

रूप गोस्वामी ने इनको कई वर्गो मे विभाजित किया है। इनमे मुनिजन और उपनिषदे साधना के द्वारा सामूहिक रूप मे गोपीरूप को प्राप्त हुई हैं, प्राचीन और नवीन भक्त, चाहे वे मर्त्य योनि से आये हो चाहे अमर्त्य योनि से, अकेले या छोटे-छोटे दो-चार के समूहो मे गोपीरूप मे अवतरित हुए है । दूसरा वर्ग देवनारियो का है, तीसरा नित्यप्रियाओ का । रूप गोस्वामी के वर्गीकरण को इस रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है[3]



इस प्रकार समस्त व्रजवनिताओ से भगवान् का नित्य सम्बन्ध है, वे ही उनके वास्तविक पति है । तब उनके साथ औपपत्य और पाप-सम्बन्ध का प्रश्न ही कहा उठता है ? औपपत्य की लीला तो इसलिए की जाती है कि प्रेम का चरम सान्द्र एव उच्छल वेगमय रूप प्राप्त किया जा सके । उस लीलारसिक को प्रच्छन्नकामुकता की पद्धति से मिलने वाला प्रेम अत्यन्त प्रसन्न करता है,[4] और वह यह सब स्वजन-प्रेम-वश होकर करता है ।[5]

इस प्रकार भगवान् के नित्य लीलाकर्म और उनकी प्रेयसी गोपियो के सम्बन्ध मे इस दृष्टिकोण को समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह उपपति-लीला-विधान वास्तविक नही, अवतार-लीला से ही सम्बन्धित है । इस औपपत्याभास की लीला महाशक्ति

१ उ० नी० पृ० ६७ ।

२ उ० नी० पृ० ६७ ।

३ उज्ज्वलनीलमणि पृ० ६३ से ७३ तक के आधार पर निरूपित ।

४ प्रच्छन्नकामता ह्यत्र गोकुलेन्द्रस्य सौख्यदा ।' उ० नी० पृ० ५४ ।

५ "स्वजनप्रेमवशावतारलीलावेशेन नित्यलीलामनुसन्धानस्य तस्य तासा च लीलाशक्तिर्मायदैव रसविशेषपरिपोषाय तासु परकीयात्व प्रत्याययय्य तत्रौपपत्य प्रत्यायितवतीति ।" लो० रो० . पृ० १३ ।

योगमाया की सहायता से होती है ।[1] इसी कारण उपपतित्व के प्रति हीन-दृष्टि सामान्यत उठती है, वह प्राकृत नायक के प्रति ही उठ सकती है, लीला के लिए रससार मधुर का आस्वादन करने वाले शृगाररससर्वस्व भगवान् कृष्ण के विषय मे नही ।[2]

गोपियों का लौकिक पतित्व

इतना ही नही, लौकिक दृष्टि से गोपियो के जो पति है, वे भी वास्तविक पति नही है। इन गोपियो के साथ उन लौकिक पतियो का कभी भी सगम नही होता। जब वे भगवान् के साथ लीलाविलास मे केलिकुजो मे विहार कर रही होती है, उन लौकिक पतियो के पार्श्व मे योगमाया द्वारा निर्मित उनकी सदृशी प्रतिमूर्तियाँ पडी रहती है। उन्हे यह भान भी नही होता कि उनकी वास्तविक पत्नियाँ कहाँ है। तब किसी प्रकार की असूया उठने का प्रश्न ही क्या है ?

"मायाकलिततादृक्स्त्रीशीलनेनानसूयुभि ।
न जातु व्रजदेवीना पतिभि सह सगम ॥[3]

इसी कारण ये कृष्ण-प्रेयसियाँ अप्रसूतिका होती है, उनकी कोई सतान नही होती—

"गोपैर्व्यूढा अपि हरे सदा सभोगलालसा ।
परोढा वल्लभास्तस्य व्रजनार्योऽप्रसूतिका ॥"[4]

यह सब कार्य भगवान् की योगमाया[5] शक्ति द्वारा होता है। भगवान् की माया शक्ति के दो रूप है—एक माया, दूसरी योगमाया। माया प्रपच-सम्बन्धिनी शक्ति है, उसका भगवान् के लीलापरिकर मे प्रवेश नही है। अत योगमाया ही के द्वारा भगवान् और उनके लीलापरिकर के कृत्य चलते है। इसी लीलामयी योगमाया के द्वारा विभिन्न शक्तियो का गोपीरूप मे अवतारण होता है, इसी के द्वारा उनका परोढात्व दिखाया जाता है, और इसी के द्वारा उन लौकिक पतियो से असम्पर्क सुरक्षित रखा जाता है

"आशसया रसविधेरवतारिताना
कसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण ॥"

"तादृशलीलाक्रमसाध्यप्रेमरसविशेषास्वादनाय सर्वज्ञता सर्वशक्तिता सर्वेश्वरतामपि नात्यादृत्य तदुपयुक्ता लीलाशक्तिमेवादृत्य तद्द्वारावतारिताना नित्यप्रेयसीनामेव तासा परदारत्वभ्रमेण यथा रसस्य विधि प्रकारविशेष सम्भवति तथा जन्मादिलीलाया नित्यत्व

---

१ अथैतस्य सहाया स्युरित्यौपपत्याभासलीलायामेव ज्ञेया, किन्तु किशोरा अपि केलौ क्लीबवत् पौरुषभाव-हीना एवैते मन्तव्या ।" लो० रो० पृ० ४१ ।
"लीलाशक्तिर्माययैव रसविशेषपरिपोषाय" लो० रो० पृ० १३ ।

२ "लघुत्वमत्र यत्प्रोक्त तत्तु प्राकृतनायक ।" उ० नी० पृ० १४-५ ।

३ उ० नी० पृ० ५८ ।

४ उ० नी० पृ० ६१ ।

५ मायया योगमाययैव, न तु बहिरगमायया। भगवतो धाम्नि सिद्धपरिवारेषु च तस्या अधिकाराभावात्। तन्मोहिताना भगवद्वैमुख्यस्यावश्यभावात् तेषा गोपाना तु भगवद्वैमुख्यमात्रादर्शनात् ।" आनन्द-चन्द्रिका - पृ० ५८ ।

६ उ० नी० पृ० १०० ।

विस्मार्यं प्रकटीकृतानामित्यर्थ । तदाशमाया हेतु —रमिकेनि । तस्माल्लीलाशक्तिप्रेरिततया कृनमेव तामा परोढात्वप्रत्यायन, परसगत्यभावश्च ।"[1]

यह लीलामयी शक्ति उन गोपियो को भी यह भुला देती है कि वे भगवान् की नित्यप्रियाए है, उनके जन्म, उनकी लीलाए नित्य है, उनका उपपतित्व आभासात्मक है, आदि । तब उनकी ओर से जो अबाध्य स्नेह कृष्ण को मिलता है, उसी के आम्वादन के लिए तो वे अपने सर्वज्ञ, मर्वशक्तिमान्, मर्वेश्वर रूप की भी अधिक बिना परवाह किये इस लीला के रमिक बनते हैं ।

महाभाव मे विप्रलम्भ और सम्भोग

ममर्था रति के पूर्ण विकमित रूप को महाभाव कहा गया है, यह हम देख चुके हे । यह अनुराग की पराकाष्ठा है । म्वरूपत अनुराग राग की वह भूमिका है जिसमे अनुभव की हुई वस्तु अनुभव की हुई ही न लगे, सदा नवीन ही प्रतीत होती रहे ।[2] इमी अनुराग की चरम सीमा महाभाव कहलाता है । इमकी सिद्धि केवल राधा मे ही मानी गयी है, उन्हे महा-भावमयी कहा गया है ।

महाभाव मे विप्रलम्भ और सभोग की दोनो अवस्थाए स्वीकार की गयी है । मिद्धान्तत वृन्दावन मे नित्य विहार करने वाले श्याम सुन्दर का व्रजदेवी गोपियो के साथ कभी वियोग होता ही नही,[3] अत विप्रलम्भ का प्रश्न ही इस रस मे नही उठता । किन्तु प्रकाश लीला की दृष्टि से विप्रलम्भ सम्भव होता है ।[4]

इस दृष्टि से श्रीकृष्ण की व्रजलीला के दो रूप माने गये है—प्रकट और अप्रकट, जिन्हे प्रकाश और अप्रकाश भी कहा गया है । प्रकाश वह लीलारूप है, जो स्पष्टत दिखाई देता है । प्रत्यक्ष मे तो विरह ही है। गोपियाँ इसे वास्तविक ही मान कर चलती है, योगमाया उन्हे भुलाये रहती है ।[5] अप्रकट लीला दृष्टि से भगवान् और व्रजबालाओ का नित्य मिलन है । पूर्ण विरह के भी बीच मे कही-कही इस नित्य मिलन की मधुर झलक हिन्दी कृष्ण काव्य मे देखने को मिल जाती है । प्रकट और अप्रकट लीला का प्रभाव विरह ही नही, अन्य अनेक बातो मे दिखाई पडता है, जिसकी पर्याप्त विस्तार के माथ चर्चा लोचन-रोचिनी मे जीव गोस्वामी ने की है ।[6]

गोपियाँ विप्रलम्भ को नित्य मिलन की बात न जाने हुए, किन्तु श्रीकृष्ण जाने हुए ही अनुभव करते है । जान-बूझकर भी इस कष्टप्राय मार्ग को वे इसीलिए अपनाते है कि इससे मम्भोग-सुख का चरम परिपाक होता है ।[7] साथ ही उन्हे अपनी प्रेयसियो के निर्मलतम

---

१ लो० रो० पृ० १०० ।

२ सदानुभूतमपि य कुर्यान्नवनव प्रियम् । रागो भवन्नवनव सोनुराग इतीयते ।" उ० नी० पृ० ४५४ ।

३ वृन्दावने विहरता सदा रासादिविभ्रमै । हरिणा व्रजदेवीना विरहोऽस्ति न कर्हिचित् ।" उ० नी० पृ० ५६२ ।

४. "हरेर्लीलाविशेषस्य प्रकटस्यानुसारत ।
वर्णिता विरहावस्था गोष्ठवामभ्रुवामसौ ।" उ० नी० पृ० ५६० ।

५ "अत्र विशेषप्रकटशब्दयोरुपादानाद्वृन्दारण्ये विहरतेत्यत्राप्रकटलीलाविशेषतया विहरतेति गमितम् ।" लो० रो० पृ० ५६० ।

६ लो० रो० पृ० ५६० से ५७० तक ।

७ लो० रो० पृ० ५०७ ।

प्रेम का समर्पण मिलता है। भगवान् प्रेमजीवी है, प्रेम उनकी जीविका है।[1]

विप्रलम्भ दु खमय नही है, हॉ, दु खमय-सा दिखायी पडता है। एक तो उसका पर्यवसान अतुल सभोग-सुख मे होता है, दूसरे उसके अनुभव मे भावी मिलन की सुखद आशा बनी रहती है। उस मिलन की कल्पना मे जो सुख रहता है, अद्‌भुत होता है।[2] विप्रलम्भ की पीडा के विषय मे सबसे अधिक बल इसी बात पर दिया गया है कि वह सभोग के सुख की भावना को गहरा करता है। इसीलिए सम्भोग को 'वैप्रलम्भिक' कहा गया है। वैप्रलम्भिक सभोग को महाभावात्मक सभोग माना गया है।[3]

वैचित्य विप्रलम्भ

महाभाव के रूढ और अधिरूढ नाम से दो भेद किये गये है, जिनमे अधिरूढ अधिक प्रदीप्त दशा है। अधिरूढ महाभाव दो स्वरूपो मे होता है—मोदन और मादन। मोदन भाव मे ह्लादन या मोदन की प्रधानता होती है, मादन मे आनन्द की मादकता होती है।[4] सभोग मे तो ये दोनो ही स्थितियॉ होती है, किन्तु विप्रलम्भ मे केवल मोदन महाभाव ही परिणत होता है। भक्ति की जिस चरम काष्ठा मे विप्रलम्भ की चर्चा की गयी है, वह इसी मोदन भाव की वियोगात्मक परिणति है। इस रूप मे इसे 'मोदन' न कहकर 'मोहन' कहा जाता है।[5]

इसी मोहन विप्रलम्भ के चार भेद होते है—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्य और प्रवास। करुण विप्रलम्भ प्रवास मे ही अन्तर्भूत माना गया है। इन भेदो मे 'प्रेमवैचित्य' नामक विप्रलम्भ विशेषत उल्लेखनीय है। इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है

"प्रियस्य सनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावत ।
या विश्लेषधियार्तिस्तत् प्रेमवैचित्यमुच्यते ॥"[6]

प्रेम की तीव्र घनीभूत अनुभूति के कारण सयोग मे भी जो वियोग की अनुभूति हो उठती है, उसे प्रेमवैचित्य कहते है। एक शब्द मे सयोग मे वियोग की विस्फूर्ति ही वैचित्य

---

१ "अमीषा या अनुवृत्तिर्मदेकभावनामयप्रेमा तद्रूपा या वृत्तिर्मम स्वीया जीविका तस्यैता वर्धयितुमित्यर्थ ।" लो० रो० पृ० ५०८।

२ "विप्रलम्भसमयेऽपि प्रत्याशालब्धभावनामयस्य सभोगोन्नतिकारकत्वात् रसतामसावाप्नोति।" लो० रो० पृ० ५०७।

३ "न विना विप्रलम्भेन सभोग पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादा भूयान् रागो विवर्धते।" उ० नी० पृ० ५०७।
"सविप्रलम्भो विज्ञेय सम्भोगोन्नतिकारक ।" वही, पृ० ५०७।
"तदनुसारेण निर्विघ्नसभोग एव विप्रलम्भगणाना फलतया पर्यवसायनीय ।" लो० रो० पृ० ५६९।
"ततश्च सत्यामपि तस्या नित्यलीलाया जन्मादिलीलेव प्रपन्नजनवृन्दानामानन्दहेतुरिति।" लो० रो० पृ० ५७०।
"प्रकटलीलाया परिणामत क्लेशमयत्व प्राप्तमितिस्वयमपि परितप्य तत्तन्नित्यलीलासुखनिरूपित-लीलाक्रमरसपरिपाटी ।" लो० रो० पृ० ५७०।

४ "हर्षवाचि वमोदन ।" "मादनोऽत्र दिव्यमधुविशेषवन्मत्तताकर इत्यर्थ ।" लो० रो० पृ० ४७४।

५ "मोदनोय प्रविश्लेषदशाया मोहनो भवेत्।" उ० नी० पृ० ४७७।

६ उ० नी० पृ० ५४८।

विप्रलम्भ होता है ।[1]

प्रेम की गहरी भूमिका मे एक भारी विस्मृति की दशा आती है। सयोग की चरम अनुभूति मे भी वह आती है। समर्था की सान्द्र दशा को 'सर्वविस्मारिगन्धा' नाम दिया गया है,[2] जिसका गन्ध भी सब-कुछ भुला देता है। सयोग मे वियोग की चेतना इसी विस्मृति का फल है। साक्षात् प्रिय का अनुभव हो रहा है, और प्रेमी डूबकर यह भूल रहा है कि प्रिय उसके ही पास है। इसका स्पष्ट अर्थ है, उसकी मिलन-पिपासा इतनी बढ चुकी है कि उसे तृप्ति होती ही नही।[3] होता यह है कि प्रेम की तीव्रतम अनुभूति मे बुद्धिवृत्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है, वह वस्तुस्थिति को भूल जाती है, उसका पर्यालोचन नही कर सकती। प्रिय का अनुभव करते हुए वह उस अनुभव का ग्रहण ही नही कर पाती।[4] मिलनकाल के अनुभव मे अनुभवकर्ता के अनुभव मे दो तत्त्व होते है—एक तो स्वय प्रिय की सत्ता, दूसरे प्रिय के गुणगणो का माधुर्य। जब बुद्धिवृत्ति कुछ सबल होती है, दोनो तत्त्वो का ग्रहण करती रहती है, किन्तु जिन क्षणो मे वह आवश्यकता से अधिक क्षीण हो जाती है, एक ही तत्त्व का ग्रहण कर पाती है, जैसे पतली सूई सिलाई करते समय वस्त्र के सूतो के एक छेद को ही एक बार मे वेध पाती है। तो, जिस क्षण मे वह बुद्धिवृत्ति क्षीण हो जाती है, प्रिय के एक ही पक्ष को ग्रहण करती है, सत्ता को या गुणो को। जब वह किसी क्षण मे गुणमाधुर्य मे मग्न होती है, तो लौटकर उस गुणी को भी देखना चाहती है। देखना चाहती है कि जिसकी गुण-मधुरता इतनी आनन्दिनी है, वह कितना मधुर होगा, वह कौन है? पर अपनी क्षीणता के कारण गुणमाधुर्यानुभव के क्षण मे वह प्रिय की सत्ता को भूल चुकी थी, अत उसे एकदम लौटने पर प्रिय नही मिलता। कहिए, वह एकदम प्रिय को नही पकड पाती। और कुछ घबरा जाती है, 'विचित्ती' हो जाती है। फिर लौटकर गुणमाधुर्य को ही पकडने जाती है। किन्तु तब तक वह भी उसके हाथ से छूट चुका होता है। इस प्रकार वह मिलन काल मे भी प्रिय का अभाव अनुभव करती है, और विरह-वेदना मे तडप उठती है। विरह की इसी विशिष्ट स्फूर्ति को 'प्रेमवैचित्य' कहा गया है।[5]

प्रेमवैचित्य की यह विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या है। कुछ भी हो, माना यही गया है कि प्रेम की घनीभूत अनुभूति मे प्रेमी वस्तु-स्थिति का विस्मरण कर बैठता है, और गहरे वियोग की अनुभूति करने लगता है। लीलामय कृष्ण के प्रति इसी भाति के वियोग की अनुभूति प्रेमवैचित्य महाभाव है, जिसका अनुभव केवल राधा को होता है। यह सब-कुछ को भुला देने वाले मोहन विप्रलम्भ का एक विशिष्ट रूप है।

सभोग—जहाँ तक सभोग का प्रश्न है, उसकी स्थिति स्पष्ट ही हो चुकी है। अप्रकट लीला की दृष्टि से नित्य सम्भोग माना गया है, किन्तु उसके परिपाक की तीव्रतम गहराई और चरम माधुरी की अनुभूति के लिए उस तक विप्रलम्भ के माध्यम से ही पहुँचना

---

१ "स च सयोगेऽपि वियोगविस्फूर्ति ।" लो० रा० पृ० ४६५।

२ "समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता।" उ० नी पृ० ४१२।

३ प्रेमवैचित्य नाम तृष्णाया परावधिकाष्ठा व्यनक्ति।" आ० च० पृ० ५४८।

४ यत्र सति श्रीकृष्णे साक्षात् शश्वदनुभवतोऽपि जनस्य बुद्धिवृत्तेरपि तथा लोप स्यात् यथा श्रीकृष्णे नानुभवानीत्येव प्रत्यय स्यात्।" आ० च० पृ० ५४८।

५ आनन्दचन्द्रिका पृ० ५४८-४६ के आधार पर।

अभीष्ट माना गया है। सभोग के जो भेद रूप गोस्वामी ने प्रस्तुत किये है, उनमे सहज एव नित्य सभोग का कोई विशेष स्थान नही है। वैप्रलम्भिक सभोग का ही गुणगान है।

"रूढाख्यभावजातोय सभोगो वैप्रलम्भिक ।
निर्भरानन्दपूराणा परमावधिरिष्यते ॥"[1]

सभोग विप्रलम्भ का तापशामक कहा गया है, और वही प्रेम का चरम परिणाम या परिपाक है, जिसमे स्वसम्भोगलालसा प्रियसौख्य के साथ घुलकर एकाकार हो चुकी होती है।

भक्ति-रस एव तत्सम्बन्धी समस्याए

अब तक हमने रस के स्वरूप पर कई दृष्टियो से विचार किया है। प्रस्तुत अध्याय मे हमारे सामने गोस्वामी आचार्यो के रस-निरूपण की रूपरेखा आयी है। यहाँ भक्ति-रस से सम्बद्ध कतिपय उल्लेखनीय समस्याओ पर विचार करना है।

भक्ति-रस की काव्यशास्त्रीय स्थिति

सस्कृत काव्य-शास्त्र के मान्य आचार्यो ने भक्ति के स्वतन्त्र रसत्व का स्वीकार नही किया, और आज भी काव्यशास्त्रीय दृष्टि उसके रसत्व पर प्रश्न चिह्न समाप्त नही करती। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक भक्ति के सम्बन्ध मे कई दृष्टियाँ सामने आती है, तथा उन दृष्टियो मे एक विकास की परम्परा भी दृष्टिगोचर होती है। आज हम उन दृष्टियो एव उनके परिवर्तनो के पीछे निहित कारणो की सम्भावना भी कर सकते है।

आचार्य भरत ने भक्ति का न रस के रूप मे और न भाव के रूप मे, किसी प्रकार उल्लेख नही किया। सचारी भावो मे भी भक्ति या उसका समकक्षी कोई भाव परिगणित नही है।[2] इसका सहज कारण यही प्रतीत होता है कि भरत के समक्ष भक्ति-परक कोई अभिनेय साहित्य नही था, जो उन्हे भक्ति को अपने विवेचन मे सम्मिलित करने के लिए प्रेरणा देता। भरत के लिए विवेच्य मूलत अभिनेय साहित्य है। सम्भव है, भरत के सामने पुराणो मे कुछ भक्ति-परक सूत्र हो, किन्तु वे सूत्र नाट्यशास्त्र मे भक्ति-विवेचन के लिए आवश्यकता उपस्थित नही करते।

भक्ति भगवद्विषयक रति या प्रीति है। काव्यशास्त्र मे इसके लिए सबसे पहले

---

१ उ० नी० पृ० ५७५।

२ भरत ने दाम्पत्येतर रति के किसी अन्य रूप की भी चर्चा नही की। डा० राघवन ने 'नम्बर आफ रसाज' पृ० ११२, फुटनोट मे भरत के एक उद्धरण की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसमें 'वात्सल्य' का उल्लेख है—"तत्र हास्यशृगारयो स्वरितोदात्तै, वीराद्भुतरौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितै, करुण-वात्सल्यभयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पिते वर्णै पाठ्यमुपपादयेत्।" का० मा० स० ना० शा०, पृ० १८७। गायकवाड सस्करण में यह पाठ नही है। उसमे 'करुणवात्सल्यभयानकेषु' के स्थान पर 'करुणबीभत्सभया०' पाठ है। काव्यमाला पाठ की अप्रामाणिकता इसी से स्पष्ट है कि उसमे वात्सल्य को मिलाकर रस सख्या ८ बैठती है, और भरत का मान्य बीभत्स छूट जाता है। अत भरत की यही मान्यता हमारे सामने रहती है कि उन्होने दाम्पत्य रति के अतिरिक्त रति-रूपो को अपने विवेचन में स्थान नही दिया।

स्थान-निर्धारण की आवश्यकता दण्डी को अनुभव हुई है। किन्तु वे भी उसे रस नही कह सके। कारण स्पष्ट है, उनके सामने भरत का निरूपण था। भरत द्वारा परिगणित रसो से अलग किसी भाव को रस कहने का साहस अब भी सहज नही है, दण्डी मे इसकी अपेक्षा करना अस्वाभाविक है।

दण्डी ने अपने युग की चेतना के अनुरूप सभी भावात्मक परिपाको को 'अलकार' के अन्तर्गत रखा है। रस 'रसवद्' अलकार के अन्तर्गत है, और 'प्रीति' 'प्रेय' नामक अलकार के अन्तर्गत। प्रेय के उन्होने दो उदाहरण दिए है, एक कृष्ण-परक प्रीति का है, दूसरा शिव-परक प्रीति का। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनकी 'प्रीति' भगवद्विषयक प्रीति ही है। जिस काव्य मे प्रियतर अनुभूति का आख्यान या प्रकाशन हो उसे दण्डी 'प्रेय' कहते है—'प्रेय प्रियतराख्यानम्।'[1] भगवद्विषयक प्रीति को दण्डी ने सम्भवत अन्य लौकिक प्रीति-रूपो से काम्य-तर होने के कारण ही 'प्रियतर' कहा है। निरूपण इन शब्दो मे है

"अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुन ॥
इत्याह युक्त विदुरो नान्यतस्तादृशी धृति।
भक्तिमात्रसमाराध्य सुप्रीतश्च ततो हरि ॥"
"सोम सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम होतानलो जलम्।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वा द्रष्टु देव के वयम् ॥
इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्रात्वर्मण।
प्रीतिप्रकाशन तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् ॥"[2]

जैसा कि डा० राघवन ने ठीक ही कहा है,[3] कृष्ण-परक उदाहरण मे भक्ति शब्द का दण्डी ने निदश भी किया है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना असगत होगा कि इस प्रेय के अन्तर्गत दण्डी दाम्पत्येतर अन्य रति रूपा को भी समाविष्ट करना चाहते है। भक्ति शब्द का प्रयोग एव उदाहरणो की सीमा तो यही बताती है कि दण्डी इस भेद मे केवल भगवद्विषयक प्रीति को ही रखना चाहते है।

शृगारी रति से इस 'प्रीति' को दण्डी ने स्पष्टतया अलग किया है

"प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेय रति शृगारता गता।"[4]

प्रेय और शृगार के निरूपण के अनन्तर दण्डी कहते है—पहले हमने 'प्रीति' को दिखाया, और यह पीछे शृगार का अग बनने वाली रति है।

इस प्रकार दण्डी के अनुसार भक्ति रस नही 'प्रेय'[5] अलकार है, जिसका स्थायी भाव भगवद्विषयिका प्रीति है। सम्भवत दण्डी को इस निरूपण की प्रेरणा पुराण और स्तोत्र[3]

---

१ काव्यादर्श दण्डी श्लो० २७५।
२ वही, श्लो० २७६-२७६।
३ नम्बर आफ रसाज वी० राघवन पृ० १०६-११०।
४ काव्यादर्श दण्डी श्लो० २८१।
५ प्राचीन आचार्यो के 'प्रेय' अलकार का निरूपण भिन्न-भिन्न दृष्टियो से हुआ है। भक्ति का समावेश प्रस्तुत करने वाला केवल दण्डी का ही 'प्रेय' है। रुद्रट का 'प्रेयान्' रस भी सुहृद्विषयक लौकिक रति का ही रूप सामने करता है।

साहित्य मे व्याप्त भगवद्विषयिका प्रीति को देखकर मिली है। दण्डी भक्ति को रस नही कह सके, इसका कारण इन शब्दो से समझा जा सकता है

'इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।"[1]

वाणी की रसवत्ता भरत की मान्यता के अनुसार आठ रसो तक ही परिसीमित है।

दण्डी के इस प्रेय को रुद्रट ने कुछ उठाने और व्यापकता देने का प्रयास किया। उन्होने 'प्रेयान्' को एक अतिरिक्त रस के रूप मे स्वीकार किया, शान्त सम्भवत प्रथम बार उद्भट के द्वारा पहले ही रस रूप मे स्वीकृत हो चुका था। रुद्रट ने व्यापकता यह दी कि इसके स्थायी को 'प्रीति' के स्थान पर 'स्नेह' के व्यापक रूप मे लिया और उसमे सभी दाम्पत्येतर रति-रूपो की सम्भावनाओ का अवकाश छोडा। वैसे उन्होने अपने प्रेयान् का जो निरूपण किया हे उसमे दो मुहृदो के बीच का निर्व्याज प्रेम या स्नेह ही परिगणित किया गया है।[2]

अभिनवगुप्त मे पूर्व तक भगवद्विषयक रति के परिपाक को 'भक्ति-रस' या 'श्रद्धा-रस' के नाम से रस-कोटि मे लाने की चर्चाएँ उठ चुकी थी, इसका प्रामाणिक सकेत स्वय अभिनवगुप्त से ही मिल जाता है।[3] अभिनवगुप्त ने भक्ति या श्रद्धा को एक पृथक् रस के रूप मे स्वीकार नही किया, अपितु शान्त रस के सचारियो मे अन्तर्भूत करके दिखाया

"अतएवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृति-मति-धृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेऽन्यथैवाङ्गमिति न तयो पृथग्रसत्वेन गणनम् ।"[4]

ईश्वर-प्रणिधान-विषयक भक्ति और श्रद्धा को पृथक् रसो के रूप मे इसलिए स्वीकार नही किया गया कि वे स्मृति, मति, धृति या उत्साह जैसे भावो मे अनुप्रविष्ट है, और शान्त के अग बन जाते है। अभिनव के उक्त वचन शान्त रस के प्रकरण मे आये है और भक्ति को शान्त का अग प्रतिपादित करते है।

अभिनव की इस मान्यता का अनुसरण नही किया गया। पर उन्होने जो यह अन्तर्भाव का मार्ग दिखाया था वह उनकी दार्शनिक मान्यता के अनुरूप ही था। उन्होने शैव दर्शन की चेतना के अनुरूप शान्त को ही एक मूल नित्य एव स्थायी रस प्रतिपादित किया है। वह 'सर्वरसप्रकृति' है।[5] इस प्रकार अभिनव नौ रसो को दो वर्गा मे विभक्त कर लेते है—शान्त को प्रकृति और शृगारादि आठ रसो को उसकी विकृति कहकर। अभिनव

---

१ काव्यादर्श दण्डी श्लो० २९२।

२ "स्नेहप्रकृति॰ प्रेयान् सगतशीलार्यनायको भवति।
स्नेहस्तु साहचर्यात् प्रकृतेरुपचारसम्बन्धात् ॥
निर्व्याजमनोवृत्ति॰ सनर्मसद्भावपेशलालापा ।
अन्योन्य प्रति सुहृदार्व्यवहारोऽय मतो यत्र ॥ काव्या० रुद्रट अ० १५ का० १७-१९।

३ "ईश्वरप्रणिधानविषय भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टे" अभि० भा० भा० १ पृ० ३४०।
डा० राघवन, न श्रा० र० पृ० ११०।

४ अभि० भा० भा० १ पृ० ३४०।

५ 'स्व स्व निमित्तमासाद्य शान्ताद्भाव प्रवर्तते। पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते। "इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्वमुपसहृतम् ।" वहीं, पृ० ३४०।

भक्ति का अन्तर्भाव विकार-भूत शृगारादि रसो मे या उनके सचारियो मे नही करते, अपितु उच्चतम रस-स्थिति शान्त से उसका सम्बन्ध जोडते है। यह उनके सर्वथा अनुरूप ही था। वे एक महान् पण्डित एव दार्शनिक ही नही थे, उच्च कोटि के रहस्यवादी भक्त भी थे। स्वय उनके स्तोत्रो मे भगवद्विषयक प्रेम की धारा प्रवाहित है। दूसरे उनके सामने भक्ति का साहित्य भी आ चुका होना चाहिए। अत भक्ति के प्रति अभिनव की हीन भावना नही है। भक्ति अध्यात्म अनुभूति है, अत उसका सम्बन्ध अध्यात्म शान्त रस मे ही उपयुक्त है।

पर अभिनव ने भक्ति को अगी या प्रधान रस नही माना, अगी शान्त का सचारी स्वीकार किया। काश्मीरी शैव दर्शन स्वरूपत अद्वैतवादी है, भक्ति द्वैत की अनुभूति है। अत रसत्व की जो चरम स्थिति है उसे भक्ति से एकाकार करके नही देखा जा सकता। अद्वैती चेतना मे भक्ति उस स्थिति का साधन ही बन सकती है। भक्ति की अनुभूति स्वात्मपरामर्शमयी शान्त रसस्थिति के लिए इसी हेतु अभिनव ने अगरूप मे स्वीकार की।

किन्तु अभिनव की दर्शन-मूलक इस मान्यता को आचार्य मम्मट ने काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से अपनाया, दार्शनिक दृष्टि से नही। मम्मट ने अभिनव के शान्त रस को एक अध्यात्म रस के रूप मे ग्रहण न कर एक काव्यरस के रूप मे प्रस्तुत किया। निर्वेद को शान्त का स्थायी भाव दिखाते हुए उसे भरत-सम्मत भी दिखाया। इस व्याख्या मे अभिनव की भी असहमति न थी। जब प्रकृति-रस और विकृति रस की बात छोड दी जाय तो शान्त के अग या सचारी के रूप मे परिगृहीत भक्ति का स्थान काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से स्थायी भाव का न रहकर सचारी भाव का ही रह जाता है। सचारी रूप मे स्वीकृत तेतीस भावो के स्वतन्त्र परिपोष को आनन्दवर्धन की मान्यता के अनुरूप अभिनव ने भी भाव-ध्वनि ही कहा था, रस-ध्वनि नही।[1] तब, मम्मट के सामने सीधा हल था कि अभिनव के द्वारा एक सचारी के रूप मे स्वीकृत भक्ति को 'भाव-ध्वनि' की कोटि मे रख दिया जाय। ऐसा करने मे कुछ अन्य समस्याओ का समाधान भी हो गया। दाम्पत्येतर रति के विविध रूपो के लिए आचार्य लोग स्वतन्त्र रसत्व की माँग कर रहे थे। अभिनव ने इस माँग को ठुकराया था, और विविध भावो मे उनका अन्तर्भाव ही स्वीकार किया था,[2] यद्यपि उनका वह अन्तर्भाव अधिक तर्क-सम्मत नही था। मम्मट ने एक व्यवस्था दी कि भक्ति ही क्यो, भक्ति को सम्मिलित करते हुए समस्त दाम्पत्येतर रति रूप 'भाव-ध्वनि' हैं।

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जित ।
भाव प्रोक्त"

आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया। कान्ताविषया तु व्यक्ता शृगार।"[3]

---

१ "रसभावतदाभास०" ध्वन्या० उ० २ का० ३ की व्याख्या में लोचन में अभिनव—

"तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्था प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति, तदा भावध्वनि.।" ध्वन्यालोकलोचन पृ० १७५।

२. अभिनव ने मित्रस्नेह को रति या उत्साह में, बालक के पितृ-स्नेह को भय में, लक्ष्मण के भ्रातृस्नेह को धर्मवीर में अन्तर्भूत दिखाया है। अभि० भा० . भा० १ पृ० ३४१। यह अन्तर्भाव स्पष्ट ही दूरारूढ एव असगत है।

३ का० प्र० उ० ४ पृ० ११८।

इस प्रकार मम्मट के अनुसार भाव-ध्वनि मे दो प्रकार की ध्वनियाँ सम्मिलित हुई, तेतीस सचारी भावो की व्यजनाए एव दाम्पत्येतर रति के विविध रूप। यद्यपि मम्मट ने इस देवादि-विषयक रति मे स्पष्टत भगवद्विषयक रति का उल्लेख नही किया, किन्तु परवर्ती आचार्यो ने इसकी परिधि इसी व्यापकता के साथ स्वीकार की कि उसमे भगवद्रति भी गिनी जाती रहे।

इस प्रकार मम्मट की मान्यता ने ही व्यवस्था का रूप पाया। अभिनव का अन्तर्भाव-वाद लोगो को स्वीकार्य नही हुआ। धनजय ने भी दशरूपक मे अन्तर्भाववाद का मार्ग अपनाया था।[1] किन्तु मम्मट की यह मान्यता कि स्नेह के विविध रूप किन्ही सचारियो या किसी अन्य स्थायी मे अन्तर्भूत नही अपितु रति भाव के ही विशेष रूप है, उनके युग मे ही सम्मान पाने लगी थी, इसकी साक्षी हेमचन्द्र है।[2]

विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी मान्यता को सुरक्षित रखा है[3], और आज भी काव्यशास्त्र का विद्यार्थी इसे प्रामाणिक रूप मे रखकर चलता है, यद्यपि इसपर बहुत दिनो से एक बडा प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है।

पण्डितराज जगन्नाथ के सामने सस्कृत और हिन्दी का विशाल भक्ति-साहित्य आ चुका था। विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यो द्वारा ही नही, रूपगोस्वामी-जीवगोस्वामी आदि के द्वारा भक्ति के रसत्व की समर्थ प्रतिष्ठा भी उनके सामने थी। फिर भी उन्होने भरत की परम्परा को सुरक्षित रखते हुए मम्मट का ही पक्ष लिया कि भक्ति रस नही, भाव ही है

"अथ कथमेत एव रसा, भगवदालम्बनस्य रोमाचाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभि परिपोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवात्? भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभाव। न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्। उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्ते।"[4]

इस निरूपण मे पण्डितराज ने भक्ति का बडे सटीक शब्दो मे समर्थन प्रस्तुत किया है। उसे रस कहने के लिए जो भी दिखाना अपेक्षित था, उन्होने दिखाया है। पर अन्त मे उसे सिद्धान्तत भाव-रूप ही स्वीकार किया है। उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि वे

---

१ "प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसा।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिता॥" दश० प्र० ४ का० ८३।

धनजय और अभिनव के अन्तर्भाव में केवल इतना अन्तर है कि अभिनव ने अपनी दार्शनिक दृष्टि से परिचालित होकर भक्ति का अन्तर्भाव प्रकृति रस शान्त के सचारियों में किया है, जबकि धनजय सीधे काव्यात्मक भावों में उसे रखते हैं। वे निर्णय नही देते हैं कि भक्ति को स्थायी भाव में अन्तर्भूत किया जाय या सचारियों में। उन्होंने हर्ष का भी नाम लिया है, उत्साह का भी। एक सचारी है, दूसरा स्थायी। ऐसा कहने में अभिनव का प्रभाव स्पष्ट है।

२ हेमचन्द्र ने अलकार चूडामणि में तो अभिनव की मान्यता प्रस्तुत की है, किन्तु विवेक में विवेचन इस प्रकार है—"स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति हि रतेरेव विशेषा एवमादौ च विषये भावस्यैवास्वाद्यत्वम।" काव्या० वि० पृ० १०६।

३ साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद का० २३५ तथा रसगगाधर, पृ० ४६।

४ रसगगाधर पृ० ४५।

भक्ति-भाव को स्थायी रूप मे स्वीकार नही करते जो वह रस कहा जा सके।[1] ऐसा क्यो है ? इसके उत्तर मे हम उनके शब्दो के आधार पर निम्न तर्को की कल्पना कर सकते है

१ यद्यपि भक्तिरस दुरपह्नव है, तथापि उसकी सहृदयता का क्षेत्र परिसीमित है। उसके रसत्व के अनुभवकर्ता गिने-चुने भगवद्भक्त ही होते है।[2]

२ कामिनी-विषयक रति को स्थायी और अन्य रतियो को भावरूप मे मानने की परम्परा भरत ने डाली है और मम्मटादि द्वारा स्वीकृत है। उसके अनुरूप भक्ति एक भाव ही है, रस नही।[3]

इस प्रकार सस्कृत काव्यशास्त्र के भीतर हमे भक्ति के सम्बन्ध मे निम्न तीन प्रमुख मान्यताए मिलती है

१ दण्डी की मान्यता जिसमे भक्ति को प्रियतर अनुभूति के रूप मे स्वीकार करते हुए प्रेयस् अलकार कहा गया है, पर रस नही माना गया।

२ अभिनव की अन्तर्भाव की मान्यता जिसमे भक्ति शात नामक अध्यात्म रस का अग भाव है और उसके सचारियो मे अनुप्रविष्ट है। धनजय के अनुसार भक्ति अन्य काव्य-भावो मे अन्तर्भुक्त है।

३ मम्मट की मान्यता जिसके अनुसार भक्ति की परिणति भाव-कोटि मे है रस-कोटि मे नही। भाव-ध्वनि की कोटि रस-ध्वनि से कुछ निचली है।

इन तीनो मे अन्तिम मम्मट की मान्यता ही परवर्ती युग मे प्रचलित रही है, और आज भी कम महत्त्व नही रखती।

भक्ति के सम्बन्ध मे यह काव्यशास्त्रीय मान्यता कहाँ तक सगत है, इसपर विचार करने से पूर्व हमे उसकी दार्शनिक स्थिति पर एक दृष्टि डालनी होगी। भक्ति के आचार्यों ने उसके रसत्व का प्रतिपादन दार्शनिक पद्धति पर ही किया है।

जहाँ काव्यशास्त्रियो ने भक्ति को रस न मानकर भाव-कोटि ही मे रखा है, वहाँ इसके विपरीत वैष्णव आचार्यो ने भक्ति को ही उपेय परमार्थ रस के रूप मे सिद्ध किया है। यो सभी वैष्णव सम्प्रदायो की दार्शनिक दृष्टि मे 'रसो वै स' श्रुति का प्रतिपाद्य लीलामय पुरुषोत्तम है, किन्तु उनके लिए भक्ति ही साध्य रही है। भक्ति उस प्रियतम की उपलब्धि का साधन होते हुए भी अपने मे साध्य है, चरम आनन्दमयी है। विभिन्न साम्प्रदायिक दृष्टियो के रहते हुए भी सभी वैष्णव आचार्य इस बारे मे एक मत है। अत सबकी दृष्टि मे भक्ति एक रस ही नही, एकमात्र आस्वाद्य अप्राकृत रस है।

इस दृष्टि से लौकिक स्थूल सुख ही प्राकृत कोटि के नही है, काव्यानन्द भी अर्थात् काव्य के शृगारादि रस भी प्राकृत ही है। काव्यरसो मे लौकिक आनन्दो से सूक्ष्मता और

---

१ "न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात्, अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम् कामिन्यादिरतीना च भावत्वम्, विनिगमकाभावात्, इति वाच्यम्, भरतादिमुनिवचनाना-मेवात्र रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात्।" वही, पृ० ४६।

२. "भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्।" रसगगाधर पृ० ४५।

३ "भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात्।"
"रसाना नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्याय।" रसगगाधर, पृ० ४६।

लोकोत्तर चमत्कारप्रवणता होने के कारण अलौकिकता अवश्य है, किन्तु अलौकिकता मात्र से वे रस 'अप्राकृत' तो नही हो जाते। अन्ततोगत्वा काव्यानुभूति मे चित्त की स्थिति है, भावो की वासनाओ का उद्रेक है, चित्तवृत्तियो के विविध स्पन्दन है। भले ही यह सब चित्त की सात्त्विक स्थिति के भीतर हो जिसमे रजस् और तमस् दब गये होते है। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने रस का स्वरूप 'भग्नावरणचिद्विशिष्ट स्थायी' या 'स्थाय्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिति' निर्धारित किया है। यह एक सोपाधिक स्थिति है, इसी कारण भट्टनायक ने इसे ब्रह्मानन्द न कहकर ब्रह्मानन्द-सहोदर ही कहा है। यह चित्त, जिसकी भूमिका मे स्थायी का उद्रेक होता है, प्रकृति का ही एक विकार है, अत काव्य-रसो की अलौकिकता को स्वीकार करते हुए उनकी प्राकृतता से इन्कार नही किया जा सकता।

दूसरी ओर वैष्णव आचार्य भक्ति को अप्राकृत रस कहते है। इस मान्यता को स्थापित करने के लिए उन्होने निजी दार्शनिक मान्यता का सहारा लिया है। उन्होने एक विशुद्ध सत्त्व नामक एक तत्त्व की कल्पना की हुई है। यह 'विशुद्ध सत्त्व' है तो सत्त्व ही, पर प्रकृति का विकार सत्त्व गुण नही है, अपितु अनन्त-शक्ति परमेश्वर की स्वरूपभूत शक्ति है। इस विशुद्ध सत्त्व से ही परमेश्वर का विग्रह बना है, इसी से उनका क्रीडा-लोक, इसी से उनका परिकर आदि। अधिकारी भक्तो के हृदयो मे प्रादुर्भूत होने वाली भगवद्विषयिका रति भी उसी विशुद्ध सत्त्व की अभिव्यक्ति है जो भगवत्कृपा से ही बडी साधना से भाग्यवानो को मिलती है। इस प्रकार भक्तिरस का स्थायी भाव भगवद्विषयिका रति स्वरूपत प्रकृति-विकार या चित्त-धर्म न होने के कारण 'अप्राकृत' है और उसका परिपाक 'भक्तिरस' भी अप्राकृत ही है। अत वैष्णव आचार्यो की दृष्टि मे परम तत्त्व लीलामय परमेश्वर के अतिरिक्त भक्ति ही परमार्थ रस है, काव्यरस तो प्राकृत रस है। स्वय वैष्णव आचार्यों के अनुसार यह भक्तिरस हर व्यक्ति की अनुभूति का विषय नही है, इसके सहृदय विरले ही होते है। इस विशुद्ध सत्त्वरूपा रति के उदय के लिए भी लम्बी भाव-वासना और सस्कारो की अपेक्षा है। रसत्व के लिए जैसे भाव के स्थिर सस्कारो की अपेक्षा है, वैसे ही भक्तिरस के आस्वादन के लिए प्रमाता मे भक्ति-रति की सुस्थिर वासना और सस्कार अपेक्षित है। इस प्रकार इस भक्तिरस के स्थायी भाव की वासनारूपा अवस्थिति, जो प्रमाता मे किसी भी रस की अनुभूति के लिए अनिवार्यत अपेक्षित होती है, बडी ही सीमित है, जनसामान्य की सवेद्य कदापि नही।

फिर, वैष्णव सम्प्रदायो मे इस भक्तिरूपा रति का रूप भी अपने-अपने सम्प्रदाय की विशिष्ट दृष्टियो के अनुसार विभिन्न रूपो मे स्वीकृत हुआ है। मधुरा रति के मान्य विभिन्न रूप तो बिलकुल ही साम्प्रदायिक हो उठे है, जिस पर हम आगे विचार करेगे। भक्तिरस के स्थायी भाव की इस साम्प्रदायिक रूपता के कारण उसकी जनसामान्य-सवेद्यता और भी परिमित हो जाती है, और अपने अभीष्ट रूप मे भक्त-मात्र के लिए भी सवेद्य नही रहती।

भक्ति की यह सीमित प्रमातृता और अप्राकृतता ही काव्यशास्त्री की दृष्टि मे काव्यरसिक सहृदय-सामान्य के लिए स्थायी भाव के रूप मे स्वीकार किये जा सकने का अवकाश समाप्त कर देती है। जो भाव इतना विरल एव अप्राकृत है वह काव्य-सहृदयो के प्राकृत चित्तो मे वासना-रूप मे कैसे स्वीकार किया जा सकता है। अत यही स्वीकार करना उपयुक्त है कि प्रवृत्ति-मार्गी जन-मानस मे भगवद्रति के सस्कार इतने गहरे और स्थिर नही

होते कि उनके बल पर इस भाव को काव्योपयोगिता के लिए 'स्थायी भाव' नाम दिया जा सके। अत भक्ति की अनुभूति जहाँ एक भक्त सहृदय के लिए परमार्थ रस है वहाँ एक काव्य रसिक सहृदय के लिए 'भाव' ही है, ऐसा ही स्वीकार करना होगा।

इतना होते हुए भी हिन्दी के वैष्णव साहित्य ने वस्तु-स्थिति द्वारा काव्यशास्त्र को भक्तिरस की स्वीकृति के लिए बाध्य किया है। इस सम्बन्ध मे दो-तीन तथ्य ऐसे है जिन्हे भुलाया नही जा सकता। एक तो यह कि विक्रम की तेरहवी से सत्रहवी शती तक राम और कृष्ण के लीला-गान करते हुए भक्ति की जो प्रबल धारा भारतीय जनता के बीच बही थी वह आज तक भी एक पर्याप्त मात्रा तक उसे प्रभावित कर रही है। इसके फलस्वरूप चाहे विशुद्ध रस-कोटि की भक्ति की जन-सामान्य को अनुभूति न हो किन्तु इसके सामान्य अनुशीलन के लिए अपेक्षित सस्कार उसमे सुस्थित हो चले है। वैसे भी जन-मानस भक्ति के भावात्मक सामान्य सस्कारो से सदा युक्त रहा है, रहेगा। यह देश-काल की सीमा से परे का तथ्य है। प्रत्येक देश मे भक्त होते रहे है, उनकी भावना का रूप चाहे भिन्न रहा हो। तो, हिन्दी काव्य का वैष्णव साहित्य जिन भाव-राशियो को अपने पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है उनके सस्कारो की आधार शिला उसके पाठको मे इस व्यापक भूमि पर जम चुकी है कि भक्तिशास्त्रीय 'भक्तिरस' के न सही, काव्याशास्त्रीय 'भक्तिरस' के स्थायी भाव को एक अधिकतम जन-सवेद्य भाव के रूप मे स्वीकार किया जा सके। यह तथ्य वैष्णव-साहित्य मे अभिव्यजित भगवद्रति को एक स्थायी भाव के रूप मे स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है।

दूसरी बात यह कि हिन्दी का भक्ति साहित्य हमारे पाठक को एक उच्च कोटि के काव्य के रूप मे उपलब्ध है। इस काव्य मे एक कवि की रसिकता भी है, साथ ही इसके एक भक्त का आत्मावेश भी इसमे घुला हुआ है। कवि जिस आत्मानुभूति को काव्य मे घोल देता है उसकी यदि सफल अभिव्यजना भी हो तो थोडे से सस्कारो वाले पाठक को भी उस काव्य मे सम्बद्ध भाव की रसात्मक अनुभूति हो लेती है। हिन्दी वैष्णव काव्य मे यह तथ्य भरपूर है। उसमे उच्चकोटि का कवित्व, गहरी आत्मानुभूति एव सफल अभिव्यजना है। फल यह हुआ है कि इस काव्य मे भक्ति के भावात्मक हलके रूप से आगे बढकर गहरे रसात्मक रूप के आस्वादन का अवकाश खुलता है। हाँ, इतना स्वीकार करना पडता है कि यह भक्तिरस भक्तिशास्त्र मे निरूपित भक्तिरस न होकर काव्यरस के रूप मे ही भक्तिरस होता है।

इसके विपरीत एक सीमा का भी हमे ध्यान रखना होगा। ऊपर के विवेचन मे हम काव्य-निष्ठ कवि-व्यक्तित्व और काव्य को अधिक महत्त्व देते हुए स्वय सामाजिक के व्यक्तित्व की एक मात्रा तक उपेक्षा-सी कर रहे है। हमने स्थायी भाव के रूप मे वैष्णवी रति को एक व्यापक जन-सस्कार होने के नाते स्वीकृति दी है। इस व्यापक जन-सस्कार मे निहित राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का एक स्तर और आदर्श रहा है। राम-भक्ति के प्रति जन-मानस मे मर्यादा एव आदर्श की प्रतिष्ठा है, कृष्ण के प्रति क्रीडा एव लीला की। फिर भी इस लीला-रसिकता की एक सीमा है। सुसस्कृत जन-मानस राधा-कृष्ण के अमर्यादित उन्मुक्त शृगार मे भक्ति की अनुभूति करने का अभ्यस्त नही है। उन्मुक्त रसिक भावुको ने अपनी भक्ति को प्राय जन-सामान्य से गोप्य ही रखा है। जो भी इसका हलका-फुलका रूप कभी-कभी प्रकट किया गया है उसके समर्थन के लिए अनेक प्रकार की व्याख्याए भी उन्हे साथ मे जनता के बीच रखनी पडी है। इस सबका निष्कर्ष यही है कि जन-मानस भक्ति के आदर्श-

प्रधान रूप से एक पर्याप्त दूरी तक और मधुर रूप से एक मर्यादित सीमा तक ही परिचित रहा है। इतनी मात्रा तक ही काव्य-दृष्टि से वैष्णवी भगवद्रति उसके लिए एक स्थायी भाव बनी है और इस मात्रा की सीमा मे उस रति के काव्यात्मक परिपाक मे वह भक्ति की रसात्मक अनुभूति करता है। यह वस्तुस्थिति हमे बाध्य करती है कि हम भक्ति को काव्य के भीतर एक काव्य-रस के रूप मे भी स्वीकार करे।

निष्कर्ष यह कि काव्यरस के रूप मे स्वीकृत भक्तिरस केवल कवि के द्वारा अनुभूत रस के रूप मे ही नही होना चाहिए, जन सामान्य के द्वारा, कहिए सुसस्कृत सहृदय द्वारा अनुभूत भक्तिरस होना चाहिए। इस प्रकार का काव्यरस बनने के लिए भक्ति-रूप स्थायी भाव जन-प्रतिष्ठित सस्कारो के मेल मे होना चाहिए। उसमे कवि-व्यक्तित्व एक हल्की मात्रा का ही हेर-फेर ला सकता है, अधिक हेर-फेर मे भक्ति की रसात्मक अनुभूति न रहकर या तो भावात्मक रह जायेगी या फिर भक्ति की न रहकर शृ गारादि अन्य की हो निकलेगी।

भक्ति की रसात्मक अनुभूति के लिए स्वीकृत भक्तिरूप स्थायी भाव मे भगवान् के प्रति आराध्य-भावना और महत्त्व-चेतना मूलाधार तत्त्व है। जन-मानस इन चेतनाओ के साथ ही अपने आराध्य की भावना से युक्त है। यह तथ्य विश्वजन-मानस द्वारा स्वीकृत है। इसका आधार पकडे रहते हुए चलने वाला काव्य भक्ति की रसात्मक अनुभूति दे सकता है, ऐसा कहा जा सकता है। इन तत्त्वो को भुला देने वाला काव्य यदि भक्ति की अनुभूति देता है तो वह उन्ही लोगो के लिए हो सकती है जिनकी मानस पृष्ठ-भूमि उसी प्रकार के सस्कारो मे पहले से ढली हुई है। उसकी सहृदयता अत्यन्त परिसीमित होगी। भारतीय काव्यरस का रसत्व सकल-सहृदय सवेद्यत्व पर आधारित है। इस कमी से उक्त प्रकार के भक्तिरस को साम्प्रदायिक रूप मे ही भक्तिरस कहा जा सकेगा।

इन सीमाओ के साथ, वस्तुस्थितियो के अनुरोध से, काव्य शास्त्र के ग्रन्थो मे भक्ति को 'भाव' रूप मे स्वीकार किये जाने पर भी, हम एक काव्यरस के रूप मे स्वीकार करके चल सकते है। यह कहने की आवश्यकता नही है कि यह भक्तिरस भक्ति-ग्रन्थो मे निरूपित और उच्च-कोटि के भक्तो के द्वारा स्वानुभूति के रूप मे आस्वादित भक्तिरस नही, एक काव्य-रस के रूप मे स्वीकार किया जा रहा है।

आगे हम भक्तिरस विषयक कुछ और चर्चा करेगे।

भक्ति-रस या वैष्णव रस

हिन्दी का भक्ति-साहित्य केवल वैष्णव साहित्य तक ही परिसीमित नही है अपितु उसकी परिधि मे निर्गुण सन्त काव्य तथा सूफी प्रेम काव्य भी परिगणित किया जाता है। सन्त काव्य और सूफी प्रेम काव्य का मूलाधार रति स्थायी भाव ही है जो स्वरूप और स्वभाव से लौकिक नही है। अपनी इसी पारलौकिक या अध्यात्म रति के आधार पर इस साहित्य की गणना भक्ति-साहित्य के भीतर होती है, अत उसकी काव्यानुभूति को भी भक्ति-रस की परिधि मे ही स्वीकार करना होगा।

भक्ति-रस की इस व्यापक परिधि को ध्यान मे रखकर वैष्णव साहित्य की काव्यानुभूति को भक्ति-रस न कहकर 'वैष्णव रस' कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यो निर्गुण, सूफी और वैष्णव साहित्य की काव्यानुभूति की कतिपय समान समस्याए हो सकती है, फिर भी रति के स्वरूपो, विभाव-सम्बन्धी दृष्टिकोणो और प्रमातृता आदि से सम्बन्ध

रखने वाली समस्याओ के आधार पर वैष्णव साहित्य कुछ अलग है। अत उसकी रसानुभूति को ठीक अर्थो मे 'वैष्णव रस' शब्द मे ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए। हम अपने विवेचन मे इस शब्द का प्रयोग इसी दृष्टि से स्वीकार करते है।

फिर भी वैष्णव साहित्य की रसानुभूति और तत्सम्बन्धी समस्याओ का निरूपण भक्तिरस के नाम से होता चला आया है, अब भी हो रहा है। प्राचीन आचार्यो ने, साम्प्रदायिक भक्तो ने और आधुनिक विवेचको ने वैष्णव रस के लिए भक्तिरस शब्द का ही प्रयोग किया है। अत हम अपने विवेचन मे भक्तिरस शब्द को भी नही बचा सकते। हमारे विवेचन मे दोनो शब्दो का अभिधेय भिन्न नही है।

वैष्णव रस की साम्प्रदायिकता

वैष्णव रस की दो धाराएँ है—राम-धारा और कृष्ण-धारा। हमारी आलोच्य शताब्दियो का राम साहित्य मोटे तौर पर चरित-प्रधान और मर्यादावादी रहा है, कृष्ण साहित्य लीला-चरित का उन्मुक्त गायक। कृष्ण काव्य मे कई रसिक धाराएँ प्रवाहित हुई है और राम-भक्ति मे भी रसिकता की कुछ लहर आयी है। दोनो धाराओ के अधिकाश वाणीकार विभिन्न साम्प्रदायिक निष्ठाओ से परिचालित होकर साहित्य-रचना करते दिखाई पडते है। बहुत थोडे ही ऐसे कवि-व्यक्तित्व बच पाये है जो साम्प्रदायिक चेतना से कवि के प्रकृत व्यक्तित्व को दबने नही देते। यो कुछ सम्प्रदाय-मुक्त कवि है, कुछ सम्प्रदाय-गत होकर भी कवि के प्रकृत स्तर पर रहते है। ऐसे कवियो की वाणियो मे अवश्य रसानुभूति असाम्प्रदायिक रहती है। किन्तु इस साहित्य की एक बडी मात्रा साम्प्रदायिक ही है, अत यह स्वीकार करना पडता है कि वैष्णव रस स्वरूपत प्राय साम्प्रदायिक हो गया है।

साम्प्रदायिकता का सर्वाधिक उभार मधुर रस मे दिखायी पडता है। उदाहरण-स्वरूप हरिदासी या निम्बार्क सम्प्रदाय की रस-चेतना ली जा सकती है। इन सम्प्रदायो की मान्यता है कि राधा-कृष्ण का काम-मिलन ही रस है। यही रसिक भक्त की रसानुभूति का सच्चा विभाव है। रसिक चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, इस रस का आस्वादन नारीभावापन्नता मे ही हो सकता है। यह नारीभावापन्नता भी दाम्पत्य रति से भिन्न है, रसिक सहचरी भाव से युगल के काम-लीला विलासो को देखता है और दर्शन-सुख से ही आनन्दित होता है। इस प्रकार इन सम्प्रदायो की भक्ति-रति सहचरी-रति है जिसमे कामोपभोग का सुख नही, केवल कामलीला-दर्शन का सुख है। साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार न तो सहचरी का, न सहचरी-भावापन्न रसिक भक्त का और न ही पाठक का मन कृष्ण के विलास-वर्णन से काम-वृत्ति की ओर झुकना चाहिए, केवल सहचरी भाव से, जो कि एक नारी-भाव की चेतना है, दर्शन-रस का ही आस्वादन करना चाहिए। ये और इस प्रकार के दृष्टिकोण विशिष्ट साम्प्रदायिक आस्थाओ और मान्यताओ पर आधारित है। इनके अपनाने के लिए लम्बी साधना और गहरी साम्प्रदायिक निष्ठा अपेक्षित है। इसे एक प्रकार से साम्प्रदायिक 'ट्रेनिंग' भी कह सकते है। इस ट्रेनिंग के बिना भक्त को तो अभीष्ट रसास्वादन होता ही नही, इसके परिचय और सस्कारो के बिना कोई काव्य-सहृदय भी अभीष्ट रसास्वादन नही कर सकता। इस विवेचन से वैष्णव रस की साम्प्रदायिकता स्पष्ट हो जाती है।

अन्य काव्यरसो से साम्प्रदायिक रस मे एक बडा भारी अन्तर यह हो जाता है कि जहाँ काव्यरस मे विभाव-पक्ष ही कवि-कल्पना की सृष्टि होता है, भाव-पक्ष सहृदय-सस्कारो

के अनुरूप और अत्यन्त परिचित होता है, वहाँ साम्प्रदायिक रस मे भाव-पक्ष भी सामान्य सहृदय के लिए कल्पना-सृष्ट होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि यह भाव-सर्जक कल्पना एक विशिष्ट सम्प्रदाय की बौद्धिक चेतना होती है। राधा-कृष्ण युगल की काम-लीलाओ के चित्रो मे काम-वृत्ति की तटस्थता, रसिक का पुरुष होते हुए भी अपने मे नारी-भावापन्नता, नारी-भाव मे भी सहचरीत्व की आत्म-चेतना, और उस भाव के साथ केवल दर्शन-सुख तक परिसीमित रहकर प्रकृत भाव मे डूब जाना—यह सब साम्प्रदायिक बुद्धि-वाद से परिचालित कल्पना से अवसृष्ट होकर साम्प्रदायिक काव्य में समाहित होता है। इस प्रकार साम्प्रदायिक काव्य का राग-तत्त्व भी एक दूरवर्ती सीमा तक बुद्धि-तत्त्व से रूपित होता है।

साम्प्रदायिक चेतनाओ के नाना-रूप होने के कारण ही वैष्णव रस के विविध रूप परिलक्षित होते है। ये रूप कभी तो स्थायी भाव के विषय मे, कभी आलम्बन के स्वरूप के विषय मे, और कभी प्रमाता अधिकारी भक्त के विषय मे विभिन्न साम्प्रदायिक धारणाओ के आधार पर सामने आते है। इन साम्प्रदायिक रूप-रगो के कारण वैष्णव रस की काव्यानुभूति का प्रश्न भी अपने मे उतना सरल नही रह गया है, जितना सामान्य काव्य का है।

भक्ति-रस और भक्तिकाव्य-रस

भक्ति-शास्त्र और भक्ति-सम्बन्धी ग्रन्थो मे जो भक्ति को रस कहा गया है वह केवल भक्ति-काव्य की अनुभूति को ही ध्यान मे रखकर नही कहा गया। भक्त जनो के हृदय मे अनुभूयमान परम प्राप्ति ही वह भक्तिरस है, चाहे उसकी अनुभूति काव्य के द्वारा हो रही हो, चाहे पूजा-उपासना-भावना-साधना आदि अन्य प्रकारो से। किंतु जब हम साहित्य के सन्दर्भ मे भक्तिरस की बात करते है तो हमारा तात्पर्य भक्ति-काव्य की अनुभूति के रूप मे होने वाले भक्ति-रस से होता है।

भक्ति-रस के भोक्ता

काव्यरस का भोक्ता एक विशिष्ट योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति माना गया है। अभिनवगुप्त के अनुसार वह काव्यानुशीलन का अभ्यासी, भावुकतापूर्ण एव वर्णनीय विषय एव भाव मे डूबने की क्षमता से युक्त होना चाहिए। राजशेखर ने भी उसमे भावयित्री प्रतिभा की अनिवार्य आवश्यकता की ओर सकेत किया है।

आज इस मान्यता को चुनौती दी जा सकती है। देखा यह जाता है कि काव्यकला की गहराइयो मे सर्वथा अपरिचित एक ग्रामीण व्यक्ति भी लोकगीतो की मधुरता मे डूब जाता है, प्रेम और भक्ति के गीतो और पदो मे आनन्दानुभव करता है। तब फिर यह कैसे कहा जाय कि काव्यरस की अनुभूति एक विशिष्ट स्तर के व्यक्ति को ही होती है। इस तर्क मे बल होते हुए भी इसे सरलता से स्वीकृति नही दी जा सकती। यदि कला अपनी विशिष्ट रेखाओ से सम्पन्न एक उच्चस्तरीय अभिव्यक्ति है, और यदि उसमे मनोमय कोश से ऊपर उठाकर विशुद्ध आनन्दमय कोश के स्तर की अनुभूति देने की क्षमता है तो उसका आस्वादन-कर्ता भी कतिपय विशिष्टताओ से सम्पन्न व्यक्ति ही मानना पडेगा। रस-काव्य का स्तर वैसे भी सहृदय-विशिष्ट-सवेद्य नही, सहृदयमात्र-सवेद्य होता है, उसमे साधारणीकरण की पूर्ण सम्भावना के साथ ही रसत्व की सम्भावना होती है। इन विशेष और सामान्य की दो

सीमाओ के बीच मे काव्यानुभूति की सहृदयता की समस्या जटिल नही हो पाती ।

पर, जैसा कि हम पीछे सकेत कर चुके हे, वैष्णव रस की अनुभूति की समस्या अपना विशिष्ट रूप रखती है । वैष्णव रस की साम्प्रदायिकता पर हम अभी विचार कर चुके ह । वैष्णव साहित्य का अधिकाश साम्प्रदायिक आस्थाओ और विश्वासो की छाया मे निर्मित हुआ है ।

इस साम्प्रदायिकता के कारण इस काव्य मे एक सामान्य सहृदय, जिसने काव्यानुशीलन की क्षमता तो प्राप्त की हे किन्तु किसी सम्प्रदाय-विशेष की आस्थाओ से तादात्म्य स्थापित नही किया, उसी प्रकार की रसानुभूति नही कर सकता जिस प्रकार की एक भक्त और विशेषकर उसी सम्प्रदाय का भक्त कर सकता है । इस दृष्टि से हमारे समक्ष वैष्णव रस के भोक्ता के रूप मे निम्न प्रकार के व्यक्ति प्रमुखतया आते हे

१ उसी सम्प्रदाय के विश्वासो के अनुरूप सस्कार-सम्पन्न भक्त जिस सम्प्रदाय-विशेष का काव्य है ।
२ सामान्यत वैष्णव आस्थाओ एव सस्कारो से सम्पन्न भक्त ।
३ काव्यानुशीलन-कुशल 'सहृदय' किन्तु साम्प्रदायिक सस्कारो से रहित ।
४ जन-सामान्य ।

इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के व्यक्ति भी वैष्णव काव्य के पाठक के रूप मे हो सकते हे, किन्तु वैष्णव रस की समीक्षा के लिए इन्ही का चुनाव पर्याप्त है । इनमे भी सामान्य जन को तो इसलिए छोडा जा सकता है कि उसकी अनुभूति के आधार पर रस निष्पत्ति की समीक्षा नही की जाती । पर वैष्णव-काव्य का लोक पर क्या भावात्मक और वैचारिक प्रभाव पडता है, इस रूप मे हम जन-सामान्य की अनुभूति-प्रतिक्रिया को ले सकते हृ । साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक दोनो प्रकार के भक्तो को भी एक ही वर्ग मे रख सकते है क्योकि उन दोनो की चित्त-वृत्ति एक विशेष प्रकार के सस्कारो से अभिरचित हे । इस प्रकार दो प्रकार के व्यक्तियो की रसानुभूति वैष्णव रस के विषय मे विचारणीय रह जाती हे, एक साम्प्रदायिक आस्थाओ के अनुरूप सस्कार वाले भक्त की, दूसरे सहृदय-सामान्य की । इनमे भक्त की रसानुभूति का विश्लेषण हमे साम्प्रदायिक मान्यताओ के अनुसार करना होगा, सहृदय की रसानुभूति का काव्यशास्त्रीय मान्यताओ के अनुसार । यो भक्त मे भी वैष्णव-काव्य के रसास्वादन के लिए काव्यानुशीलन की सहृदयता चाहिए, और सहृदय मे भी भगवद्रति के सस्कार अपेक्षित है, वह भी बिना वर्ण्य भाव के कुछ-न-कुछ सस्कारो के बिना भक्ति-काव्य को भक्ति-काव्य के रूप मे ग्रहण नही कर सकता । फिर भी सम्प्रदाय और काव्यशास्त्र के प्रतिनिधियो के रूप मे 'भक्त' और 'सहृदय' दो प्रकार के वैष्णवरस भोक्ताओ को लेकर हम चल सकते है । इस काव्य की साम्प्रदायिकता के कारण ये दो वर्ग स्वीकार करने ही होगे ।

भक्त भगवान् के प्रति एक रागी व्यक्ति होता है । व्यक्तिगत राग व्यक्तिगत द्वेष के समान ही काव्य की रसानुभूति मे बाधक माना गया हे । काव्यानुभूति के लिए काव्याचार्यो की मान्यताओ के अनुसार किसी प्रकार के निजी भावो की आविष्टता[१] से मुक्ति

---

१ अभि० भा० भा० १ पृ० २८०
"स्वकगताना च सुखद स्वसविदामास्वादे यथासभव तदपगमभीरुतया वा तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा सवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्न ।"

मिलनी चाहिए तभी रसानुभूति का द्वार खुलता है। भक्त का व्यक्तिगत राग जिस आलम्बन के प्रति होता है वही काव्य के द्वारा उसके सामने लाया जाता है। अत उस काव्य के अनुशीलन मे वह व्यक्तिगत रागात्मक आवेश से बच नही सकता। ऐसी स्थिति मे भले ही वह भक्ति की अनुभूति कर सके, काव्य-दृष्टि से भक्ति-रस की अनुभूति नही कर सकता। भक्तो की एव भक्त आचार्यो की दृष्टि मे भक्ति की ही यह अनुभूति परमार्थ रस है, जिसके समक्ष ब्रह्मानन्द भी फीका है,[1] किन्तु काव्यशास्त्र की दृष्टि मे इस अनुभूति को व्यक्तिगत अनुभूति ही कहा जायेगा। उसकी भाषा मे व्यक्तिगत अनुभूति 'रसानुभूति' नही होती, इसीलिए देखा यह जाता है कि भक्त लोग भक्ति-काव्य का आस्वादन करते-करते भावावेश मे डूबकर नाचने लगते है, रोने लगते है, मूर्छित हो जाते है। यो काव्य-सहृदय पर भी रसानुभूति की कुछ प्रतिक्रियाएँ होती हे, पर वे सात्त्विको तक ही सीमित रहती हे।

काव्यशास्त्रीय विद्यार्थी हाने के नाते हमारा उद्देश्य वैष्णव काव्य मे एक काव्य-सहृदय की दृष्टि से रसस्थिति का विश्लेषण करना है, भक्त की दृष्टि से नही। किन्तु जब साम्प्रदायिक धारणा के अतिवाद के कारण सहृदय और सम्प्रदाय की रसानुभूति मे अन्तर पडने लगे, तो सहृदय की अनुभूति-प्रतिक्रिया के अतिरिक्त साम्प्रदायिक प्रतिक्रिया का निरूपण भी करना ही होगा। इसी दृष्टि से वैष्णव रस के सन्दर्भ मे सहृदय और भक्त रसिको की रसानुभूति से हमारा मतलब है।

यद्यपि वैष्णव साहित्य का अधिकाश साम्प्रदायिक चेतना से अनुप्राणित है, तथापि उसका बहुत बडा अश ऐसा भी है जिसमे साम्प्रदायिकता का प्रभाव नही है या इस रूप मे है कि उससे सहृदय-सामान्य की अनुभूति भी तदात्म होती है। ऐसे स्थलो पर हमारे लिए सहृदय की अनुभूति ही विश्लेषणीय रह जाती है।

वैष्णव रस के भेद

रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी की भक्ति-रस के सम्बन्ध मे मान्यताएँ यद्यपि एक विशेष सम्प्रदाय की मान्यताओ तथा भक्ति की समस्याओ को ही ध्यान मे रखकर प्रतिष्ठित हुई है, किन्तु उनके प्रतिष्ठापन के समय काव्यशास्त्रीय उपलब्धियो को भी पूरे तौर से सामने रखा गया है। परिणाम यह हुआ कि उनमे भक्ति काव्य का मानदण्ड बनने की दूर तक क्षमता है। मोटे तौर पर वैष्णव रस की आलोचना के लिए हम उनके निरूपण से सहायता ले सकते है।

उन्होने भक्तिरस के पाँच मुख्य तथा सात गौण भेद किए है। गौण रसो मे स्थिति यह है कि उनमे रति का रूप अन्य वर्ण्य भाव से दब जाता है। ऊपरी तौर पर काव्य वीरादि अन्य रसो का प्रतीक होता है। इसका कारण यही है कि रस-परिपाक के लिए जो सामग्री अपेक्षित होती है वह सीधे रति-भाव के किसी विशिष्ट रूप के अनुरूप न होकर वीरादि रसो के अनुरूप होती है। पर उसका भक्ति से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य होता है। भक्ति-क्षेत्र से असम्बद्ध सामान्य काव्य के रसो को तो ये आचार्य प्राकृत और अग्राह्य

---

१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु पृ० २१।

समझकर छोड देते है। उनके दृष्टिकोण को अपनाकर उन्हे रसाभास कहा जा सकता है।

गौण रसो मे भक्ति-सिद्धान्तो के अनुरूप गौण रति का अनुभव होता है, काव्यशास्त्र के नियमो से वहाँ प्राधान्येन व्यपदेश के नियम से उन-उन वीरादि रसो का अनुभव होना चाहिए। अनुभव की यह द्विविधना रस-भोक्ता की द्विविधता के कारण ही होती हैं।

पाँच मुख्य भक्ति रस निम्न है

१ शान्तभक्तिरस जिसका स्थायी शान्ता रति कही गयी है।

२ प्रीतभक्तिरस जिसका स्थायी भाव प्रीति नामक रतिरूप कहा गया है।

३ प्रेयान् भक्तिरस जिसका स्थायी भाव सख्य रति कही गयी है।

४ वत्सलभक्तिरस जिसका स्थायी भाव वात्सल्य रति कही गयी हैं।

५ मधुरभक्तिरस जिसका स्थायी भाव शृगारात्मिका मधुरा रति है।

इन रसो के निम्न नाम अपनाकर हम चल सकते है

१ शान्त भक्तिरस।

२ दास्य भक्तिरस।

३ सख्य भक्तिरस।

४ वात्सल्य भक्तिरस।

५ मधुर रस।

इन रस-भेदो मे भोक्तृ-भेद के कारण पडने वाले अन्तर के साथ रसानुभूति के सम्बन्ध म कुछ सामान्य बातो की चर्चा यहाँ हम करना चाहते है। साम्प्रदायिक प्रभावो के कारण बनने वाली विशिष्ट स्थितियो एव विशिष्ट अभिव्यक्तियो का निरूपण यथा-स्थान ही किया जायेगा।

इन पाँच मे से चार ऐसे है जिनकी चर्चा काव्यशास्त्र मे भी आ चुकी है। शृगार की भरत से, शान्त की उद्भट से, सख्य या प्रेयान् की रुद्रट से, वात्सल्य की विश्वनाथ से हमे रसरूपता उपलब्ध है। दास्य के आधार पर रसत्व का प्रतिष्ठापन किसी काव्यशास्त्रीय आचार्य द्वारा नही किया गया। किन्तु भक्ति के रूप मे स्वीकृत इन रस-भेदो और साहित्यिक रसो मे कुछ अन्तर है।

साहित्यिक शान्तरस का स्थायी भाव निर्वेद है जो निवृत्तिमूलक भाव है, किन्तु शान्त-भक्तिरस का स्थायी शान्ता रति है जो एक अनुरक्ति एव भगवत्परक प्रवृत्ति है। वह मूलत रति है। इसमे ससार से निर्वेद का सचारी रूप मे उपयोग सम्भव है।

साहित्यिक वात्सल्य एक अमिश्रित भाव है, किन्तु वात्सल्य भक्तिरस एक मात्रा तक मिश्रित रति है। बाल आलम्बन के प्रति बडो का अनुराग साहित्यिक वात्सल्य मे आता है। भक्ति मे भी भगवान् के बालरूप के प्रति नन्द-यशोदा आदि के स्नेह की अभिव्यक्ति रहती है। किन्तु इस अभिव्यक्ति मे आगे पीछे यह चेतना भी मिली रहती है कि यह बाल आलम्बन सामान्य नही, एक अलौकिक अवतारी बालक है, परम तत्त्व का लीलारूप है। यह चेतना आलम्बन के महत्त्व की चेतना है। वात्सल्यभक्तिरस के प्रसगो मे यह महत्त्व-चेतना इस रस के स्थायी भाव का स्वरूप अमिश्रित नही रहने देती। जहाँ यह चेतना नही होती, वात्सल्य का साम्प्रदायिक रूप भी नही होता। वैसे भी, वात्सल्य भक्ति के काव्य मे साम्प्रदायिकता का प्रभाव नगण्य होता है।

दास्य, सख्य और वात्सल्य भक्तिरूपो मे भगवद्विषयक महत्त्वभावना की स्थिति क्रमश कम होती चली जाती हे। महत्त्व-भावना की चरम अनुभूति जैसी दास्यभक्ति मे है वैसी अन्य भक्तिरूप मे नही होती। सख्य मे यह महत्त्व साम्य भावना मे अन्तर्हित होकर गौण हो जाता है और वात्सल्य मे भक्त मे अपने मे बडेपन और भगवान् मे बाल्य और पाल्य का भाव आरोपित रहता है। इस प्रकार वात्सल्य मे आलम्बन की लघुता ही सामने रहती है, महत्त्व-चेतना अवचेतन मे ही रहती है जो कभी-कभी उभरकर आती रहती हे।

भगवान् के प्रति आत्म-लघुता की अनुभूति भक्ति के क्षेत्र मे सबसे स्वाभाविक और अनारोपित ह। प्राणिमात्र मे जो जीव-तत्त्व निहित है, उसे अपनी सीमाओ और अल्पताओ का अनुभव है। मानव अपनी इन्ही अल्पताओ और अशक्तियो के अनुभव के आधार पर एक अनन्त-शक्ति परम सत्ता की कल्पना करता है और उससे हृदय-निवेदन करते हुए उसकी शरण मे अपने त्राण की सम्भावना करता है। इस प्रकार आत्म-लघुता तथा भगवन्महत्ता की अनुभूति के साथ दास्यभक्ति भक्ति का सबसे अधिक स्वाभाविक रूप है। मधुरोपासको की दृष्टि मे दास्यभक्ति महत्त्वानुभूति के कारण ही अवर कोटि की भक्ति है। उनकी धारणा है कि महत्त्वानुभूति आराध्य और आराधक के बीच दूरी स्थापित करने वाली भावना है। मधुर भाव मे ही यह अन्तर रेखा पूर्ण विलीन होती है। यह एक विशिष्ट एव साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है। आत्म-लघुता और परमात्ममहत्ता की स्वानुभूत और सर्वानुभत चेतना के कारण ही दास्य-भक्ति मे साम्प्रदायिक सस्पर्श नही होता और उसकी काव्यात्मक अभिव्यक्तियो मे लोक-मर्यादा एव लोक-मगल का सहज सन्निवेश रहता है। इस काव्य की रसानुभूति साम्प्रदायिक भक्त और सहृदय सामान्य सबके लिए एक ही दिशा मे होती है और इसकी लोक-प्रतिक्रिया भी अनुरूप और शुभ होती है।

महत्त्वानुभूति बौद्धिकता-प्रधान चेतना है, प्रेमानुभूति हृदय-प्रधान। दास्य मे महत्त्वानुभव के बौद्धिक धरातल की अन्त प्रेरणा से रति का प्रसार होता है, किन्तु सख्य-भाव मे महत्त्वानुभव से निरपेक्ष रति-प्रसार होता है। प्रेम अपने मे महत्त्व-विस्मृति है। सख्य मे यही प्रेम उभरकर आता है। दास्य वस्तु-स्थिति की सहजता है, सख्य भाव-स्थिति की। सख्य भक्ति मे भी साम्प्रदायिक आरोप नही हो पाये है। अत सख्यभक्ति का काव्य-रस भी भक्त और सामान्य सहृदय की अनुभूति की भिन्नता की समस्या खडी नही करता। दोनो की दिशाए एक है, सघनता और गहराई का अन्तर सम्भव है।

वात्सल्य भक्ति मे उक्त वस्तु-स्थिति की कुछ उपेक्षा है जो भगवान् अनन्त-शक्ति, पालक और पोषक है, उसके प्रति वात्सल्य भक्ति मे लघुता, पाल्यता और पोष्यता की आरोपित चेतना का समावेश है। वस्तुस्थिति की इस उपेक्षा से वात्सल्य भक्तिरस की अनुभूति मे भक्त और सहृदय की प्रतिक्रियाओ मे कुछ अन्तर सम्भावित है। भक्त रसिक की प्रतिक्रिया भी दो दिशाओ मे होनी चाहिए। मान लीजिए, बाल कृष्ण की क्रीडाओ का एक चित्र है। इस आलम्बन के प्रति नन्द-यशोदा आश्रय-पात्र के रूप मे वर्णित है। भक्ति-सिद्धान्त की दृष्टि से ये नन्द-यशोदा वात्सल्य रति के मूल आश्रय पात्र है, वात्सल्य भक्ति के अधिकारी भक्त को इन्ही से भाव-तादात्म्य करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि इस कोटि का रस-भोक्ता भक्त ऐसे स्थलो पर अपने मे सरक्षकत्व, पोषकत्व, पालकत्व आदि धर्मो की सम्भावना करके चलेगा। जीव की स्वाभाविक आत्म-लघुता की अनुभूति के स्थान पर यह आत्म-महत्त्व की अनुभूति आरोपित या साधना-साध्य ही होगी। दूसरे प्रकार के वे भक्त हो सकते

है जिनके लिए इस चित्त मे नन्द-यशोदा मे भाव-तादात्म्य तो सम्भव नही, किन्तु वे कृष्ण की इस बाल-क्रीडा और बाल-छवि पर मुग्ध होगे, नन्द-यशोदा की प्रेमानुभूति का वर्णन भी उनकी अपनी कृष्ण-विषयक रति के लिए उद्दीपन होगा। ऐसे भक्त बाल कृष्ण के प्रति भी अपनी भावना के अनुसार ही रति स्थापित कर सकेंगे। सूर के अनेक चित्रो मे हमे यह मिलता है कि हाथ लकुट लिए खडे होने वाले बाल कृष्ण सूर के 'प्रभु' और 'ठाकुर' ही रहते है। इस प्रकार भक्त रसिक की रसानुभूति वात्सल्य-भक्तिरस के सम्बन्ध मे साम्प्रदायिक तत्त्व से प्रभावित होती है, तथापि यह प्रभाव बहुत दूरी तक नही होता। जो सामान्य सहृदय है उनके लिए इस प्रकार के चित्रो मे बाल कृष्ण और उनकी लीलाओ से अपने हृदय की वासना-रूपेण स्थित वात्सल्य भावना का ही आस्वादन होता है। इस आस्वादन को साहित्यिक कोटि का ही रसास्वादन कहा जा सकता है, भक्ति-वर्गीय नही।

इस प्रकार दास्य, सख्य और वात्सल्य मे क्रमश वस्तु-स्थिति की कृत्रिमता कुछ बढती जाती है और रसानुभूति का स्वरूप साम्प्रदायिकता का सस्पर्श पाने लगता है। जिस मात्रा मे यह सस्पर्श सम्भव होता है उसी मात्रा मे भक्त और सामान्य सहृदय की रसानुभूति का स्वरूप अलग-अलग हो जाता है।

इस दृष्टि से मधुर रस मे सर्वाधिक साम्प्रदायिक प्रभाव परिलक्षित होता है। इसीलिए वह जहाँ एक साम्प्रदायिक भक्त की दृष्टि मे सर्वोत्तम भक्तिरूप है वहाँ एक साहित्यिक सहृदय की दृष्टि मे सामान्य शृगार। इतना ही नही, उसके अनेक प्रसगो मे औचित्यवादी साहित्यिक सामाजिक शृगार नही, शृगाराभास की गन्ध पाता है। इस रस की साम्प्रदायिकता इस मात्रा तक बढी हुई है कि वह विविध साम्प्रदायिक दृष्टियो मे बट गया है, उसके स्थायी भाव के स्वरूप मे दृष्टिकोण की एकता नही है और एक विशिष्ट सम्प्रदाय के मधुर काव्य मे दूसरे सम्प्रदाय का मधुर रसिक समान रूप से भाव-तादात्म्य की स्थितियाँ नही पाता। इस प्रकार मधुर रस की अनुभति-प्रतिक्रिया अन्य सभी भक्तिरस के रूपो की अपेक्षा विविध-रूपा होती है, और साम्प्रदायिक भक्त और साहित्यिक सामाजिक की अनुभूति मे प्राय तालमेल नही बैठता।

मधुर रस

भगवद्विषयक शृगार को मधुर रस कहा गया है और मधुर उपासको ने इसे ही भक्ति का सर्व-श्रेष्ठ रूप माना है। इसके उद्भव एव विकास का प्रमुख क्षेत्र कृष्ण धारा ही रही है। यद्यपि राम-धारा के वर्तमान रसिक सम्प्रदायियो एव उस साहित्य के कतिपय समीक्षको का विश्वास है कि मधुर भावना पहले राम-धारा मे ही अवतीर्ण हुई, तुलसी जैसे मर्यादावादी भक्त भी व्यक्तिगत उपासना मे मधुरोपासक ही थे, आदि[1] तथापि उनकी यह मान्यता ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक वजन नही रखती। श्रीमद्भागवत मे जो कृष्ण-भक्ति का रसिक रूप परिलक्षित होता है वह इस मात्रा तक पूर्ण और विकसित है कि अपने पूर्व मे किसी विकसमान परम्परा की भी कल्पना उठाता है। जो भी हो, हमारे आलोच्य काल मे मधुर भावना राम और कृष्ण दोनो धाराओ मे पायी जाती है, किन्तु

---

१ रामभक्तिसाहित्य में मधुर उपासना भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव पृ० ११५ . तुलसी की गुह्य साधना 'नया समाज' सितम्बर १९५३ चन्द्रबली पाण्डेय।

राम-धारा का मधुर साहित्य बहुत थोडा और कृष्ण-धारा के मधुर साहित्य की तुलना मे मात्रा ही नही महत्त्व की दृष्टि से भी समकक्षी नही है। इस दृष्टि से भी कृष्ण-धारा की मधुर भावना ही आलोचक के लिए विशेषत विवेच्य रह जाती है।

किस-किस सम्प्रदाय मे मधुर रस का क्या स्वरूप है, यह विशिष्ट निरूपण तो आगे यथा-स्थान ही होगा, यहाँ तो इस रस के सम्बन्ध मे कुछ सामान्य बाते समझनी है जिनकी सहायता से मधुर-साहित्य की रस-परिकल्पना समझी जा सके।

कान्ता-भाव—मधुरोपासना कान्ता-भाव की साधना है। बिना कान्ताभाव के लीला-रसिक मधुराधिपति कृष्ण के माधुर्य का आस्वादन सम्भव ही नही है।

कान्ता भाव मे यद्यपि आधार काम-रति है किन्तु यह काम लौकिक नही है, एसा प्रतिपादित किया जाता है। इसमे वासना-मूलक स्वार्थ-परितर्पण को कोई अवकाश नही होता, इसमे केवल अपने प्रियतम कृष्ण को सुखी करने की ही एक-मात्र लालसा रहती है। इस भावना को 'तत्सुखसुखित्व' कहा गया है। यह तत्सुखसुखित्व आधुनिक चिन्तन की दृष्टि मे कामवृत्ति का चरम उन्नयन ह।

कान्ता शब्द को दो अर्थो मे लिया जा सकता है—एक सामान्य नारी के अर्थ मे, दूसरे काम-वृत्ति से सम्बद्ध नारी के अर्थ मे। दूसरा अर्थ धात्वर्थ के अधिक समीप है। इस प्रकार सामान्य अर्थ मे कान्ताभाव मधुर-भाव का पर्याय हे, विशेष अर्थ मे प्रेयसी भाव का। प्रेयसी भाव मे कृष्ण के साथ कामवृत्ति का साक्षात् सम्बन्ध रहता है, अत उनके काम-विलास, आलिगन-परिचुबन मे प्रेयसी एक पक्ष होती है, भले ही उसमे पूर्ण तत्सुखसुखित्व की भावना हो।

साक्षात् कामरति वाले कान्ताभाव का, जिसे हम प्रेयसी भाव कह रहे है, अधिकार सभी सम्प्रदायो मे राधा का ही स्वीकार किया गया है। राधा रसरूप कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हे। उन्हे कृष्ण-तत्त्व से अभिन्न, लीलार्थ उन्ही की अभिव्यक्ति कहा गया हे। इन कृष्ण-शक्ति-रूपा राधा की अनन्त सखियाँ हैं, जिनमे आठ प्रमुख है। ये सखियाँ राधा-शक्ति की ही अशरूपा है, अत तत्त्वत अभिन्न हे। फिर भी इनके साथ कृष्ण का काम-सम्बन्ध स्वीकार नही किया गया। इस प्रकार सखीभाव मे कान्ताभाव का सामान्य रूप ही रहता है।

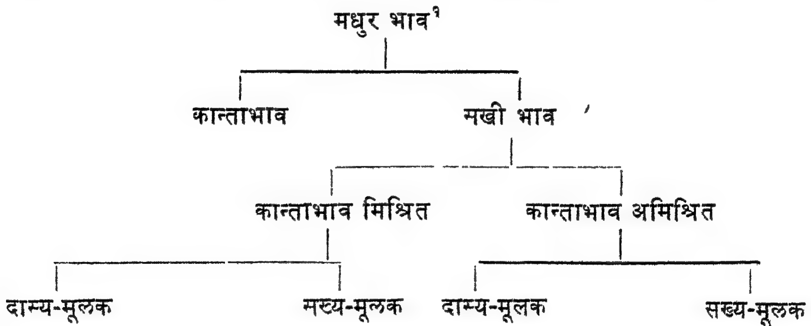
विभिन्न सम्प्रदायो मे राधा और सखियो के स्वरूप और सम्बन्ध मे पर्याप्त अन्तर के साथ मान्यताए प्रचलित है। कई राधा को स्वकीया मानते है तो कई परकीया। प्राय राधा-भाव काम्य नही समझा जाता, सखी भाव ही भक्त का काम्य होता हे। विभिन्न सम्प्रदायो मे सखी भाव की मान्यता भी कई प्रकार से हैं।

सभी कृष्ण भक्ति-सम्प्रदाय भागवत की महत्ता स्वीकार करके चलते है। उसके रास-प्रसग की चर्चा सभी करते है। इस प्रसग के चित्रणो मे सखियाँ भी कृष्ण के लीला विलास मे सम्मिलित है। ऐसे स्थलो पर सखी भाव कामवृत्ति से तटस्थ नही होता जैसा कि अन्य स्थितियो मे माना जाता है। सामान्य कान्ताभाव के सखी भाव, सहचरी भाव, खवासी भाव आदि अनेक रूप माने गये हैं। इन सबमे कामवृत्ति की तटस्थता होती है, श्रीकृष्ण के साथ इन सखियो का लीला-विलास नही होता। ये सेवा-परिचर्यादि के द्वारा ही अपने प्रेम को चरितार्थ समझती है।

राधा-कृष्ण के विलास के प्रति इन सखियो मे इसी अर्थ मे तटस्थता समझनी चाहिए कि ये स्वय कृष्ण के साथ कामोपभोग मे सम्मिलित नही होती, किन्तु कामवृत्ति से इनकी

सर्वांश मे तटस्थता नही होती। वे राधा-कृष्ण के विहार-काल मे सेविका, परिचारिका, सहचरी आदि के रूप मे उपस्थित रहने की अधिकारिणी होती है और उम विहार के दर्शन से परम तृप्ति का अनुभव करती है। ऐमे स्थलो पर उनकी कामवृत्ति के उन्नयन का अपना ढग है। साम्प्रदायिक दृष्टियो से उनमे केवल मेवा-परिचर्या-परक रति ही होती हे, उन अवसरो पर अपनी काम-रति होती ही नही। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सभव है कि उस समय उनमे कामवृत्ति का उदय होना चाहिए, भले ही वह कितनी ही उन्नीत हो। इम प्रकार कुछ स्थल ऐमे होते है जिनमे मखी भाव मे कान्ता भाव या प्रेयसी भाव का मिश्रण रहता है, कुछ ऐमे जिनमे मखी भाव केवल सेवा-परिचर्या-दर्शन आदि तक ही मीमित एव तटस्थ होता है।

सखी भाव चाहे कान्ता-भाव से मिश्रित हो या अमिश्रित, उसके दो रूप पाये जाते है—एक दास्य-मूलक, दूमरा सख्य-मूलक। मखी भाव मे वात्सल्य की गुजाइश नही है, अत भक्ति-सामान्य की दास्य और सख्य वृत्तियो का ही इम मे मिश्रण हो सकता है। जब मखियो मे आराध्यो के महत्त्व की चेतना और अपनी लघुता की भावना बढ जाती है, तब सखी भाव को दास्यानुप्राणित समझना चाहिए। जब मखियो मे खुलेपन और साम्य की भावना होती है, तब सख्यानुप्राणित। हम इन भेदो को निम्न रूप मे रखकर समझ सकते है



रस-तत्त्व

वैष्णव ग्रन्थो मे सामान्यत निम्नलिखित की रम के रूप मे चर्चा आती है

१ **श्रीकृष्ण**—'भक्तिदर्शन और रस' नामक गत अध्याय मे हम देख चुके है कि सभी वैष्णव सम्प्रदायो की दृष्टि मे 'रसो वै स' श्रुति का प्रतिपाद्य तत्त्व ब्रह्म है। यह मगुण,

---

१ सखीना द्विविधत्व तु केचिदाहुर्मनीषिण ।
सेवामात्रपरा काश्चित् कान्तभावविवर्जिता ॥
कान्तभावान्विता काश्चिद्युग्मसेवान्वितापि च ।
श्रीदेव्यामेककान्तत्वमपि केचिद् वदन्ति हि ॥
केचित्तु द्विविधत्वेऽपि रूपभेदो न मन्यते ।
लीलाभेदेन भेदस्य सर्वासामपि सभवात् ॥
श्रीयुग्मतत्त्वसमीक्षा एकादश भाव-मयूख पृ० २६३ ।
ले० श्री भगीरथ शर्मा प्रेमधाम प्रेस वृन्दावन ।

लीलामय पुरुषोत्तम ह, जिसे राम-भक्ति मे राम और कृष्ण-भक्ति मे कृष्ण कहा गया हे। सिद्धान्तत यही 'रस-तत्त्व' है।

इस तत्त्व के लीलामय होने के कारण इसकी लीला भी स्वरूपत 'रस' हे।

२ **राधा**—हम कह चुके है कि वैष्णव सम्प्रदायो मे राधा को कृष्ण की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति के रूप मे स्वीकार किया गया है। 'एकाकी न रमते' की आवश्यकता-पूर्ति के लिए परम तत्त्व अपनी आह्लादिनी शक्ति को अपने से भिन्न रूप मे प्रतिष्ठित कर उसके साथ रमण करता है, अत उसकी आराधिनी राधा भी तत्त्वत 'रस' है।

३ **युगल-रस**—तत्त्वत राधा और कृष्ण एक ही अभिन्न रसमय तत्त्व है, पर लीलार्थ दो दिखायी पडते है। राधा-कृष्ण युगल स्वरूपत एक और अभिन्न 'रस' है। इनका क्रीडा-विलास भी नित्य है। इनके लीला-विलास को रसिक सम्प्रदाय 'नित्य-विहार' कहते है।

इस युगल मे परस्पर आलम्बन-भाव है। राधा कृष्ण की आलम्बन है, आस्वाद्य हे, कृष्ण राधा के। अत दोनो ही एक-दूसरे के लिए आस्वाद्य रस है, एक-दूसरे के आस्वादयिता रसिक।

इस प्रकार राधा-कृष्ण का युगल एव उसका नित्यविहार तत्त्वत रस कहा गया है।

४ **धामरस**—रसेश्वर लीलामय कृष्ण के लीला-धामो को भक्त नित्य, अप्राकृत, विशुद्ध सत्त्वमय मानते है। इस प्रकार उनके लीला-धाम एक प्रकार से भगवन्मय ही है। इन धामो मे गोलोक, व्रज, वृन्दावन और निकुज की चर्चा आती है। रसिक सम्प्रदायियो ने इन्हे क्रमश अधिकाधिक महत्त्व प्रदान किया है।

कृष्ण-भक्ति मधुर काव्य मे व्रज, वृन्दावन और निकुज लीलाओ का गान किया गया हे और उसे व्रज-रस, वृन्दावन-रस और निकुज-रस कहा गया है। व्रज-रस मे श्रीकृष्ण की लीला-परिधि विस्तृत है और उसमे उनके रसिक रूप के अतिरिक्त अन्य रूपो की भी झलक सामने आती है। वृन्दावन-रस और निकुज-रस मे उनका केवल मधुर स्वरूप ही रह जाता हे। इनमे भी निकुज-रस तो राधा और कृष्ण की शृगार चेष्टाओ और विलास क्रीडाओ तक ही परि-मीमित है।

५ **भक्तिरस**—उपर्युक्त चार रस-तत्त्वा को रस-भोक्ता सहृदयो एव भक्तो की दृष्टि से केवल विभाव रस समझना चाहिए, अत ये सब आस्वाद्य रस के रूप है। भक्तो का आस्वाद-रूप तो भक्ति-रस है जो उनका अपनी भगवत्परक रति की स्वाद्य परिपाक है। इस रति के पीछे हम पाँच प्रमुख रूप देख चुके है, जिनके आधार पर यह पाँच प्रकार का माना गया है। इन सब रूपो मे मधुर रस को रसिक सम्प्रदायो ने सर्व-श्रेष्ठ स्वीकार किया हे। इस मधुर रस के स्थायी रति के विषय मे विभिन्न सम्प्रदायो की विभिन्न मान्यताए ह, और तदनुरूप उसकी विभावादि सामग्री के विषय मे भी अन्तर हो जाता है।

यह विवेचन कृष्ण-भक्ति की दृष्टि से है, राम-भक्ति की दृष्टि से भी ये ही मान्यताए है, केवल नामो का अन्तर कहा जा सकता है।

हिन्दी-वैष्णव कवियों की रस-विषयक आचार्य-चेतनाएं

विगत अध्यायो मे हमने रस-स्वरूप के सबध मे सस्कृत काव्य-शास्त्र, भक्ति-दर्शन एव भक्ति-काव्यशास्त्र की मान्यताएँ देखी है। प्रस्तुत अध्याय मे हम उन वैष्णव कवियो की रस-विषयक आचार्य चेतनाओ को समझना चाहते है जिनका अध्ययन हम अगले अध्यायो मे करने जा रहे है।

कवियो की आचार्य-चेतनाओ से हमारा क्या मन्तव्य है, इसे हम स्पष्ट समझ कर चले। यद्यपि कवि का काम शास्त्र-निरूपण नही, फिर भी वह अनेक बार ऐसी बाते कह जाता है जिससे शास्त्रीय सिद्धान्तो पर प्रकाश पडता है। ऐसी बाते उसके व्युत्पत्ति-कोश से भी सायास-अनायास आ जाती है, प्रतिभा से भी। हम यहाँ महाकवि कालिदास औद माघ से दो स्थल प्रस्तुत करना चाहते है

१ "रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तु।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्व
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।"[1]

२ 'तेज क्षमा वा नैकान्त कालज्ञस्य महीपते।
नैकमोज प्रसादो वा रसभावविद कवे॥"[2]

प्रथम उद्धरण मे कालिदास ने "भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि" कहकर भावो के स्थायित्व एव सस्काररूपत्व को स्वीकार किया है, दूसरे मे माघ ने बताया है कि रस-भाव का वेत्ता कवि ओज या प्रसाद किसी एक गुण से चिपका नही रहता, रसानुरूप गुणो का परिपाक प्रस्तुत करता है। इन दोनो उद्धरणो मे यद्यपि ऐसी बाते कही गयी है जो काव्य-शास्त्रीय क्षेत्र की है, पर पहली बात इस रूप मे कही गयी है कि वह शास्त्रीय ज्ञान का सीधा निरूपण नही मानी जा सकती। वह कवि-प्रतिभा से स्वत आयी हुई प्रतीत होती है, व्युत्पत्ति का सज्ञान उन्मेष नही। किन्तु माघ का कथन जाना-बूझा अप्रस्तुत योजना के रूप मे रखा गया है। ऐसे सभी कथनो को हम कवि की आचार्य-चेतना कहना चाहते है, और अपने विवेच्य कवियो मे यदि कही ऐसी चेतनाएँ हमे मिले तो हम उनके आधार पर उनकी रस-विषयक धारणाएँ निरूपित करना चाहते है। कालिदास के उल्लेख को हम एक असाक्षात्

---

१ अभि० शाकुन्तल अक ५ श्लो० २।

२ शिशुपालवध, सर्ग २ श्लो० ८।

निरूपण कह सकते है, माघ का उल्लेख माक्षात् निरूपण कहा जायेगा। इस प्रकार काव्य-निष्ठ आचार्य-चेतनाओ के हम दो रूप पाते हे

१ माक्षान् रूप मे निरूपित मान्यताएँ,

२ असाक्षात् रूप मे निरूपित मान्यताएं।

प्रस्तुत अध्याय मे अपने विवेच्य कवियो मे से कतिपय प्रमुख कवियो की इसी प्रकार की साक्षात्-असाक्षात् निरूपित रस-विषयक आचार्य-चेतनाओ की चर्चा हमे यहाँ करनी है। इसके लिए हम रस-दृष्टि, रस-स्वरूप और रमानुभूति से सम्बद्ध चर्चाओ तक ही सीमित रहेगे। अन्य आचार्य-चेतनाओ को हम नही लेगे। इस दिशा मे हमे इन कवियो द्वारा प्रयुक्त रस शब्द से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। रस-शब्द अनेकार्थ-वाची शब्द है। साहित्य मे भी उसका प्रयोग नाना अर्थो मे मिल जाता है। हम सभी अर्थो मे कवि प्रयुक्त इस शब्द को न लेकर काव्यानन्द, ब्रह्मानन्द अथवा भक्ति-जन्य आनन्द जैसे स्वविषय-सम्बद्ध अर्थो मे प्रयुक्त रस-शब्द तक सामित रहेगे, और इन कवियो की रस-सबधी धारणाओ को समझने का प्रयास करेगे। कवियो की उक्तियो से असाक्षात् रूप मे किसी सिद्धान्त की प्रक्रिया बहुत दूर तक खीची जा सकती है। हम उन्ही निष्कर्षो को असाक्षात् रूप मे निकालने का प्रयास करेगे जो स्पष्ट प्रतीत होते हो, और अनावश्यक खीचा-तानी की जिसमे आवश्यकता न हो। जिन कवियो के साहित्य मे इस प्रकार की विशिष्ट धारणाओ को नही पाया जाता, उनकी चर्चा इस अध्याय मे करना अपेक्षित नही। इस प्रकार के निरूपण के लिए हम निम्न कवियो को चुन रहे है

कृष्ण-भक्त कवि

अष्टछापी—
सूरदास, परमानन्ददास,
कुम्भनदास, नन्ददास,
चतुर्भुजस्वामी, गोविन्दस्वामी,
छीतस्वामी। —

निम्बार्क-सम्प्रदायी—
श्री भट्टजी,
श्रीहरिव्यास देवजी।

हरिदास-सम्प्रदायी—
श्री हरिदासजी,
श्री विट्ठलविपुलदेवजी।

राधावल्लभ-सम्प्रदायी—
श्री हितहरिवशजी,
श्री व्यासदेवजी,
श्री ध्रुवदासजी।

राम-भक्त कवि

तुलसीदास
केशवदास
सेनापति

इसी क्रम से हम अभीष्ट निरूपण की ओर आते हैं।

सूरदास

यो सूर ने रस-शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रचलित अर्थो मे किया है, तथापि अपने काव्य मे वे जिस 'रस' को घोलना चाहते है वह है 'कृष्ण-रस।'[1] यह रस लीलामय है और सूर के लिए यह रस काव्य मे कृष्णलीला-गान के रूप मे है।[2] इसी अर्थ मे सूर का समूचा काव्य कृष्णरसमय है।

'कृष्ण-रस' ब्रह्मरस से उत्कृष्ट है। ब्रह्मरस यद्यपि परमास्वाद-रूप एव अशेषत रस-मात्र है, पर वह साकार न होने के कारण मन वाणी का अगम-अगोचर है। कृष्ण-रस सगुण-साकार है, मन-वाणी का गम-गोचर है।[3] कृष्णरस ब्रह्मादि के लिए अप्राप्य है, किन्तु गोकुल की गलियो मे उमडता-बहता फिरता है।[4]

'कृष्ण-रस' मूलत प्रेमरूप है, अत कहा जा सकता है कि 'प्रेम' ही 'रस' है। प्रेम का स्वरूप सब-कुछ की उपेक्षा करते हुए प्रिय के प्रति चरम आकर्षणमय है। यह आकर्षणात्मक प्रेम जड और चेतन मे समान रूप से परिव्याप्त है।[5]

यह प्रेमरस अधिकारी और भावक के भेद से विविध रूपो मे व्यक्त होता है। अत अधिकारी प्रमाता इस रस का अपनी भावना के अनुरूप आस्वादन करता है। इसी दृष्टि से सूर ने लीलामय कृष्णरस के विविध रूपो मे दर्शन किये है।[6] दास भक्तो के लिए सेवकपन रसात्मक है, यशोदा के लिए बाललीला-दर्शन ही रस है। इन सब रस-रूपो मे शृंगारमयी लीलाओ वाला मधुर रस ही 'महारस' है।[7] मधुररस के भीतर विरह भी रसरूप ही है।[8]

---

१ "सुक-हिय रह्यौ कृष्न-रस छाइ" सूरसागर, पूर्वार्द्ध पद ३४१।

२ "सूर सगुन-लीला-पद गावै" वही, पद २।
"नीरस कवि न कहै रस-रीति। रसिकहि रस-लीला पर प्रीति।" वही, पद १७-१८।
"सूर स्याम-रस सहज माधुरी रसिकनि कौ अवलेह।" वही, पद ४३३६।

३ "परमस्वाद सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौ अगम अगोचर सो जानै जो पावै।" वही, पद २।

४ "जा रस ब्रह्मादिक नहि पावें। सो रस गोकुल-गलिनि बहावें।" वही, पद ६२१।

५ "भौरा भोगी बन भ्रमै, मोद न मानै ताप। सब कुसुमनि मिलि रस करै, कवल बधावै आप।"
"सुनि परिमिति प्रियप्रेम की चातक चितवनि पारि। घन-आसा सब दुख सहै, अनत न जाचै बारि।"
"सब रस कौ रस प्रेम है, विषयी खेलै सार। तन मन धन जोबन खसै, तऊ न मानै हार।"
वही, पद ३२५।

६ सूरदास स्वामिपन तजिकै सेवकपन रस-भीन्यौ।" वही, पद ४४२।
"जा चरनारविन्द के रस कौ सुर-मुनि करत विवाद।
सो रस है मोहू कौ दुरलभ, तातै लेत सवाद।" वही, पद ६८२।
"नाहिन इतनौ भाग जो यह रस नित लोचन पट पीजै।
सूरदास ऐसे सुत कौ जस स्रवननि सुनि सुनि जीजै।" वही, पद ६२७।
"सूरदास प्रभु सिसुलीला-रस आवहु देखि नद-सुखधाम।" वही, पद ७७५।

७ "तरुनी स्याम-रस मतवारि।
महारस अग-अग पूरन, कहा घर कहू बार।" वही, पद २२४२।
"सूर स्याम कौ रूप 'महारस' जाकै बल काहू न डरें।" वही, पद २२५४।

८ दोउ रस-विरह मगन भए, निसि भई अगो हू।" वही, पद २५८१।
"सुनहु सूर प्यारी-हृदय रस-विरह उपाऊ।" वही, पद २७६३।

विरह तो प्रेमरस को परिपक्व बनाने वाला है।[1]

इस मधुर रस मे राधा गुण-सागर है, कृष्ण रस-सागर। दोनो का मिलन दो सागरो का मिलन है।[2] राधा और कृष्ण के मिलन और केलियो को वस्तुत इस मधुर-रस की साधना ही समझना चाहिए।[3] यह केलि-मय रस नित्य नूतन है अत चिर-नवीन है।[4] नवधा भक्ति को तो इस मधुररस-कमल की किंजिल्क ही समझना चाहिए।[5] इसमे काम और ज्ञान घुलकर एकाकार हो जाते है।

इस मधुरात्मक महारस का आस्वादन अनन्त रसो मे डुबकी लगाना है।[6] इसकी अनुभूति विगलित-वेद्यान्तर होती है जिसमे समस्त विकल्पात्मक अनुभूतिया विलीन हो जाती है।[7] रस की अनुभूति का काव्यात्मक निरूपण करते हुए एक स्थल पर सूर कहते है—जिस प्रकार अगाध जलराशि मे कच्ची गगरी डुबोने पर गल-घुल जाती है, उसी प्रकार इस श्याम-रस मे प्रमाता भक्त का मन डुबकी लगाते-लगाते गल-घुल जाता है।[8] इसीलिए तो इस श्याम-रस की सहज माधुरी रसिको के लिए सर्वोत्कृष्ट आस्वाद्य है।[9] इस रस सरिता मे डुबकी लगाने वाले को माया और काल व्यापते नही।[10] अत इस रस की अनुभूति माया-गुणो से ऊपर नित्य एव निर्मल है।

यह श्याम-रस काव्य-रस के समान अल्पकालिक अनुभूति नही। साथ ही लौकिक दृष्टि से भी इसकी अनुपयोगिता नही। इस रस को एक बार चख लेने वाले व्यक्ति को मणि और काच मे, शीत और उष्ण मे, सुख और ताप मे गहरा सामरस्य प्राप्त हो जाता है और वह उस आनन्द-निधि मे जाकर समा जाता है जहाँ से लौटकर विषय-रस के छीलरो के लिए उसे फिर न भटकना पडे।[11]

इस प्रकार सूर की दृष्टि मे रस-तत्त्व सगुण, लीलामय, परम प्रेम-स्वरूप श्रीकृष्ण है। इसका दर्शन-सेवन-श्रवण-गान किसी भी भाव से किया जाय, अपने मे रसात्मक है। इस रस का सर्वोत्कृष्ट रूप है मधुर रस जिसे 'महारस' कहा जा सकता है। यह रस ब्रह्मानन्द मे

---

१ ऊधौ, बिरहौ प्रेम करै।" वही, पद ४६०४।

२ "सुन्दरता रस गुन की सीवा सूर राधिका स्याम।" वही पद १६६३।

३ "गुन-सागर और रस-सागर मिलि मानत सुख-व्यवहार।" सूरसागर, पद १३०५।
"सूर स्याम-स्यामा नव रस रमि रीझें नन्दकुमार।" सूरसागर, पद १३०५।
"सँग खेलत दोउ झगरन लागे, सोभा बढ़ी अगाधा।
मनहु तडित-घन इन्दु-तरनि ह्वै बाल करत रस-साधा।" वही, पद १३०३।

४ "नवलगुपाल नवेली राधा, नये प्रेमरस पागे।" वही, पद १३०४।

५ "जह किंजिल्क भक्ति नव लच्छन, काम-ज्ञान रस एक।" वही, पद ३३९।

६ "अतिहि मगन महा मधुर रस, रसन मध्य समाहि।" वही, पद ३३८।

७ निसि-दिन स्याम सुमिरि जस गावै, कल्पन मेटि प्रेम-रस माचै।" वही, पद ३५४।

८ "पुलकित सुमुखी भई स्यामरस।
ज्यों जल में काची गागरि गिरि।" वही, पद ७३८।

९ "सूर स्याम-रस सहज माधुरी रसिकनि कौ अवलेह।" वही, पद ४६३६।

१० "माया-काल कछू नहिं व्यापै, यह रस-रीति जो जानै।" वही, पद ४०।

११ "यह व्रत धरे लोक में बिचरै सम करि गनै महामनि काचै।
सीत-उष्ण सुख-दुख नहि मानै, हानि लाभ कछु सोच न राचै।
जाइ समाइ सूर वा निधि में, बहुरि न उलटि जगत में नाचै॥" सूरसागर, पद ३५४।

उत्कृष्ट एव योगियो के लिए अगम्य है। मधुर रस मे ज्ञान और काम घुलकर एकाकार हो जाते है।

सूर के अनुसार इस रस की अनुभूति निर्विकल्प, विगलित-वेद्यान्तर एव विश्व के प्रति सामरस्य-प्रदायिनी होती है। इसकी अनुभूति मे लीलामय कृष्ण ही उद्‌भासित होता है। उसके प्रति चरम आकर्षमय रति का ही रसिक भक्त आस्वादन करता है।

परमानन्ददास

परमानन्ददासजी की दृष्टि मे भी 'रस' भगवल्लीला-गान ही है।[१] इसी लीलाकथा-रस का आस्वादन शुक ने भागवत के रूप मे किया है।[२] यह लीला-रस मगलमय है, आनन्दमय है।[३]

यह रसात्मक लीला-गान जिन कृष्ण का है वे आनन्द की निधि है, प्रेरमरस के सागर है।[४] लीला-रसिक कृष्ण का पूर्ण रसात्मक रूप है केलि-विलासमय। वे मूर्तिमान् शृगार है। शुक के द्वारा गाया हुआ यह रस-तत्त्व राधा के उर मे समाया हुआ है।[५] यह सुरतरस-रगी और केलिरस-भीगा है।[६] रसमयी राधा के साथ केलि-विलास ही इस रस का मूर्त एव व्यक्त रूप है।[७] परमानन्ददासजी ने राधा, कृष्ण, उनके केलि-विलास, प्रेम एव काम-प्रेम के उमग-उल्लासो के लिये अनेक बार 'रस' शब्द का प्रयोग किया है।[८] गोपियो को यह रस तत्त्व बत-

---

१. "यह अवतार बाललीला-रस परमानन्दहि भीनौ।" परमानन्दसागर, पद १४।
"परम रहसि गिरिवर रस लीला जन परमानन्द गावत।" वही, पद ७२१।
"मदनमोहन-राधा रस लीला कछु परमानन्द गाई।" वही, पद ४३६।
"कछू यक रस परमानन्द गावै।" वही, पद ४५५।
२ "जैसे सुक नारद मुनि ज्ञानी यह रस अनुदिन पीवत।
आनन्दमूल कथा के लपट या रस ऊपर जीवत।" वही, पद ८६६।
३ "मगल स्रवन, कथारस मगल।" वही, पद ५८७।
"मगल मगल गोवर्धनधर, मगलमय रसलीला सागर रसपूरित भावम्।" वही, पद ५८८।
४. आनन्द की निधि नदकुमार।" वही, पद ३१।
"लीलासागर गिरिधरलाल।" वही, पद २२६।
"वे रसपुज नदजू की जीवनि।" वही, पद २४५।
५. "जो रस कीरमुनि गायौ।
सो रस रसिक दास परमानन्द ब्रषभान सुता उर माझ समायौ।" परमानन्दसागर, पद, ४५३।
६. "परमानद स्वामी नट-नागर विनोद सुरत रस रगी।" वही, पद २४१।
"अतिहि चपल सुखदायक निसिदिन रहत केलिरस ओद।" वही, पद ८४।
७ "राधा भाग सौं रस-रीति बढी।" वही, पद २४३।
"परमानन्द रसिक उर जानत बाढत रस की रेलैं।" वही, पद ३८५।
"मदन महोछव फाग मनोहर रतिरस फागुन मास।" वही, पद ४०१।
"परमानन्द प्रभु सुरत सने रस मदन नृपति की सेवा लूटी।" वही, पद ४०६
"नद कौ लाल सग राधा के करत रग रस ख्याल।
विविध विनोद करत रस-क्रीडा सिज्या फूल गुलाब।" वही, पद ६८२।
"प्रौढे रग-महल ब्रजनाथ।
रंग रस की करत बतिया राधिका लै साथ।" वही, पद ६१०।
८ उपर्युक्त पद।

रस, कन-रस, अखि-रस, रति-रस आदि अनेक रूपो मे मिलता है ।[1] इसी मूर्त रस के लिए उनका मन सदा लुभाया रहता है ।[2] यह वस्तुत उनका ही प्रेम-रस है ।[3] परमानन्ददासजी इसी रस के लोभी है[4] जो अमल है, महामगलमय है ।[5]

इस रस की अनुभूति मे दैहिक अनुभवो की पूर्ण विस्मृति है ।[6] इस रस-सागर मे जो एक बार डूबा, लीन हुआ ।[7] व्यक्तित्व का विगलन रसानुभूति की विशेषता मानी गयी है । सागर से रूपान्तर प्राप्त कर मेघ बनता है, फिर उसकी वर्षा सागर मे पड कर उसी मे घुल-मिल जाती है । कृष्णरस मे डूबने वाले का भी यही हाल है

"परमानन्द प्रभु प्रेम समुद मे ज्यो जलधर की बूँद समानी ।"[8]

मुरली को रस-रूप एव रस-स्वभाव कह कर परमानन्दजी ने रस का बाह्यवृत्ति-निरोधक प्रभाव इन शब्दो मे अकित किया है

"मदन गोपाल बेनु बजावत मोहन नाद सुनत भई बावरी ।
बछरा खीर पीवत थन छाड्यौ दाँतन तृन खडित नहिं गावरी ।
अचल भये सरिता मृग पछी खेवट चकित चलत नहिं नाव री ।
कमल नयन घनस्याम मनोहर सब विधि अकथ कथा है रावरी ।
परमानद स्वामी रति-नाइक यह मुरली रस-रूप सुभाव री ।"[9]

इस प्रकार परमानन्दजी के अनुसार रस-तत्त्व लीला-क्रीडा-मय कृष्ण है । उनकी किशोर-केलियाँ ही नही, सख्य और बाल-क्रीडाए भी रस-रूप है ।[10] इस रस की अनुभूति बहिर्वृत्ति-निरोधक एव मगलमय है ।

---

१ "यातैं माई भवन छाडि बन जैये ।
अखिरस कनरस बतरस सबरस नदनदन पै पैये ।" वही, पद ७१० ।
"प मानद स्वामी के सगम रतिरस मगन मुदित व्रजनारी ।" वही, पद ३७१ ।
"समय रूप अनूप विराजित गोपवधू-उर सीतल चदन ।
नैननि में रस, चितवनि मे रस, बातनि में रस ठगत मनुज-पसु ।
गावनि में रस, मिलवनि में रस, वेनु मधुर रस प्रगट पावन जसु ।" वही, पद ४५६ ।
"गोपिन के रस देतन ।" वही पद ३४४ ।

२. "वदन कमल मधुकर ज्यौं अटक्यौ, रस-लुब्ध्यौ मन मोर ।" वही, पद ४१८ ।
"परमानद प्रभु रस-अटक्यौ बाध्यौ है सखी मदन कौ बेरौ ।" वही, पद ४०८ ।
"परमानद स्वामी रस अटकी गीधौ दिन-प्रति आवति ।" वही, पद ४२१ ।

३. "बातें कहत प्रेमरस बाढ्यौ नैन रहे अरुझाई ।" वही, पद ४७६ ।
"परमानद प्रभु चतुर सिरोमनि व्रज-बनिता प्रेमरस भीनी । ' वही, पद ७१५ ।
"गोपी-नैन-भृग रस-लपट उडि-उडि परत वदन माही ।" वही, पद १४३ ।

४. "परमानददास रस लोभी अति आतुर कहै जाही ।" वही, पद १४३ ।

५ पद ५४२, ४६० वही ।

६ "इकटक रही सभार न तन की मोहन सूरति पेखे ।" परमानदसागर, पद १४१ ।

७. "परमानद प्रेम रस सागर मह पर्यौ सो लीन भयौ ।" वही, पद ५१५ ।

८. वही पद ७३१ ।

९ वही, पद ७५० ।

१०. वही, पद २२५, ६१७, ८०४ ।

कुम्भनदास

कुम्भनदासजी ने रस-शब्द का प्रयोग अधिकत राधा-कृष्ण की काम-केलि, विलास-क्रीडामय प्रेम एव तत्सम्बन्धी उल्लास-आनन्द के लिये किया है।[१] इन अर्थो मे उनके शब्दो मे काम ही आनन्दमूर्ति या रस है।[२]

कृष्ण स्वरूपत मूर्तिमान् रस है। उनके बालरूप की माधुरी का भी रसात्मक आस्वादन होता है, किशोर रूप का भी।[3] अपने मधुर रूप मे व्यक्त यह कृष्ण-रस वर्णनातीत है।[४] इस रस का आस्वादन भावुक रसिक भक्त ही कर सकते है, अरसिक लोग नही।[५] इसके लिये हृदय का प्रेम चाहिए।[६] प्रेमी भक्त एक बार इस रस को चख कर छोडता नही। मृग की भाति इसके सगीत की तान पर मुग्ध हो जाता है।[७] आरूढ आसक्तिमय प्रेमी इस मधुर रस-राशि पर अपना मन लुटाये रहता है।[८] प्रेमी इसकी आनन्दमय अनुभूति होने पर विवश होकर झूम उठता है, पग डगमग पडने लगते है, वह सर्वात्मना डूब जाता है।[९]

---

१ कुम्भनदास, पद-सग्रह।
"कुचनि अचल ढाकि लगी मोतिन पाति भरे रस-कलस दोऊ मदन ललचाति है।
नेकु रस चाहिए अचल के कलस कौ कृपा करि प्यारी अब कहा कछु बाति है।" १४
"अद्भुत रस-केलि निरखि मदन मान हारि रह्यौ।
मुरली अधर गुजत रसरग धामिनी।" वही, पद ४५।
"स्यामा-स्याम उमगि रस-भरिया अबर लपटे गातनि।" वही, पद ९९।
"कुम्भनदास प्रभु गोवर्धनधर अधर सुधारस पाऊगी।" वही पद, १३७।
"जब अपने रस गूढ भाव की कछुक जनावति सैन।
कुभनदास प्रभु गोवर्धनधर जुवतिन मन हरि लैन।" पद १४४।
"कुभनदास गिरिधर रस अटकी अनि मरजादा पेली।" वही, पद १९७।
"कुभनदास गिरिधर रस लोभी भलौ नै आरज पथ पार्यो।" वही, पद १९८।
"नदनदन वृषभान-नदिनी रति-रस रग सनी।" वही, पद २०४।
"सकल रयनि रतिरस रग खेलत पलक सौं पलक लागन न दियौ।" वही, पद ३१०।
कठ लागि दै भुजा सिरहाने रसिकलाल को अधर सुधारस पियौ। वही, पद ३१०।
"करत केलि मिलि कुज भवन में पिय-प्यारी रस-रग भरे।" वही, पद ३८७।
२ "आनदमूरति काम।" वही, पद ११७।
३ "राखी बाधति है नदरानी।
कुभनदास गिरिधर के ऊपर रसबस बारति पानी।" वही, पद १२६।
४ "कहा कहौं रस बढ्यौ परस्पर त्रिभुवन बरन्यौ न जाई।" वही, पद ८०।
५ "या रस कौं अनरस नहि जानत, जानत है हित ही कौ।" वही, पद २०३।
६ "कुम्भनदास गिरिधर कौ ध्यान उर और रुचिर रस फीकौ।"
७ "रस-लुबुधक इक निमिष न छाडत ज्यौं अधीन मृग जानैं।
कुभनदास सनेह मरमु इहि गोवर्धनधर जानै।" वही, पद २१३।
८ "बढ्यौ रग सु अग स्यामा चित्त हावभावनि लुटै।" वही, पद ४३।
९. "परत पग डगमग बिबस-रस।" वही, पद ४३।

रास और विविध केलियाँ कुम्भनदासजी के अनुसार इसी रस का प्रकाशन है। राधा का सौन्दर्य, उनका नख-शिख एव समूची शृगार की सामग्री इसी रस की विविध गतियाँ है

"मोहनराइ लगाइ लीनी छतियाँ।
चचल चपल मृगनैनी राधे बोली मधुर सब बतियाँ।
नख-शिख रूप अनूप विराजित, ए सब रस की गतियाँ॥"[1]

इस प्रकार कुभनदास के अनुसार काम-विलासमयी लीलाओ का आगार श्रीकृष्ण है। उसकी समस्त शृगारात्मक क्रीडाए एव तदनुरूप सामग्री सभी रसात्मक है। इस रस का गान भी रसात्मक है। इसकी अनुभूति मे अनिर्वचनीय तल्लीनता है। रसोपासना मे मधुर ही कुभनदासजी के अनुसार सर्वश्रेष्ठ रस है।

नन्ददास

नन्ददासजी के अनुसार रस-तत्त्व श्रीकृष्ण है। ससार मे जहाँ भी जिस किसी रूप मे आनन्द या रस दिखायी पडता है, सब उसी रस-सागर का जल है। इस प्रकार वह रसमय तत्त्व अखिल विश्व मे नाना रूपो मे स्थित होने के कारण विश्वरस का कारण भी है। अत जो कोई भी, कही भी, किसी रूप मे आनन्द का आस्वादन करता है या आनन्द का वर्णन करता है, उसी परम रस-तत्त्व का आस्वादन या वर्णन करता है।[2]

यो प्रेम के लौकिक रूप भी उसी रस-तत्त्व के रूपान्तर है। तथापि प्रेम उस रस-निधि कृष्ण से ही करके शोभित होता है। प्रेम उसी की अभिव्यक्ति है, उसी के साथ सम्बद्ध होने मे उसकी शोभा है।[3]

अत भक्तिरस का काव्यपरक अर्थ है हरिलीला-गान। यह हरिलीलारस ही काव्य का एक सच्चा रस है। जिस काव्य मे यह रस नही वह काव्य नही, भित्ति चित्रण भले हो।[4]

रस स्वरूपत प्रेम-तत्त्व है जो 'प्रेम-धुजा' गोपियो के सम्बन्ध से व्यक्त हुआ है। गोपी-कृष्ण के बीच क्रीडा-विलास के रूप मे अभिव्यक्त प्रेम ही रस का उत्कृष्ट रूप है। यह रस आपाततः एव क्रियात कामरूप है, पर काम नही है।[5] काम न होकर, यह शुद्ध प्रेम-

---

१ 'कुम्भनदास' पद २९५।

२. नमो नमो आनन्दघन सुदर नदकुमार। रसमय रस कारन रसिक, जग जाके आधार॥
है जो कछू रस इहि ससार। ता कहु प्रभु तुम ही आधार॥
ज्यौ अनेक सरिता जल बहै। आनि सबै सागर में रहै॥
जग में कोउ कवि बरनौ काही। सो जसु रस सब तुम्हरी आही॥"
नन्ददास-ग्रन्थावलि रसमजरी पृ० १४५।

३. "ऐसेहि रूप प्रेम रस जोहै। तुम तैं है तुम ही करि सोहै॥
रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव कौ निधरक बरनौ ताहि॥" वही, पृ० १४५।

४ "तुव जस रस जिहि कवित न होइ। भीत्ति-चित्र सम चित्र है सोई॥" वही, पृ० ११८ रूपमजरी।

५. "सकल शास्त्र सिद्धान्त परम एकान्त महारस।
जाकै रचक सुनत गुनत श्रीकृष्ण होत बस॥" श्रीकृष्णसिद्धान्तपचाध्यायी, पृ० ४८, नद० ग्र०।

रस है।[1] प्रेम-रूप होने के कारण इसका स्थायी भाव रति कहा जा सकता है। इसका परम एकान्त मधुर रूप शृ गारमय है और इसी रूप मे यह परम-रस या महा-रस कहा जा सकता है।[2]

यह प्रेम-रस अनिर्वचनीय आनन्द है।[3] मेघ की तरह सघन घुमड कर बरसने वाला है।[4] यह मोहक, द्रावक एव स्तम्भक है।[5] पर स्वय र्नतित, चेतन एव क्रीडामय है।[6] रस स्तब्ध सागर नही, तरगायित प्रेमाब्धि है।[7] नदी की धारा की भाति गतिमत् एव अबाध्य है।[8]

ज्ञान की चरम दशा और प्रेमरस की चरम दशा एकसी है। प्रेम-तत्त्व कृष्ण के समान ही सघन सच्चिदानन्द है[9], अखड चिद्रूप है,[10] परा से भी इस कारण उत्कृष्ट है कि अत्यन्त निर्वृ त्त होते हुए भी अत्यन्त रमणीय भी है।[11] यह प्रेम रगीला है और कृष्ण-वशीकारी है।[12] कृष्ण इस प्रेम से अपने लीलामय रूप मे प्रकट होता है।[13] अत प्रेम और रस या प्रेम और कृष्ण अभिन्न है।

"तैसेंइ गोपी प्रथम काम अभिराम रसी रस।
पुनि पाछैं नि सीम प्रेम जिहि कृष्ण भए बस।।" वही, पृ० ४६।
"तैसेहि ब्रज की बाम कामरस उत्कट करिके।
शुद्ध प्रेममय भईं लईं गिरिधर उर धरिकै।।" वही, पृ० ४६।
"जे पडित शृगार ग्रन्थ मत यामें मानै।
ते कछु भेद न जाने, हरि को विषयी मानैं।।" वही, पृ० ४१।

१ "शुद्ध प्रेम मय भईं, लईं गिरिधर उर धरि कै।" नददास ग्रन्थावली, श्रीकृष्ण सिद्धान्तपचाध्यायी, पृ० ४६।

२. "सकल शास्त्र सिद्धान्त परम एकान्त महारस।" वही, पृ० ४६।

३ "सो रस कैसे बरनि सकै कह ऐसो को कवि।" वही, रासपचाध्यायी, पृ० २३।
"यह अद्‌भुत रसरासि कहत कछु नहिं कहि आवै।" वही, पृ० २४।

४ "मनो सघन अनुराग धरा उमडत घुमडत रस।" वही, पृ० ३३।

५ "अद्‌भुत रस रह्यौ रास, गीतधुनि सुनि मोहे मुनि।
सिला सलिल ह्वै चली, सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि।" वही, पृ० २३।

६ "कुहिकि कुहिकि मनो नाचत मजुल मोर भर्‌यौ रस।" वही, पृ० ३३।

७ "कमलनैन प्रिय कौ हिय सुन्दर प्रेम समुद जस।
पूरन शशितनु निरखि हरषि बाढ़ी तरग-रस।" वही, श्रीकृष्णसिद्धान्तपचाध्यायी, पृ० ४०।

८ "नाहिन रुकी रस-धुकी जाय सो मिली तहा सब।" वही, पृ० ४०।

९ "सघन सच्चिदानन्द नन्दनन्दन ईश्वर जस।
तैसेइ तिनके भगत जगत में भये भरे रस।" नं० ग्र०, श्रीकृष्ण सि० पं०, पृ० ३९।

१० "जैसोइ कृष्ण अखंड रूप"। वही, पृ० ४५।

११ "सुन्दर अति निरवृत्त परा तें इती बडाई।" वही, पृ० ४०।

१२ रसबर को रस प्रेमरस जाके बस बलबीर।" वही, अनेकार्थमंजरी, दोहा ११९। पृ० ६४।

१३ "जदपि अगम तें अगम अति निगम कहत हैं जाहि।
तदपि रंगीले प्रेम तें निपट निकट प्रभु आहि।" रूपमंजरी, छंद ५३४, पृ० १४३।

विरह इस प्रेम-रस का उच्छलन है और वह भी आनन्दमय है ।[१] यह प्रेम-रस अपनी विशुद्धता के कारण ही 'उज्ज्वल रस' कहलाता है ।[२]

यह प्रेमरस लक्ष्मी को भी अप्राप्य है ।[३] शेष इसका गान करने मे असमर्थ है, शिव इसका अन्तर्मुखी ध्यान करते है, शारदा को यह अत्यन्त प्रिय है ।[४]

गोपी-कृष्ण के बीच उद्भासित होने वाला यह लीला-रस समस्त रसो का सार है ।[५] यह रसात्मकता की परम अवधि है ।[६] यह 'परम कान्त एकान्त भक्ति-रस' है ।[७] यह केवल हरिलीला-गान से ही प्रेमी भक्तो को उपलब्ध होता है ।[८]

यह गोपी-कृष्ण का प्रेमरस, जिसे रासरस, प्रेमरस, सुरतिरस, लीलारस जैसे अनेक शब्दो द्वारा वर्णित किया जाता है, नन्ददासजी के शब्दो मे 'रस-वस्तु' है जिसका आस्वादन रसिक भक्त करता है । इसकी अनुभूति के लिये भावक-हृदय मे अभीष्ट सरसता आवश्यक है । नन्ददासजी उसका निरूपण इन शब्दो मे करते है

"परम प्रेम-पद्धति इक आही । नन्द यथामति बरनी ताही ॥
जाके सुनत गुनत मन सरसै । सरस होय रस-वस्तुहि परसै ॥
रस परसे बिनु तत्त्व न जानै । अलि बिनु कवलहि को पहिचानै ॥"[९]

"भगवत्प्रेम-गान सुनने-गुनने से सरसता आती है । सरसता आने पर ही हृदय रस-वस्तु का स्पर्श कर सकने की क्षमता पाता है । जब तक हृदय सरस होकर रस-वस्तु मे नही डूबता, रस-तत्त्व को नही पा सकता । अत सरस हृदय ही रस का आस्वादन करता है । भौरे के बिना कमल-रस की सच्ची पहचान किसे हो सकती है ।"

'आछै हिय' अर्थात् सहृदय-हृदय मे ही कवि की रसमयी वाणी और तरुणी के कटाक्ष सु-अग लगते हैं :

"कवि अच्छर अरु तरुनि कटाछै । दोऊ सुलग लगै हिय आछै ।"[१०]

---

१ "कृष्ण-विरह नहि विरह प्रेम-उच्छलन कहावै ।
निपट परम सुखरूप इतन सब दुख बिसरावै ।" श्रीकृष्णसि० प० वही, पृ० ४३ ।

२ "व्रजदेविन कौ शुद्ध प्रेमरस प्रगट करन हित ।" वही, पृ० ४७, छद ५१ ।
"यह उज्ज्वल रसमाल कोटि जतनन करि पोई ।
सावधान ह्वै पहिरौ यहि जिनि तोरौ कोई ।" रासपचाध्यायी, छद ४०, पृ० २५
"उज्ज्वल प्रेम उजागर, सब गुन आगर नागर ।" वही, पृ० ३४, छद ६१ ।

३ "जदपि पद-कमल अमल कमला सेवति निसिदिन ।
यह रस अपनै सपनै कबहु नहि पायौ तिन ।" वही, पृ० २४, छद ३३ ।

४ रासपचाध्यायी, पृ० २४, न० ग्र०, छ० ३०-१ ।

५. "सब रस कौ निर्तास रासरस कहिए सोई ।" रासपचाध्यायी, पृ० ३६, छद १२ ।

६ "यह लीला गोपाल की परम रसावधि ।" वही, पृ० ३७, छद ११६ ।

७ "हरिदासन कौ सग करै हरिलीला गावै ।
परम कान्त एकान्त भगतिरस तौ भल पावै ।" वही, पृ० ३७, छद ११८ ।

८ वही, पृ० ३७, छद ११८ ।

९ रूपमजरी, पृ० ११७, न० ग्र० ।

१० वही, पृ० ११८ ।

यह भक्ति-रस के आस्वादन के लिए अपेक्षित सहृदयता नन्दनन्दन के ढरने पर ही मिलती है ।[१] अत यह परम रस उन्ही भावुक रसिको से कहने-सुनने की चीज है जो श्रद्धा-युक्त होकर आस्तिक एव प्रेमधर्मानुयायी है ।[२]

रसानुभूति मे आत्म-विगलन होता है, मन इसमे डूबकर और डूबता ही चला जाता है जैसे चहले मे पडा हाथी ।[3] इस रस की अनुभूति मे एक मादकता, एक मस्ती होती है । साथ ही होती है एक विस्मृति जिसमे सब-कुछ भूल जाता है ।[४]

हरिरस सगुण-साकार है । अत भावक की मनस्तृप्ति ही नही करना, इन्द्रिय-तृप्ति भी करता है । मन मे मतवालापन, आँखो मे रूप का खुमार, कानो मे नाम की गूज, तात्पर्य यह कि रसानुभूति मे आत्म-व्यक्तित्व की सर्वतोभावेन डुबकी है ।[५]

भक्ति-रस 'अमीरस-सरोवर' है, मोक्षादि के सुख इस पर निर्भर करते है ।[६] काव्य मे यही रसमय ब्रह्म प्रकट होता है तो काव्य रसमय बन जाता हे ।[७] इस प्रकार के काव्य की रचना कोई सरस कवि ही कर सकता है, वह भी रसमयी सरस्वती की कृपा से ।[८]

रसमयी वाणी हृदय पर अवश्य प्रभाव डालती है । जिस हृदय पर इसका प्रभाव न हो उसपर फिर अर्जुन का बाण भी चोट न कर पायेगा ।[९] इसीलिए कवि की कामना रहती

---

१ कब मो पर नन्दनन्दन ढरिहै । मधुर कटाक्ष चितै रस भरिहैं ।'' भाषादशामस्कन्ध, पृ० ७७० ।

२ ''हीन असर्ध निदक नास्तिक धर्म बहिर्मुख । तिनसौं कब्हु न कहै, कहै तौ नहिन लहै सुख ।
भगवत-जनन सो कहु जिनके भागवतधरम ब्ल । ज्यौं जमुना के मीन लीन नित रहत जमुन-जल ।।''
रास० प० पृ० २४, छन्द ३७-८ ।

३ ''गड्यौ जु मन पिय प्रेमरस क्यौं हू निकस्यौ नाहि ।
कुजर ज्यौ चहलैं पर्यौ छिन छिन अधिक समाय ।'' रूपमजरी, पृ० १२७ ।

४ ''ताकै रूप अनूप रस हौ बौरी मेरी आलि ।
आज तनक सुधि परन दै सबै कहौंगी कालि ।'' रूपमजरी, पृ० १२९, छद २४५ ।
''भूत छिपे मदिरा पिये सब काहू सुधि होय ।
प्रेम सुधारस जो पिवै तिहि सुधि रहै न कोय ।'' वही, पृ० १३८, छन्द ४२३ ।

५. ''हरिलीलारस मत्त मुदित नित विचरत जामैं ।'' रासपचाध्यायी, पृ० ३ ।
''कृष्ण रसासव पान अलस कछु धूम घुमारे ।'' वही, पृ० ३ ।
''स्रवन कृष्न रस भवन ।'' वही, पृ० ३ ।
''हिय सरवर रस पूरि चली मनु उमगि पनारी ।'' वही, पृ० ४ । छद १० ।

६ ''तुम्हारी भगति अमीरस सरवर । मोक्षादिक जाके सब निर्भर ।'' भा० दशमस्कन्ध, पृ० २६१ ।

७ ''जो कोउ जोति ब्रह्ममय रसमय सबही भाइ ।
सो प्रगटित निज रूप करि इहि तिसरे अध्याय ।'' भाषा दशम स्कन्ध पृ० २३१ ।

८. ''रसमय सुरसुति के पग लागौ । अस अच्छर द्यौ इहि वर मागौं ।
सुन्दर कोमल वचन अनूठे । कहत सुनत समुझत अति मीठे ।
नाहिन उघरे गूढ न ऐसे । मन हठ देस बधू कुच जैसे ।।'' रूपमजरी, पृ० ११८, छद २३-२५ ।

९. ''जो हिय अच्छर-रस नहि भिदै । सो हिय अर्जुन बान न छिदै ।
कवि तौ तेइ पाहन सम मानै । नहिन पखान पखान बखानै ।'' वही, पृ० ११८ ।

है कि उसकी रसमयी वाणी किसी सहृदय के ही कान पडे, नही तो उसकी वाणी को पश्चात्ताप करना होगा।[1]

यह हरिलीला-रस हिल्लोल लेता हुआ अगाध मिन्धु है।[2] निगमकल्पतरु का परिपक्व फल है जिसमे न बीज है न छिलका। है तो केवल रस, एकमात्र रस।[3]

चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदासजी के अनुसार श्रीकृष्ण रस-रूप है, रस-राशि राधा उसी रस-तत्त्व का अकुर है।[4] यो श्रीकृष्ण की प्रत्येक लीला, प्रत्येक रूप रसमय है, किन्तु ललित किशोर की ललित लीलाओ का रस तो महारस है। इसके आस्वादन से मन अपनी गति विसर जाता है।[5]

इस लीलारस मे काम और प्रेम एकरस हो गये है।[6] वस्तुत रतिक्रीडा से सयोग होने पर ही 'रस' का रग गहरा होकर व्यक्त होता है।[7] अत इस लीलारस मे स्वय श्रीकृष्ण आसक्त होते है।[8]

यह रस काव्यरसो के समान त्रिगुण-सम्पन्न नही, अगणित गुण-सम्पन्न है।[9] भाषा और सगीत का माधुर्य इसमे आनायास एव सहज अन्तर्निविष्ट है।[10]

श्रीकृष्ण अपने इसी मधुर लीलारस का वर्षण करते रहते है, रसिक भावक इसका

---

१ "पुनि कवि अपने मन में गुनै। मो कवित्त कोउ निरस न सुनै।
रस-विहीन जे अच्छर सुनही। ते अच्छर फिरि निज सिर धुनही।" वही, पृ० ११८।

२ "हरिलीला रस सिन्धु हिलोलै।" भा० द० स्क० पृ० २२६।

३ "निगम कल्पतरु कौ सुफल बीच न बकला जाहि।
कहन लगे रस रगमगे सु दर श्रीसुक ताहि।" भा० द० स्क० पृ० २२०।
"निगमकल्पतरोर्गलित फलम्" इत्यादि श्रीमद्भागवत।

४ 'रूपराशि रसराशि रसिकिनी नव अकुर अनुरागमई।" चतुर्भुजदास, पद १७।

५ "उतहि समाज गोपाल सौ भरे महारस खेलैं।" वही, पद ८१।
"सुरग गुलाब अबीर फटे भरि भिरत महारस माते।" वही, पद ९२।

६ "रतिपति रसरग सहित तन निहारती।" वही, पद २८५।
"रतिरसपागे स्याम श्रीस्यामा स्रवन सुनत सुखकारी।" वही, पद ३२३।
"रतिरग-रस पलटाए बसना।" वही, पद ३३९।

७ "चत्रुभुज स्याम तमाल पर लपटी कनक बेलि।
मानौ रतिरन चढ्यौ प्रेमरग रसबोरें।" वही, पद २०७।

८ 'चत्रुभुज प्रभु लीलारस रीझत गिरिधरलाल रसिक-सिरमौर।" वही, पद १६५।
"क्रीडा-रस बस मगन, आनद उर न समाइ।" वही, पद ८०।
"खेलत अति रसभरे मगन मन नवल किसोर रु नवलकिसोरी।" वही, पद ९१।
"सुरग गुलाल अबीर फेंट भरि फिरत महारस माते।" वही, पद ९२।
"चत्रुभुजदास प्रफुलित राधा रस फूले गोवर्धनधारी।" वही पद ९९।

९ "अगनित गुन रस गान करति हैं।" वही, पद १३९।

१० मधुरे सुर कर बीन बजावैं।" वही, पद १३९।

पान करते है ।[१] यह रस मोहक एव ससार-गति का स्तम्भक है ।[२] इस मूर्त रस का पान करते तृप्ति नही होती ।[3] इसकी अनुभूति मे तन डूबता है, इन्द्रियाँ डूबती है, प्राण डूबता है । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय सब उसमे घुलकर तदाकार हो जाते है ।[४] श्रुति और आर्य-पथ की स्वीकृत मर्यादाएँ टूट जाती हैं ।[५] बस एक घनीभूत रस-वशता ही अनुभूति मे रह जाती है ।[६] इस अवस्था को चतुर्भुजदासजी ने 'रसभीनी' अवस्था कहा है । यह रसभीनी दशा अनिर्वाच्य है । ऐसा कौन समर्थ कवि है जो इसका वर्णन कर सके ।[८] इस रसिक रसराशि की यह रसभीनी अनुभूति परम दुर्लभ एव बडे सौभाग्य की बात है ।[९]

इस प्रकार चतुर्भुजदास के अनुसार रस-तत्त्व लीलामय श्रीकृष्ण है । अत रस एक साकार घनीभूत अनुभूति है जिसमे व्यक्तित्व का आत्म-विगलन है ।

गोविन्दस्वामी

गोविन्दस्वामी ने अपने काव्य मे अनेक बार रस शब्द का प्रयोग किया है, पर उन प्रयोगो से कोई विशिष्ट रस-सिद्धान्त नही झलकता । सक्षेप मे उनका जो गेय रस हे वह है कृष्णलीला-रस ।[१०] यह रस केलिमय एव परम पावन है । अकथ्य एव मगलकारी है । यह लीलारस बालकेलिमय भी है, किशोरकेलिमय भी ।[११]

---

१ "खसकि कचुकी, पिय सरसत परसत, बरसत रस दृग-कोरें ।" चतुर्भुजदास, पद १२६ ।
"रूपसुधारस पान करौ सादर कुमुद चकोर हो ।" वही, पद २४६ ।

२ चतुर्भुज प्रभु स्यामास्याम की नर्तनि देखि ।
मोहे खग मृग वन, व्योम थकित विमान ।" वही, पद ३१ ।
"रासरस गति निरखि उडुपति तजि पच्छिम चाल ।" वही, पद ३३ ।

३ "चतुर्भुज प्रभु गिरिवर कौ रूप-रस पिवत नयन पुट तृपिति न पावत ।" वही, पद १२७ ।
"नैन रूपरस भरे बारबार निहारि ।" वही, पद ८० ।

४ "स्याम सिन्धु में परौ प्रान कौ बेरौ ।" वही, पद २५६ ।

५ चतुर्भुज प्रभु गिरिधर रस अटकी श्रुति मर्यादा पेली ।" वही, पद २७५ ।

६ प्रेम-मगन रस-बस भई स्याम मनोहर नारि ।" वही, पद ६० ।

७ "गोवर्धन पूजि सबै रस-भीने ।" वही, पद ४७ ।

८ "चतुर्भुज प्रभु रस-रासि रसिक की बानक बरनै को ऐसो कबि ।" वही, पद १८८ ।

९ "चतुर्भुज प्रभु रसरासि रसिक कौ बडे भाग बल इकटकु पेखें ।" वही, पद ३५७ ।

१०. "लीलारस सुख निहारि तनमनधन प्रान वारि,
गोविंद प्रेम अखिल केलि जगत पावनी ।" गोविन्दस्वामी, पद ६५ ।
"गोविंद प्रेम इह रस कहा लौं बखानौं,
जोई करि रहत ध्यान सोई क्यौं न जानौं ।" वही, पद १४२ ।
"नदसुवन गोविंदप्रभु की यह लीला मगलकारी ।" वही, पद १४३ ।
"इहि लीलारस कहा लौं बरनौं निगम न पावै पारजू ।" वही, पद १७२ ।

११. "विविध केलि क्रीडत रसभीने सखा सग लिये लाल कन्हैया ।" वही, पद ५३२ ।
"निर्तत दोऊ भाई रग ।" वही, पद ३२८ ।

कृष्ण, राधा, गोपियाँ, राधा-कृष्ण के केलि-विलास, कामोल्लास सभी कुछ रसरूप है। गोविन्दस्वामी ने काम, प्रेम, आनन्द, उल्लास के मिले-जुले अर्थ मे अनेकश रस-शब्द का प्रयोग किया है।[1] इस रस मे माते राधा-कृष्ण, गोपियाँ सभी वर्णित है।[2] उधर राधा एव गोपियाँ कृष्ण-रसासव मे मत्त है, इधर कृष्ण भी रूप-रस छाके राधारस-लपट चर्चित है।[3] आनन्द-निधि कृष्ण मदनरस-लपट और दाम्पत्यरम-मूर्ति के रूप मे रास-रस मे निमग्न होते है, गोपियाँ इस चरम आनन्दमय रस का आस्वादन करती है।[4]

गोविन्दस्वामी की यह रस-दृष्टि मधुरोपासना का गहरा प्रभाव लिये हुए है।

छीतस्वामी

छीतस्वामी ने रसशब्द का अधिकाश प्रयोग गोविन्दस्वामी के समान ही काम, प्रेम, आनन्द, केलि, उमग के अर्थों मे किया है। नीचे के प्रयोग इस दृष्टि से देखे जा सकते है

१, २ "गोविद प्रभु करत वेलि भामिनी रससिन्धु केलि।" वही, पद ५२।
"जय जय सुर सब कहत आनदरस भीनी।" वही, पद ५२।
"उमगत रस अ्रंवभुजा नाचै स्यामा स्याम।" वही, पद ६१।
"नवल कुवरि व्रजराइ के लाल खेलत रसभरे भरे होरी हो।" वही, पद ११७।
"अति रसभरी व्रजसुन्दरी।" वही, पद १२५।
"वल्लभ खेलै हो अति रसरग भरे होरी।" वही, पद १३३।
"दपति अति रसभरे बाहजोरी बीनत कुसुम कालिदी तटा।" वही, पद १७२।
"रसरग केलिविलास लाल रग-भीने हो।" वही, पद २६१।
"च्यार पहर रसरग किये रग भीने हो।" वही, पद २६१।
"गजगति चाल चलति व्रजसुदरि लटकट स्याम रसमत्त पियारी। वही, पद ३६३।
"रसबस करत प्रेम की बतिया हसि हसि देत परस्पर तारी।" वही, पद ३१०।
"गौर स्याम तन अधिक विराजत अरस परस रस उमगि भरी।" वही, पद ४०३।
"जमुना पुलिन सुभग वृन्दावन गिरि गहवर रस-खेलि।" वही, पद ४०६।
"गोविन्द प्रेम रसबस करि तोरि तोरि जोरि जोरि अवलोकत।" वही, पद ४२३।
"गविन्द प्रभु रसमत्त परस्पर चले ही जहा-तहा कुज अधेरी गली।' वही, पद ५४२
"गोविन्द प्रभु प्यारी जु परस्पर रसमत्त लीन।" वही, पद ३११।
३ "स्याम सलोने अति रसलपट धसि पिय लीनी हाथ।" वही, पद ११५।
"रूपरस छाक्यौ कान्ह करत न काहू की कानि।" वही, पद ११६।
४. "स्रमकन वदन, मदनरस लपट राधा रसिकिनी नदकुमार।" वही, पद १९७।
"गोविद प्रभु दपति रसमूरति प्रेम स पागी।" वही, पद ४५७।
"गोविद प्रभु दपति रसमूरति दृष्टि सौं भरत अनवारी।" वही, पद ४६३।
"खेलत रास रस रसिक राधिका गुपाललाल।" वही, पद ६३।
"सानुराग क्रीडत रस उपजत भारी।" वही, पद ६३।
"रास-रस।" वही, पद ५२, ५७।

१ गिरिधर रस-बस करि लीने ।[1]
२ खेलत अति रस जु रह्यौ रसना नहिं जात कह्यौ ।[2]
३ पाइ परि द्वार पठै दये रस की रासि विचारि ।[3]
४ रसबस सुखरास रसरास ब्रजजन चित चोरै ।[4]
५ छीतस्वामी गिरिधर बने नटवर मानो जुवति-रसबस-फदनि ।[5]
६ गोवर्धनधारी लाल कीन्ही रस ही मे बस ।[6]
७ श्रीगोपेन्द्र गोपी सग, स्रमजलकन सिक्त अग,
अति तरग निरखि नैन रस-सुफदिनी ।[7]

इसके अतिरिक्त प्रेम-पद्धति, आनन्द की साकार अनुभूति, कथारस, नामरस, रासरस, भक्ति, भगवत्कृपारस, कृष्णरस आदि के रूप मे रस-शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[8]

इन प्रयोगो से कोई साक्षात् प्रकाश नही पडता । असाक्षात् रूप मे उनकी चर्चाओ से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनका रस-तत्त्व भी लीलामय श्रीकृष्ण है, जिसकी क्रीडा, विलास, लीला सब रसमय है । गोपी प्रेम आपातत कामरूप होकर भी काम नही, विशुद्ध प्रेम रस है । यह रस साकार आनन्द है । इसकी भक्ति भी परम मधुर एव रसमयी है ।

श्रीभट्टजी

युगल-शतक के ३८वे पद की निम्न पक्तियो के आधार पर श्रीभट्टजी के वर्णित रस की एक असाक्षात् रूप-रेखा बँधती है

---

१ छीतस्वामी, पद ५ ।
२ वही, पद ५३ ।
३. वही, पद ५७ ।
४ वही, पद ६३ ।
५ वही, पद ८४ ।
६ वही, पद १४६ ।
७ वही, पद ८१ ।
८ (क) "श्रीवल्लभ चरन सरन आइ सब सुख तू लहि रे ।
इनही के रूप-रग, इनही रस बहि रे ।" वही, पद १७४ ।
"या रस के प्रतिबन्धक जेते उनि बातनि अनदरि रे रसना ।" वही, पद १८५ ।
(ख) "नैन चकोर पीवत रस अमृत तन की तपति मिटाए री ।" वही, पद ३० ।
"देखन कौं जुरि आईं सबै तिय मुरली नाद सुधारस गटकति ।" वही, पद १३१
"अधर अमृत रस पीवति ध्यावति छवि क्रीडति तरंग ।" वही, पद १५८ ।
(ग) "जब लगि श्रीभागवत कथारस तब लगि कलजुग नाही ।" वही, पद ४२ ।
"श्रीविट्ठल नामरस अमृत प न सदा तू करि रे ।" वही, पद १८५ ।
(घ) "छीतस्वामी रस रास-रसिक कौ भाग बडे फल इकटक पेखु ।" वही, पद ८३ ।
(ङ) "पाइ परि द्वार पठै दये रस की रासि विचारि ।" वही, पद ५७ ।
(च) "छीतस्वामी गिरिधरन श्रीविट्ठल भक्तकृपारस भीनौ ।" वही, पद ६, ११२ ।

"निरखि हिताई दुहुन की हाव-भाव हिय धारि ।
सजि आरति वारति सबै प्रात मुदित सहचारि ॥
हिय मे हाव-भाव लिये थारा ।
रति घृत ज्योति रु बाति विहारा ॥
तन मन मुक्ता चौक पुरावै ।
आरति श्रीभट अमित प्रचावै ॥"[1]

इस पद के अनुसार विभिन्न रस-सामग्री को इस रूप मे रखा जा सकता है

विभाव—आलम्बन	युगल-प्रेम । दुहुन की हिताई ।
उद्दीपन	हाव-भावादि युगल-क्रीडाए, विहार-विलास
आश्रय—सहचरी-हृदय	हिय-धारा ।
स्थायी भाव—	रति

श्रीभट्टजी के उक्त पद मे आरती का रूपक है । सहचरी के हृदय रूपी थाल मे युगल-विहार की ज्योति और बत्ती तभी प्रकाशित होती है जब उसे सहचरी का रत्यात्मक स्नेह मिलता है । तब तन और मन का, अन्नमय और प्राणमय का चौक पुरा कर उसमे आराध्य को बिठा कर आरती उतारी जाती है । आराध्य रसमय कृष्ण-राधा तन-मन मे समा जाते हैं, उनका लीला-विहार हृदय मे ज्योतित होकर भर जाता है। यही श्रीभट्ट का रस है ।

श्रीभट्ट के इस रस के स्थायी भाव सहचरी-रति मे दम्पति के हित-करण की एक चाढ, एक लालसा होती है, उन्ही के सुख-विलास का दर्शन सहचरी की रसोपलब्धि है

"रस की रेलि वेलि अति बाढी ।
दम्पति की हित-बावरि विहरति, रहौ सदा मेरे चित चाढी ।"[2]

सहचरी का आस्वाद्य यही निकुज-रस है .

"सहचरि निरखि सुख हिय मे भरी हुलास ।
नव निकुज रस पुज छवि श्यामा-श्याम निवास ।"[3]

"श्रीभट्टजी के अनुसार रस की अनुभूति मे एक विवशता एव सर्वस्व-विगलनात्मक आनन्द है

"सर्वस तजि रस-वश भये नैन कोरे तन चाहि ।"[4]

सहचरी के उक्त आस्वाद्य रस का विभाव है युगल-रस । राधा और कृष्ण दोनो स्वरूपत रस-सिन्धु है,[5] तत्त्वत दोनो अभिन्न है। विश्वमूर्ति श्रीकृष्ण महारस है ।[6]

---

१ युगलशतक, पद ३८ ।

२ वही, पद ७८ ।

३ वही, पद ७४ ।

४. वही, पद ६४ ।

५ "श्रीवृ दाविपिनेश्वरी रस-सिन्धु विहारी ।" युगलशतक, पद ६६ ।

६ "महारसो विश्वमूर्ति श्रीकृष्ण शरण मम ।" श्रीकृष्णशरणापत्तिस्तोत्र श्रीभट्टकृष्ण श्लोक २२ । युगलशतक, पृ० ४६ ।

इनका प्रेम-विहार ही बत्ती और ज्योति के रूप मे सहचरी के हृदय मे उद्‌भासित होता है।

इस विभाव रस मे राधा कृष्ण की आस्वाद्य है, कृष्ण राधा के।[१] कृष्ण राधा-रस के लम्पट है और नाना केलि-क्रीडाओ के बहाने इस रस का आस्वादन करते है।[२] साथ ही वे इन केलि-क्रीडाओ को राधा को सुख देने के उद्देश्य से करते है।[३] राधा और कृष्ण जिस रति-केलि मे डूबे रहते है वह प्रेम-केलि नित्य है।[४] यह केलिरस परस्पर एक-दूसरे के वशीकरण का दृढ फन्दा है।[५]

जिस काम-प्रेम-मय केलि मे नव उमग-उत्साह मे युगल नित्य डूबे रहते है वह अन्य कुछ नही अपने रसमय स्वरूपामृत का ही आस्वादन है

"श्रीभट भटू कटाक्ष करन सौ युगल स्वरूप-सुधारस सेवै।"[६]

अत इस ललित क्रीडाशील युगल रस का स्वरूप श्रीभट्टजी के अनुसार इस रूप मे समझा जा सकता है

"मत्त प्रेमवश सदा एकरस विविध निकुज-निवासी।"[७]

इसी विभाव-रस की बत्ती एव ज्योति सहचरी की रति के घृत की शक्ति से चरम प्रकाशमयी एव आनन्दमयी होकर प्रकाशित हो उठती है, जिससे तन-मन सब झमझमा उठते है। यही रस है।

श्री हरिव्यासदेवाचार्यजी

श्री हरिव्यासदेवजी की 'महावाणी' श्री भट्टजी के 'युगलशतक' मे निहित सिद्धान्तो की व्याख्या समझी जाती है। महावाणी मे भी सहचरी-आस्वाद्य युगल-रस का प्रतिपादन किया गया है।

---

१ "मिलि कुज-महल गोप ल लाड प्यारे श्रीराधारस-वश जेवै।" यु० श० पद १७।
"राधारस-वश सावरो सरवसु दियौ प्यारे।" वही, पद ६४।
"प्रीति-रीति रसवश भये यदपि मनोहर मैन।" वही, पद ६८।
"श्रीभट हरिरसवश भई सुनि धुनि नैक भनक ही।" वही, पद १२।
"सावरे चन्द गोविन्द के रसभरी दूसरी कोकिला मधुर सुर बोलै।" वही, पद ६७।

२. "कहै श्रीभट नटवर रस-लपट प्रियतन हाथन डारी।" वही, पद ३६।
"दान-केलि मिस रस चखत श्रीभट श्रीगोपाल।" वही, पद ३६।

३ बहुत रूप धरि हरि प्रिया-मनरजन रस हेत।
मनमथ मनमोहन मिथुन मण्डल मधि छवि देत।" वही, पद २३।

४ "प्रेम-प्रवाह रसिक जन प्यारे कबहु न छाडत पास।" वही, पद १०।
"श्रीवृन्दावन खेलही रस-सिन्धु विहारी।" वही, पद ७७।
"सूघत सौरभ लिये कमल कर रतिरस प्रियतम प्यारी।" वही, पद १६।
"कनक कटोरे डारि नग पगे प्रेमरस जाल।
पै पीवत कै खेलही चून खेल दोउ लाल।" वही, पद २१।

५. वही, पद ५३—"श्रीभट प्रेमरस बन्धन क्यौ छूटै दृढ फन्द।"

६. वही, पद १७।

७. वही, पद ५।

चिदानन्द-घन रसमय वृन्दावन[१] मे रस-स्वरूप राधा और कृष्ण[२] की रसमयी विहार लीलाएँ नित्य चलती है। रसभरी रसीली रसिक राधिका और राधारस-लम्पट श्रीकृष्ण[3] की रसलीला काम-प्रेम का एकरस घोल है।[४] इस परस्पर रति-लीला के सागर मे न जाने कितनी भाव-तरगे उठती रहती है[५] और इसमे निरन्तर नित्य लीन रहने वाले रसिको को आनन्दित करती रहती है। नित्य लीन रहने पर भी रसिको को इस रस से तृप्ति नही होती।[६] इस केलि-क्रीडा की प्रत्येक तरग रसमय है, रसरूप है।[७] निम्न पद मे रस का यह रूप इस प्रकार वर्णित है

"विहरत जुगल दिये भुज-ग्रीवा।
सुन्दरता-सौभाग्य-सिरोमनि रस की रासि रूप की सीवा।
हाव-भाव आलिगन चुम्बन देत परस्पर प्रीतम प्यारी।
अति अधीर अनुराग बिवस दोउ सुरत-रग रग-रगे महा री।
रसमय रसिक रसीली भामिनि, रसमय रसिक रसीली केली।
रसमय रहसि निरखि हरषत हिये रसिक हितू हरि प्रिया सहेली।"[८]

इसी रसमयी काम-केलि के उल्लास-उमग मिलन-प्रेम सम्बन्धी विविध पक्षो को प्रकाशित करते हुए हरिव्यासदेवजी ने महावाणी मे रस शब्द का अनेकश प्रयोग किया है।

---

१ "जय श्रीवृन्दावन धाम। चिदानन्द घन पूरन काम।
मान विरह भ्रम कौ न लेस जहा रसिक त्रय कौ रसमय भौन।" महावाणी, पृ० १३३।

२ "राधाकृष्णमहं वन्दे रसरूपौ रसायनौ। वृन्दावननिकुजेषु नित्यलीला समाश्रितौ।"
सुरत-सुख वन्दना वही।

३. "रसिक रसीली रसभरी अलबेली सुकुमारि।" वही, सेवासुख।
"श्रीराधारमनी रसरूपा अमित अनूपा अग।" वही, सेवासुख, पृ० २७, पद १५।
"महामधुररस लालची" वही, पृ० ७४।
"केवल रस ही में रम्यौ री रसिया परम प्रवीन।
मैं हू ता विन कछू न मानत वाही रस लवलीन।" वही, उत्साहसुख, पृ० ७४, पद ४१।

४ "करत है दपति सुखसपति अति रसिक रसिकिनी रतिरस वेलि।" वही, सेवासुख, पृ० २६।
"मदन केलिरस मत्त मगन भये मन न समावत मोद।" सेवासुख, पृ० ३७, पद ४१।
"भुज सिरहाने दिये हिये सौं लगाये हिये प्रेमरस पिये पलकें लग गईं।" वही, पृ० ४३।
"श्रीहरि-प्रिया प्रेमरस-रजन सजन सुरति विहारे।" वही, पृ० ५६, पद २२, उत्साहसुख।

५ छिन छिन नव नव भाव-तरगनि अग अनगनि के सरसत।" सिद्धान्तसुख, पृ० १७५।
"पल पल में बढै चोज सहज सुरतिरग उपजत अति चाव-हाव-भाव-भृकुटिभग।" पृ० २४।
"वितवत दिन विलसत सुखहि इकरस भरे उमग।" सुरतसुख, पृ० १३६, पद ५०।
"याही रस में मगन निरन्तर नहिं जानत कित रजनी भोर।" वही, पृ० २६, सेवा० १६।

६, ७ "अति रसभीनी होरी हो।" वही, उत्साहसुख, पृ० ६५, पद ३१।
"जलक्रीडा-रस सौं दोउ सहज सुभग उर लागे।
सुरत सहित श्रीहरि-प्रिया अतन अग अनुराग।" वही, उत्साहसुख, पृ० ८२, पद ६५।

८. महावाणी, पृ० १४३, सुरतसुख, पद ७७।

यह 'मधुर रस' मिष्ट से भी मिष्ट है।[१] महा मधुररस लीलामय कृष्ण का कामरूपात्मक प्रोद्भास है।[२] यह रसामृत सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है।[३] रस नित्य प्रकाशरूप है, बाह्य क्रीडाएँ-चेष्टाएँ अग-अग मे प्रकट होने वाला उसी प्रकाशमय आनन्द-तत्त्व का प्रभास है।[४]

इस रस मे राधा-कृष्ण, सहचरी, वृन्दावन सब मूलत एक अभिन्न अद्वय तत्त्व होते हुए भी रसात्मक स्वरूप मे नित्य अलग-अलग व्यक्त होते है। प्रिया राधा आह्लादिनी शक्ति है, प्रिय कृष्ण आनन्द-स्वरूप है। वृन्दावन उनका स्थूल शरीर है, सहचरियाँ इच्छारूपा हे।[५] आनन्द की आह्लादिनी राधा है तो आह्लादिनी के आनन्द कृष्ण।[६] और इस प्रकार यह रस एक सरिता के रूप मे नित्य प्रवाहित होता रहता है।[७] इसी सरिता मे अवगाहन करने वाली रसिक-रस-रसी सहचरियाँ है।[८]

इस रस के आस्वादन के लिये एक विशेष प्रकार के सहृदय की आवश्यकता है। कामरूप मे भासित होने वाले मधुर रस की साधना अत्यन्त कठिन है। अत यह रस दुर्लभ से भी दुर्लभ है। हरिव्यासजी के अनुसार ऐसा दूभर रस हर एक के लिए प्रकाशनीय नही है, परिपक्व पात्र मे ही ऐसे सुन्दर पेय को रखना चाहिये। अन्यत्र विकृति की ही सम्भावना है

"महा मनोभव भासि भूलि जिनि देहु शठहिं कोऊ।
परम प्रेम परकाशि आस पद वास चहौ कोऊ।
परिपक भये भाजन बिना सुरग ढारि दीजिये कहा।
श्रीहरिप्रिया को सर्व विभव दुर्लभ ते दुर्लभ महा।"[९]

---

१ "श्रीहरिप्रिया को रहसि रस मधुर मिष्ट ते मिष्ट।" महावाणी, उत्साहसुख, पृ० १२८।

२ "महामृदुल महा मधुर मधु महा रहसि रसरासि।
महा सुखद सर्बेस की महा मनोभव भासि।" सुरतसुख, वही, पृ० १४९।

३ "सच्चिदानन्द रसामृत को त्यक्त करि अन्य याते कछु अधिक मानै।" वही, सि० सु०, १७१।

४ "नित्य रसरासि उल्लास आनद उर, नित्य प्रतिकाश, परभास अग अग।"
सिद्धान्तसुख, पृ० १७६, पद १०।

५. "प्रियाशक्ति आह्लादिनी, प्रिय आनन्द सरूप।
तन वृन्दावन जगमगै इच्छा सखी अनूप।" वही, सिद्धान्तसुख, पृ० १८४, पद १६।

६ "एक रूप सदा द्वै नाम।
आनन्द के आह्लादिनि राधा, आह्लादिनि के आनद श्याम।
सदा सर्वदा जुगल एकतन एक जुगल तन विलसत धाम।
श्रीहरि-प्रिया निरन्तर नित प्रति कामरूप अद्भुत अभिराम।" सि० सु०, पृ० १८६, पद २९।
"स्याम-स्यामा सहज सुन्दर काम-रति कमनीय।" सि० सु०, पृ० १८८, पद ३५।

७ "सरिता रस श्रृगार की रहनि सदा चहु ओर।
इक छत राज करै जु श्रीहरि-प्रिया जुगल किसोर।" सि० सु०, पृ० १८४, पद १६।

८. जय जय राधिका रसिक रसमजरी, रसिक-सिरमौर मोहन विराजै।
रसिकिनी रहसि रसधाम वृन्दाविपिन रसिक-रस-रसी सहचरि समाजै।" सि० सु०, पृ० १७४, पद ६।

९. महावाणी, सुरतसुख, उपसहार, पृ० १४१।

स्वामी हरिदासजी

स्वामी हरिदासजी के उपलब्ध पदो मे रस के ऊपर प्रकाश डालने वाली विशिष्ट शास्त्रीय चर्चा नही है। उनकी रस-परिकल्पना पर अगले अध्याय मे यथास्थान विचार होगा ही।

हरिदासजी ने रस-शब्द का प्रयोग अन्य मधुरोपासको के समान ही प्राय राधा-कृष्ण के केलि-विलास-मय प्रेम, सुरतजन्य आनन्द-उमग आदि के लिये किया है। वे सगीत के आचार्य थे, अत उनके पदो मे सगीत-शास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्द मिलते है, किन्तु युगल-रस की भावात्मक अनुभूति के प्रति उनका झुकाव था, उसके शास्त्रीय निरूपण की ओर नही। यदि यह झुकाव उनमे रहा होता तो सगीतशास्त्र की पारिभाषिक पदावली के समान काव्य-शास्त्र की भी पारिभाषिक पदावली यत्र-तत्र उनमे अवश्य मिलती।

हरिदासजी के अनुसार 'रस' प्रेम-प्राप्य है।[१] यह प्रेम निर्गुण के प्रति नही, सगुण कृष्ण के अन्य रूपो के प्रति भी नही, काम-प्रेममयी लीलाओ के अनुरागी रसिक कृष्ण के प्रति है। इस प्रेम-समुद्र मे रूप-रस की अगाधता है, जिसमे एक बार घुमकर घाट लगना कठिन है। अपने जानपने का दावा करने वाले लोग यो ही धूल मे मारते है।[२] ऐसा कौन सा कवि है जो राधा और कृष्ण के सौदर्य एव प्रेम को अकित कर सके ?[३] सामान्य कवियो की तो बात ही क्या, कोटि-कोटि रसिक कवि भी मिल जाएँ तब भी उस रूप निधि का शब्दाकन असम्भव ही होगा।[3]

नित्य-विहार के प्रेम-समुद्र मे राधा-कृष्ण दोनो सदा झागे-पागे रहते है।[४] छबीला रसिक कृष्ण काम-रस मे भोया रहता है[५] और राधा इस रसिक के रस मे प्रेमरस पान कर 'भोइ' गयी हैं।[६] रसद कृष्ण का आलिगन पाकर उनके अग-अग मे कामरस फूट पडता है।[७] यह रस व्यक्त होकर उद्दाम काम-केलि के रूप मे युगल के बीच नर्तित होता है।[८] कृष्ण इसी राधा-रस के वशीभूत है।[९] जब सगीत, नृत्य, रास आदि अन्य क्रीडाएँ चलती है तब भी प्रीति के बीच यही 'रहसि रसरीति' उभर कर आ जाती है और इसकी प्रेरणा से

---

१ "प्रेम सौ पाइयत रस सून री।" स्वामी हरिदासजी, पद ७०, केलिमाल।

२. "प्रेमसमुद रूपरस गहरे कैसे लागै घाट।
बेकारौ दै जान कहावत जानपने की कहा परी बाट।" वही, पद १८।

३ श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुजबिहारी की सोभा बरनी न जाय, जो मिलैं रसिक कोटि कवि।

४. "रग के समुद्र में दोउ झागे।" वही, पद २।

५, ६ "छबीलौ कामरस भोइल री।" "प्रेमरस पान करि भोइ गई।" वही, पद ४६।

७ "रसद श्रीहरिदास बिहारी अग अग मिलि अतन उदोत करत।" वही, पद १०६।
"परिरभन-रस रोरी।" वही, पद ३३।

८ "कुच की सुराही, नैननि के प्याले, दारू देहुगी यों अकों भरि।
अधरन च्वाइ लेउ सबरौ रस, तनिकौ न जानि देउ इत-उत ढरि।" वही, पद ७४।

९ "श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा-कुजबिहारी या रसबसभये हरैं हरैं सरकनि नेरी।" वही, पद २०।
" या रस ही बस भये, भई और की औरैं।" वही, पद ५४।

' "श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा-कुजबिहारी रसबस करि लीन।" वही, पद ५६।

वह क्रीडा अनन्त-रूपा हो जाती है।[1] परस्पर हास-विलास की गति मे रस-भीनी कुज-विहारी स्यामा-स्याम की यह जोरी अद्भुत है।[2] इस रस का वर्णन करने की क्षमता भला किसमे है ?

"श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुजविहारीजू कौ
रस रसना कहै को री ?"[3]

श्री विट्ठल विपुलदेवजी

श्रीविट्ठलजी की दृष्टि मे भी रस है युगल की केलिविलासमयी क्रीडा। यह क्रीडा स्वरूपत काम केलि ही है।[4] सहचरी इसी रस का आस्वादन करती है।

विट्ठलजी ने सम्भवत हितहरिवशजी के प्रभाव से कृष्ण की अपेक्षा राधा के महत्व को अधिक उभारा है और कृष्ण को राधा के सामने रति-दीन दिखाया हे।[5] इस प्रकार विट्ठलजी के कृष्ण राधारसवश है।[6] राधा भी इन्ही रस-रसिक के साथ केलि-विनोद-रस का आस्वादन करती है।[7] लौकिक कवियो के लिए तथा लौकिक रसिको के लिए इस रस का रहस्य अज्ञात ही है।[8] विट्ठलजी अपने पदो के माध्यम से उसी विनोदविहारी के रस का पान करना चाहते है।[9]

सखी-भावापन्न भक्त इसी क्रीडाशील मूर्त रस के दर्शन का सुख चाहते हैं

"श्रीविट्ठलविपुल विनोद रीति रस
सुख देख्यौ चाहत रसना रस।"[10]

ये प्रेमिका सखियाँ वस्तुत अपने ही प्रेम का, अपनी ही रति का आस्वादन करती है। भ्रमर पुष्प के मकरद का पान कर आनन्दित होता है, पर वस्तुत वह अपने ही प्रेम का आस्वादन करता है। प्रेमी भी अपने प्रेमास्पद के रूप-यौवन के रस का पान कर आनन्दित होता है, पर वस्तुत वह अपने प्रेम का ही आस्वादन करता है।

---

१ "बिच बिच प्रीति रहस रस-रीति की, राग-रागनीनि के जूथ बाढे।" वही, पद १०७।

२ "गति विलास रस हास परसपर भूतज अद्भुत जोरी।" वही, पद ३३।

३ केलिमाल, पद ३३।

४ "हमारे माई स्यामाजू कौ राज।" श्रीनिम्बार्कमाधुरी, विट्ठलविपुलदेवजी, पृ० २३०, पद २६।
"जा के अधीन सदाहि साँवरौ या ब्रज कौ सिरताज।"
"प्यारी नेक निरखौं नवरग लालै।
तुव पदपकजतल-रज वदत तिलक बनावत भालै।" वही, पृ० १७।
"लालन तेरेई आधीन।" वही, पद १८।

५ श्री विट्ठलविपुल रस-रसिक विहारी तिहारे बस।" वही, पृ० २२७, पद ६।
"तेरेई रसबस स्यामसुदर जाचत है ज्यौ दीन।" वही पृ० २२६, पद २०।

६ "रसबस होत लाल प्यारी तेरी वदन-झलक।" वही, पृ० २२६, पद २०।

७ "श्रीविट्ठल विपुल विनोद विहारी कौ जानत भेद कवी ना।" वही, पद २६, पृ० २३१।

८ वही, पृ० २२८, पद १४।

९ वही, पृ० २२८, पद १४।

१० श्रीनिम्बार्कमाधुरी, पृ० २२८, विट्ठलविपुलदेवजी, पद १४।

"प्यारी तेरे नैनन पर तृन टूटत ।
मानौ कुदकली पर भौरा
हित अमृतरस छूटत ।"[1]

काव्यशास्त्र भी अपनी ही रति के आस्वादन को श्रृगार कहता है। विट्ठलजी की व्याख्या मे वर्णित प्रेम दशा मे प्रेमी का प्रेम और प्रेमास्पद का व्यक्तित्व एकाकार है।

इस प्रकार विट्ठलजी के अनुसार कृष्ण-राधा का केलि-विलास ही रस का व्यक्त स्वरूप है। सहचरी के लिए यह विभाव-रूप आस्वाद्य रस है। सहचरी दर्शन-सुखमयी आत्म-रति का आस्वादन करती है। यह रति और विभाव-रूप युगल रस तत्त्वत अभिन्न है। विट्ठलजी का यही मधुर रस है।

श्री हितहरिवशजी

श्रीहितहरिवशजी ने रस का साक्षात् निरूपण नही किया, किन्तु इस शब्द को उन्होने अनेक बार प्रयुक्त किया है। इन प्रयोगो के आधार पर कहा जा सकता है कि रस की चेतना लगभग वैसी ही है जैसी अन्य मधुरोपासक हरिदासादि भक्तो की हम देख चुके है।

रसिक भक्तो के आस्वाद्य रस को श्रीहितजी ने 'प्रेमरस', 'भजनरस', श्रीकृष्णरस', आदि नामो से अभिहित किया है।[2] यह रस सहचरी भाव से रसमय राधा-कृष्ण की केलि-लीलाओ का दर्शन-सुख है।[3] अत श्रीहितजी के अनुसार भी रसिको के आस्वाद्य और आस्वादनात्मक रसो को अलग-अलग कर समझा जा सकता है।

आस्वाद्य रस राधा-कृष्ण-केलिमय है जिसे श्रीहितहरिवशजी ने 'सौरत रस' भी नाम दिया है।[4] यह उनका नित्य-विहार रस है। स्वय रसमय तत्त्व श्रीकृष्ण राधा के साथ इन्ही काम-केलियो के रसिक है, राधारस-लपट है।[5] श्रीकृष्ण राधारस के लिए प्रेम-दीन एव राधा की कृपा पर अवलम्बित है।[6] राधा भी अपने प्रियतम को रसपान कराती हुई रस-

---

१ श्रीनिम्बार्कमाधुरी, पृ० २३०, विट्ठलविपुलदेवजी, पद २५।

२ "भृकुटि विलास हास रस वरषत, जै श्रीहितहरिवश प्रेमरस भूलहु।" हितचौरासी, पद ६२।
"दास अनन्य भजन-रस कारन जै श्रीहितहरिवश प्रगट लीला नट।" वही, पद ६४।
"जै श्रीहितहरिवश यथामति बरनत कृष्णरसामृत सार।" वही, पद ३०।

३ ज श्रीहितहरिवश रसिक सचु पावत देखत मधुकर केली।" वही, पद ६३।

४ "नर वाहन प्रभु सुकेलि बहुविधि भर भरत झेलि सौरत रस रूप नदी जगत पावनी।" वही, पद ११।

५ "जै श्रीहितहरिवश मिले रस-लपट राधिका रवन।" वही, पद ४०।
"अधर रदन चुबन परिरभन तन पुलकित आनद रस झेलि।
पट बधन कचुकि कुच परसत कोप कपट निरखत कर पेलि।
जै श्रीहितहरिवश लाल रस लम्पट धाइ धरत उर बीच सकेलि।" वही, पद ४१।

६ "जद्यपि सकल लोक चूडामणि, दीप अपनपौ मानै।" वही, पद ४१।
"अति गज मत्त निरकुश मोहन, निरखि बधे लट पास।" वही, पद ५३।

मग्न है ।[1] सहचरियो के इस आस्वाद्य नित्यविहार-रस मे राधा और कृष्ण परस्पर एक-दूसरे के रसिक और रस्य है ।

राधा-कृष्ण के इस दम्पति-रस या सौरत रस की एक-एक क्रीडा-चेष्टा, उल्लास-उमग रसमयी हे, रस है ।[2] कृष्ण के लिए यह रस राधा के अग-अग मे समाया हुआ है, उधर राधा के लिए भी कृष्ण ही नही उनकी मुरली भी रसमूल है ।[3] रास स्वय रसमय है, उसके रसमय नृत्य मे सहचरिया और राधा ही रसमग्न नही होते, स्वय कृष्ण भी रसमग्न होते है ।[4] सेवकजी ने एक पद मे श्रीहितहरिव शजी के इस रस का बहुत सुन्दर निरूपण किया है

"रसिक रमनी रसद रस रासि रस सीवा
रस सागरी रस निकुज रसपुज बरषत ।
रसनिधि सुविज्ञ रसज्ञ रस रेख रीति रस प्रीति हरषत ।
रस मूरति सुरति सरस रस विलसनि रस रग ।
रसप्रवाह सरिता सरस रतिरस लहरि तरग ।"[5]

श्रीकृष्ण-राधा का नित्यविहार रस कामकेलिमय है[6] जिसका मुक्त चित्रण कई पदो मे श्रीहितजी ने किया है ।[7] सहचरी इसी रस का दर्शनात्मक अनुभव करती हुई परम रस का आस्वादन करती है ।

सेवकजी ने सहचरी के रस को 'प्रेम रस' कहा है, श्रीहितजी ने भी ऐसा ही कहा है । इस प्रकार हितहरिवशजी के अनुसार रसिको का आस्वादन अपनी ही विशिष्ट सस्कृत रति का आस्वादन है जो स्वरूपत परम प्रेममय और परम आनन्दमय है ।

श्री हरिराम व्यास

व्यासजी की वाणी मे प्रयुक्त रस-शब्द के आधार पर कोई विशेप रस-स्वरूप नही बँधता । न ही काव्य-शास्त्रीय पक्षो पर कोई विशेष प्रकाश पडता है । फिर भी कुछ

---

१ "फूली फिरत मत्त करनी ज्यौं सुरत समुद्र झकोरी ।
पिय पर करुन, अमी रस बरसत अधर अरुनता थोरी ।" वही, पद ७० ।
"मोहनलाल के रस-माती ।" वही, पद २० ।

२ "परिरभन विपरित रति वितरत सरस सुरत निजु केलि ।" वही, पद ३० ।
"पल पल प्रबल चाप रस लपट अति सुन्दर सुकुमार ।" वही, पद ३२ ।
"सरस गति हास परिहास, आवेश वश दलित दल मदन-बल, कोकरस कामिनी ।" वही, पद ४६ ।

३ "ताकौ तैं अधर रस चाख्यौ ।" वही, पद १६ ।
"पूरित रस पीयूष जुगल घट कमल कदलि खजन की जोरी ।" वही, पद ५१ ।

४ "आजु गोपाल रास रस खेलत पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी ।" वही, पद २४ ।
"नित्यं रस पहिर पट नील प्रकटित छबी ।" वही, पद ७० ।

५ वही, पद ४, श्रीहितरसरीति-प्रकरण, सेवकवाणी, पृ० ७१ ।

६ "सुरति रग के रस में भीने नागरि-नवलकिशोर ।" वही, पद ३१ । हितचौरासी ।
"उर नख पात तिरीछी चितवनि दपति रस समतूल ।" वही, पद ३२ ।

७ हितचौरासी, पद २३, ३०, ३४, ३८, ४६, ६६ ।

उल्लेखनीय बाते उनसे सकलित की जा सकती है ।

व्यासजी ने भक्ति को रस-रूप मे स्वीकार किया है ।[१] भक्त कवियो के लिए यह भक्तिरस लीला-गान के रूप मे है ।[२] इसी लीला-रस को शुक ने भागवत मे गाया था,[३] इसे ही जयदेव ने गाया ।[४] इस रस मे सब रस घुल जाते है ।[५]

भक्तिरस व्यासजी को प्रचलित पाँचो रूपो मे स्वीकार्य है ।[६] अपने काव्य मे उन्होने केवल माधुर्य के ही गीत नही गाये है, शान्त और दास्य की भी शीतल झाँकियाँ प्रस्तुत की है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के सब कवियो मे शान्त और दास्य की शीतलता व्यासजी मे सबसे अधिक है। 'दास्य' को उन्होने भक्ति और कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय बताया है ।[७]

भक्तिरस के पाँचो रूपो को स्वीकार करते हुए तथा उनमे से तीन पर काव्य-रचना करते हुए भी व्यासजी मधुर रस को ही सर्व-श्रेष्ठ समझते है ।[८] इस पर रस-सिन्धु की माधुरी अगाध है ।[९] जिनके तन-मन मे यह रस पैठ जाता है उन्हे फिर ससार मे कुछ और नही सुहाता ।[१०] इसके सुख के सामने और सुख सूखे पत्ते के समान उड जाते है ।[११] इस रस के बिना सब गुड 'माटी' है, सब सूना है ।[१२]

मधुर रस राधा-कृष्ण की काम-केलियो मे सहचरी भाव से डूबने का आनन्द है ।[१३] सहचरी राधा-कृष्ण की केलि-क्रीडाओ को नियोजित भी करती है, सेवा-परिचर्या भी करती

---

१ "मेरे मते साधु है सोइ, जहा भक्तिरस भोग ।" व्यासवाणी, पूर्वार्द्ध, पद १२१ ।
"भाव विना न भक्तिरस उपजै यह सब सन्त बतावत ।" वही, पद २५५ ।
"सुनि गिरा अगनित जीव उद्धरे, भक्तिरस भक्तनि लह्यौ ।" वह', उत्तरार्ध, पद १ ।

२ "व्यास कृष्ण-लीला रग राचे, मिटि गइ लोक-वेद की लाज ।" वही, पू०, पद ३ ।

३ "जिहि रस भोजन तज्यौ परीछित उपजौ सुकहि अतूषा । ' वही, पू०, पद ४८ ।

४ "श्रीजयदेव मे रसिक न कोई जिन लीलारस गायौ ।" वही, पद ५ ।

५ "जिन राधावल्लभ की लीलारस में सब रस घोरे ।" वही, पद १३ ।

६ "पच रस कौ तत्व लै सिगार प्रेम सुखनि जटे ।" वही, उत्त०, पद १ ।

७ दया-दीनता दास-भाव बिनु व्यास न हरि पहिचान्यौ ।" वही, पू०, पद २४६ ।
"दया, दीनता, दास्यभाव बिनु मिलै न व्यास कन्हाई ।" वही, पद २५० ।

८ पच रस कौ सार लै सिगार प्रेम सुखनि जटे ।" वही, उ०, पद १ ।
"कुज-केलि मीठी है ।" वही, पू०, पद ५३ ।
"सर्वोपरि रसरीति प्रीति कौ वारिधि व्याम बढायौ ।" वही, पद १०० ।

९ 'अति अगाध रस-सिन्धु माधुरी वेई पै कहि जानै ।" वही ।
ताको वार-पार नहि पावत विधि शिव शेष धरत श्रुति ध्याने ।" पद २०, पू० ।

१० "इहि रस जिनके तन मन राचे तिनहि न और सुहात ।" वही, पद ३८ ।
"यह रस चाखि और सुख न्ले फूलन मन लखि अति गहराइ ।" वही, पद ३९ ।

११ "यह सुख देखत व्याम और सुख उडत पुराने पात ।" वही, उ०, पद ७२ ।

१२ "और सकल साधन निरस या रस बिन सब गुर माटी ।" वही, पू०, पद २८ ।
"या रस बिनु फीकौ सब साधन ज्यौं दूलह बिनु व्यास बरात ।" वही, पद ११७ ।

१३ 'इहि विधि विहरत सतत देखत व्यासदासि सुख पावति ।" व्यासवाणी, उत्त०, पद ९९ ।

है, और उन केलियो के दर्शन का अद्भुत आनन्द भी उठाती हे। यह सब उसके लिए रसात्मक है।[१] यह रस मोक्ष के आनन्द से भी बढकर है। रसिक भक्त इस रस के आगे कोटि-कोटि मुक्तियो को ठोकर लगाता है।[२]

इस रस के आस्वादन के लिए अनन्यता और ससार-विमुखता अनिवार्य आवश्यकताएँ है।[3] सच्चे रसिको को ही यह रस मिलता है। इसकी अनुभूति मे आत्म-विगलन होकर विदेह-दशा आ जाती है, एक ओर जगत् से उदासी, दूसरी ओर अनुराग की मस्ती, यही इस रस की अनुभूति का बाना है।[४]

सहचरीभावापन्न रसिक की आस्वाद्य और गेय राधा-कृष्ण की विहार-विलासमयी केलियाँ है।[५] नित्यधाम रसरूप वृन्दावन मे रसनिधि कृष्ण रसमयी राधा के साथ आवेशमय कामरूपात्मक विलास मे नित्य निरत रहते है। रास, क्रीडा, दरस-परस, आलिगन-परिरभण, सुरत सब-कुछ रसावधि रूप मे चलता है, और सहचरी अपने नयन चषको को इस अमृत से भरती रहती है। राधा सुख की, रस की वेगवती नदी है, कृष्ण के साथ उनका सगम सिन्धु-मिलन है।[६] सहचरी इसी नित्य, अनन्त, अगाध रस-सिन्धु मे निर्मल भाव से गोते लगाती है। लौकिक विषयो के सस्पर्शो से दूर, यह रसानुभूति अत्यन्त पावनी है। व्यासजी की यही काम्य है।

---

१ "श्रीराधा रूसी वेगि मनैहो। क्रीडारस पीवन न अघैहौ।" वही, उ०, पद ४५६।

२ "अलिकुल नैन चषक रस पीवन कोटि मुक्ति पग ठेली।" वही, पू०, पद ४६।

३ "यह रस नित पीवत जीवत है व्यास बिसरि ससार।" वही, उ०, पद २।

४ "महा माधुरी मत्त मुदित ह्वै गावत रस जस जगत उदासै।
छिन ही छिन परतीति बढत रस रीतिन देखि विवि वदन विलासै।" वही, पू०, पद १६।

५ (क) "वृन्दावन कौ रसमय वैभव " वही, पू०, पद ६।
"करि मन वृन्दावन सौ हेत।
निसि दिन छिन छाया जिनि छाडहु रसिकनि कौ रसखेत।" वही, पद ८८।
"सुभग वृन्दाविपिन बाढी सुख-नदी रस-धार।" वही, उ०, पद ११।

(ख) "रसनिधि सुखनिधि जहा विराजत नित्य अनन्त अनादि।" वही, पू०, पद ४२।
"नागर मनमोहन रस-सागर अर्थ अपार अनन्त।" वही, पद ७४।

(ग) "सहज स्याम स्यामा दोउ कामी, उपजत सहज विकार।
सहज कुभ रस पजनि वरषत, सहज सेज सुख सार।" वही, उ०, पद ६।
"अग अग आलिगन के रस रोमनि पुलक चुचात।" वही, उ०, पद २६।
"रतिरस सुभग सुखद जमुनातट।" वही, पद ३७।
"वरषत रस बिम्बाधर जलधर पीवत चातिक कुजविहारी।" वही, पद ७६।
"रूप-गुन-ऊष कौ रस राधिका पायौ सुरस और त्रियन कौ छोई आग।
अति करुना करि पिय हित कारन कुच-घट भरि राख्यौ प्रेम हू कौ पाग।" वही, उ०, पद ७४।
"दरस परस रस भोजन करिकै अधरामृत के लेत अचौना।" वहो, उ०, पद ८३।
"दोउ रस-विवस जब होत सजनी प्रेमरस छवि छकि मदा।" वही, उ०, पद १।

६ "व्यास स्वामिनी सुखनदी, पिय-सगम सिन्धु-प्रवाह।" वही, उ०, पद ६।

ध्रुवदासजी

राधावल्लभ सम्प्रदाय के हमारे आलोच्य कवियो मे ध्रुवदासजी ने ही सबसे अधिक एव स्पष्ट सिद्धान्त-निरूपण किया है। इससे उनके काव्य का अधिकाश नीरस सिद्धान्त-निरूपक तो हो गया है पर इतना सुन्दर सिद्धान्त-विश्लेषण सम्प्रदाय के अन्य कवि मे नही मिलता।

ध्रुवदासजी ने रस-निरूपण अपने ग्रथो मे अनेक बार अनेक रूपो मे किया है। यह निरूपण उनकी साम्प्रदायिक दृष्टि के ही अनुरूप है, काव्यशास्त्र के अनुरूप नही। भले ही काव्य-रस के सम्बन्ध मे उस विवेचन से कुछ असाक्षात् प्रकाश मिल सके। यहाँ उनकी कतिपय मान्यताएँ प्रस्तुत है।

मधुर रस—मधुर रस को ध्रुवदासजी ने स्थान-स्थान पर वृन्दावन-रस, महा-शृगार रस, भजन-रस, नित्यविहार रस, प्रेम रस, महाप्रेम-रस, निकुजविहार-रस, महा-माधुरीरस आदि नामो से व्यवहृत किया है।[1]

इसकी प्रशसा ध्रुवदासजी ने भाव-विभोर मन से की है। यह सुख की सीमा है,[2] निगम और ब्रह्म की परिधि से परे है,[3] महा गोप्य है,[4] बैकुण्ठ-सुख से भी सरस है,[5] इसके आगे नवधा भक्ति भी रसिक भक्तो को नही रुचती।[6] इसको पाने वाला पूज्यातिपूज्य हो जाता है।[7] इसकी साधना अत्यन्त ही कठिन है।[8] इसकी कठिनता का प्रधान कारण यही है कि इसमे भगवान् की काम-केलियो का गान रहता है, तब साधक के लिए साधना-पथ पर बढना कठिन ही है। ध्रुवदासजी ने इसे काम-तुरग पर चढ कर पावक मे

---

१ (क) "वृन्दावनरस माधुरी गाई अधिक लडाइ।" भक्तनामावलिलीला, बयालीसलीला, पृ० ३०।
(ख) "कह्यौ महासिगार रस सहित प्रेम मकरन्द।" वही, पृ० २८।
(ग) "रहे भीजि रस भजन में" वही, पृ० २८।
(घ) "कछु इक नित्यविहाररस हमहि देहु समुझाइ।" वही, वृहद्वामनपुरानलीला, पृ० ४२।
(ङ) "जुगल प्रेम रस अवधि में पर्यौ प्रबोध मन जाइ।" भक्तनामावलिलीला, वही, पृ० ३०।
(च) "और सब प्रेम-नेम या नित्य महाप्रेमरस के आगे साधन है।" सिद्धान्तविचारलीला बयालीसलीला, पृ० ५१।
(छ) "श्रीवृन्दावन निकुजविहाररस मत्त विलास करत है।" वही, पृ० ४३।
(ज) "यह महामाधुरीरस जाके उर न आवै तासों सग न करिये।" वही, पृ० ५२।

२ "सुख-सीवा माधुर्य रस छिन छिन यहै विचार।" ख्यालहुलासलीला, वही, पृ० २४।

३ "निगम ब्रह्म परसत नही जो रस सबते दूरि।" भक्तनामावलिलीला, वही, पृ० २७।

४ "श्रीगोपालपद उर धरै, महा गोप्य रस सार।" वही, पृ० २८।

५. "जेहि आगे बैकुण्ठ को फीको लगत पयान।" वही, भजनाष्टकलीला, पृ० ६३।

६ "महा माधुरी प्रेम रस आवै जिहि उर माहिं।
नवधा हू तिहि रुचै नहि नेम सबै मिटि जाहिं।" भजनकुण्डलियालीला, वही, पृ० ६६।

७ "रस प्रति रस शृगार कौ यह रस है शृगार।
धन्य धन्य तेइ जु नर जिनके यहै विचार।" भजनतृतीयशृखलालीला-मनशृखला, बयालीसलीला, पृ० ११०।

८ सब तें कठिन उपासना प्रेमपथ रसरीति।
राई सम जो चलै मन छूटि जाइ ध्रुव प्रीति।" वही, पृ० ११०।

चलना कहा है ।[१]

मधुर रस अन्य सभी प्रकार के आनन्दो, सुखो और आस्वादो से विलक्षण है। भक्तिरस के पाच रूपो मे से यह सर्वोत्तम है।[२] शान्त भक्तिरस से दास्य श्रेष्ठ है, दास्य से सख्य, सख्य से वात्सल्य और वात्सल्य से भी मधुर श्रेष्ठ है।[3] मधुर मे प्रेम-लक्षणा भक्ति का चरम विकास होता है। इस मधुर रस मे व्रज-देवियो के निर्मल प्रेम का सार घुला हुआ है। किन्तु राधावल्लभीय मधुर रस तो उन व्रजदेवियो के प्रेमरस से भी इसलिए उत्कृष्ट है कि इसमे राधा-कृष्ण की काम-केलिमयो निकुज-माधुरी भरी है। अत यह 'महाप्रेमरस' हे, जबकि व्रजदेवियो का 'प्रेमरस' ही कहा जा सकता है।[४]

अन्य भक्तिरसो मे भगवान् का महत्त्व ज्ञान अथवा धर्म की चेतना रहती है। ये चेतनाएँ अपने और आराध्य के बीच अभेद नही लाने देती। किन्तु मधुर रस मे चरम अभिन्नता देने वाला प्रेम तत्त्व उच्छलित होता है। यो जिस प्रेम मे महत्त्व-ज्ञान है उससे धर्म-चेतना वाली भक्ति उत्कृष्ट है, किन्तु उससे भी मधुर प्रेम वाली भाव-साधना उत्कृष्ट है। इसमे न माहात्म्य का, न धर्म का, किसी प्रकार का अन्तराय नही होता।[५]

आनन्द की तीन कोटियाँ हमारे सामने चर्चा का विषय बना करती है—एक वैषयिक आनन्द, दूसरा काव्यानन्द, तीसरा भक्ति का आनन्द। इन्हे हम विषय-रस, काव्य-रस और भक्ति-रस कह सकते हे। यहाँ भक्तिरस को दो भागो मे बाँट लीजिए—एक तो वह जिसभे माहात्म्य और धर्म की चेतना रहती है। इसमे मधुर को छोड अन्य सभी भक्ति रूप लिए जा सकते है। दूसरा मधुर रस जिसमे उक्त चेतना घुल जाती है। परम रसमय मधुर रस के लिए ये तीनो प्रकार के रस व्याघात, अन्तराय या आवरण रूप है।[६] निरावृत्त, विशुद्ध, रस-मात्र यदि कोई रस है तो वह मधुर रस का नित्यविहार रस।[७]

---

१ "चढिकै मैन तुरग पै चलिबौ पावक माहि।
प्रेम पथ ऐसो कठिन सब कोउ निबहत नाहिं।" ख्यालहुलासलीला, बयालीस लीला, पृ० ७६।

२. ३ "ज्ञान शान्तरस ते अधिक अद्भुत पदवी दास।
सखाभाव तिनतें अधिक जिनके प्रीति प्रकास।
अद्भुत बाल चरित्र को जो यशुदा मुख लेत।
तातें अधम किशोर रस ब्रजवनितनि के हेत।
सर्वोपरि है मधुर रस जुगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवत तिनहि मिटत न कबहुँ हुलास।" भजनाष्टकलीला, बया०, पृ० ६३।

४ " तिन सबनि पर अति गरिष्ट सर्वोपरि व्रजदेविन को प्रेम है, ब्रह्मादिक जिनकी पद-रज वाछित है। तिनके रस पर महारस अति दुर्लभ श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीवृन्दावनचद तिन प्रेममई निकुजमाधुरी विलास ललिता-विसाखा-आदि सखियन को प्रान अधार यहै है।" सिद्धान्तविचारलीला, बया०, पृ० ४५।

५. "एक भक्त ऐसे हैं ते ऐश्वर्य महातम ज्ञान लिये है। एकनि के इष्ट धर्म है। ये उनते सरस कहिये।" वही, पृ० ४४।

६ ऐश्वर्यता, ज्ञान, महातम, विषय या रस-माधुरी को आवरन है।" वही, पृ० ४६।
"और सब रस या माधुर्य रस के आवरन है। अतराय बताये हैं।" वही, पृ० ५६।

७ "जैसे रसमई फल बिनु गुठली, बिन बकला होइ।" वही, पृ० ४६।

रसयिता—इस मधुर रस के रसयिताओ को 'रसिक' कहा गया है। रसिक वह है जो रस का सार ग्रहण कर सके।[१] सखीभावापन्न भक्त ही इस रस के आस्वादन के अधिकारी है। काव्य-दृष्टि से हम इन्हे इस रस का आश्रय भी कह सकते है, सहृदय भी।

ये रसिक प्रेम-रग मे रगे होते है।[२] रस मे भीगे[3] इन भक्तो के मन की चचलता समाप्त हो चुकी होती है।[४] अनन्यता और चरम आसक्ति के साथ ससारी काम-भोग से चरम विरक्ति इनका सामान्य स्वरूप होता हे। मधुर रस के रसिक माहात्म्य, धर्म, ज्ञान, और विषय सभी आवरणो-अन्तराओ से शून्य होते हे।

इनकी रति या चरम प्रेम ही मधुर रस के रूप मे उच्छलित होता है। स्वार्थ का पूर्ण विगलन और तत्सुखसुखित्व की भावना से सम्पन्न इनका परम प्रेम सराहनीय है।

रसिको मे मधुरा रति का उदय अन्य रसिक भक्तो के सग, श्रीराधावल्लभ की कृपा और हितहरिवश की कृपा से होता है।

अनुभूति—ध्रुवदासजी ने इन रसिक अधिकारियो की मधुर रस की अनुभूति की अनेक बार अनेक प्रकार से चर्चा की है।

शान्त रस की अनुभूति मे वृत्तियो की प्रशान्तता होती है, शृगारादि काव्यरसो की अनुभूति मे वृत्तियो की निर्मल स्थिति का एक काल्पनिक भूमि पर आस्वादन होता है। किन्तु मधुर रस की अनुभूति मे वृत्तियो का उभार भी होता हे और प्रशान्तता भी होती है। एक ओर तो भौतिक स्वाद और सुख का इसमे पराभव होता है,[५] दूसरी ओर प्रेम का चरम आवेश और राधाकृष्ण की प्रेम-केलियो मे निमग्नता होती है।[६] काव्यरसो के आस्वादन मे दो बातो की चर्चा आया करती है—एक अन्य वेद्यो का अभाव दूसरे प्रस्तुत रस मे निमग्नता। मधुर रस मे ये बाते चरम कोटि पर ध्रुवदासजी ने निरूपित की है।[७]

ध्रुवदासजी ने इस रस की अनुभूति के फलस्वरूप रसिको के अनेक अनुभावो का उल्लेख

---

१ '' रसिक ताको कहिये जो रस को सार ग्रहण करे।'' सिद्धान्तविचारलीला, बया०, पृ० ४५।

२ 'प्रेम रग सों रगे जे नहि आनत उर आन।
अदभुत जुगल विहार रस तेई करिहै पान।'' भक्तनामावलिलीला, वही, पृ० २६।

३ ''रस भीज्यौ रस में फिरै रसनिधि जमुना तीर।
चितत रस में सने दोउ स्यामल-गौर शरीर।'' भजनकुडलियालीला, वही, पृ० ६४।

४ जब लगि मन चचल भयौ फिरत विषय सुख माहि।
तब लगि दपति चरन सौं होत प्रेम छिन नाहि।'' भजनसतलीला, वही, पृ० ७०।

५ छाडि स्वाद-सुख देह के और जगत की लाज।
मनहि मारि तन हारि कै वृन्दावन में गाज।'' वृन्दावनसतलीला, वही, पृ० १६।

६ चितत फिरै आवेस बस सावल गौर सरीर।
वृन्दावन तरु तरु तले ढरै नैन सुख नीर।'' वृन्दावनसतलीला, वही, पृ० २०।

७. ''देखौ यह रस अति सरस बिसरावत सब नेम ही।'' भजनकुडलिया, वही, पृ० ६५।
'रहन देत नहि और रस यहै प्रेम को टेक।
याकौ सहज सुभाव यह करै दोइ तें एक।'' प्रीतिचौवनीलीला, वही, पृ० ५८।
''पलट परत ताकी दसा जो सनेह रग रात।
और अग मिटि कै सबै नैना ही है जात।'' वही, पृ० ५८।

किया है। कण्ठ गद्गद होकर वाणी का मुख से न निकलना, प्रेमाश्रुओ का अविरल प्रवाह, शरीर का शिथिल हो जाना, पुलक-रोमाच आदि का अनेक प्रकार से उल्लेख है।[1] प्रेम की आच लगते ही मन घी की तरह पिघल कर बह निकलता है। हृदय छक जाता है, शरीर रोमाचित हो उठता है, आखे प्रेमाश्रुओ को भर-भरकर ढुलकाती है।[2] एक मस्ती, एक विस्मृति और एक अद्भुत निमग्नता इस रस की अनुभूति के सहज अनुभाव है।[3] इस रस की अनुभूति मे चित्त का सहज द्रवीभाव होता है।[4]

मधुर के आस्वादन मे चित्त-द्रुति, चरम विश्रान्ति और चमत्कारान्वित आनन्दानुभूति होती है।[5] इन अनुभूतियो की चर्चा ध्रुवदासजी ने अनेक प्रकार से की है। मधुर रस का रसन करने वाला मस्त, मतवाला, मद-छाका घूमता है। मधुर रस की अनुभूति एक विमल आनन्द-प्रवाह की अद्भुत धारा है जो गहरी निमग्नता लाती है।[6]

इस मधुर रस की अनुभूति की एक विचित्रता है। यह राधा-कृष्ण के काम-विलास-रस से भरा होता है। अत यह मधुर प्रेम चित्रित तो किया जाता है राधा-कृष्ण के बीच, किन्तु इसकी अनुभूति रसिक भक्त को होती है। ध्रुवदासजी के शब्दो मे 'खाइ और, त्रिपित होइ और' वाली बात है।[7]

आस्वाद्य रस—सहचरीभावापन्न रसिको का आस्वाद्य राधाकृष्ण का केलि-विहारमय प्रेम है। केलि-विहार इसके उच्छलन नेम-रूप है। यह कामरूप होकर भी लौकिक काम नही है। यह महाप्रेमरस एक अजस्र-वाहिनी नित्य निर्मल धारा के रूप मे रस-क्षेत्र वृन्दावन मे प्रवाहित होता रहता है। राधावल्लभी रसिक भक्तो का यही परम काम्य है।

---

१ 'ऐसी गति ह्वै है कबहुँ मुख निसरत नहि बैन।
देखि देखि वृन्दाविपिन भरि भरि ढारें नैन। वृन्दावनसतलीला, वही, पृ० २०।
"रूपछटा अदभुत निरखि थकित भये मुखबैन।
प्रान तहा पहिलै गये रोवत छाडे नैन।" प्रीतिचावनीलीला, वही, पृ० ६०।

२ "प्रेम आच के लगत ही ढरकि चलत तन मैन।
हियौ छकै तन झलकि ह्वै भरि भरि ढारै नैन।" ख्यालहुलासलीला, वही, पृ० २५।

३ "जिनके मन ध्रुव रचि रहै वृन्दावन सुख रग।
तेहि सुख जानन सोई डोलत भये मतग।" भजनसतलीला, वही, पृ० ७३।
"प्रेमरग उर जगमगै जुगल नवल रसकेलि।" भक्तनामावलिलीला, वही, पृ० २७।

४ "चित्त रहै द्रविभूत नित अति कोमल रस प्रेम।
हिय में झलकत रहै यों जैसे चादी हेम।" प्रतिचौवनीलीला, वही, पृ० ६१।

५. प्रीतचौवनीलीला, बयालीसलीला, पृ० ५८।

६ "नैननि पिय मूरति बसै तेहि रस रहै समाय।
ये लच्छन सुनि प्रेम के और न कछू सुहाय।
और न कछू सुहाय फिरै अपने मद मातो।
कुटुम्ब देह सौं जाइ टूटि सबही बिधि नातो।
जह जह पिय की बात सुनें खोजत तिन गैननि।
छिन छिन प्रति ध्रुव लेत प्रेम जल भरि भरि नैननि।" वही, पृ० ६१।

७ सिद्धान्तविचारलीला, वही, पृ० ५२।

तुलसीदास

तुलसी की दृष्टि मे प्राकृतजन-सम्बन्धी काव्य सच्चा काव्य नही,[१] भक्तिरस से स्वतन्त्र कोई काव्यरस रस नही ।

यौ तुलसीदासजी ने भी रस शब्द का प्रयोग साहित्य मे प्रचलित अनेक अर्थो मे किया है । मधुरादि रसनेन्द्रिय के रस, विषय-रस, शृगारादि काव्यशास्त्रीय रस, प्रेम-रस, केलि-क्रीडा रस, ध्यान रस, ब्रह्म रस, भक्ति रस, तात्पर्य यह कि उन्होने विविध अर्थो मे इस शब्द को अपने साहित्य मे प्रयुक्त किया है । पर जिस रस को हम काव्य की आत्मा कहते है वह तुलसी की दृष्टि मे केवल एक ही रस है, और वह है 'भक्तिरस' ।

तब प्रश्न उठता है कि तुलसी की दृष्टि मे काव्यरसो का क्या स्थान है ? तुलसी ने अपने रामचरितमानस मे 'मानस' को मान-सरोवर का रूपक देते हुए सीताराम के पुण्य चरित को सरोवर का जल कहा है और प्रेमा भक्ति को उस जल की शीतलता-मधुरता बताते हुए काव्यरसो के उस जल को जलचर कहा है ।[२] इस रूपक के अनुसार काव्यरस काव्य के आत्म-तत्त्व नही, अपितु काव्य-सरोवर के जलचर मात्र है । रामचरित रूपी शीतल सलिल स्वय उनका प्राणाधार है जिसमे ये जलचर क्रीडा करते है, मग्न रहते है, पलते है । ये हो तो उस सरोवर की शोभा बढा सकते है, न हो तो इनके बिना भी तुलसी का भक्ति-काव्य अकाव्य नही कहा जा सकता । उनके अनुसार चाहे कविता अपने मे भद्दी ही हो पर राम-नाम के कारण ही वह लोक-मगल करने वाली होगी ।[3] काव्य-रसिको एव काव्यशास्त्रियो का काव्यरसो के प्रति यह उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण नहीं होता ।

भक्तिरस से स्वतन्त्र काव्यरस तुलसी की भाषा मे विषयकथा-रस कहे जा सकते है । ऐसे रस काव्य-सरोवर के लिए घोघे, मेढक और सिबार के समान है । उनके मानस मे भक्ति-विमुख इन विषयरस-रूपी 'सबुक भेक सिबारो' के लिए कोई स्थान नही है ।[४]

तुलसी काव्यरसो के स्वरूप एव उनकी मधुरता से अपरिचित नही है । वे उनके शास्त्रीय स्वरूप और काव्य मे विधान की कला अच्छी प्रकार जानते है । किन्तु वे यह और भी अच्छी प्रकार जानते है कि महा मधुर भक्तिरस के आस्वादन कर लेने पर ये काव्य रस नितान्त फीके और अनरस लगते है ।[५]

तुलसी का काव्य हृदय के प्रेमानन्द का उच्छलन है । उनकी कविता 'आह से निकला गान' नही है । अपने मानस-चक्षुओ से उन्होने रामचरित-रूपी मानसरोवर के दर्शन किये, और उनका हृदय आनन्द की उमग से भरकर बाहर उमड चला है । हृदय के प्रेमानन्द का

---

१ "कीन्हे प्राकृत जन गन गाना । सिर धुनि लागि गिरा पछिताना ।" बालका० १० । ७

२ "रामसीय जस सलिल सुधासम । उपमा वीचि-विलास मनोरम ।" वही : ३६ । ३ "मानस"
"प्रेम भगति जो बरनि न जाई । सोइ मधुरता सुसीतलताई ।" वही - ३५ । ४
"नव रस जप-तप जोग-विरागा । ते सब जलचर चारु तडागा ।" वही ३६।१०

३. "भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी । रामकथा जगमगल करनी ।" वही ६ । १०

४ "सबुक भेक सेवारि समाना । इहा न होयँ विषय-रस नाना ।" वही ३७ । ३

५ "जो मोहि राम लागते मीठे ।
तौ नव रस षटरस अनरस ह्वै जाते सब सीठे ।' विनयपत्रिका, पद १६९ ।

उमडकर बह निकलने वाली धारा ही उनकी कविता-गगा है।[1] इसीलिए तुलसी के काव्य मे 'कवित-विवेक'—वर्ण-सौन्दर्य, अर्थ-चारुत्व, अलकार-कौशल, छद-प्रबन्ध-विधान, अपार भाव-भद, अपहार रस-भेद, गुण-माधुर्य आदि—सब-कुछ होते हुए भी कुछ नही है।[2] यह सब होकर भी शायद इसीलिए नही है कि वह एक रग मे रगकर और एक रस मे डूबकर नगण्य हो गये है, अपनी सत्ता खो बठे है। यह एक गुण, एक रस है 'रामरस'। तुलसी तो बस एक ही बात का दावा कर सकते है

"भनिति मोर सब गुन रहित, बिस्व बिदित गुन एक।"[3]

और वह गुण है—

"एहि मह रघुपति नाम उदारा।"[4]

सामान्यत काव्यशास्त्रियो ने काव्य की उत्पत्ति प्रतिभा, सरस्वती, व्युत्पत्ति और अभ्यास से मानी है। इनमे से प्रतिभा का ही स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया हे। तुलसी भी यह स्वीकार करते है कि हृदय-सिन्धु मे अवस्थित बुद्धि की शक्ति मे शारदा-स्वाति कल्पना का सुन्दर जल बरसा देती है और काव्य-मुक्ताओ का जन्म हो जाता है।[5] पर यह शारदा तुलसी के लिए एक कठपुतली ही है, इसका सूत्रधार तो वह राम है जिसके इशारे पर यह राम-भक्त कवि के हृदय मे नृत्य करने के लिए बाध्य है।[6] वस्तुत भक्ति-गान करने वाले कवियो को स्मरण करते ही यह ब्रह्मा का भवन छोडकर स्वय दौडी चली आती है। कवि तो उस पथ श्रान्त शारदा को राम-चरित के शीतल सरोवर मे स्नान कराकर विश्राम कराते हुए उपकृत करता है।[7] इस प्रकार के काव्य मे भक्तिरस से स्वतन्त्र काव्यरसो का मूल्य ही क्या हो सकता है? तुलसी सच्चे काव्य को भक्ति से अलग करके देख ही नही सकते, काव्यरसो को भी भक्ति-रस से स्वतन्त्र स्वीकार करने का कोई अर्थ नही।

तुलसी के इस भक्तिरस रूप विशिष्ट काव्यरस का रसयिता कौन है? दोनो प्रकार

---

१ "अस मानस मानस-चख चाही। भइ कवि-बुद्धि विमल अवगाही।
भयउ हृदय आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू।
चली सुभग कविता सरिता सी। राम विमल जस जल भरिता सी।" मानस', बा० का० ३८। ११

२ "आखर अरथ अलकृति नाना। छद प्रबध अनेक विधाना।
भावभेद रसभेद अपारा। कवित दोष-गुन विविध प्रकारा।
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे।" वही ८। ९-११।

३ रामचरितमानस बालकाण्ड दोहा ९।

४ वही बा० का० ९।१।

५. "हृदयसिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहि सुजाना।
जौ बरषइ बर बारि बिचारू। होहि कवित मुकुता मनि चारू।" वही १०। ८-९।

६ "सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अतरजामी।
जेहि पर कृपा करहि जन जानी। कवि उर अजिर नचावहि बानी।" वही, १०४। ३-४

७ "भगति-हेतु विधि भवन विहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।
रामचरितसर बिनु अ हवाए। सो श्रम जाइ न कोटि उपाए।"
कविकोविद अस हृदय विचारी। गावहि हरिजस कलिमलहारी।
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धनि लागि गिरा पछिताना।" वही, बा० का०, १०।३-६, ८।

के भावुको के लिए तुलसी का द्वार खुला हुआ हे—जो राम-सनेही है उनके लिए भी, जो केवल काव्य-रसिक है, उनके लिए भी। जो न काव्यरसिक हे, न ही राम-सनेही है, ऐसे लोगो के लिए उनकी कविता मजाक-मखौल की चीज है, हास-रस है

"कवित रसिक न राम-पद नेहू। तिन्ह कह सुखद हासरस एहू।"[1]

वस्तुत तो उनकी रामकथा का सच्चा माधुर्य भगवद्भक्तो को ही मिल सकता है

"हरिहर पद रति, मति न कुतरकी।
तिन्ह कह मधुर कथा रघुबर की।"[2]

यो तुलसी का काव्य स्वान्त सुखाय है।[3] वह उनके अपने सन्देह-मोह-भ्रम निवारण के लिए है।[4] पर जिस काव्य का सच्चे रसिक आदर न कर सके उसके लिए किया हुआ कवि का श्रम व्यर्थ है।[5] अत तुलसी के इस रसमय काव्य का उद्देश्य सहज परान्त सुख है।[6]

'भक्ति' रस का आस्वाद और तज्जन्य आह्लाद तुलसी की दृष्टि मे अभिनवगुप्त के समान एक प्रतीन नही होते। शैवाद्वैती अभिनव ने आस्वाद्य रस एव आस्वादन को एकाकार करके देखा था। अद्वैतवाद को साग्रह न मानने वाले आचार्यो ने आस्वाद्य-आस्वादन की इस अभिन्नता को स्वीकार नही किया। तुलसी भी आस्वाद और आह्लाद को, स्वाद और तोष को एक करके नही देखते, हाँ उन दोनो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करते है। राम के 'र' तथा 'म' अक्षरो के समान दोनो स्वरूपत भिन्न है, पर इसी एक नाम मे घनिष्ठ सम्बद्ध दोनो अक्षरो के समान ही दोनो परस्पर घनिष्ठ सम्बद्ध है।[7] आस्वादन और आह्लाद ब्रह्म और जीव के समान सहज सघाती तो हो सकते हे, किन्तु उनमे स्वरूपाभेद नही माना जा सकता।[8]

केशवदास

अपने आलोच्य काल के जिन कवियो का हम अध्ययन करने जा रहे है उनमे एक केशवदास का नाम ही ऐसा है जिन्होने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का भी प्रणयन किया है। अत रस-स्वरूप के विषय मे हम उनकी आचार्य चेतना को साक्षात् रूप मे पा सकते है। उनकी रस-विषयक मान्यताए उनकी 'रसिकप्रिया' मे निरूपित हुई है।

रसिकप्रिया मे विवेचित रस स्वरूप जानने से पूर्व यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। इस रचना के शास्त्रीय एव कवित्व दोनो ही पक्षो मे केशव एक विशिष्ट दृष्टि अपनाकर

---

१ रामचरितमानस। बालकाण्ड। दो० ८।३।

२. वही ८।६।

३. "स्वांत सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा—भाषानिबधमतिमजुलमातनोति।"

४ "निज सन्देह मोह भ्रम हरनी। करउ कथा भवसरिता तरनी।" मानस, बा०का०, ३०।४।

५. "जो प्रबध बुध नहि आदरही। सो श्रम बादि बाल कवि करही।" वही १३ ८।

६ "कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।" वही १३ ९।

७ मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुनी तनु पाइ। लहहि सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहि सुकवि-कवित बुध कहही। उपजहि अनत नत छवि लहही।" वही १० १-३।

८. "ब्रह्म जीव सम सहज सघाती।" वही. ११ ४।

चले है। यहाँ उन्होने शृगार की रसराजता प्रतिष्ठित करते हुए उमी के अनुरूप काव्य-सृष्टि की है। पर जो काव्यादर्श एव काव्य-दृष्टि उन्होने यहाँ अपनायी है उसका अनुसरण उन्होने अपने प्रमुखतम ग्रन्थ रामचन्द्रिका मे नही किया। रामचन्द्रिका रसराज शृगार का काव्य नही है।

रसिकप्रिया की रस-दृष्टि की पृष्ठभूमि मे सस्कृत का काव्य-शास्त्र, रूप गोस्वामी—जीव-गोस्वामी का भक्ति-काव्यशास्त्र, और केशव के युग मे फैला हुआ शृगारी कृष्ण-काव्य है। उनके युग तक कृष्ण-भक्ति के शृगारी 'रस काव्य' की एक विशाल मात्रा निर्मित हो चुकी थी, अभी उसका निरूपक काव्य-शास्त्र हिन्दी मे कोई नही था। केशव एक ऐसा रस-शास्त्र हिन्दी को देना चाहते थे जो एक ओर तो भरत-परम्परा की आधार-भूमि लिये हो, दूसरी ओर शृ गारी काव्य पर खरा उतर सके, तीसरी ओर मधुरोपासक भक्तो के भी गले उतर सके। केशव ने रसिक-प्रिया मे उसकी रचना का उद्देश्य इस प्रकार निरूपित किया है

"अति रति गति मति एक करि विविध विवके विलास।
रसिकन कौ रसिकप्रिया कीन्ही केशव दास।"[१]

यहा 'रसिक' शब्द विशेषत ध्यान देने योग्य है। एक ओर यह काव्य के सामान्य सहृदय का वाचक है, दूसरी ओर केवल शृ गारी प्रवृत्ति के रसीले रसिको की ओर सकेत करता है, तीसरी ओर केशव के भक्तियुग मे कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र मे मधुरोपासको के लिए प्रचलित अर्थ की भी सूचना देता है। इस पिछले अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग श्रीमद्भागवत मे भी मिलता[२] है और कृष्ण-मधुरोपासना तो इसे पूर्णत अपनाकर केशव के युग मे चल ही रही थी।

केशव इन तीनो प्रकार के रसिको को ध्यान मे रखकर रसिक-प्रिया मे रस-स्वरूप एव उसके अगो-उपागो का विवेचन करना चाहते है। पर हुआ यह है कि उनका विवेचन शृ गार की रसराजता मे ही परिसीमित हो गया है। केशव को वैसे अपने उद्देश्य मे एक पर्याप्त दूरी तक सफलता भी मिली है, किन्तु उद्देश्य की त्रिमुखी प्रवृत्ति के कारण उसमे कुछ ऐसी उलझनें भी आ गयी है जो हिन्दी समालोचको को परेशान किये रहती है। अस्तु।

यहाँ सक्षेप मे हम यह दिखाना चाहेगे कि केशव ने इस त्रिमुखी उद्देश्य को कैसे निबाहा है। रस का स्वरूप भी उनकी दृष्टि से इस निरूपण मे साथ ही स्पष्ट हो लेगा। इस विषय मे उनका यह निरूपण ध्यान देने योग्य है

"प्रथम सिगार सुहास्य रस करुना रुद्र सुवीर।
भय बीभत्स बखानियै अद्भुत सात सुधीर॥
नवहू रस को भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सबको केसवदास हरि नायक है शृगार।
रति मति की अति चातुरी, रतिपति मत्र विचार।
ताही सौ सब कहत है कवि कोबिद शृगार॥"

---

१. रसिकप्रिया. प्र०१, १२।

२. "पिबत भागवत रममालय रसिका भुवि भावुका
श्रीमदभाग०

यहाँ प्रथम दोहे मे भरत-परम्परा के ९ रसो को स्वीकृति दी गयी है, दूसरे मे उन सबमे नायकत्व शृगार का दिखाया गया है। साथ ही इसी दोहे मे शृगार को हरि-रूप कहा गया है, और इसी हरि-रूप शृगार को अगले दोहे मे रति-काम-रूप प्रतिपादित किया गया है।

केशव का रसिकप्रिया मे रस-निरूपण मे शृगार की रस-राजता इष्ट है। चौदहवे प्रभाव मे विविध रसो के लक्षण उदाहरण दिये गये है। लक्षण एक ओर तो इस रूप मे है कि वे भरत-परम्परा मे प्रचलित स्वरूप के अनुरूप है, दूसरी ओर वे रसराज शृगार के अगभूत रस का स्वरूप प्रस्तुत करते है। जो शृगार-विरोधी रस है उनकी अगता बनाने के लिए उनके लक्षणो मे एक ऐसी मोड भी स्वीकार की गयी है जो उस रस के स्वतन्त्र रूप से अधिक दूर न जा पडे। यह तो रही नौ रसो के स्वरूप-निरूपण की बात। किन्तु इनके उदाहरणो को रसराज शृगार के अग-रूप मे ही मानकर प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार रसिकप्रिया का प्रतिपाद्य है रसराज शृगार और शृगार की रसराजता।

दूसरी ओर केशव ने अपनी निरूपण-पद्धति से यह भी स्वीकार किया है कि शृगार से स्वतन्त्र भी सभी अन्य काव्यरसो की सत्ता है। रसिकप्रिया के चौदहवे प्रभाव मे समस्त रसो के लक्षण-उदाहरण क्रम मे अन्त मे शान्त का निरूपण है। यहाँ पहले तो एक उदाहरण ऐसे शान्त का दिया गया है जो शृगार के अन्तर्भूत है। ऐसा सभी रसो के प्रसग मे किया गया है। इसके अनन्तर समस्त विवेचन के अन्त मे एक उदाहरण ऐसे शान्त का दिया गया है जो शृगार के अन्तर्भूत नही है, निर्वेदमूलक शान्त है। इस उदाहरण को प्रस्तुत करके केशव ने उपलक्षण-पद्धति पर यह सकेत दिया है कि इसी प्रकार अन्य रस भी शृगार से स्वतन्त्र भी हो सकते है। रसिक-प्रिया उनके निरूपण का उद्देश्य लेकर नही चली, अत उनका निरूपण स्वतन्त्र रूप मे नही किया गया। इस मान्यता से यह स्पष्ट हो जाता है कि रसिकप्रिया मे केशव की निरूपित रस-दृष्टि उनकी पूणत अभिमत नही है, एक विशेष दृष्टिकोण से ही उन्होने इस ग्रन्थ मे उसे स्वीकार किया हुआ है।[1]

तीसरा दृष्टिकोण है उन रस-नायक श्रीकृष्ण की उपासना को समेटना जिनमे समस्त रस समाये हुए है। रसिकप्रिया के प्रारम्भ मे केशव ने कृष्ण के सर्वरस-स्पर्शी रूप का ही स्मरण किया है

"श्रीवृषभानु-कुमारि-हेतु शृगाररूप भय।
बास हासरस हरे, मातु-बधन करुनामय।
केसी-प्रति अति रौद्र, बीर मारो वत्सासुर।
भय-दावानल पान, पियो बीभत्स बकी उर।
अति अद्भुत बचि विरचि-मति, सात सततै सोच चित।
कहि केसव सेवहु रसिक जन नवरसमय व्रजराज नित।"[2]

नवरसमय व्रजराज के उपासक रसिक कौन है, यहाँ यह भी स्पष्ट है। इस छद मे कृष्ण की विविध लीलाओ का सकेत करते हुए उन्हे नवरस-मय रस-राज के रूप मे स्वीकार किया गया है। रसिकप्रिया की काव्य-साधना इन्ही 'सुजान स्याम' को अपने भाव-विवश करने की साधना है

१ रसिकप्रिया, प्रभाव १, दो० १५, १६, १७।
२ रसिकप्रिया १।२।

"तातै रुचि सो सोचि पचि कीजै सरस कवित्त ।
केसव स्याम सुजान को सुनत होइ बस चित्त ।"[1]

यही दृष्टिकोण रसिक-प्रिया मे स्थान-स्थान पर व्यक्त होता रहा है और निरूपण को पर्याप्त प्रभावित करता रहा है

क—"जग-नायक की नायिका बरनी केसवदास ।
तिनके दर्सन-रस कहौ सुनौ प्रच्छन्न प्रकास ।"[2]

ख—"इहि विधि राधा-रमन के बरने मिलन विसेखि ।"[3]

ग—"मरन सु केसवदास पै बरन्यौ जाइ न मित्त ।
अजर अमर जस कहि कहौ कैसे प्रेत-चरित्र ।"[4]

केशव ने अनेकत्र इस बात का उल्लेख किया है कि यह राधा—राधा-रमण के शृगार का विवेचन है, लौकिक शृगार का नही

क—"प्रेम राधिका कृष्ण कौ है तातै शृगार ।
ताके भाव-प्रभाव तै उपजत हाव-विचार ।"[5]

ख—"इहि विधि स्याम-सिंगार-रस बहु विधि बरनो लोइ ।
चारि बरन चहु आश्रमनि कहत सुनत सुख होइ ।"[6]

इस प्रकार केशव ने रसिक-प्रिया मे किये हुए रस-निरूपण द्वारा त्रिमुखी साधना की है । इस प्रकार की निरूपण-साधना मे यदि कुछ उलझने पड जाय तो आश्चर्य ही क्या है ? काव्यशास्त्र के विद्यार्थियो को केशव के विवेचन को धैर्य से परखने की आवश्यकता है ।

इस प्रकार केशव शृगार-निरूपण को कृष्ण-भक्ति की मधुरोपासना से मिला देना चाहते है, किन्तु उनका ढाँचा मधुरोपसना का नही है । सखियो के भेद-प्रभेद का वर्णन है, पर वे सखियाँ मधुरोपासना की सखियाँ नही है, शृगारी रस-ग्रथो की सखियाँ है । मधुरोपासना की नित्य-मिलन की भावना मे विरह का स्थूल रूप मे कोई स्थान नही है, विरह के सम्बन्ध मे अलग-अलग सम्प्रदायो की विशिष्ट दृष्टि है । रसिकप्रिया मे वे दृष्टियाँ एक भी नही है । या तो केशव इन साम्प्रदायिक दृष्टिकोणो से परिचित नहीं थे, या फिर साम्प्रदायिकता से दूर रहकर समूचे शृगारी कृष्ण-काव्य के लिए भरत-परम्परा पर आधारित एक रसशास्त्र देना चाहते थे ।[7]

केशव ने रस की निष्पत्ति और अनुभूति-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे अपना निरूपण प्रस्तुत नही किया ।

---

१ रसिकप्रिया १।१४ ।

२ वही ३।७४ ।

३. वही ५।३८ ।

४ वही ८।५४ ।

५ वही ६।१५ ।

६ वही १३।२१ ।

७ "बाढै रति, मति अति परै, जानै सब रस-रीत ।
स्वारथ परमारथ लहै रसिक-प्रिया की प्रीति ।"
—रसिकप्रिया षोडश प्रभाव छन्द १६ ।

केशव का यह रस-सम्बन्धी आदर्श रसिक-प्रिया के काव्य मे उदाहरणो के रूप मे ही सामने आया है। उनके शेष काव्य मे इस आदर्श का निर्वाह नही हे। न ही उन्होने इस रसिक कृष्ण-भक्ति को आत्म-भक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया है। उनकी भक्ति-भावना जो भी है, वह राम मे है, और उसके आदर्शों मे उनकी आस्था है। अत उपर्युक्त रस-विषयक केशवी आचार्य-चेतना केशव के लिए ही निरूपित है, व्यवहृत नही। उनके साहित्य को रसिक-प्रिया की सिद्धान्त-पद्धति पर आका नही जा सकता। किन्तु केशव पर कथनी-करनी के अन्तर का आक्षेप भी नही लगाया जा सकता। स्वय रसिक-प्रिया मे ही नव-रस की स्वतन्त्र मान्यता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, इसका निराकरण नही किया।

समीक्षा

अब तक हमने रस का स्वरूप समझने के लिए चार दृष्टियो से प्रयास किया है—सस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से, वैष्णव दशनो की दृष्टि से, गोस्वामी आचार्यो की भक्ति-काव्यशास्त्रीय दृष्टि से, तथा स्वय वैष्णव कवियो की दृष्टि से। इस अध्ययन से हम ऐसे कई मोटे परिणामो पर पहुँच गए है जिनका हमे हिन्दी वैष्णव काव्य मे रस-परिकल्पना का अध्ययन करते समय ध्यान रखना चाहिये।

ऐसे परिणामो मे से एक तो यह है कि वैष्णव कवि अपनी काव्यमयी वाणी मे जिस रस की परिकल्पना प्रस्तुत करता है वह उसकी दृष्टि से हमारा समझा-बूझा काव्यरस नही है, वह वही रस है जिसका स्वरूप निरूपण वैष्णव दार्शनिक ने किया है। उसने श्रुति-प्रतिपाद्य रसरूप लीलामय ब्रह्म की रसमयी लीलाओ का गान करते हुए लीला-रस का पान किया है और उसी का पान वह अपने पाठक को कराना चाहता है।

इस दृष्टि से काव्यशास्त्रीय रस और वैष्णव-दर्शन प्रतिपादित रस मे तात्त्विक अन्तर हो जाता है। लौकिक स्थूल आनन्द से दोनो का आनन्द सूक्ष्म, विलक्षण एव अलौकिक है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से एक बद्ध जीव की प्राकृत अनुभूति है, दूसरा सिद्ध भक्त की अप्राकृत। काव्यरस का रसिक प्रकृति के त्रिगुणात्मक चित्त की भूमिका मे उसी की वृत्तियो का एक परिमार्जित आनन्द अनुभव करता है, भले ही यह आनन्द उसके आत्म-तत्त्व का हो। वैष्णव आचार्यो का दावा है कि उनका रस्य रस-तत्त्व और उसका आस्वादन दोनो ही प्राकृत गुण-चित्त की परिधि से बाहर है। भगवद्विग्रह-रूप शुद्ध सत्त्व के चित्त की अनुभूति है। काव्यरस काव्यानुशीलन के अल्प अभ्यास से ही सुलभ है, किन्तु वैष्णव रस भाग्यवानो का प्राप्य एव अत्यन्त दुर्लभ है। वह साधना का विषय है।

काव्यरस की व्याख्या मे हमे दो प्रकार के व्याख्याकार मिलते है—एक जिनका दृष्टिकोण द्वैतवाद के अनुरूप है, दूसरे वे जिनकी दृष्टि अद्वैत-परक है। आज जिनका रस-सिद्धान्त प्रमाण-रूप मे स्वीकृत है वे सब अद्वैत-परक लोग है, वह अद्वैत चाहे शैवाद्वैत हो चाहे शाकर अद्वैत। इस दृष्टिकोण की छाया मे काव्यरस आस्वादन से भिन्न आस्वाद्य पदार्थ नही, सहृदय के आत्म-रूप का परिमार्जित चित्त की भूमिका मे आस्वादन है। किन्तु वैष्णव दर्शनो मे यह अद्वैती दृष्टि नही है। नाम से विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि मे ये दर्शन अद्वैत शब्द का प्रयोग करते है, परम तत्त्व को एक, अखण्ड, व्यापक अद्वैत सत्ता के रूप मे निरूपित करते है, फिर भी जीव और जगत् की सत्ताओ को प्रातिभासिक स्वीकार न करके द्वैत की ही प्रतिष्ठा करते है। फल यह हुआ कि उनका प्रतिपादित रसतत्त्व भोक्ता

जीव का आत्मानन्द नही है, आराध्य भगवान् का गुण, धर्म या स्वरूप है। इस प्रकार प्रमाता के लिए रस-तत्त्व रम्य या आस्वाद्य है। इसका एक सहज परिणाम यह हुआ है कि वैष्णव कवि अपने काव्य मे आस्वाद्य लीलामय रसरूप राम और कृष्ण विभाव-पक्ष मे रख सके है। अत विभाव-रस और भक्तिरस के दो अलग-अलग रूप इस काव्य मे उभर-कर आते है। राधा और कृष्ण की नित्य शृंगारमयी लीलाओ के चित्रण मे उन्मुक्त शृंगार का चित्रण करके एक भक्त कवि अलौकिक एव अप्राकृत शृंगाररस का विभाव-पक्ष खडा कर सकता है किन्तु उसकी भक्तिमयी रति उस शृंगार मे एक सहचरी के अनुरूप ही तटस्थतया ही लीन हो सकती है। इस प्रकार वैष्णव रस मे आस्वाद्य रस और आस्वादन रस के दो भेद अनेक स्थलो पर स्पष्ट हो गए है। इसकी व्याख्या काव्यरस और वैष्णव रस की दार्शनिक आधार-भूमि समझने पर ही जानी जा सकती है।

रस-परिकल्पना मे तीन प्रमुख बाते आती है—कवि की रस-सर्जना, कवि द्वारा अपने परिकल्पित रस की अभिव्यक्ति तथा सहृदय सामाजिक द्वारा उसकी अनुभूति। वैष्णव काव्य मे कवि-परिकल्पित रस के सम्बन्ध मे कोई सन्देह नही किया जा सकता कि कवि ने अप्राकृत रस की परिकल्पना नही की। उसकी अनुभूति पर सच्चाई की कमी, कृत्रिम भावावेश और स्वानुभूति के अभाव के दोष भी नही लगाए जा सकते। सहजता, अकृत्रिमता और स्वानुभूति उसकी रस-परिकल्पना के स्वभाव रहे है। पर उसकी रस-परिकल्पना की अभिव्यक्ति ऐसी वाणी मे हुई है जो केवल भक्ति वाणी ही नही, पूरी सामर्थ्य के साथ काव्य-वाणी भी है। फल यह हुआ है कि उसमे एक ओर वैष्णव रस का परिपाक है, दूसरी ओर काव्य-रस का।

वैष्णव रस की उसी गहराई और अप्राकृत मात्रा तक अनुभूति जिस मात्रा तक वैष्णव दार्शनिको ने निरूपित की है, काव्य-रसिक के लिए असभव है। वैष्णव दर्शन प्रति-पादित एव कवि का स्वानुभूत रस जो इस काव्य मे निहित है, लम्बी साधना वाले भावुक भक्तो का ही आस्वाद्य है। काव्य-रसिक के सामने तो यह वैष्णव रस एक काव्यरस के रूप मे ही आता है। अत उसका आस्वाद्य भक्तिरस एक काव्यरस है, यह ध्यान रखने की बात है।

साहित्य का विद्यार्थी हिन्दी वैष्णव साहित्य को एक साहित्य एव काव्य के रूप मे ही देखता है और उसमे निहित रस की परीक्षा काव्यरस के रूप मे ही करता है। यही मार्ग स्वाभाविक भी है और उपयुक्त भी। हम कवि सर्जना की दृष्टि से रस-परिकल्पना की व्याख्या करते हुए तो यह स्पष्ट कर सकते है कि इस काव्य मे कवि किस रस की सृष्टि करना चाहता है और उसमे वह कहा तक सफल-असफल है, किन्तु उसकी अभिव्यजना की सफलता-असफलता और उसकी अनुभूति की व्याख्या एक काव्य समीक्षक और काव्य-रसिक के नाते ही कर सकते है। एक साहित्यिक अध्येता के कार्य-क्षेत्र मे इतना ही आता है और, इस कार्य के सम्पादन के लिए हमे लौटकर काव्यशास्त्रीय मान्यताओ को ही मानदण्ड के रूप मे स्वीकार करना पडता है। यह बात दूसरी है कि हम वैष्णव काव्य की रस-परिकल्पना की व्याख्या मे वैष्णव दर्शन और वैष्णवी भक्ति के आधार सिद्धान्तो मे भी कुछ सहायता ले।

काव्यानुभूति की कुछ समस्याए—अभी हमने रस-परिकल्पना मे तीन बातों का निर्देश किया है। उनमे अन्तिम है काव्य से मिलने वाली सहृदय सामाजिक की काव्यानुभूति। इसी काव्यानुभूति से सम्बद्ध कतिपय समस्याओ को स्पष्ट कर लेना यहा अप्रासगिक न होगा।

उनके स्पष्टीकरण के बिना वैष्णव काव्य मे रस परिकल्पना के अध्ययन मे बाधा हो सकती है। इन समस्याओ को हम रस-निष्पत्ति की समस्याए कह सकते है।

सामान्यत रस-निष्पत्ति मे सहृदय की काव्यानुभूति का स्वरूप इस प्रकार है· काव्यानुभूति के लिए सस्कृत काव्य-शास्त्र मे विषय-पक्षीय और सहृदय-पक्षीय दोनो प्रकार की कुछ योग्यताए अपेक्षित समझी गयी है। काव्य मे जिस रस को कवि प्रस्तुत कर रहा है उसकी प्रातिभ स्वानुभूति उसमे होनी चाहिए। उस रस की अभिव्यक्ति मे प्रभावोत्पादक लालित्य एव औचित्य होना चाहिए। यह औचित्य भाव-विधान, पात्र-योजना, भाषा-सविधान आदि सभी क्षेत्रो मे अपेक्षित है। कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति सहृदय-सवेद्य होनी चाहिए आदि बाते विषय-पक्षीय योग्यताए है। सहृदय को काव्यानुशीलन का अभ्यासी, परिमार्जित रुचि-सम्पन्न, कल्पनाशील, वर्णनीय विषय एव भाव मे तन्मय होने की क्षमता से युक्त, तथा काव्य के प्रस्तुत रस एव भाव के सस्कारो एव वासना से युक्त होना चाहिए, आदि बाते विषयि-पक्षीय योग्यताए है। ऐसे ही व्यक्ति को पारिभाषिक रूप मे 'सहृदय' कहा गया है और उक्त विशेषताओ से सम्पन्न वाणी को 'काव्य'।

तो, काव्य के द्वारा सहृदय के मानसपटल पर कतिपय पात्रो-परिस्थितियो के गोचर बिम्ब प्रस्तुत किये जाते है। काव्य इन्ही का वर्णन-चित्रण करता है। ये बिम्ब, यदि काव्य पठ्य काव्य है तो शाब्दी प्रतीति के माध्यम से आते हैं, अभिनेय है तो प्रत्यक्षानुभूति के रूप मे। इस ज्ञानात्मक अनुभव मे सहृदय का लौकिक अनुभव, सस्कार और अनुमान-क्षमता काम करते रहते है। इस प्रकार काव्य-सामग्री का सहृदय को मानस प्रत्यक्ष होता है।

इस सामग्री मे आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, सचारी भाव, आश्रयपात्र और यदा-कदा साक्षात् रूप मे भावाभिव्यजना करता हुआ कवि भी—सभी चीजे आ जाती है। इस सामग्री के सम्बन्ध मे हमे यहा एक बात कहनी है। काव्य-निष्ठ वर्णित रूप मे इस सामग्री का आलम्बन, उद्दीपन, आश्रय, अनुभाव, सचारी आदि के रूप मे वर्गीकरण करना और अलग-अलग करके देखना तो ठीक है, किन्तु सहृदय की अनुभूति के लिए यह सब सामग्री विभाव सामग्री ही होती है। 'विभाव' का पारिभाषिक अर्थ है सहृदय के भावो को जगाने वाली वस्तु। इस अर्थ मे सभी सामग्री सहृदय के लिए विभाव है। दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रसिद्ध उदाहरण मे शकुन्तला ही सहृदय ही रति के उद्बोधन या विभावन के लिए विभाव नही है, दुष्यन्त, उसकी चेष्टाए, कवि का समूचा वर्णन एक भावोपयोगिनी परिस्थिति के रूप मे अकित होकर 'विभाव' है।

विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि नाम तो काव्य-वर्णित स्वरूप का विश्लेषण करने के लिए दिये जाते हैं, सहृदय के लिए यह सामग्री रसोद्बोधन का काम करती है। यदि भरत-कालीन नाम का प्रयोग करें तो इस समस्त विभाव-सामग्री को हम 'भाव-सामग्री' कह सकते है। भरत ने अनेकत्र इसी व्यापक अर्थ मे 'भाव' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु आज यह शब्द चित्तवृत्त्यात्मक भावो के लिए रूढ-प्राय हो गया है, अत इसके प्रयोग से भ्रान्ति हो सकती है।

इस मान्यता के दो सहज निष्कर्ष निकलते है—एक तो यह कि हम काव्य-निष्ठ सीता-शकुन्तला के प्रति रति अनुभव नही करते, काव्य-निष्ठ सीता-शकुन्तला हमारी रति के भाव को उद्बुद्ध या विभावित करते हैं। दोनो बातो मे अन्तर है हम काव्य-शकुन्तला के प्रति रति अनुभव करते हैं—यह बात हमारे व्यष्टि-परक भाव के उदबोधन को सिद्ध

करती है। काव्य-शकुन्तला हमारी रति को विभावित करती हे, इसका अर्थ है हमारे मन की सहज-साधारण रति का प्रादुर्भाव होता है। हम, इसी प्रकार का सहज-प्रादुर्भाव काव्य-पात्रो द्वारा अनुभव करते है। इस भाव-प्रादुर्भाव या विभावन मे शकुन्तला और दुष्यन्त अपनी परिस्थिति के बीच चित्रित होकर समान रूप से योग-दान करते है। अत विभावन-सामग्री एक भावानुकूल परिस्थिति है, समूची सामग्री मे से अलग निकालकर रखा हुआ कोई कोरा व्यक्तित्व नही।

दूसरी बात यह कि सहृदय के लिए यह अनिवार्य नही रह जाता कि वह काव्य मे वर्णित किसी एक पात्र के समान ही दूसरे पात्र के प्रति भावानुभूति करे। यह हो सकता है कि हमारा उद्‌बुद्ध भाव अनेक प्रसगो मे उसी भाव के मेल मे हो जिसका अनुभव काव्य-निष्ठ आश्रय-पात्र कर रहा है। उदाहरण के तौर पर हम दुष्यन्त के भावो के समान ही भावो की अनुभूति कर सकते है। किन्तु सभी जगह यह अनिवार्य नही कि हम काव्य-निष्ठ आश्रय-पात्र से समानुभूत हो। कभी हम समानुभूत भी हो सकते है, कभी अन्य प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रिया भी प्राप्त कर सकते है।

विभाव-सामग्री के फलस्वरूप हमारे मन मे जो भावोद्‌बोधन होता है उसे हम सामाजिक-निष्ठ भावात्मक प्रतिक्रिया कहना चाहते है। हमारी अनुभूतियो एव अनुभवो का स्वभाव ही यह है कि जैसी अच्छी-बुरी, कोमल-कठोर, सुन्दर-असुन्दर वस्तु हमारे ज्ञान-पटल पर आती है, हमारे चित्त-सस्कारो के अनुरूप हममे वैचारिक या भावात्मक प्रतिक्रिया निहित करती हुई जाती है। यह भावात्मक प्रतिक्रिया उस रूप की भी हो सकती है जिसको कि और भी हम-से अनेक व्यक्ति अनुभव करते है। कारण, हमारा चैत्तिक व्यक्तित्व अनेक समान तत्त्वो से सघटित हुआ है और उसके विकास-निर्माण मे समान सस्कारो एव समान प्रक्रियाओ का योग है। यदि हमारा चैत्तिक व्यक्तित्व कुछ असाधारण हुआ तो हमारी भावात्मक प्रतिक्रिया अन्य अनुभव-कर्ताओ से भिन्न भी हो जाती है। काव्यानुभूति मे, विशेषकर रस-काव्य मे, एक विशेषता यह होती है कि कवि जन-सामान्य के स्तर और अनुभूति का ध्यान करते हुए चलता है। आचार्य शुक्ल के शब्दो मे वह लोकहृदय होकर चलता है। अत उसकी प्रस्तुत सामग्री की भावात्मक प्रतिक्रिया एक सहृदय मे वैसी ही प्राय होती है जैसी अन्य सहृदयो की भी हो सकती है। इसीलिए काव्यानुभूति को सकल-सहृदय-हृदय-सवाद-भाजक कहा जाता है।

सहृदय की यह भावात्मक प्रतिक्रिया काव्य-निष्ठ किसी भावाभिव्यजना करने वाले पात्र के अनुरूप भी हो सकती है, प्रतिरूप-विरूप भी। जहाँ अनुरूप होती है, हम कह सकते है कि सामाजिक और आश्रय-पात्रो मे तादात्म्य घटित हुआ है, अथवा सामाजिक ने आश्रय से समानुभूति प्राप्त की है। किन्तु जहाँ भावात्मक प्रतिक्रिया भिन्न-रूपा होती है वहाँ समानुभूति या तादात्म्य नही होता।

वस्तुत सहृदय की काव्यानुभूति की व्याख्या के लिए सारी काव्य-सामग्री मे से एक भावाभिव्यजक आश्रय-पात्र को निकालकर उसके साथ सहृदय की भावात्मक-प्रतिक्रिया का मेल-बेमेल दिखाना ही बेकार है। आश्रय-पात्र सब जगह होता भी नही। हास्य की सामग्री का चित्रण होता है, अनेकत्र कोई आश्रय पात्र ही नही होता। भयकर और जुगुप्सित अनेक चित्र होते हैं, कोई आश्रय-पात्र नही होता। प्रकृति की सुन्दर और भीषण अनेक झाँकिया आती है, कही कोई आश्रय-पात्र नही। तब, ऐसे प्रसगो मे सहृदय की भावात्मक प्रतिक्रिया

का किसमे तादात्म्य या समानुभूति कही जाय ? यहाँ कहा जा सकता है और कहा भी जाता है कि सहृदय कवि के साथ तदात्म होता है, उसी के साथ समानुभूति प्राप्त करता है। ऐमा समझना भी अनुचित है। यह हो सकता है कि हम अनेक स्थलो पर वैसा ही अनुभव करते है जैसा अपनी विषय-वस्तु के प्रति कवि अनुभव करता है, पर सर्वत्र हम कवि की वस्तु को उसी की आँख से देखने के लिए बाध्य नही होते। एक प्रगतिवादी कहलाने वाला कवि समाज की स्वीकृत किसी स्वस्थ परम्परा पर उपहास करते हुए व्यग करता है। समूचा चित्रण उसकी भाव-व्यजना के अनुरूप है। भाषा योजना एव कवित्व अक्षन है। उसकी अपनी अनुभूति मे सच्चाई और स्वानुभूति है। व्यक्तिगत राग या कहिए द्वेष भी है। पर वह मान्यता स्वस्थ सामाजिक मन को प्रिय है। क्या ऐसी कवि-भावव्यजना मे सामाजिक कवि से तदात्म हो सकेगा ? तब तक नही हो सकता जब तक वह भी वर्गवादी सहृदय न बन जाय।

वैष्णव-काव्य के अनेक रूपो ने तो कवि के साथ तादात्म्य वाली बात को अस्वीकार्य सिद्ध कर दिया है। नमूने के तौर पर श्रीभट्टजी के युगलशतक से यह चित्र लिया जा सकता है

"उठत भोर लालजू के सगते कचुकि कसत राधिका प्यारी।
खिसि खिसि परत नीलपट सिरते शशिवदनी नव जोबन वारी।।
मन भावती लाल गिरधरजू की रची विधाता सुहाथ सवारी।
जै श्रीभट्ट सुरत-रग भीने लखे प्रिया-जुत कुज-विहारी।।" पद ३८।

इस चित्र मे राधा-कृष्ण युगल के सभोग शृगार का व्यजनात्मक चित्रण है। प्रात-कालीन सुरतान्त छटा के वर्णन से सभोग की व्यजना होने के कारण शृगार का चित्रण काव्यात्मक है। पर इस शृगार मे कवि डूबकर भी उस अर्थ मे नही डूबना चाहता है जिम अर्थ मे सामान्यत समझा जाता है। वह कान्ताभाव का भक्त है, उमकी निष्ठा का रूप साम्प्रदायिक है, वह सहचरी के रूप मे ही इस युगल-छबि की दर्शनात्मक झाकी ले सकता है। इस चित्र से उसमे रति का उदय तो होगा किन्तु वह रति शृगार-क्षेत्रीय दाम्पत्य-रति से सर्वथा भिन्न होगी। वह राधा-कृष्ण की दाम्पत्य-रति से तटस्थ, उनके प्रति सहचरी-रति होगी। कान्ताभाव की इस रूढ चेतना को लेकर चलने वाले कवि के साथ किसी ऐसे ही साम्प्रदायिक रसिक पाठक का ही तादात्म्य कहा जा सकता है, काव्य-रसिक सहृदय का तो नही। वह तो इस समूचे चित्र से भावात्मक प्रतिक्रिया प्राप्त करता है और वह होती है रति की, जिसका परिपाक साहित्यिक शृगार कहलाता है। अत यह सिद्धान्त भी अपने मे कम लचर नही कि सहृदय कवि से तादात्म्य या समानुभूति प्राप्त करता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करके चलने पर वैष्णव काव्य की रस-परिकल्पना मे सामाजिक की काव्यानुभूति अविश्लेषित ही रह जाती है।

अत यही सिद्धान्त हमे स्वीकार्य है कि काव्य-सामग्री समूचे रूप मे, जिसमे आलम्बन, उद्दीपन, आश्रय, अनुभाव तथा यदि कवि भी साक्षात् उपस्थित है तो वह भी, सब सम्मिलित है। सामाजिक के मानस-पटल पर ज्ञानात्मक अनुभव प्रदान करती हुई अर्थात् गोचर बनती हुई भावात्मक प्रतिक्रिया प्रदान करती है। यह भावात्मक प्रतिक्रिया अनेक स्थलो मे काव्य-निष्ठ आश्रय-पात्र से समानुभूत होती है, अनेक स्थलो मे कवि से समानुभूत होती है, किन्तु

इसका सर्वत्र ही आश्रय-पात्र या कवि से तदात्म होना अनिवार्य नही। यह उनकी अनुभूति मे विरूप-प्रतिरूप भी हो सकती है।

काव्य मे प्रस्तुत यह विभाव-सामग्री सामाजिक के हृदय मे साधारणीभूत भावो की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, अर्थात् सामाजिक के भाव निजत्व-परत्व के रूप मे न होकर सामान्य भूमि के होते है। इस सामान्य भावोदय का कुछ श्रेय तो सहृदय की आस्वादन-क्षमता को होता है, बहुत-कुछ विभाव-सामग्री की साधारणीकृतरूपता को होता है। जैसी वस्तु हमारे सामने आती है हम तदनुरूप भावात्मक अनुभूति करते हे। सुन्दर वस्तु के सामने आने पर सौन्दर्य-मग्नता और कुरूप के सामने आने पर जुगुप्सा की भावात्मक प्रतिक्रिया होना हमारे मन का सहज स्वभाव है। अत साधारणीकृत विभाव-सामग्री के सामने आने के कारण हमारा भावोद्बोधन भी साधारण भूमि का होता है।

यह साधारणीकरण क्या है और इसका स्वरूप क्या है, इस पर भट्टनायक के समय से निरन्तर विचार-विवेचन होता चला आ रहा है और अब भी इसकी अनेक गुत्थिया अस्पष्ट है। पर इसकी महत्ता निर्विवाद है। इसके बिना काव्यानुभूति की समस्या का हल नही होता।

काव्य मे वर्णित सामग्री कवि द्वारा देश-काल-व्यक्तित्व के परिपूर्ण बिम्बन के साथ सविशेष रूप मे चित्रित की जाती है। यदि वह ऐसा न करे तो वैचारिक साहित्य के समान उसकी वाणी केवल विचारोद्बोधन कराकर ही रह जाय, भावोद्बोधन के लिए उपयोगी वस्तु-बिम्बन न करा सके। तब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह सविशेष सामग्री सामाजिक के भावोद्बोधन का कार्य कैसे करती है? काव्य की सीता-शकुन्तला, जो किसी एक काल की, एक देश-विशेष की तथा किन्ही विशिष्ट परिस्थितियो की पात्रिया है, किन्ही विशिष्ट राम-दुष्यन्त के हृदय मे ही भावात्मक प्रतिक्रियाए उत्पन्न कर सकती है, आज सामाजिक के मन मे तो उनकी रत्यादि उद्बोधन के लिए उपयोगिता स्वीकार नही की जा सकती। इन बाधाओ को दूर करने के लिए ही भट्टनायक ने साधारणीकरण व्यापार को परिनिष्ठित रूप दिया था। कवि-भाषा और रगमचीय कौशल एव सज्जा के प्रभाव से तथा सहृदय की सहृदयता के अनुयोग से कवि-वर्णित विभाव-सामग्री असाधारण रूप मे चित्रित होते हुए भी सामाजिक की प्रतीति के लिए साधारणीभूत हो जाती है। साधारणीकृत विभावादि का निरूपण करते हुए मम्मट ने कहा है कि ये सामाजिक की चेतना मे अपने-पराये के निश्चित सम्बन्धो के स्वीकार-परिहार दोनो से अलग, साधारण्यात्मक चेतना से परिगृहीत होते है।[1] अभिनव ने इनके साधारणीकृत होने का एक मनोवैज्ञानिक दार्शनिक हल दिया है। सामाजिक के चित्त-फलक पर प्रस्तुत विभावादि-सामग्री के देश-काल-व्यक्तित्व विशिष्ट रूप मे वर्णित होते हैं, दूसरी ओर सामाजिक का अवचेतन मन इस सामग्री की कविकल्पना-प्रसूनता तथा देश-काल-व्यक्तित्व-हीनता से परिचित होता है। वह जानता है कि यह सब-कुछ नही है। न वास्तविक राम है, न वास्तविक सीता, न वास्तव मे उनका युग। इस प्रकार उसके सामने नटादि ही होते है। काव्य मे नटादि का प्रतिनिधि कवि-शब्दो को लिया जा सकता है। तब सामाजिक के चेतना-फलक पर दो प्रकार के विशेष एक-दूसरे के विरोध मे खडे दिखायी देते है। एक ओर मूल

---

१ काव्यप्रकाश उ० ४ पृ० ९१-९२। "ममैवेते शत्रोरेवेते तटस्थस्यैवेते न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवेते इतिसम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्त स्थायी रस।"

पात्रो मे निहित विशेष, दूसरी ओर नटादि मे निहित विशेष, काव्य मे कवि-शब्दो मे निहित विशेष। ये दोनो प्रकार के विशेष आपस मे एक-दूसरे मे टकराकर समाप्त हो जाते है और विभावादि सामग्री सामाजिक के लिए साधारणीभूत रह जाती है

"यस्या वस्तुसता काव्यार्पिताना च देशकालप्रमात्रादीना नियमहतूनाम अन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसारणे स एव साधार्णाभाव सुतरा पुष्यति।"[1]

तब साधारणीकरण का अर्थ हुआ विभावादि सामग्री का सामाजिक की चेतना मे इस प्रकार लाया जाना कि वे उसमे भावात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सके अर्थात् भावोद्बोधन कर सके।

किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विभावादि का इस रूप मे लाया जाना साधारणीकरण माना है जिसमे वे सभी सामाजिको के उसी भाव के विषय बन सके जिसके कि काव्य मे वर्णित आश्रय पात्र के बन रहे है। शुक्लजी की यह मान्यता आचार्य विश्वनाथ के प्रभाव से बनी है जिसमे विश्वनाथ ने विभाव के साधारणीकरण और आश्रय से तादात्म्य की बात कही है।[2] शुक्लजी भी आश्रय के साथ तादात्म्य मानते है।[3] किन्तु यह मान्यता अभिनवगुप्त द्वारा प्रमाणित नही होती। हम ऊपर लिख चुके है कि काव्यानुभूति मे आश्रय से जहा-कही तादात्म्य मिल जाने पर भी सर्वत्र ऐसा नही होता। अत इस मान्यता को एक व्यापक सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। अत साधारणीकरण का अर्थ विभावादि-सामग्री का केवल इसी रूप मे सामाजिक के सामने लाया जाना कहा जा सकता है कि वह सामाजिक मे भावो को विभावित कर सके। इन विभावित होने वाले भावो के साथ यह कैद नही लगायी जा सकती कि वे काव्य मे वर्णित आश्रय-पात्र के अनुरूप ही होने चाहिए।

विभावादि के साधारणीकरण के आश्रय-पात्र या कवि के साथ सामाजिक के भाव-तादात्म्य का अनिवार्य सम्बन्ध नही है। हमने पीछे जो श्रीभट्ट का पद्य प्रस्तुत किया है उसमे सामाजिक का श्रीभट्ट से भाव-तादात्म्य नही है। सामाजिक उक्त चित्र मे काव्य-सस्कारो के अनुरूप अमिश्रित शृगार की ही अनुभूति करता है, किन्तु श्रीभट्टजी अपनी साम्प्रदायिक भाव-निष्ठा के अनुरूप उक्त चित्र मे सहचरी-रति का आस्वादन करते है। अत कवि और सामाजिक के बीच वहाँ भाव-तादात्म्य तो नही है किन्तु उसमे साधारणीकरण भी नही है, ऐसा कहना अनुभूति के सिद्धान्त को ही झुठलाना है। राधा, कृष्ण, उनके अनुभाव, उनकी अनुभूतिया सभी कुछ साधारणीकृत होता है और सामाजिक के हृदय मे भावोद्बोधन की पूरी-पूरी क्षमता रखता है। अत कहा जा सकता है कि विभावादि का साधारणीकरण वहा भी होता है जहा हम कवि या आश्रय पात्र से तदात्म होते है, वहा भी हो सकता है जहा हम उसकी उपेक्षा कर काव्य-सस्कारो और अपने व्यक्तित्व के अनुरूप भिन्न प्रकार की अनुभूति कर रहे होते है। इस प्रकार साधारणीकृत विभावादि का काम सामाजिक को साधारणीभूत भावो की प्रतिक्रिया प्रदान करना है, आश्रय या कवि से तदात्म कराना नही।

ऊपर के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य मे सर्वत्र अनिवार्यत साधारणीकरण हो जाता है, भले ही हमारी भावात्मक प्रतिक्रिया आश्रय के अनुरूप या विरूप हो।

---

१ अभि० भा०, भा० १, पृ० ७७६।

२ सा० द०, परि० ३, का० ६—"प्रमाता तदभेदेन स्वात्मान प्रतिपद्यते।"

३ चिन्तामणि, भा० १, साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद।

इस प्रकार के साधारणीकरण की कोई सीमा नही होगी । किन्तु ऐसा समझना भी ठीक नही । साधारणीकरण के मूल मे दो तत्त्वो को स्वीकार किया जा चुका है—लालित्य एव औचित्य। ये तत्त्व भाषा, पात्र, परिस्थिति, भावाभिव्यक्ति सभी स्तरो पर अपेक्षित है । इनमे भी औचित्य तो साधारणीकरण का प्राणाधार तत्त्व है । उसकी कमी हो जाने पर विभावादि रसोपयोगी साधारणीकरण नही पा पाते । अर्थात् वे देश-काल-व्यक्तित्व की सीमाओ मे मुक्त होकर सामाजिक के सामने नही आ पाते । रसाभासी काव्यो मे प्राय यही होता है। तब सामाजिक प्राय औचित्य-अनौचित्य के विचार को साथ लिये हुए पात्रो एव परिस्थितियो के प्रति विविध वैचारिक एव भावात्मक प्रतिक्रियाए प्राप्त करता है । उदाहरण-स्वरूप एक अत्याचारी एव क्रूर व्यक्ति के द्वारा किसी श्रमिक निर्धन को सताये जाने पर हम उस क्रूर के क्रोध मे तो योग देते ही नही, साथ ही उस पीडित के प्रति करुणा से भर जाते है, उस अत्याचारी के प्रति घृणा और रोष सचित करते है—आदि, आदि । इस प्रकार औचित्य-रहित भावाभिव्यक्ति के स्थलो मे साधारणीकरण अपूर्ण रह जाता है । किन्तु वहा भी उसका सर्वथा अभाव नही होता ।

रसाभासी काव्यो मे एक मात्रा तक साधारणीकरण होता है, इसका एक कारण है । रसाभासी काव्यो मे अनौचित्य कवि द्वारा जाना बूझा ही लाया जाता है । वह अनौचित्य इसलिए ही लाया जाता है कि सामाजिक-काव्य वर्णित पात्रो के व्यक्तित्व और प्रकृति के प्रति कवि की अभिप्रेत प्रतिक्रिया प्राप्त कर सके । उद्देश्य तो सदा कवि का यही होता है, किन्तु उसे अपने इस उद्देश्य मे सर्वत्र सफलता ही मिलती हो, यह आवश्यक नही होता। मधुरोपासक वैष्णव कवियो ने शृ गार के चित्रण मे जान-बूझकर लोक-मर्यादा एव औचित्य को तिलाजलि दी है । ऐसा करके वे राधा-कृष्ण के प्रेम की सघनता और तीव्रता की अनुभूति कराना चाहते है । चैतन्य-सम्प्रदायी भक्तो ने इसी सघनता को अनुभव कराने के लिए परकीयात्व का आदर्श अपनाया है । इस प्रकार इन सम्प्रदायो का भक्त कवि भक्ति के उच्चतम आदर्श की अनुभूति सामाजिक को कराने के लिए औचित्य का परित्याग और अनौचित्य का स्वीकार करता है । किन्तु उसे सर्वांश मे सफलता नही मिलती । उसके अनेक चित्रो मे काव्य-सस्कारी एव समाज-चेतना-सम्पन्न सामाजिक भक्ति की अनुभूति तो करता ही नही, अमिश्रित निर्मल शृ गार की अनुभूति भी नही कर पाता । उसे वैसी ही तटस्थ भावात्मक प्रतिक्रिया मिलती है जैसी उसे अन्यत्र प्राय रसाभासी काव्यो मे मिला करती है एक भक्त-साम्प्रदायिक उसकी इस अनुभूति को प्राकृत, लौकिक, अज्ञान एव जडता आदि नाम दे सकता है, किन्तु काव्यानुभूति के नाते उसकी भावात्मक प्रतिक्रियाओ को उपेक्षित नही किया जा सकता । इस प्रकार यह सिद्ध है कि इस प्रकार के औचित्य की कमी वाले काव्यो मे भी विभाव-सामग्री का एक मात्रा तक साधारणीकरण होता है । पर इस साधारणीकरण मे वैसी पूर्णता नही होती जैसी प्रकृत रस-काव्य के स्थलो मे होती है ।

इस साधारणीकृत विभाव-सामग्री द्वारा औचित्य की मात्रा एव स्वरूप के अनुरूप सामाजिक हृदय मे साधारणीभूत भावो का उदय होता है । ये भाव स्वरूपत उसकी वासनारूप होते है । इस भावोदय मे चित्त की सात्त्विकता होती है, प्रमाता का हृदय अन्य सवेद्यो से शून्य होता है । फल यह होता है कि उसकी अनुभूति मे सघनता एव चेतना मे विश्रान्ति होती है । इस प्रकार मनोमय और आनन्दमय उभय कोशो के स्तर पर मिली-जुली काव्यानुभूति सहृदय के लिए आनन्दमय होती है ।

इस आनन्दमयी काव्यानुभूति को ही रस कहा गया है। इसकी स्वरूपात्मक व्याख्या विभिन्न दर्शनो के सहारे सस्कृत काव्याशास्त्रियो ने की है जिसे हम प्रथम अध्याय मे देख चुके है। उन सभी दर्शनो का उपयोग तो यत्र-तत्र हुआ है। पर सभी व्याख्याओ मे इसी आनन्दमयी स्थिति की व्याख्या नही हुई है। ऐसा सफल प्रयास केवल शैव और वेदान्त का प्रयोग करने वाले आचार्यो द्वारा ही हुआ है।

अनात्मवादी दर्शनो की दृष्टि से यदि इस काव्यानन्द की व्याख्या की जाय तो यही कहा जायेगा कि यह मनोवृत्तियो की एकाग्रता के कारण अनुभूत कुछ सूक्ष्म वासनात्मक। आनन्द है। दु खवादी बौद्धो की दृष्टि मे यह आनन्द आनन्दाभास ही कहा जा सकता है। चित्र-तुरग जैसी भ्रान्तियो पर आधारित कल्पनामूलक आनन्द ही रस है, ऐसा कहा जा सकेगा।

आत्मवादी दर्शनो मे न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से यह आनन्द मानसेन्द्रिय-ग्राह्य है। इन दर्शनो के अनुसार आत्मा का पूर्ण रूप आनन्द-स्वरूपात्मक नही, दु खाभाव ही इनकी आनन्दावस्था है। ससारावस्था के समूचे सुख दु खावृत है, अत दु ख-रूप ही है। अत काव्यानन्द भी शुद्ध सुख नही है। उसकी अनुभूति भी एक भ्रम है।

मीमासक भी आत्मा को आनन्दरूप नही मानता। उसके अनुसार भी काव्य रस विशुद्ध आनन्द नही कहा जा सकता। मीमासा के अनुसार मोक्ष सुख यद्यपि भावात्मक है किन्तु काव्यरस को तात्त्विक आत्मरस की अभिव्यक्ति नही कहा जा सकता, चित्तवृत्ति के धरातल का ही समन्वित-वृत्ति-मूलक आनन्द कहा जा सकता है।

साख्य की दृष्टि से कहा जा सकता है कि काव्य-सामग्री साधारणीकृत होकर चित्तवृत्ति का अग बनती है। दूसरी ओर से प्रमातृ-चित्त उसका ग्रहण करता है और उसकी पौरुषेय बोध के रूप मे परिणति होती है। इस प्रक्रिया मे चित्त मे रजस् तमस् दब जाते है और सत्त्व का प्रकाश बढ जाता है। सत्त्व का प्रकाश ही स्वरूपत सुखात्मक है। अत काव्यरस की अनुभूति प्राकृत चित्त की ही अनुभूति या परिणति है। तच्छायापत्ति से एकाकार हुई चेतना उसके आस्वादन का अभिमान करती हुई अपने को आनन्दमग्न अनुभव करती है।

इन दर्शनो मे एक शैव दर्शन ही ऐसा है जो काव्यानन्द को भी मोक्षानन्द के समान आत्म-स्वरूप मानता है। सविद् की विश्रान्ति ही का आनन्द रस है, वह मोक्ष मे भी व्यक्त होता है, काव्यानुभूति मे भी, विषयानुभूति मे भी। प्राकृत किन्तु परिमार्जित चित्त के धरातल पर उक्त विश्रान्त सविद् की अनुभूति होने के कारण शैव दर्शन की दृष्टि मे काव्यानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर है। यह आनन्द वेदान्तियो के समान उसकी दृष्टि मे विवर्त-रूप नही है।

किन्तु वेदान्त की दृष्टि मे यह आनन्द एक भ्रम है। फिर भी इस आध्यासिक अनुभूति मे आत्म-तत्त्व का ही प्रकाशन होता है। अन्य आवरणो का यहाँ भग हो जाता है, केवल एक रत्यादि-रूप सात्त्विक चित्त का निर्मल आवरण उस पर जाता है। अत एक निर्मल आवरण से आवृत आत्मानन्द ही काव्यरस है।

किन्तु वैष्णव दर्शनो की दृष्टि मे यह काव्यानन्द आत्मानन्द का प्रकाशन न होकर प्रकृत चित्त की एक सात्त्विक एव परिमार्जित अनुभूति है। यह अनुभूति सूक्ष्मता और सघनता के कारण लौकिक विषय-सुखो से विलक्षण एव तीव्र होने से अलौकिक भले ही कही जा सके, किन्तु इसे अप्राकृत तो नही कहा जा सकता। अत उनकी दृष्टि मे काव्य-रस भी तात्त्विक

दृष्टि से रसाभास है। सच्चा रस तो है श्रुति-प्रतिपाद्य लीलामय पुरुषोत्तम तत्त्व। वह आस्वाद्य रस है, और उसका भावुक एव कृपाप्राप्त भक्त के अप्राकृत चित्त मे हुआ रत्यात्मक प्रकाशन दोनो ही रस-रूप है। एक को हम विभाजन की दृष्टि मे आस्वाद्य रस कह सकते है, दूसरे को आस्वादन रस। वस्तुत है दोनो शक्तिमान् और शक्ति पक्षो के प्रकाशन ही। फिर भी आस्वाद्य एव आस्वादन का अन्तर किया जा सकता है।

वैष्णव दर्शन यद्यपि आनन्द के ब्रह्म-तत्त्व से सम्बन्ध के विषय मे विविध व्याख्याए प्रस्तुत करते है, जिन्हे हम सम्बद्ध अध्याय मे देख चुके है। उन मतो की पुनरावृत्ति यहाँ अपेक्षित नही। कोई उन्हे परमात्म-तत्त्व का गुण मानता है तो कोई स्वरूप-निरूपक धर्म आदि। कोई ज्ञान से पृथक् करके देखना चाहता है तो कोई ज्ञान और आनन्द को एकाकार देखता है। इन दृष्टि-भेदो से कोई विशेष अन्तर नही पडता। मूल बात यह है कि जहाँ शैव और वेदान्ती इस आनन्द का मूल स्रोत प्रमाता की अपनी ही आत्मा मे केन्द्रित करते है, वहाँ वैष्णव दर्शन जीव की अल्पता, परिच्छिन्नता एव अनानन्दमयता की चेतना रखते हुए उस आनन्द के मूल स्रोत के लिए परम तत्त्व लीला-पुरुषोत्तम की ओर उन्मुख होते है। इस आत्म-परमात्म के अन्तर की चेतना ही उनमे उभय के बीच एक प्रेमात्मक सम्बन्ध स्थापित करा देती है। यही प्रेम परिणतावस्था मे भक्तिरस है, स्वरूपत आनन्दात्मक है। इस प्रेम-तत्त्व को प्राकृत रतिरूप कोई न समझ ले, इसलिए ये वैष्णव दर्शन उसका स्वरूपात्मक सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से परमात्म तत्त्व से ही जोडते है। साथ ही वे एक बात और करते है। आस्वाद्य पर-तत्त्व रस को वे साकार-सगुण लीलामय रूप मे लाकर भावना का विषय बनाते है। यह साकारता सगुणता उन्ही लौकिक भावो के रूप मे, लौकिक सम्बन्धो के रूप मे व्यक्त होती है जो प्राकृत है, स्थूल है, ससारी है। अत वैष्णव काव्य मे परिकल्पित रस जानकार भगवत्कृपाप्राप्त भक्तो के लिए तो अप्राकृत विशुद्ध पूर्ण रसतत्त्व ही रहता है, किन्तु भक्ति के सस्कारो एव साधना से शून्य हृदयो के लिए यह रस लौकिक एव प्राकृत जैसा रह जाता है, अधिक से अधिक अलौकिक किन्तु प्राकृत काव्यरस बनता है।

इन तथ्यो के परिचय के अनन्तर अब हम हिन्दी वैष्णव साहित्य के अपने आलोच्य काल के कवियो की कृतियो मे रस-परिकल्पना का अध्ययन कर सकते है।

५

कृष्णभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना

सोलहवी-सत्नहवी शतियो का कृष्णभक्ति-काव्य प्रमुखतया साम्प्रदायिक धाराओ मे प्रवाहित हुआ है। अधिकाश कवि किसी न किसी सम्प्रदाय विशेष की चेतना एव प्रेरणा स्वीकार करते चले है। कुछ ही कवि ऐसे होगे जिन्हे सम्प्रदाय-मुक्त कहा जा सके अथवा जिनकी भावना किसी एक ही सम्प्रदाय की सीमा मे न बँधकर एकाधिक मम्प्रदायो से जुडती हो। कृष्णभक्ति-काव्य की रस-परिकल्पना का परिचय प्राप्त करते समय हमे यह ध्यान रखना उपयुक्त होगा। जिस काव्य की साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि निश्चित है, उस पर समूचे रूप मे ही विचार करना सरल होगा, हाँ जिन कवियो का कवि-व्यक्तित्व कवित्व-क्षमता के नाते अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है उनके काव्य पर विशेष ध्यान अपेक्षित होगा। जो असम्प्रदायी या अनिश्चित-सम्प्रदायी कवि हैं उनके ऊपर तो समूचे रूप मे नही, व्यक्तिश ही कुछ विचार किया जा सकता है।

मात्रा की दृष्टि से इस काल का कृष्ण-साहित्य इतना विशाल है कि समीक्षक यदि इस सबके विषय मे कुछ कहना चाहता है तो उसे प्रमुख कवि, प्रमुख कृति और उसमे निहित प्रमुख चेतनाओ तक ही अपने को सीमित रखना पडेगा। प्रस्तुत एक ही अध्याय मे इस समूचे साहित्य की रस-परिकल्पना का अध्ययन प्रस्तुत करने के लिये हमे भी चुनाव के साथ चलना होगा।

काल की दृष्टि से सम्प्रदायो का क्रम इस रूप मे है—निम्बार्क सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय। पर समूचे कृष्ण-काव्य मे अष्टछापी कवियो की कृतियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती है। अबतक यही साहित्य सबसे अधिक प्रकाश मे आया है, सबसे अधिक अध्ययन का विषय बना है और इसी ने जनमानस मे सबसे अधिक प्रवेश पाया है। वस्तुत अष्टछापी काव्य मे ही साम्प्रदायिक होकर भी सर्वाधिक असाम्प्रदायिकता है, अर्थात् अधिकतम-सहृदय हृदय-सवाद-भाजकता का गुण उसमे सबसे अधिक है। यो सम्प्रदायो का उदय किसी काल-क्रम से हुआ हो, जहाँ तक इस काल के हिन्दी कृष्ण-काव्य का प्रश्न है, वह सब लगभग समसामयिक रूप से अपनी-अपनी धाराओ और चेतनाओ का अनुगमन करते हुए, वृन्दावन और व्रजभूमि मे कृष्णरस के रसिक भक्त कवियो द्वारा रचा गया है। हिन्दी कृष्णकाव्य का सुन्दरतम अश इन्ही शतियो मे इसी सहज रूप मे आविर्भूत हुआ है। इन सब वस्तु-स्थितियो का ध्यान रखते हुए प्रस्तुत अध्याय मे हम विवेचन का निम्न क्रम निर्धारित करके चलना चाहते है—अष्टछापी कृष्णकाव्य, अष्टछापेतर कृष्णकाव्य, असम्प्रदायी एव अनिश्चित-सम्प्रदायी कृष्णभक्त कवि। इसका वर्गीकरण इस रूप मे किया जा सकता है

(अ) साम्प्रदायिक कृष्णभक्ति-काव्य म रस-परिकल्पना

१ अष्टछापी कृष्णभक्ति-काव्य मे रस-परिकल्पना

२ अष्टछापेतर कृष्णभक्ति-काव्य मे रस-परिकल्पना

(क) निम्बार्क सम्प्रदायी काव्य

(ख) हरिदास-सम्प्रदायी काव्य

(ग) राधावल्लभ-सम्प्रदायी काव्य

(घ) चैतन्य-सम्प्रदायी काव्य

(आ) असम्प्रदायी एव अनिश्चित-सम्प्रदायी कृष्ण-भक्त कवि

मीराँ

रसखान

इस वर्ग के यो छोटे-मोटे और अनेक कृष्ण-भक्त कवि हें। उनमे से रस-कल्पना की दृष्टि से उत्कृष्ट एव प्रतिनिधि ये दो नाम चुने जा सकते हे।

इस क्रम के अनुसार ही हम पहले अष्टछापी कृष्णकाव्य मे रस-परिकल्पना का अध्ययन प्रस्तुत करेगे, पीछे अन्य सम्प्रदायो एव अन्त मे मीरा और रसखान की रस-परिकल्पना का निरूपण रहेगा।

अष्टछापी कृष्णभक्ति-काव्य मे रस-परिकल्पना

'अष्टछाप' के अन्तर्गत आठ कवि आते है—सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी और छीतस्वामी। इन सभी कृतियो का काव्य हमारे आलोच्य काल की परिधि मे आता है।

अष्टछाप के सभी कवियो की रस-परिकल्पना वल्लभाचार्यजी एव आचार्य विट्ठल के दृष्टिकोण से परिचालित है। वल्लभ ने अपने सभी ग्रथो मे 'रसो वै स' श्रुति का प्रतिपाद्य रस-तत्त्व 'श्रीकृष्ण' ही को निरूपित किया था। इस रसमय तत्त्व को निर्गुण मानते हुए भी उन्होंने चरम रूप मे सगुण एव लीलामय ही प्रतिपादित किया था। उन्ही लीलामय मधुराधिपति श्रीकृष्ण की लीलाओ का गान अष्टछापी कवियो का ध्येय बना। श्रीकृष्ण, उनकी लीलाएँ, उन लीलाओ का गान—यह सभी कुछ तो रसमय है, इसमे भी उनकी शृगारमयी मधुर लीलाएँ तो महारस है।

वल्लभ-सम्प्रदाय मे श्रीकृष्ण का व्रज-विहारी रूप ही मुख्यत प्रिय रहा, मथुरा और द्वारका के कर्मठ कृष्ण अधिक आकर्षण न रख सके। इसी कारण व्रजलीला के अनुरूप ही उनके बाल, कुमार, पौगण्ड और किशोर रूपो की नाना झाकियाँ इन अष्टछापी कवियो ने प्रस्तुत की। मथुरावासी कृष्ण ने किशोर-लीला की स्मृतियो को उभारने का ही काम किया। सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार भगवान् कृष्ण व्रज मे ग्यारह वर्ष बावन दिवस पर्यन्त रहे।[1] अष्टछाप का समूचा काव्य भगवान् के इसी काल का लीला-गान है।

वल्लभाचार्यजी ने सेवा और आराधना के लिए भगवान् के दो रूप प्रमुखतया चुने—बालरूप और किशोररूप। कुमार और पौगण्ड इन्ही की माध्यमिक अवस्थाए है।

१ श्री द्वारकादास परीख "परमानन्दसागर · एक झाकी" परमानन्दसागर डा० गोवर्धननाथ शुक्ल स-पादित पृ० ४।

डा० दीनदयालुजी के अनुमार महाप्रभु वल्लभ ने पहले वात्सल्य भक्ति का ही प्रचार किया था, पीछे अपने उत्तर जीवन-काल मे उन्होने युगल-स्वरूप की उपासना भी स्वीकार की ।[1] जो हो, इतना निश्चित है कि स्वय वल्लभाचायजी के ग्रन्थो मे ही बाल-रूप के अतिरिक्त किशोर युगल-रूप की भावना भी पूर्णत पुष्ट रूप मे उपलब्ध होती है ।[2] महाप्रभु के अनन्तर उनके उत्तराधिकारी विट्ठल और श्रीहरिरायजी मे शृ गारमयी किशोर-लीला का प्राधान्य और बढता गया । इस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना मुख्यत दो भावो की है—वात्सल्य और माधुर्य । इन दो के अतिरिक्त दो रस और है जिनकी भावना वल्लभ-सम्प्रदाय और उसके अनुयायी कवियो के काव्य मे मिलती है । ये रस है—दास्य और सख्य ।

महाप्रभुजी ने भक्ति का स्वरूप इन शब्दो मे निरूपित किया है

"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोधिक ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तम्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥"[3]

तात्पर्य यह कि माहात्म्य ज्ञान-पूर्वक चरम-सीमा-प्राप्त सुदृढ स्नेह ही भक्ति है । भक्ति के इस सामान्य लक्षण मे भगवान् के माहात्म्य की चेतना को एक सामान्य शर्त के रूप मे स्वीकार किया गया है । वस्तुत यह माहात्म्य-चेतना भक्ति-मार्ग की एक अनिवार्य अनुभूति है । यदि देखा जाय तो लौकिक भावो को भगवदीय बनाने मे इसी का सर्वाधिक योग है । किन्तु रसिक-सम्प्रदायियो ने मधुर-भावना को, जिसमे महत्त्व-चेतना का विलयन हो जाता है, उत्कृष्ट ठहराने के लिए इस चेतना को प्रेम के घनत्व मे बाधक बताया है ।[4]

श्रीहरिरायजी ने भी माहात्म्य-चेतना का प्रेम के घनत्व आने पर छूट जाना स्वीकृत किया है । 'जब सर्वोपरि स्नेह होयगो तब आपही तें स्नेह ऐसो पदार्थ जो माहात्म्य कू छुडाय देयगो ।"[5] अष्टछापी रस-परिकल्पना मे माहात्म्य चेतना अन्य भावो के साथ मिली हुई भी मिलती है, स्वतन्त्र भी मिलती है और बिना इस चेतना के भी अन्य रसो का परिपाक मिलता है । माधुर्य के घनत्व मे प्राय महत्त्व घुलता हुआ दिखायी पडता है ।

अष्टछाप के आठो कवियो मे रस-दृष्टि से तीन ही नाम उल्लेखनीय हैं—सूरदास, परमानन्ददास और नन्ददास । पर वस्तुत सूर ही अष्टछाप के प्रतिनिधि कवि है । उनका

---

१ डा० दीनदयालु गुप्त अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भा० २ पृ० ५२७ ।

२ महाप्रभुजी के शब्दो में ही भगवान् कृष्ण का मधुर रूप इन शब्दो में स्पष्ट है

—गोपिकाव्याप्तसर्वाङ्ग' स्त्रीसभापविशारद ।
रासोत्सवमहासौख्यगोपीसभोगसागर ॥ पुरुषोत्तमनामसग्रह दशम स्कन्ध श्लोक १=५
—सुन्दरीहृदयानन्दो गोपीमन्त्राभिमन्त्रित । वही, श्लोक १६० ।
—प्रत्यगरम्भावेशप्रमदाप्राणवल्लभ ।
रासोल्लासमदो मत्तो राधिकारसलम्पट ॥ श्रीकृष्णप्रेमामृतम् श्लोक ३३ ।
—राधावरुन्धनरत कदम्ववनमदिर । वही, श्लोक २४ ।

३ तत्त्वदीप-निबन्ध श्लोक ४६ ।

४ "तथाप्यैश्वर्यज्ञानप्रधानत्वात् तेषा विभिमागे प्रधानत्वमेव स्याद् इति शुद्धरागात्मिकाया नोपयोग ।" —दुर्गमसगमनी, श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु पृ० ६० ।

५ डा० दीनदयालु गुप्त द्वारा 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', पृ० ५३० पर अष्टछाप वार्ता, काकरौली पृ० १८ से उद्धृत श्रीहरिरायजी के वचन ।

काम्य सम्प्रदाय-निष्ठा एव कवि के निज व्यक्तित्व की समजस उपलब्धि है। वैष्णव साहित्य मे हुआ यह है कि साम्प्रदायिक चेतना ने कवि के आत्मव्यक्तित्व को अनावश्यक मात्रा मे आच्छादित किया है। जिस मात्रा मे साम्प्रदायिक चिन्तन-पक्ष का प्रभाव बढा है उसी मात्रा मे सहज कवित्व घटा है। पर सूर ने सम्प्रदाय की चेतना मे अनुरजन ही पाया है, आच्छादन नही। और यही कारण है कि उनकी रस-परिकल्पना जहा साम्प्रदायिक भक्तो के लिए सवेद्य है वहा सहृदय-मात्र के लिए भी उसमे भारी सवेद्यता है। इतना ही नही, उसका बहुत बडा अश जन-साधारण के मानस मे भी रस बर्षाता है।

अष्टछापी कृष्ण-काव्य स्वरूप से मुक्तक काव्य है किन्तु इसमे रस-परिकल्पना मुक्तक रूप मे ही नही, प्रबन्ध रूप मे भी मिलती है। इस साहित्य के अधिकाश का निर्माण कीर्तन एव वर्षोत्सव के पदो के रूप मे हुआ है, फिर भी नन्ददास की विभिन्न कृतियो मे एव स्वय सूर-सागर मे प्रकरण-रस एव प्रबन्ध-रस की धारा प्रवाहित होती हुई परिलक्षित होती है।

स्कन्ध-क्रम मे प्राप्त सूर-सागर अपने समूचे रूप मे एक चरित-प्रबन्ध नही, भक्तिरस का एक भाव-प्रबन्ध है। उसमे चरितविकास पर दृष्टि नही, पर भाव-विकास का एक सुनियोजित क्रम अवश्य परिलक्षित होता है। सूर-सागर मे मात्रा की दृष्टि से भगवान् की किशोर-लीला के ही पद सर्वाधिक है, वही जाकर सूर का हृदय खुला है। दशम-स्कन्ध मे श्रीकृष्ण की बाल-लीला और किशोर-लीलाओ का परिगायन हुआ है। प्रारम्भ के विनय के पद और नौ स्कन्धो को दशम-स्कन्ध की भूमिका के रूप मे ही समझना चाहिए। 'मधुर रस' ऊपर से लौकिक श्रृगार ही प्रतीत होता है, अत इस पथ के आचार्य उसे जन-सामान्य से गोप्य रखने की सलाह देते आए है। उसमे जो पतन का खतरा है उससे बचने का प्रमुख उपाय यही है कि इस पथ के पथिक का मन वासना-शून्य हो तथा लीलाधर्मी राधा-कृष्ण युगल की भगवदीयता और महत्त्व की चेतना बनी रहे। सूर ने कृष्णलीला-रस के आस्वादन के लिए नवम स्कन्ध तक यह पीठिका तैयार की है। भक्तिरस के इस विशिष्ट रूप के आस्वादन के हेतु किसी भी व्यक्ति मे जो हृदय-निर्मलता, ससार-विमुखता, प्रभु-कृपा और सस्कार-शुद्धि अपेक्षित है, सूर-सागर के विनय के पदो मे पढते-पढते स्वय उपलब्ध होती है। इसके अनन्तर नौ स्कन्धो मे जो भगवान् के विविध अवतारो की कथाओ का वर्णन है, वह भी यही बनाने के लिए है कि अगले स्कन्ध मे जिसकी मधुर लीलाओ का गान है वह और कोई नही, स्वय नाना-अवतारधारी भगवान् ही है। इन नौ स्कन्धो मे चित्रात्मकता कम, वर्णनात्मकता ही अधिक है, अत रस-कल्पना जैसी चीज का अवसर यहा नही आ पाता। किन्तु इन कथा-वर्णनो मे भगवान् के महत्त्व, पतित-पावनत्व, भक्त सरक्षकत्व आदि धर्मो को अवश्य उभारा गया है। इनमे जब-कभी अद्भुत, वीर आदि रसो के प्रसग आ जाते है, किन्तु उन रसो की परिपक्व एव आस्वाद्य स्थिति नही बन पाती, पर इन सभी वर्णनो के मूल मे एक भाव-धारा निश्चित रूप से परिव्याप्त रहती है, जिसमे आलम्बन के महत्त्व के प्रति रति की अनुभूति होती है। विनय के पदो मे भगवान् के सरक्ष-कत्व एव महत्त्व के प्रति जो दास्यानुभूति आत्म-व्यजक शैली मे प्रस्तुत की गयी है, वही इन नौ स्कन्धो मे वस्तु-व्यजक शैली मे आयी है। इस प्रकार दास्य-भक्ति की पीठिका देकर वात्सल्य, सख्य और माधुर्य की परिकल्पना करते हुए सूर-सागर मे सूर ने सब मिलाकर 'भक्ति-सागर' ही प्रस्तुत किया है। वस्तुत सूर-सागर जहा-तहा से चुने हुए पदो के रूप मे पढने की चीज नही है, एक भावात्मक प्रबन्ध के रूप मे भाव-विकास की पीठिका मे ही अनुशीलनीय है। तभी सूर की रस-परिकल्पना अभीष्ट प्रेषणीयता पा सकती है। जहा-तहा

से पढने वाला पाठक भक्ति-रस की प्रबन्ध धारा से प्रच्युत हो जाता है, उसके हाथ काव्य-रस ही रह जाता है। पर यह काव्य-रस भी इतना उत्कृष्ट है कि काव्य-सहृदय इसकी गहनता, मधुरता और हृदय-स्पर्शिता पर मुग्ध है।

वल्लभ की परिकल्पना के अनुरूप अष्टछापी काव्य मे वात्सल्य और श्रृगार दो रसो की साधना प्रारम्भ हुई, किन्तु कुछ तो विट्ठलाचार्यजी के झुकाव के कारण और कुछ अपने युग मे प्रवृत्त कृष्ण-भक्ति की अन्य समानानर धाराओ के प्रभाव से अष्टछापी कवि उत्तरोत्तर श्रृगार के माधुर्य की ओर ही प्रवृत्त होते गये। वात्सल्य की जो मधुर परिकल्पना सूर और परमानन्ददास मे मिलती है वह उत्तर-काल मे अक्षुण्ण नही रही। यदि बाल-रूप की सेवा का साम्प्रदायिक विधान न चला आता, तो सम्भव था कि परवर्ती भक्त एक मात्र मधुर रस के गायक होते।

वल्लभ ने प्रेमा भक्ति मे विरह का बडा भारी महत्त्व प्रतिपादित किया है। सामान्यत वे सन्यास के हिमायती नही है, पर विरहानुभूति के लिए उन्होने सन्यास और सर्व-त्याग का उपदेश दिया है।[1] विरहानुभूति के लिए उनकी ललक उनके इन शब्दो मे देखी जा सकती है

"यच्च दुख यशोदाया नदादीना च गोकुले।
गोपिकाना तु यद्दुःख तद्दुख स्यान्मम क्वचित्।"[2]

उनकी इसी विशेषता को ध्यान मे रखकर श्रीहरिरायजी ने वल्लभशरणाष्टक मे उन्हे मूर्तिमान् वियोगाग्नि के रूप मे स्मरण किया है।

वल्लभ की इस विरह-भावना का सच्चा प्रतिनिधित्व सूर की रस-परिकल्पना मे ही हुआ है, अन्य लोगो मे नन्ददास को छोड लगभग सभी सयोग के गायक हुए। इसका प्रमुख कारण यही रहा कि आचार्य विट्ठल सयोग भावना के उपासक थे। उनके प्रभाव से अष्टछापी रस-परिकल्पना सयोगोन्मुखी होती गयी। हा, सिद्धान्त रूप मे विरह का महत्त्व सम्प्रदाय मे सदा स्वीकार किया जाता रहा है।

ऊपर उद्धृत निरोधलक्षण के श्लोक मे वल्लभ ने वात्सल्य और श्रृगार दोनो क्षेत्र के विरह की कामना की है, पर अष्टछापी काव्य मे सूर और नन्ददास मे भी जो विरह पाया जाता है वह श्रृगारी विरह ही है अर्थात् गोपी-विरह की ही रसात्मक परिकल्पना प्रमुख रही है। सूर ने यशोदा के विरह की वेदनापूर्ण झलक चित्रित की है अवश्य, पर गोपियो के विरह-चित्रण की समता मे मात्रा की दृष्टि से उसका स्थान अत्यन्त नगण्य-प्राय ही है।

कृष्णलीला का सहारा लेकर वात्सल्य, सख्य और माधुर्य तीन रसो की परिकल्पना अष्टछापी काव्य की प्रमुख भाव-साधना है। सूर के विनय मे दास्य भक्ति का उच्छलन है। अन्य अवतारो के प्रसगो मे भगवान् के महत्त्व को विभाव रूप मे खडा करते हुए या तो दास्यरति को ही उभारा गया है या फिर यो ही भगवद्विषयक रति का सामान्य रूप सामने किया गया है। कृष्णलीला के अन्तर्गत पूतनादि-हनन के रूप मे जो अन्य भावो की झलक यत्र-तत्र दिखायी पड जाती है, वह बालकृष्ण की महत्ता और भगवदीयता को प्रस्तुत करती हुई विभिन्न रति-रूपो का अग बन जाती है। इस प्रकार अन्य रस, यदि कही उनका कुछ

---

१. "विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशक।" सर्वोत्तमस्तोत्र विट्ठलाचार्य श्लोक १८।
"विरहानुभवार्थं तु परित्याग प्रशस्यते।" सन्यासनिर्णय वल्लभाचार्य श्लो० ७।

२ निरोधलक्षण वल्लभाचार्य श्लोक १।

परिपाक हो भी गया है तो, उपर्युक्त चार रति-रूपो मे ही अग-रूप मे समाहित हो जाते है ।

इसके अतिरिक्त अष्टछापी कवियो द्वारा कुछ पद शुद्ध साम्प्रदायिक दृष्टि से भी रचे गये है, जिनमे सम्प्रदाय-चेतना को पूर्णतया अपनाने वाला पाठक ही रसानुभूति कर सकता है, सामान्य पाठक के लिए वे पद कवि-गत विशिष्ट रति-रूपो का बोधात्मक अनुभव देकर रह जाते है । उदाहरण के लिए महाप्रभु वल्लभाचार्य के विषय मे लिखे तथा आचार्य विट्ठल को कृष्ण से अभिन्न मानकर लिखे पद लिये जा सकते है । सम्प्रदाय की भावना के अनुसार गोवर्धन पर्वत को भी भगवान् का मूर्तिमान् विग्रह मानकर पद रचना हुई है, यमुनाजी की भी स्तुतिया विशेष धारणा और भावना प्रस्तुत करती है । इन सभी पदो मे तत्तद्विषयक रति भाव के दर्शन होते है । इन्हे सम्प्रदाय की दृष्टि से तो रस-परिकल्पना के भीतर ही रखना उचित है, किन्तु काव्यानुभूति के सामान्य मानदण्डो के अनुरूप इन स्तुतियो को रस काव्य नही कहा जा सकता ।

यहा तक हमने अष्टछाप काव्य मे रस-परिकल्पना पर एक सामान्य दृष्टिपात किया है ।

अष्टछापी कृष्णकाव्य मे शान्तरस की परिकल्पना नही है । शान्तरस का स्थायी भाव तत्त्वज्ञान-मूलक निर्वेद है । शायद ही कोई ऐसे पद हो जिनमे इस निर्वेद का स्वतन्त्र परिपाक हुआ हो । सूर के विनय के पदो मे अवश्य अनेक पद ऐसे है जिनमे जगत् की निस्सारता, माया की प्रपचात्मकता, मन के विषय-लौल्य एव पश्चात्ताप के चित्र है । ये समस्त वृत्तिया तत्त्व बोध और निर्वेदमूलक है । पर विशुद्ध रूप से ये शान्तरस का परिपाक नही कर पाती, क्योकि इनका पर्यवसान भगवद्विषयक रति मे होता है । विनय के पदो मे जो एक अव्याहत भाव-धारा प्रवाहित होती है, वह दास्यरति की ही है, उसमे भगवान् के महत्त्व और आत्म-दैन्य की गहरी अनुभूति अनुमिश्रित है । इस प्रकार जो भी तत्त्वबोध एव निर्वेद इन पदो मे दिखायी देता है, उसकी स्थिति धारा-वाहिनी रस-परिकल्पना मे स्थायी भाव के रूप मे नही, सचारी के रूप मे ही आती है । फुटकल रूप से किन्ही पदो मे निर्वेद का परिपाक दिखायी देने पर भी वह भगवद्रति के अग रूप मे ही आता है ।

इन पदो मे से कुछ को गोस्वामी आचार्यो के निरूपण के अनुसार 'शान्तभक्तिरस' के अन्तर्गत अवश्य कहा जा सकता है । उन्होने विषय-वासना की क्षयिष्णुता और जगत् की अनित्यता को शान्तभक्ति के उद्दीपन के रूप मे अन्तर्भूत किया भी है ।[1] फिर भी सूर के विनय के पदो मे एक विशेषता है । स्थायी रूप से निरन्तर प्रवाहित होने वाली भाव-धारा मे इस निर्वेद का स्थान इतना उभरा नही है जितना आलम्बन-स्वरूप भगवान् के महत्त्व एव पतित-पावनत्व तथा अपने पतितत्व और दैन्य का । इस भावना की पृष्ठभूमि के साथ प्रवाहित रति दास्यरति के ही अन्तर्गत आती है, निर्वेद उसी का पोषक बनकर आता है, चाहे सचारी रूप मे, चाहे अग रूप मे और चाहे उद्दीपन के रूप मे । वस्तुत साहित्यशास्त्रीय शान्तरस मे विशुद्ध ज्ञान एव प्रशान्त वृत्ति ही सब-कुछ है, भक्तिशास्त्रीय शान्तभक्ति रस मे भी भगवद्रति के साथ इसी ज्ञान-मूलकता का उभार है । अष्टछापी काव्य मे जो भी प्रशान्त-

---

१ 'विषयादिक्षयिष्णुत्व कालस्याखिलहारिता ।
इत्याद्युद्दीपना साधारणास्त्वेषा किलाखिलै ।'

—श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पश्चिम विभाग, लहरी १, श्लो० १७ ।

वृत्तिना और निर्वेदपरकना परिलक्षित होती है वह अन्ततोगत्वा भी और स्वरूपत भी प्रीति पर्यवसायिनी है । सूर ने ही प्रमुखतया इस भाव की परिकल्पना प्रस्तुत की है, उसमे दास्यरति कीभावधारा का प्रौढ एव अविच्छिन्न प्रवाह होने के कारण दास्यरस का ही परिपाक होता है ।

अब तक हमने अष्टछापी काव्य मे रस-परिकल्पना की सामान्य दिशाओ का उल्लेख किया है । अब हम इसकी विशिष्ट स्थितियो की ओर आ सकते है ।

दास्यभक्तिरस

भगवान् के महत्त्व और अपने लघुत्व की चेतना के साथ होने वाली भगवद्विषयक रति दास्यभक्तिरस का स्थायी भाव है । अत इसमे आलम्बन पक्ष मे भगवान् के उन कर्मो एव गुणो का चित्रण होना स्वाभाविक है जो उनकी महत्ता, शरण्यता एव पाप-मोचकता आदि को सामने लाते है । आश्रय पक्ष मे आत्म-लघुता, शरणागति, दैन्य-प्रकाशन, स्वदोष-दर्शन, सेवा-चाकरी की कामना, आत्म-पतितता की अनुभूति आदि आते है । भगवदीय महत्त्व और आत्म-लघुत्व के दोनो पक्ष जब उभरे रहते है तब दास्य-रति की अनुभूति भी बडी गहराई के साथ व्यक्त होती है, पर किसी एक पक्ष के चित्रण मे भी दूसरा पक्ष आक्षेप से आता रहता है, अत विभाव रूप भगवान् के महत्त्व की अनुभूति भी दास्यभक्ति के अन्तर्गत ही पडती है ।

अष्टछाप मे दास्यभक्तिरस सूर और परमानन्द मे परिकल्पित हुआ है । सूर ने आत्म-पतितता और भगवत्पतितपावनता का सम्बन्ध सामने करते हुए दैन्य और स्वदोष-दर्शन के जो भाव-चित्र दिये है उनकी निर्मलता एव रसमयता को हिन्दी साहित्य मे तुलसी को छोड दूसरा कोई प्राप्त नही कर सका है ।

यो अष्टछाप के सभी कवियो ने विनय के पद लिखे है किन्तु सभी की विनय मे दास्यभक्ति नही है । उन विनय-पदो मे आराध्य का रूप महत्ता-प्रधान नही उभारा गया, अपितु शृगारी मधुर रूप को ही सामने रखा गया है ।[1] सूर और परमानन्ददास की विनय मे ही दास्यरस की परिकल्पना है । यो दास्य-भावना सहचरी भाव और खवासी भाव की रतियो मे भी पायी जाती है, किन्तु वहा दास्यभाव मधुरा रति का अग ही होता है, अत वहा दास्यभक्ति नही मानी जा सकती ।

सूर के विनय के पदो के अतिरिक्त नौ स्कन्धो की कथा मे भी भक्ति का दास्य-परक रूप ही परिकल्पित हुआ है । वहा भी किसी न किसी रूप मे भगवान् की शक्ति, सरक्षकता, महत्ता आदि के चित्र प्रस्तुत किये गए है । अन्तर इतना ही है कि विनय के पदो मे शैली आत्म-परक है, नौ स्कन्धो की कथा मे विषय-परक । नन्ददास ने भाषा दशम स्कन्ध मे भी यत्र-तत्र भगवान् के महत्त्व की कुछ कथाए वर्णित की है । पर इन कथाओ मे दास्यरति 'भाव' कोटि तक ही रह जाती है, रस रूपता नही आ पाती । सूर के विनय के पदो मे आलम्बन-पक्ष के महत्त्व एव कर्म-गुणो के गोचर चित्रण की अपेक्षा आश्रय रूप भक्त हृदय की सचारीभूत

---

१ "सूर और परमानन्ददास को छोडकर अन्य अष्टछाप कवियों में प्रार्थना के पद मौजूद हैं, परन्तु उनमें दासभाव की प्रार्थना नहीं है। किसी पद में कान्ताभाव की पाद-सेवा का भाव है तो किसी में कान्ताभाव से ही सयोगसुख पाने की कामना है।'

डा० दीनदयालु गुप्त अष्टछाप और वल्ल० भा० २ पृ० ६०१ ।

अनुभूतियो का मार्मिक अभिव्यजन हुआ है। यदि आलम्बन की महत्ता, पतितपावनता आदि की चर्चा है भी तो गुण-स्मरण के रूप मे ही। इस गुण-स्मरणादि से समुद्दीप्त दास्यरति के अनुभाव-स्वरूप नाना भाव-लहरियो के चित्र सूर ने उतारे है, जिनमे उन्होने एक भक्त का हृदय ही घोलकर रख दिया है।

सूर की दास्य-परिकल्पना मे कभी-कभी दैन्य के स्थान पर एक ऐसे निधडकपन की झलक मिलती है जो दास्य मे नही सख्य मे ही सम्भव है। इस प्रकार का उनका यह पद बहुत प्रसिद्ध है

"आजु हौ एक-एक करि टरिहौ।
कै तुमही, कै हमही माधौ, अपने भरोसे लरिहौ।
हौ तो पतित सात पीढिन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौ।
अब हौ उघरि नचन चाहत हौ, तुम्हे विरद बिन करिहौ।"[1]

इसमे प्रेम की निकटता से आया मुहलगापन बोलता है। यह निधडकना सख्य मे अधिक पायी जाती है। किन्तु सूर के इस प्रकार के पदो मे सख्य-भावना इसलिए नही कि भगवान् और भक्त के बीच पतितपावनत्व और पतितत्व का एक सान्तर सम्बन्ध ही यहा उभारा गया है। वस्तुत इस कोटि की उक्तिया वक्रोक्ति और वाग्वैदग्ध्यमूलक है, पर आती दास्यरति के ही अन्तर्गत है।

दास्यरति मे विवेक-निवदमय शम द्वारा परिपोष वाले भी अनेक पद सूर मे मिलते है, जिनकी चर्चा कुछ हम पीछे कर चुके है।[2] इनमे भक्त-हृदय के पश्चात्ताप, आत्म-निरीक्षण और विराग का बडा ही स्वाभाविक अभिव्यजन हुआ है। उदाहरण के लिए इस प्रकार के पद लिये जा सकते है

"थोरे जीवन भयौ तन भारौ।
कियौ न सत-समागम कबहूँ, लियौ न नाम तुम्हारौ।
अति उनमत्त मोह-माया-बस नहिं कछु बात बिचारौ।"[2]
"अब हौ नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कठ विषय की माल।"[3]

इन पदो के सम्बन्ध मे हम कह चुके है कि यदि इन पर अलग-थलग रूप से विचार किया जाय तो इनमे से कुछ शान्तरति के अन्तर्गत रखे जा सकते है, जिनमे तत्त्वज्ञानज निर्वेद रति का अग होगा, और यदि इन्हे उस भाव-धारा मे मिलाकर जाचा जाय जिसमे ये प्रस्तुत किये गये है तो दास्यरस की एक प्रवाहिनी रस-धारा की सचारी वृत्तियो के रूप मे ये भावोच्छलन समझे जा सकते है। सूर की रस-कल्पना को धारा-प्रवाही रूप मे अपनाने के कारण हम इन्हे दास्य-भक्ति के ही अन्तर्गत रखना उपयुक्त समझते है।

भगवान् के बाल-रूप के चित्रण मे प्रमुखत तथा अन्य रूपो के चित्रण मे यत्र-तत्र कवि-निष्ठ दास्यरति का एक रूप हमे और मिलता है। इसका रूप ठीक से समझने के लिए हम यहा एक उदाहरण सामने रख रहे है

---

१. सू सागर, प्रथम स्कन्ध, विनय, पद १३४।
२. वही, पद १५२।
३ वही, पद १५३।

"गोपालराइ दधि मागत अरु रोटी।
माखन सहित देइ मेरी मैया, सुपक सुकोमल रोटी।
कत हौ आरि करत मेरे मोहन तुम आगन मे लोटी ?
जो चाहौ सो लेहु तुरतही, छाडौ यह मति खोटी।
करि मनुहार कलेऊ दीन्हौ, मुख चुपर्यौ अरु चोटी।
सूरदास कौ ठाकुर ठाढ्यौ, हाथ लकुटिया छोटी।"[1]

यहा भगवान् के बाल-स्वरूप का एक चित्र है। इसमे बाल-प्रकृति, और उसपर माता की प्रेमात्मिका प्रतिक्रिया का मनोवैज्ञानिक एव स्वाभाविक चित्रण है। बाल-कृष्ण के प्रति मातृ-वात्सल्य का सुन्दर परिपाक प्रस्तुत करने के कारण यह पद वात्सल्यरस का एक सुन्दर उदाहरण है। किन्तु यहा कवि मे बाल-कृष्ण के प्रति वात्सल्य-भाव नही है, यह भी स्पष्ट है। रोटी-माखन मिल जाने पर हाथ मे लकुटिया लेकर खडा हो जाने वाला बालक सूर का तो 'ठाकुर' ही है। यह भगवान् के प्रति महत्त्व-चेतना है जो काव्य-निष्ठ आश्रय-पात्र यशोदा मे नही है, कवि सूर मे है।

यहा इस सम्बन्ध मे इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि वल्लभ ने भक्ति के सामान्य रूप मे भगवान् के महत्त्व-ज्ञान को एक आवश्यक तत्त्व के रूप मे माना है। अष्टछापी कवियो मे भगवान् के हर रूप के चित्रण मे उनकी 'ठकुराई', 'प्रभुता' और 'स्वामिता' की जो माहात्म्य-चेतनामयी जागरूक अनुभूनि दिखायी पडती है, वह उसी सिद्धान्त के अनुरूप है। वस्तुस्थिति भी यह है कि यदि इस माहात्म्य-चेतना को हटा दिया जाय तो यह काव्य भक्ति का काव्य रह भी जायगा, इसमे भी सन्देह है। उपर्युक्त पद मे से प्रथम तथा अन्तिम पक्ति और सूर की चेतना को हटा लेने पर शुद्ध वात्सल्य रस का सुन्दर उदाहरण रह जाता है, पर उसे वात्सल्य-भक्तिरस का उदाहरण कदापि नही कहा जा सकता। यहा दास्य-भक्ति के प्रसग मे हमने इसकी चर्चा केवल यह दिखाने के लिएही चलायी है कि दास्य रति कही तो अन्य रतिरूपो को अपने मे गुणीभूत करती हुई दिखायी पडती है, कही स्वय अन्य भावो के प्रति स्वय गौण होकर भी आती है। जहा प्राधान्येन परिकल्पित होकर आती है वही सच्ची दास्य-भक्तिरस की अनुभूति पाठक भी करता है।

परमानन्ददासजी ने मात्रा की दृष्टि से दास्यभक्ति के उतने पदो की रचना नही की जितनी सूर ने, फिर भी उनके पदो मे वैसा ही अकृतक भावावेश, दैन्य, आत्मनिवेदन, महत्त्वा-नुभूति एव शरणागत-भावना है जैसी सूर मे।[2]

इस प्रकार अष्टछापी काव्य मे दास्यरति की परिकल्पना को निम्न रूप मे वर्गीकृत करके रखा जा नकता है

---

१ सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १५३।७८१।

२. प मानन्दसागर डा० गोवर्धननाथ शुक्ल स० पद ३०४।
"जा पर कमलाकत ढरै।
लकरी घास कौ बेचन हारौ ता मिर छत्र धरै।" ८३१।
"तातैं तुम्हरो मोहि भरोसौ आवै।
दीनदयाल पतित पावन जस वेद उपनिषद गावै।" ८३२।

१ प्रधानीभूत दास्यरति

(क) आलम्बन के महत्त्व और आश्रय के दैन्य-आत्मप्रकाशन के उभय-पक्षीय चित्रण के साथ,

—केवल आश्रय-पक्ष के सचारी तथा अनुभाव रूप भावो के चित्रण के साथ,

—केवल आलम्बन पक्ष के कर्म एव गुणो का वर्णन-कथन करते हुए विषय-प्रधान शैली मे।

(ख) अन्य भावो से परिपुष्ट दास्यरति।

१ निर्वेद एव तत्त्वज्ञान परिपुष्ट दास्यरति।

२ गुणीभ्त दास्यरति

(क) बालरूप के प्रति महत्व-चेतना के रूप मे दास्यरति।

(ख) शृगारी किशोर रूप के प्रति सहचरीभाव, खवासीभाव आदि के रूप मे दास्यरति।

अष्टछापी काव्य मे दास्यरति के ये सभी रूप मिलते है। मधुर भावना मे कही-कही सहचरीभाव की भी झलक है, जिसकी चर्चा हम यथा-स्थान करेगे। इन सब प्रकारो मे दास्यभक्तिरस की कोटि तक पहुचने वाली दास्यरति का स्वरूप आलम्बन-स्वरूप भगवान् के महत्त्व और आश्रय-स्वरूप भक्त के दैन्य एव आत्मप्रकाशन वाले स्थलो मे दृष्टिगोचर होता है। जहाँ केवल आश्रय-पक्ष के भाव-सचार की ही परिकल्पना है, वहाँ भी उच्च कोटि की रस-सृष्टि हुई है। किन्तु जहाँ केवल आलम्बन पक्ष का कथन हुआ है, वहाँ दास्यरति 'भाव-कोटि' तक ही पहुच पायी है। अष्टछापी प्रेमी कवि भगवान् के शक्ति एव महत्त्व-पूर्ण गुण-कर्मो के बिम्बग्राही चित्र नही दे सके, अत न तो उनमे प्रसगानुरूप वीरादि अपेक्षित रसो का पूर्ण परिपाक ही हो पाया है, और न ही महत्त्वानुभूतिमूलक दास्यरति की परिकल्पना रसरूप बन पायी है। एकाध स्थल ही इसके अपवाद भले हो।

निर्वेद-पुष्ट दास्यरति मे गहरी रसान्विति है। उसमे वस्तुत शान्त और भक्ति दोनो रसो का अद्भुत समन्वय है। सूर के अनेक विनय के पदो मे इस उत्कृष्ट कोटि की रस-परिकल्पना के दर्शन होते है।

गुणीभूत दास्यरति के स्थल अपने प्रधान रतिरूपो के प्रति गौण हो जाते हैं। उनकी समीक्षा का अवसर हमे यथास्थान आगे मिलेगा।

इस काव्य की प्रेषणीयता के विषय मे यह बात निर्विवाद है कि सहृदय-सामान्य और जन-सामान्य के लिये यह काव्य सर्वाधिक असाम्प्रदायिक एव भक्तिरस की गहरी अनुभूति देने वाला है। यद्यपि प्रेमलक्षणा भक्ति और उसमे भी शृगार-परक मधुरा भक्ति को अधिक महत्त्व देने वाले साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के ~~अनुसार महत्त्वानुभूति प्रेम के घनत्व~~ मे बाधक है, और इसी प्रेम-घनत्व को चरम मात्रा मे लाने के लिये चैतन्यानुयायियो ने परकीया-प्रेम को आदर्श बनाया है, किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि भक्ति का दास्यमूलक ही एक ऐसा भेद है जिसमे भगवान् के प्रति महत्त्वानुभूति प्रकृत एव अभीष्ट रूप मे होती है। भगवान् मे महत्ता और अपने मे अवशता की अनुभूति मानव-मात्र के लिए सर्वाधिक स्वाभाविक अनुभूति है, जो यदि वह नास्तिक नही है तो उसकी सहजात दुर्बलताओं के स्वानुभव ने उसमे एक सहज अनुभूति के रूप मे प्रतिष्ठित की है। इसी कारण दास्यमूलक

भगवत्प्रेम के काव्य की पहुँच जन-सामान्य के हृदय तक होती है, उसके रसानुभव के लिये पहले से भाव-साधना या बौद्धिक प्रेरणा अपेक्षित नही है। इस दृष्टि से समस्त कृष्ण-भक्ति काव्य मे वल्लभ सम्प्रदायी काव्य का स्थान इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि एक तो उसके प्रवर्तक ने भक्ति मे महत्त्व-चेतना को एक अनिवार्य तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया है, दूसरे इस सम्प्रदाय के दो स्तम्भ कवियो परमानन्ददास और सूरदास मे यह दास्यरति-मूलक रस-परिकल्पना भक्ति, कवित्व, अधिकतम-जनसवेद्यत्व और लोक-मगल सभी दृष्टियो से अत्यन्त उच्चकोटि की है। खेद है कि इस भाव-धारा का जैसा निमज्जनकारी प्रभाव सूर मे और कुछ मात्रा तक परमानन्ददास मे दिखायी पडा, वैसा अन्य अष्टछापी कवियो मे उपलब्ध नही होता।

सख्य भक्तिरस

भगवान् और भक्त के बीच महत्त्व के आपेक्षिक क्रम से तीन भक्तिरसो का स्वरूप बँधता है—दास्य, सख्य, वात्सल्य। दास्य मे भगवान् की महत्ता और भक्त की लघुता, सख्य मे दोनो मे समानता और वात्सल्य मे भगवान् की पाल्यता-पोष्यता एव भक्त की पालकता-पोषकता उभरकर आती है। इस प्रकार सख्यभक्ति की मूल चेतना हुई भगवान् के प्रति साम्यानुभूति-मूलक प्रेम।

जन-मानस के लिए भगवान् के प्रति सख्यानुभूति भी दास्यानुभूति के समान एक परिचित अनुभूति है, पर उतनी नही जितनी दास्यानुभूति। सासारिक दु ख और अवशता के अनुभवो ने उसे भगवान् के महत्त्व और आत्म-लघुत्व के जितने गहरे अनुभव दिये है उतने गहरे सख्य के नही दिये। फिर भी उसमे भी वही चैतन्य की धारा प्रवाहित है जो उस परम शक्ति मे है, अत उसने उस परम शक्ति के साथ सख्य सम्बन्ध भी जोडा है, और उस शक्ति को स्नेह एव सहारा देकर एक मित्र के समान पथ-प्रदर्शिका माना है। इस प्रकार सख्य-भाव भी, दास्य के समान तो नही, पर बहुत दूरी तक जन-मानस के लिए एक स्वाभाविक अनुभूति है।

इतना तो ठीक, पर इसके आगे भगवान् के साथ क्रीडा-खेल मे सम्मिलित होना, कभी उससे डाट खाना, कभी उसे डाट बताना, कभी शिकायत तो कभी झगडा, ये सब बातें भावुकता और कल्पना के प्रसार है। जिस सखीभाव की रति मे नारी-चेतना के साथ साम्य-भावना भी आ मिलती है, वह भाव-रूप तो और भी साम्प्रदायिक हो उठता है। रस का रूप जितना साम्प्रदायिक होता जायगा उतना ही उसके आस्वादनार्थ पाठक को तदनुरूप सस्कारो मे ढलना अपेक्षित होता चला जायगा।[1]

सख्य की गहरी अनुभूति मे महत्त्व-चेतना का विलय स्वाभाविक है। उसमे सखा के

---

१ "विमुक्तसम्भ्रमा या स्याद् विश्रमात्मा रतिद्वयो ।
प्राय समानयोरत्र सा सख्य रथायिशब्दभाक् ।
विश्रम्भो गाढविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झित ।
एषा सख्यरतिर्वृद्धि गच्छन्ती प्रणय क्रमात् ।
प्रेमा स्नेहस्तथा राग इति पचभिदोदिता ।" श्रीहरिभक्तिरसामृत०, पश्चिमवि०, ३ लहरी,
श्लोक ५४-६ ।

प्रति जितना विस्रम्भ-विश्वास और स्नेहमय अभिन्नता का भाव होता है उतना महत्त्व-ज्ञान नही होता । जिस सख्य मे आलम्बन के महत्त्व या आत्म-लघुत्व की चेतना भी घुली हुई हो उसे दास्यगन्ध सख्य समझना चाहिए । भक्ति मे सामान्यत यही दास्यगन्धि सख्य सामने आता है, इसीलिए जिन चित्रो मे कृष्ण और उनके सखाओ का शुद्ध साम्यमूलक प्रेम उभर कर आया है, उनके प्रति स्वय कवि मे महत्त्व-चेतना परिलक्षित होती है । 'खेलत मे को काको गुसैया' की फटकार खाने वाले क्रीडारत कृष्ण सूर के 'प्रभु' और 'ठाकुर' ही है । पर यह तो रही कविनिष्ठ रति की बात, सूर ने महत्त्व-चेतना की यन्त्रणा से रहित शुद्ध साम्य-मूलक सख्य के भी अनेक चित्र प्रस्तुत किये है ।

अष्टछापी कवियो मे सूर और परमानन्ददास को छोड अन्य कवियो की रचनाओ मे सख्य रस उभर कर नही आया है । गोचारण या छाक के प्रसग के इक्के-दुक्के पद उनकी रचनाओ मे मिल जाते है, पर उनमे भी रस-पर्यवसायी सख्य के दर्शन नही होते । नन्ददास ने सख्य का सैद्धान्तिक महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भी सख्य-भक्ति के रसात्मक चित्र प्रस्तुत नही किये । उनका इन प्रसगो का चित्रण वर्णनात्मक है, अत उसमे भाव-परिपाक नही हो पाता । उल्लेखयोग्य दो ही नाम रह जाते है—परमानन्ददास और सूरदास । मात्रा की दृष्टि से ही नही रसात्मकता की दृष्टि से और चित्रो की मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से भी सूर ही स्मरणीय है ।

सूर जिस मात्रा तक महत्त्व-मुक्त साम्यमूलक सख्यरति के चित्र दे सके है उस मात्रा तक परमानन्ददास नही । जहा सूर के गोपसखाओ मे जब-कभी कृष्ण के बहुत बडे आश्चर्य-पूर्ण कामो को देखकर ही उनके प्रति महत्त्व-चेतना जाग्रत् होती है, वहा परमानन्द के गोप-सखा यह बात सहज भुला ही नही पाते कि उनके सखा ईश्वर है, अवतारी है, ब्रह्म है । वस्तुत परमानन्ददास महत्त्व-चेतना की आत्मानुभूति को अपने काव्य-निष्ठ पात्रो से सख्य और वात्सल्य मे भी अमिश्रित नही रख सके है । सूर के जागरूक कवि-व्यक्तित्व ने यह सफलता प्राप्त की है ।

अष्टछापी काव्य मे महत्त्व-विस्मृति के साथ साम्य-चेतना-मूलक सख्य भावना के दर्शन गोपियो मे होते है । सूर की गोपियो मे तो यह सख्य बहुत ही उभर कर आया है । किन्तु यह सख्य काम-मूलक माधुर्य भाव मे घुल गया है, अत उसे सख्य भक्तिरस के अन्तर्गत नही रखा जा सकता, मधुर के भीतर ही रखना होगा । सामान्यत सख्यभाव के चित्र हमे गोपो मे, उद्धव मे और द्वारका पहुँचे सुदामा के प्रसग मे मिलते है । पर उद्धव-निष्ठ सख्य का चित्रण इन कवियो ने प्राय नही किया । वे भ्रमर-गीत के प्रसग मे गोपियो की कृष्ण-परक भावाभि-व्यक्ति के लिए एक प्रसग भर रहे है । सुदामा चरित्र मे भी सुदामा-निष्ठ सख्य की नही, कृष्णनिष्ठ सख्य-प्रेम की झलक मिलती है, पर समूचा चित्र सख्यभक्ति का नही, भगवान् की भक्त-वत्सलता, दीन-दयालुता एव महत्ता का ही खडा किया गया है ।[1] इस प्रकार सख्यरस के

१ कहि न सकति सकुचति इक बात ।
जाके सखा स्याम सुन्दर से, श्रीपति सकल सुखनि के दात ।
कहियत परम उदार कृपानिधि अतरजामी त्रिभुवन तात ।
सर्बस देत रीझि भक्तन कौ रुचि मानत तुलसी के पात ।" सूरसागर दशम स्कध ४८४ ।

प्रसग व्रजलीला के अन्तर्गत गोपो के साथ खेल-क्रीडा, गोचारण, छाक, माखन-चोरी आदि के रूप मे ही आते है। इन्ही प्रसगो मे सख्यरति का रसात्मक परिपाक मिलता है।

वास्तविकता यह है कि सूर और परमानन्ददास ने भी सख्यभक्ति का प्रौढ रूप खडा नही किया। सख्यरस के जो भी प्रसग आये हैं, बाल-लीला के अन्तर्गत आये है, कुछ प्रसग अन्य चरित-वर्णनो के अन्तर्गत है। इन प्रसगो मे ही सख्य की झलक मिल जाती है। यही कारण है कि सख्य सम्बन्धी पदो की सख्या मात्रा मे सबसे कम है।

सख्यरस की परिकल्पना का विचार दो दृष्टियो से किया जाना चाहिए—एक काव्य-दृष्टि से, दूसरे भक्ति-दृष्टि से। भक्ति की दृष्टि से सख्य-परिकल्पना वही कही जायगी जहा या तो कवि ने स्वगत सख्य-भक्ति को प्रकट किया है या जहा किसी काव्य-निष्ठ पात्र के द्वारा प्रकट कराया है। यदि भक्ति का यह रूप सामने नही आता, तो कृष्ण और सखाओ के बीच होने वाले सख्य का चित्र काव्य-दृष्टि से ही सख्यरस का कहा जा सकेगा, भक्ति की दृष्टि से नही। एक उदाहरण लेकर हम इस बात को स्पष्ट कर सकते है

"खेलत मे को काकौ गुसैया।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैया।
जाति-पाति हमतै बड नाही, नाही बसत तुम्हारी छैया।
अति अधिकार जनावत यातै जातै अधिक तुम्हारै गैया।
रुहठि करै तासौ को खेलै, रहे बैठि जह तह सब ग्वैया।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउ दियौ करि नद दुहैया।"[१]

सूर का सख्यरस के लिए यह एक बडा प्रसिद्ध पद है। इसमे परिनिष्ठित रस-परिकल्पना पर विचार कीजिए। यहा कवि मे सख्यात्मक रति नही है, वह इस चित्रण को भगवान् की बाल-लीला के रूप मे प्रस्तुत कर रहा है। यदि उसे इसमे कोई रसास्वादन है तो बाल-लीला के गान का रसास्वादन है। इसीलिए सखाओ के द्वारा फटकारे हुए कृष्ण सूर के 'प्रभु' ही है, सखा नही। अत भक्ति की दृष्टि से यहा सख्य नही, किन्तु काव्य-दृष्टि से यहा सख्य-रस की ही सफल परिकल्पना है। यहा महत्त्व-विस्मृति के साथ सखाओ मे सच्ची साम्य-भावना उभरी है, और यह सब पारस्परिक प्रेम के उभार हे। काव्य-पाठक इसी सख्य-रस का यहा आस्वादन करता है। पर यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। इन चित्रो को इन भक्त कवियो ने अपनी भक्ति भावना मे डुबो कर ही प्रस्तुत किया है, अत इनमे पाठक को भी जो रसानुभूति होती है उसका पार्यन्तिक परिपाक भक्ति-परक ही होता है। कृष्ण, उनके सखा, उनकी क्रीडा, उनके प्रेम, व्यग-उपालभ-आक्षेप से भरे वचन सब मिलकर उस रति का परिपुष्ट विभाव पक्ष प्रस्तुत करते है जिसे भक्ति के अतिरिक्त कुछ नही कहा जा सकता। यदि वैष्णवी भक्ति के कुछ भी सस्कार पाठक मे है तो इस रस के आस्वादन का अवकाश उसके लिए अवश्य खुलता है।

—ऐसैं और कौन पहिचानै।
सुनि सुन्दरि वा दीनबधु बिन कौन मित्रई मानै। वही, पद ४८५१।
—दीन द्विज द्वारैं आइ भयौ ठाढौ।
दीनदयाल देवकीनन्दन वेद पुकारत चारयौं।
सूर सुदामा को जु भेटि हरि दारिद दुख निवार्यौं। वही, पद ४८६३।

१ सूरसागर, दशम स्कन्ध, पूर्वा० पद ८६३।

सूर के सख्य-सम्बन्धी पदो मे काव्य-दृष्टि से सख्यरस का परिपाक बडी ही मनोवैज्ञानिक भूमि पर हुआ है। सूर बाल-मनोविज्ञान के चित्रण मे बेजोड है। यमुना-तट पर खेलते-खेलते कृष्ण ने गेद यमुना मे फेक दी। फेकी तो जान-बूझकर थी, क्योकि उन्हे कालीदह के कमल लाकर कस की माग पूरी करनी थी। पर गेद फेकी खेल-खेल मे ही गयी थी। बस फिर क्या था, श्रीदामा ने दौडकर कृष्ण की फेंट पकड ली और गेद का तकाज़ा शुरू हो गया। वह भाप गया कि कृष्ण ने गेद फेकने की बदमाशी जान-बूझकर की है, इसलिए वह आज उनसे अपनी गेद वसूल करके ही छोडेगा

"स्याम सखा कौं गेद चलाई।
श्रीदामा मुरि अग बचायौ, गेद परी कालीदह जाई।
धाइ गही तब फेंट स्याम की, देहु न मेरी गेद मगाई।
और सखा जनि जानौ मोकौं, मोसौ तुम जनि करौ ढिठाई।
जानि-बूझि तुम गेद गिराई, अब दीन्हे ही बनै कन्हाई।
सूर सखा सब हसत परसपर, भली करी हरि गेद गवाई।।[1]

परमानन्ददासजी ने सख्य के प्रसग मे पतग उडाने, चौगान खेलने जैसे कतिपय नवीन प्रसगो की भी उद्भावना की है। हम यह कह ही चुके है कि उनके चित्रो मे महत्त्व-भावना सूर की अपेक्षा प्राय अधिक उभरी रहती है।[2]

सब मिला कर अष्टछापी काव्य मे सख्यरस की परिकल्पना मात्रा मे कम, स्वरूप मे मनोवैज्ञानिक, चित्रण मे अन्य प्रसगो मे अन्तर्भूत, काव्य-दृष्टि से बहुत ही स्वाभाविक एव रसान्वयी और भक्तिरस के सामान्य रूप से आप्लावित है। सामान्यत उसमे सख्यभक्ति का परिपाक नही है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण एव सम्प्रदाय-धारणा को ही अपना कर उसमे सख्यभक्ति की अनुभूति हो सकती है। भगवान् के सख्य-प्रेम-मय रूप के प्रति भक्ति-भावना जगाने के कारण ही ये चित्र सख्य-भक्ति रस के है। और इस दृष्टि से सख्य एव मैत्री के समूचे चित्र विभाव-पक्षीय ही समझने चाहिए।

---

१ सूरसागर पूर्वार्द्ध दशम स्कन्ध पद ११५३।

२ परमानन्दसागर

"चले बन गोचारन सब गोप।
प्रात समै सर कमल खण्ड तें मानों मधुपन ओप।
स्याम पीतपट राम नीलपट जनु काछे सिसु पुज।
मधुवर बेनु बखान बासुरी जनु साजे आलेगुज।
तिन में नन्दनन्दन की सोभा ज्यों उडुगन मह चद।
परमानन्द जसोदागृह प्रकटे आनन्दकन्द।" पद २११।
"गुडी उडावन लागे बाल।
सुन्दर पतग बाधि मनमोहन नाचत है मोरन के ताल।" पद ९४।
"गोपाल माई खेलत है चौगान।
ब्रज कुमार बालक सग लीने वृन्दावन मैदान।
चंचल बाजि नचावत आवत होड लगावत यान।" पद ९५।

वात्सल्य भक्तिरस

भगवान् की बाल-लीला से सम्बन्धित कुछ न कुछ पद सभी अष्टछापी कवियो ने रचे है। वल्लभाचार्यजी के आराध्य 'यशोदोत्सगलालित' श्रीकृष्ण थे, अत कीर्तन-सेवा के गायक अष्टछापी कवियो ने भगवान् की बालछवि के भी चित्र उतारे। फिर भी सूर और परमानन्ददास का बाल-लीला-वर्णन ही वात्सल्य रस की परिकल्पना प्रस्तुत करता है।

सूर और अन्य कवियो के वात्सल्य-चित्रण मे पडने वाले अन्तर का एक प्रमुख कारण यह भी है कि अन्य कवियो ने बाल-चरित के पद साम्प्रदायिक पर्वो, वर्षोत्सवो और कीर्तन-सेवा के लिये ही रचे, जबकि सूर के पद भाव धारा एव बाल-चरित का एक मनोवैज्ञानिक विकासक्रम प्रस्तुत करते है, और उनके सम्बन्ध मे यही विश्वास होता है कि इनका उपयोग भले ही वर्षोत्सवो आदि पर गायन के लिये होता रहा हो, किन्तु इनकी रचना करते समय कवि की भाव-चेतना का प्रवाह प्रबन्धात्मक था। अत सूर के पद मात्र नैमित्तिक न होने के कारण अधिक मनोवैज्ञानिक एव रसान्वयी है।

वात्सल्य भक्ति का मूल भाव है भगवान् के शिशु रूप के प्रति पितृ-रति। इसमे आलम्बन-स्वरूप भगवान् के महत्त्व की चेतना का सर्वथा तिरोधान ही अपेक्षित नही है, अपितु अपने मे उनके रक्षक, पालक, पोषक होने का अभिमान भी अपेक्षित है। इस भाव की चेतना मे भगवान् एक असहाय पाल्य-पोष्य असमर्थ शिशु के रूप मे ही लगते है। अत यह भाव-साधना अपने इसी रूप मे जन-मानस के लिये अत्यन्त अपरिचित भावना है। ऐसा कौन होगा जो यदि उसके सस्कारो को विशेष रूप से निर्मित नही किया गया तो भगवान् को असमर्थ शिशु के रूप मे समझेगा और स्वय को उसका पालक-पोषक। इसी कारण इस भक्ति-रूप की अधिकारिता प्रत्येक के लिये खुली नही है। इस भाव के आश्रय नन्द, यशोदा, वसुदेव, देवकी तथा कतिपय वृद्ध गोप-गोपियाँ ही है। इनमे भी वात्सल्य रति का अथाह आगार यशोदा का ही हृदय है।

यद्यपि वात्सल्य रति के परिपाक के लिये भगवान् के प्रति महत्त्व-चेतना अपेक्षित नही है, प्रत्युत कुछ मात्रा तक वह एक व्याघात ही है, फिर भी अष्टछापी कवि इस चेतना को बचा नही सके है। उनकी रस-परिकल्पना मे यह भी महत्त्व-चेतना व्यक्त हो ही उठी है। महाप्रभु वल्लभ ने सिद्धान्तत भक्ति का सामान्य रूप महत्त्व-ज्ञान-पूर्वक ही निर्धारित किया था, इसलिये ही नही, अपितु हम यही स्वाभाविक समझते है कि यदि किसी भावाभिव्यक्ति की जन-सामान्यगत अनुभूति को भक्ति-परक होना है तो उसमे भगवान् के महत्त्व की चेतना अवश्य बनी रहनी चाहिये। इस चेतना से छूटते ही वह काव्य लौकिक हो जायगा। अष्टछापी कवियो ने भी इसी आवश्यकता का अनुभव करते हुए वात्सल्यभक्ति की परिकल्पना मे आलम्बन के प्रति महत्त्व-चेतना को बनाये रखा है। इस विषय मे सूर की स्थिति कुछ विशिष्ट है जिसकी चर्चा हम अभी करेगे।

वात्सल्य-सम्बन्धी पदो मे रति के आश्रय दो प्रकार के लोग मिलते है—कही तो नन्द-यशोदा आदि केवल काव्य-निष्ठ पात्र ही होते हैं, कही इनके अतिरिक्त स्वय कवि भी भगवान् के बाल-रूप के प्रति अपनी भावाभिव्यक्ति करता हुआ सामने आ जाता है। कवि-निष्ठ रति मे महत्त्व-चेतना का होना स्वाभाविक एव आवश्यक है, किन्तु वात्सल्य के आश्रय यशोदादि मे महत्त्वानुभूति व्याघात होगी। इस दृष्टि से सूर की रस-परिकल्पना सराहनीय

है। उनकी यशोदा बालकृष्ण की मोहक लीलाओ पर मुग्ध होकर शुद्ध वात्सल्य की अनुभूति करती है, और कृष्ण के महत्त्व को भूली रहती है। पर परमानन्ददास आदि स्वगत महत्त्व-चेतना को अपने तक ही सीमित नही रख सके और उनकी यशोदा भी बालकृष्ण के अलौकिकत्व और अवतारत्व की चेतना करती चलती है। इससे वात्सल्य की भक्तिरूपता मे ही कुछ सहायता भले मिले, पर वह रूप काव्योचित कम रह गया है।

पूतना-केशी आदि अनेक राक्षस-राक्षसियो के विनाश, काली दमन गोवर्धन-धारण आदि के सभी चरित भगवान् के बाल-काल से ही सम्बन्धित है, और ब्रज-लीला से ही सम्बन्धित है। अत बाल-लीला के गान मे पग-पग पर ऐसे अवसर आते रहे है कि बाल-कृष्ण का अलौकिक एव अतिमानवीय रूप सामने आता रहे। सूर भी इस अति मानवीय रूप को सामने लाते रहे है। किन्तु इन अतिमानवीय कार्यो को करके भी जब कृष्णयशोदा के सामने आते है तो वे उनकी भोली-भाली सूरत को देखकर वात्सल्य मे डूब जाती है, कृष्ण कभी रो उठते है, कभी रोटी-माखन माँग उठते है, कभी कोई और बाल-सुलभ चेष्टा कर उठते है। और जो यशोदा एक बार को शिशु कृष्ण के अद्भुत कर्मो पर स्तब्ध और चकित हो उठी थी, अपने 'बाल-कृष्ण' के लिए केवल माता ही रह जाती है। सूर ने इस भुलावे को एक लीला के रूप मे ही चित्रित किया है,[1] फल यह हुआ है कि एक ओर काव्य-निष्ठ वात्सल्य की रसात्मक परिकल्पना अव्याहत रही है, दूसरी ओर इस रस की भक्तिपरकता भी अक्षुण्ण रही है।

सूर ने तो नही, पर नन्ददास ने इस महत्त्व-विस्मृति की सैद्धान्तिक व्याख्या प्रस्तुत की है

"अवर निरोध भेद सुनि मित्र। बरनत जा कहु परम विचित्र ।।
जदपि कोटि ब्रह्माण्ड के कर्ता। अरु तिनके भर्ता-सहर्ता ।।
परम सनेह भक्ति होइ जाके। ईश्वरता सो फुरै न ताके ।।
ज्यो जसुमति मुख मे जग पेख्यौ। सुत ईश्वर करि नाहिन लेख्यौ ।।"[2]

कई प्रकार के निरोधो मे से एक प्रकार को समझाते हुए नन्ददास कहते है कि जब भक्ति मे स्नेह अपनी चरम कोटि को पहुँच जाता है तब ईश्वरत्व की चेतना भक्त के मन मे स्फुरित नही होती। इस बात का उदाहरण यशोदा को प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि उन्होने कृष्ण के मुख फाडने पर उसमे समस्त विश्व के दर्शन किये थे किन्तु

---

१ सूरसागर पूर्वार्द्ध दशम स्कन्ध।
"अघा मारि आए नन्दलाल।
सूर स्याम जननी मन मोहत बार-बार कछु मागत खान।" पद १०५३।
"ब्रज-देवता कोउ है री माई। जहा तहा सो होत सहाई।" पद १००१।
"बारवार बिचारति जसुमति यह लीला अवतारी।
सूरदास स्वामी की महिमा कापै जाति बिचारी।" पद १००६।
"भुजनि बहुत बल होइ कन्हैया।
बार-बार भुज देखि तनक से कहति जसोदा मैया।
सूर स्याम यह कहि परबोध्यो चकित देखि महतारी।" पद १५८३।
२ नन्ददास ग्रथावलि पृ० २१७।

फिर भी वे कृष्ण को ईश्वर समझ ही नही सकी, पुत्र-रूप मे ही ग्रहण करती रही।

यह नन्ददास द्वारा दी हुई सैद्धान्तिक स्थिति है। किन्तु इसका पालन वे स्वय भी नही कर सके हे। उनकी यशोदा मे भी कृष्ण के ईश्वरत्व की चेतना स्पष्ट हो उठी है

"बहुर्‌यौ हरे-हरे पहिचान्यौ। अपनौ सुत परमेसुर जान्यौ।"[१]

यद्यपि नन्ददास की यशोदा कृष्ण के परमेश्वरत्व को पहचान गयी, पर दूसरे ही क्षण उन पर माया फिर गयी और वे असलियत भूल गयी

"ब्रहुरि सनेहमई रसमई। माया जननि ऊपर फिर गई॥
डरे जु जननि डाँट तै साँट निरखि पुनि हाथ।
मुख मे विश्व दिखाइकै बचे नाथ इहि साथ।"[२]

नन्ददास के इस चित्र मे माया, अलौकिकता आदि का हाथ अधिक है, जो भक्ति के साम्प्रदायिक पक्ष को तो उभारता है पर वैसी स्वाभाविक एव काव्योचित रस-परिकल्पना प्रस्तुत नही होती जैसी सूर के चित्रो मे होती है।

कभी कभी परमानन्ददासजी भी सूर के समान ही इस महत्त्व-विस्मृति का श्रेय स्वाभाविक शिशुत्व को देते है

"कोटि ब्रह्माण्ड खण्ड की महिमा सिसुता माहि दुरावत।
परमानन्द स्वामी मन मोहन जसुमति प्रीति बढावत।"[३]

पर प्राय होता यह है कि उनकी यशोदा कृष्ण के अलौकिक रूप का परिचय पा ही लेती है

"जद्यपि परम ब्रह्म अविनासी महतारी उर मानै।
परमानन्द प्रीति ऐसी पुनि सुक मुनि व्यास बखानै।"[४]
"तू मेरौ ठाकुर, तू मेरौ बालक तोहि बिस्वभर राखै।
परमानन्द स्वामी चित चोर्‌यौ चिरजीवौ यौं भाखै।"[५]

परमानन्ददास के इन चित्रो मे महत्त्व-चेतना अपने तक ही सीमित नही है, यशोदा मे भी उभर उठी है। इन उभारो का एक ही कारण समझा जा सकता है। ये कवि भक्ति की साम्प्रदायिक निष्ठा से अपने प्रकृत कवि-व्यक्तित्व को तटस्थ न रख सके अत ये अपने काव्यगत पात्रो को अपने निजी भावो की छाया से भी तटस्थ नही रख सके। इस दृष्टि से सूर की रस-परिकल्पना ही सराहनीय है।

सूर की रस-परिकल्पना मे एक और विशेषता है। वे वात्सल्य के परिपाक के अनुरूप आलम्बन और आश्रय दोनो पक्षो के बिम्ब-चित्र एव भाव-चित्र बडी दूर तक अपना व्यक्तित्व बीच मे विना लाये उतारते चले जाते हैं, जबकि परमानन्दादि के पदो का पर्यवसान स्वनिष्ठ रति के अनुरजन मे होता है। इस प्रकार परमानन्ददास की वात्सल्य-परिकल्पना

---

१ नददास ग्रन्थावली, पृ० २४८।
२ वही, पृ० २४८।
३. परमा० पद ८५।
४ वही, पद ८३।
५. वही, पद २१।

मे स्वतन्त्र वात्सल्यरस की अनुभूति की सम्भावना अधिक नही बनती, वात्सल्य-भक्तिरस की ही बनती है। वह वात्सल्य भक्ति भी इसी रूप मे ममझनी चाहिए कि उनमे भगवान् के बालरूप के प्रति महत्त्वमयी रति हे एव उनकी बाल-लीला का गान भक्त-हृदय को रसमय है। पर सूर के काव्य मे भक्ति-दृष्टि से ही नही, काव्य दृष्टि से भी वात्सल्य की गहरी अनुभूति का अवकाश खुला हुआ है। इसीलिए सूर की वात्सल्य-परिकल्पना मे विश्वानुभूति की क्षमता है।

सूर ने आलम्बन पक्ष मे कृष्ण के सौन्दर्य, चेष्टाओ और बाल-सुलभ भावो—सभी के बिम्बग्राही चित्र दिये है। दूसरी ओर आश्रयपक्ष मे मातृ-हृदय की नाना भाव-लहरियो को अकित किया है। सूर की वात्सल्य-परिकल्पना मातृ-हृदय की आशा-आकाक्षाओ, भावना-कामनाओ का अक्षय भाण्डार है। कृष्ण की अवस्था के विकास के साथ इन भाव-लहरियो के रूप बदलते चले गये है, किन्तु उनकी स्थायी भाव-धारा वही अपने अक्षुण्ण रूप मे रहती है।

अन्य कवियो ने तो प्राय नही, पर सूर ने वात्सल्य-रति के वियोग पक्ष के भी कतिपय चित्र प्रस्तुत किये है। ये चित्र अपने मे इतने मार्मिक हे कि पाठक के हृदय मे पूर्ण विगलनात्मक प्रभाव छोडते है। यो कृष्ण के व्रजवास के समय भी यशोदा मे वियोग-भावना के कई प्रसग आ गये। तृणावर्त बालकृष्ण को अन्धड मे उडा ले गया, यशोदा शोकाकुल हो चारो ओर उन्हे व्याकुल ढूढने लगी। कृष्ण कालीदह मे कूद पडे, और देर तक बाहर न आये। नन्द और यशोदा का हृदय फटने लगा। किन्तु इन प्रसगो मे विरह यशोदा मे करुण अवस्था लाकर भी पाठक के लिए उतना करुण नही हो पाता जितना कृष्ण के मथुरा जाकर व्रज न लौटने पर होता है। इस विरह के यशोदा के अधिक चित्र सूर ने भी नही दिये, पर जो भी दिये हे, मर्म-स्पर्शी है। वल्लभ सम्प्रदाय मे प्रेम के लिए विरह का सैद्धान्तिक महत्त्व है। नन्ददास ने भी सिद्धान्तत यशोदा मे वात्सल्य-मूलक विरह की चर्चा की है। पर इसकी झलक सूर मे ही मिलती है।

अनेक पदो मे बिना किसी काव्य निष्ठ आश्रय-पात्र को सामने लाये बालकृष्ण की नाना लीलाओ का चित्रण हुआ है। ये सब पद बाल लीला के है और वस्तुत इन पदो मे इन भक्त कवियो की दृष्टि से इस बालचरित का ही लीला-रस है, जिस पर वल्लभ-सम्प्रदायी प्रत्येक भावुक भक्त निछावर है।

फिर भी समूचा बाललीला-वर्णन वात्सल्य-परिकल्पना से अनुप्राणित नही है। बाल-आलम्बन के प्रति सखाओ मे सख्य-रति की झलक मिलेगी, तो अनेक गोपियो मे कान्ता-रति की। अनेक चित्रो मे कवि-निष्ठ महत्त्व-चेतनानुप्राणित रति-रूप के दर्शन होगे। इस प्रकार अन्य रति-रूपो से अनाच्छादित बाल-वर्णन ही वात्सल्य-रस की परिकल्पना के अन्तर्गत आता है। परमानन्ददास के अनन्तर परवर्ती कवियो मे जो बाल-लीला के चित्र है उनमे प्राय हुआ यही है कि वे वात्सल्यरति के नही, गोपियो की कान्ता-रति के ही आलम्बन हैं।

सूर और परमानन्ददास मे वात्सल्य और शृगार दोनो भक्तिरसो की परिकल्पना पूर्ण विस्तार के साथ है। सूर मे तो वात्सल्य मात्रा की दृष्टि से अपने मे एक पूर्ण साहित्य है। पर अन्य कवि अपने को मधुर भावना तक ही परिसीमित करते गये है। यह सम्प्रदाय मे शृगार के बढते हुए प्रभाव की द्योतक प्रवृत्ति है।

मधुर भक्तिरस

मात्रा की दृष्टि से अष्टछापी काव्य मे मधुर-रस की ही प्रधानता है। स्वय सूर मे भी इस दृष्टि से मधुर ही प्रधान है। सूर और परमानन्ददास मे तो एक अच्छी मात्रा तक वात्सल्य-परिकल्पना भी रही, पर परवर्ती अष्टछापी तो लगभग एकान्त रूप से मधुरोपासक हो गये।

सब मिला कर मधुर भावना मे अष्टछापी लोग सयोग-भावना के रसिक रहे। केवल सूर ऐसे है जिनमे सयोग से विरह बढकर है। आचार्य वल्लभ ने प्रेम-लक्षणा भक्ति मे विरह को बडा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। उन्हे मूर्तिमान् विरह कहा गया है।[1] वल्लभ की यह मान्यता सम्प्रदाय के सभी कवियो मे सिद्धान्तत मान्य रही, किन्तु यदि अकृत्रिम भावावेश को कवि की रस-परिकल्पना की कसौटी पर रखकर देखा जाय तो कहना पडता है कि वल्लभ की विरह-चेतना की आत्मा सूर मे ही आकर उतरी है। शेष सब सयोग के उपासक है, कहना चाहिए, वल्लभ की अपेक्षा विट्ठल के अधिक समीप है।

मधुरोपासना के सूत्र बहुत पुराने है, और उसे शास्त्रीय समर्थन भी पर्याप्त मात्रा मे बहुत दिनो से मिल चुका है। बडे-बडे निर्मलात्मा सन्तो एव भक्तो ने इस भाव-साधना का रसास्वादन किया है। पर इसकी सर्वजनोपयोगिता पर स्वय इस पथ के पथिको को भी सदेह बना रहा है। इसके मूल भाव का वही स्वरूप है जो लौकिक शृगार का होता है। काममूलक रति को ही आलम्बन बदलकर इस भाव-साधना मे भगवदीय बनाया जाता है। अत मधुरा भक्ति का मार्ग सरसतम होते हुए भी ससार-प्रवाह मे बहने वाले जन-सामान्य के लिए खतरे से खाली नही रह जाता।

अष्टछापी काव्य की रचना होने के समय तक भारत की भक्ति के क्षेत्र मे, विशेषकर कृष्ण-भक्ति मे, मधुर भावना के लिए गहरा क्षेत्र बन चुका था। निम्बार्कीय, राधावल्लभीय, हरिदासी और चैतन्य-सम्प्रदायी भक्त वृन्दावन मे मधुर-साधना का एक प्रवाही वातावरण बना चुके थे। मधुर-भावना अष्टछापी काव्य-रचना के समय भक्ति का एक युग-धर्म बन चुकी थी। अत अष्टछापी कवियो द्वारा भी इस मार्ग की सरसता का आस्वादन करना कोई आश्चर्य की बात न थी। अष्टछापी कवि अपने वातावरण मे फैले मधुर-परिकल्पना के अन्य सम्प्रदायो के रूपो से प्रभावित हुए है, यह स्वाभाविक ही था, फिर भी उनकी परिकल्पना अपना विशेष रूप बनाये रही है। युगलोपासना, निकुज-लीला, नित्य-विहार, सहचरी-भाव आदि की चेतना सूर से लेकर अन्य सभी अष्टछापियो मे मिल जाती है, किन्तु सूर और परमानन्द मे वह अधिक प्रबल नही है। परमानन्ददास मे भो सूर से अधिक है। सूर, परमानन्द और नन्ददास को छोड अन्य अष्टछापी तो इन धारणाओ से बहुत दूर तक प्रभावित हुए हैं। इसीलिए वे व्रज-लीला से वृन्दावन-लीला और निकुज-लीला की ओर बढते हुए सयोग-सुख की ओर किनारा करते गये है।

अष्टछापी मधुर-परिकल्पना मे कान्ता-रति की आश्रय केवल राधा नही, गोपिया हैं। यद्यपि साम्प्रदायिक निष्ठा के अनुसार सभी कवियो ने राधा को स्वामिनी के रूप मे कुछ महत्त्व दिया है किन्तु प्रेम-मार्ग मे गोपियो को केवल सेविका-परिचारिका आदि के रूप मे अलग खडी रहने वाली चित्रित नही किया। सूर की गोपियो मे यह अन्तर करना असम्भव

---

१. श्रीकृष्णवदनानन्दो वियोगानलमूर्तिमान्। वल्लभशरणाष्टक श्रीहरिरायजी पृ० ६, श्लोक ४।

है कि किस गोपी से कृष्ण का दाम्पत्य सम्बन्ध है, किससे नही, कौन उनके विरह मे अधिक दु खी है, कौन कम। सूर ने सुरत के खुले चित्र कम दिये है, और उनमे प्राय राधा का ही नाम लिया है। पर रास के प्रसगो मे, अन्य अवसरो पर या विरहकालिक सयोग-स्मृतियो मे यह व्यजना भरी पडी है कि कृष्ण का सभी गोपियो से काममूलक दाम्पत्य सम्बन्ध था।[1] वस्तुत अष्टछापी मधुर-परिकल्पना मे गोपिया कृष्ण की प्रियतमाए और प्रेयसिया अधिक है, युगल या राधा की सेविका-परिचारिका या सहचरिया कम। सूर के रास-प्रसग मे राधा की प्रमुखता और गोपियो का राधा की सखियो वाला रूप कुछ सामने आता है, किन्तु उस रास मे सम्मिलित गोपी-मात्र ने श्रीकृष्ण के साथ काम-मूलक मानस तृप्ति उपलब्ध की थी। इस प्रकार अष्टछापी मधुर-परिकल्पना की पहली विशेषता यह है कि इसकी कान्तारति पतिभाव की है और वह राधा तक ही परिसीमित नही, गोपी-सामान्य तक फैली हुई है। इस व्यापक दाम्पत्य से भिन्न जो सहचरी-खवासी आदि रूपो की रति के दर्शन यत्र-तत्र मिलते है उन्हे अन्य सम्प्रदायो का प्रभाव समझना चाहिए।

वल्लभ सम्प्रदाय मे राधा स्वकीया है, अत सिद्धान्तत गोपी-भाव स्वकीया-निष्ठ है। अष्टछापी कवियो ने भी इस मान्यता को सिद्धान्तत सुरक्षित रखा है और रास के प्रसग मे या किसी और रूप मे राधा-कृष्ण का परिणय दिखाया है। पर मधुर-परिकल्पना मे अष्टछापी चैतन्य-सम्प्रदाय की इस मान्यता से प्रभावित हुए प्रतीत होते है कि प्रेम का चरम घनत्व परकीया-भाव मे ही आता है। उनकी गोपियो मे कुमारिकाए भी है, और पति-सुत-स्नेह से मुह मोडकर नदी की भाति रस-सागर कृष्ण की ओर उमडती चली आने वाली गोपियाँ भी है।[2] पर अष्टछापी परकीया-भाव चैतन्यीय परकीया-भाव न होकर भागवतीय परकीया-भाव है। भागवत की गोपिकाए ही सीधी अष्टछाप मे अवतरित हुई है।

अष्टछापी कान्तारति सख्यानुरजित है, दास्यानुरजित नही। यो दास्यानुरजन की झलक सभी कवियो मे मिलती है, पर परवर्तियो मे इसका प्रभाव बढता गया है। सूर से परमानन्द मे अधिक स्पष्ट है।[3] फिर भी सब मिलाकर अष्टछापी मधुर-परिकल्पना मे

---

१ "काम आतुर भजी गोपी, हरि मिले तिहि भाइ।" सूरसागर पू० पद १६५४ स्क० १०।
"रस-बस स्याम कीन्ही ग्वारि।
काम आतुर भजी बाला सबनि पुरई आस।" वही, पद १६८०।

२ "मुरली धुनि करी बलबीर।
गई सोरह सहस हरि पै छाडि सुत-पति-नेह।" वही, पद १६२५।

३ "दूलह देखौं जाइ। उतरे सकेत बटहिं किहिं मिल लखि पाउ।
फूल गूथि माला लै मालिनी ह्वै जाउ।
नन्दनन्दन प्यारे कौ बीरा करि लेउ।
चोलिनि ह्वै जाउ निरखि नैननि सुख देउ।
वृदावनचद कौ मै भूषन गढि लेउ।
ह्वै सुनारि जाउ निरखि नैननि सुख देउ।" सूरसागर ' पू० स्क० १० पद १६६३।
"पौढे रगमहल गोविन्द।
मलय चदन आलेपन परस्पर आनद।
कुसुम बीजन व्यार ढोरै सजनी परमाकन्द।" परमानंदसागर : पद २४७।

सख्य का अनुरजन ही प्रधान है। यह सख्य राधा की अपेक्षा गोपियो मे सीधे कृष्ण के प्रति है।[1] सूर और परमानन्ददास मे यह रूप अधिक स्पष्ट है। इसमे दास्य की झिझक या शील का आतक नही, प्रेम का खुलापन है।

अष्टछापी मधुर-परिकल्पन' मे सयोग और वियोग दोनो पक्षो का काव्य मिलता है, पर सूर को छोड अन्य कवियो मे सयोग पक्ष मुखर है, हम पीछे यह कह चुके है। यहा हम इन दोनो पक्षो की परिकल्पना के सम्बन्ध मे कतिपय उल्लेखनीय विशेषताओ का परिचय प्राप्त कर सकते है।

अष्टछापी सयोग-परिकल्पना मे प्रसग-कल्पना अन्य सम्प्रदायो के कवियो से बहुत बढी-चढी है। केवल निकुज-रस तक ही परिसीमित न रहने के कारण अष्टछापी काव्य का क्षेत्र अन्य कृष्ण काव्य से विस्तृत रहा है और माधुर्य के क्षेत्र मे भी उसमे नवीन प्रसगो एव रूपो को परिकल्पित करने की पूरी पूरी गुजाइश कवियो को मिली है। सयोग-कालीन अवस्थाओ, भावनाओ एव चेष्टाओ का यहा भण्डार भरा पडा है। फिर भी, एक सीमित मात्रा को छोडकर सुरत और सभोग का उन्मुक्त चित्रण नही हुआ। परवर्ती कवियो मे निकुज-विलास के चित्र कुछ बढ गये है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर के प्रेम-विकास मे दो तत्त्वो का प्रमुख हाथ माना है—रूप-सौन्दर्य एव साहचर्य। रूप-सौन्दर्य की मधुर प्रभवन-शीलता का चित्रण सभी अष्टछापियो ने किया है। साहचर्य के सम्बन्ध मे स्वय सूर की गोपियो ने उद्धव से कहा है—'लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसे करि कै छूटै'। किन्तु इस साहचर्य-तत्त्व का पल्लवन सूर को छोड अन्य अष्टछापियो मे अधिक नही मिलता। इनका प्रमुख कारण यही कहा जा सकता है कि अन्य कवियो ने पद-रचना चुने हुए अवसरो को ध्यान मे रखकर की है, भाव-विकास या चरित-विकास पर उनका ध्यान न था। सूर के काव्य मे हमे भाव-धारा की दूर-गामिनी विकसमानता भी मिलती है।

पर ध्यान से देखने पर सूर ने भी गोपियो के प्रेम-तत्त्व को विकसमान नही दिखाया। सूर के गोपी-प्रेम मे कवित्व और भक्ति-मार्ग दोनो का ही समन्वय है। कवित्व की पूर्ति के लिए कृष्ण और गोपियो के बीच सह-क्रीडा और साहचर्य द्वारा प्रेम का विकास और परिपोष सूर ने दिखाया है। पर इससे भी अधिक उन्होने साहचर्य के स्थान पर रहस्य और अतिमान-वीयता को स्थान दिया है। इस सम्बन्ध मे निम्न बाते ध्यान देने की है

१ सूर ने शिशु कृष्ण के प्रति ही गोपियो मे काम रति का उन्मेष चित्रित किया है। कृष्ण दो-तीन वर्ष के ही होगे, उनकी रूप-ठगौरी गोपियो पर पडने लग जाती है। लोक-

---

१. "यह जानति तुम नन्दमहर-सुत।
धेनु दुहत तुमकौं हम देखति जबहिं जाति खरकहिं उत।
चोरी करत यहौ पुनि जानति घर-घर ढूढत भाडे।
मारग रोकि भये अब दानी, वे ढग कबतैं छाडे।
और सुनौ जसुमति जब बाधे तब हम कियौ सहाइ।
सूरदास-प्रभु यह जानति हम तुम ब्रज रहत कन्हाइ।" सूरसा० पू० स्क० १० : पद २१३७।
"का पर ढोटा नयन चलावत, को है तिहारे बबा की चेरी।
गोरस बेचन जात मधुपुरी आय अचानक बन में घेरी।" परमा० पद १७६।

लाज, कुल-मर्यादा छोडने की नौबत आ जाती है।[1] गोपिया शिशु कृष्ण को उठाकर उरोजो से लगाकर प्रेम-पुलकित होने लगती है। यो औरो के देखने मे यह बात स्वाभाविक जैसी है। सुन्दर बालक को देख हर कोई उठाकर छाती से लगा सकता है। पर गोपियो मे वैसी सामान्य बात नही, उनकी कामासक्ति जाग उठी है, जिसे सर ने धीरे-धीरे प्रकट किया है।[2]

बाल-कृष्ण के प्रति कामासक्ति वाली एक गोपी का चित्र देखिए—

"देखी ग्वालजमुना जात।
आपु ता धर गए पूछत कौन है कति बात।
दह्यौ माखन खात सब मिलि दूध दीन्हौ डारि।
बच्छ लै सब छोरि दीन्हे गए बन समुहाइ।
छिरकि लरिकनि मही सौ भरि ग्वाल दिए चलाइ।
देखि आवत सखी घर कौ, सखिनि कह्यौ जु दौरि।
आनि देखे स्याम घर मे, भई ठाढी पौरि॥
प्रेम अन्तर, रिस भरे मुख, जुवति बूझति बात।
चितै मुख-तन सुधि बिसारी, कियौ उर नख घात।
अतिहि रसबस भई ग्वालिनि गेह देह बिसारि।
सूर प्रभु भुज गहे ल्याई महरि पै अनुसारि।"[3]

चार-पाच वर्ष के बालक कृष्ण के प्रति इस कामासक्ति की, जिसमे गोपी उरोज-स्पर्श ही नही कराती स्वय अपने उरोजो पर नख-क्षत भी कर लेती है और उन्हे जाकर यशोदा को दिखाती है, व्याख्या आप चाहे तो फ्राइड के सहारे कर सकते है। यशोदा ने भी कुछ यही अर्थ निकाला—ग्वालिनि, तू जोवन-मद मे इतरा रही है, यह सब तेरे अपने यौवन-भार का बखेडा है।[4] देखा जाय तो यह भी होता है। इसे हम अस्वाभाविक नही कह सकते। काम-रति का उच्छलन युवक और युवतियो मे कभी-कभी बाल-ससर्ग मे व्याज से प्रकट होता है, किन्तु वहा उस काम-रति का आलम्बन स्वय वह बालक नही होता। गोपियो के कामोच्छलन मे तो आलम्बन स्वय पाच वर्ष का बालक है।

इतना ही नही, बालकृष्ण मे भी इन कामभावोपासिका गोपियो के प्रति तद्रूपा रति का चित्रण सूर ने किया है। निम्न दो पदो मे उभयपक्षीय कामरति का यह चित्र दर्शनीय है। साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि गोपी युवती है, कृष्ण केवल पाच वर्ष के

---

१ सूरसागर दशम स्कन्ध . पू० पद ७५३, ७५४।

२. "माखन खात अचानक पावैं, भुज हरि उरहि छुवावैं।" वही, पद ८८६।
"कोउ कहति, मैं देखि पाऊ, भरि धरौं अकवारि।
सूर प्रभु के मिलन कारन करतिं बुद्धि विचार।
जोरि कर विधि कौं मनावति पुरुष नन्दकुमार।" वही, पद ८६१।
"मुख चूमहिं लै लै उर लाए। जुवतिनि कीन्ह आपु मन-भाए।" वही, पद १००६।

३ सूरसागर ' दशम स्कन्ध पू० पद ६०७।

४ वही, पद ६१०।

"देखी हरि मथति ग्वाल दधि ठाढी ।
जोवन मदमाती इतराती, बेनि ढुरति कटि लौ छवि बाढी ।
दिन थोरी, भोरी, अति गोरी, देखत स्याम भए अति चाढी ।
करषति है दुहु करनि मथानी, सोभारासि भुजा सुभ काढी ।
इत-उत अग मुरत झकझोरत, अगिया बनी कुचनि सौ माढी ।
सूरदास प्रभु रीझि थकित भए मनहुँ काम साचे सौ काढी ।"[1]
"गए स्याम तिहिं ग्वालिनि कै घर ।
देखी जाइ मथति दधि ठाढी, आपु लगे खेलन द्वारे पर ।
फिरि चितई, हरि दृष्टि गए परि, बोलि लए हरुए सूनै घर ।
लिए लगाइ कठिन कुच कै बिच, गाढै चापि रही अपनै कर ।
उमगि अग अगिया उर दरकी, सुधि बिसरी तन की तिहिं औसर ।
तब भए स्याम बरस द्वादस के रिझै लई जुवती वा छवि पर ।
मन हरि लियौ तनक से ह्वै गए, देखि रही सिसुरूप मनोहर ।
माखन लै मुख धरति स्याम कै सूरज प्रभु रति-पति नागर-बर ।"[2]

यहा ये बाते उल्लेखनीय है

१ पाच वर्ष के बाल-कृष्ण के प्रति युवती गोपी की कामासक्ति ।

२ पाच वर्ष के बाल-कृष्ण मे गोपी के प्रति कामासक्ति ।

३ बाल-कृष्ण का गोपी-मिलन काल मे किशोर हो जाना, और पुन बालक हो जाना ।

ये तत्त्व आलम्बन की अतिमानवीयता और अलौकिकता का निर्माण करते है, साथ ही गोपी-निष्ठ कान्ता रति को साहचर्य द्वारा क्रमश विकसित नही रहने देते । सूर ने अपने सयोग मे इन तत्त्वो को सर्वत्र उभारा है, जिससे उनके सयोग शृगार मे एक रहस्यमय वातावरण बना रहा है । यह रहस्य और यह अतिमानवीयता ही वे तत्त्व है जो सूर के सयोग को लौकिक होने से बचाते है । लौकिक शृगार और अलौकिक मधुर रस मे सबसे बडा अन्तर आलम्बन की अलौकिकता एव रति-तत्त्व की रहस्यपूर्णता ही है । सूर ने इसकी पूरी-पूरी रक्षा की है ।

२ सूर ने कृष्ण के अवस्था-परिवर्तन एव रूप-परिवर्तन का सयोग के बीच उल्लेख किया है । ऊपर के चित्र मे हम देख ही चुके है । गोपियो ने यह बात यशोदा से बार बार कही है कि यह तुम्हारा कृष्ण हमारे साथ एकान्त मे कुछ और होता है, तुम्हारे सामने आकर भोला शिशु हो जाता है

'का मै कहौं, कहत सकुचति हौं, कहा दिखाऊ गात ।
है गुन बडे सूर के प्रभु के, ह्या लरिका ह्वै जात ।"[3]

एक बार तो एक गोपी शिकायत के लिए कृष्ण को पकडकर ही साथ ले गयी, क्योकि यशोदा कभी विश्वास ही नही करती थी । पर जैसे ही उन्हे सामने करके शिकायत करने लगी तो देखती है कि उसके हाथ मे तो कोई और है, कृष्ण तो यशोदा के घर-भीतर

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पू०, पद ६१८ ।

२ वही, पद ६११ ।

३ वही, पद ९०८ ।

खेल रहे है ।[1] इसी तरह की घटना दूसरी गोपी के साथ दूसरे दिन हुई। वह जिसे कृष्ण के रूप मे पकड कर ले गयी थी वह तो वहा किसी की लडकी निकली।[2] सूर ने आलम्बन के अतिमानवीयत्व को स्थापित करने के लिए इन मार्गों को अपनाया है ।

३ सूर ने राधा के साथ कृष्ण की प्रथम 'औचक' भेट के दूसरे ही दिन दोनो के सुरत-सभोग के चित्र दिये है । उस समय राधा सात वर्ष की और कृष्ण आठ वर्ष के थे । सयोग-काल मे उनका रति-नागर और रति-नागरी रूप प्रकट हुआ था । दोनो मे जो प्रीति उदित हुई थी, वह 'पहली' प्रीति थी, 'गुप्त प्रीति' थी ।[3] सूर के इन चित्रो मे न साहचर्य का योग है, न प्रेम के क्रमिक विकास का। यह सयोग रहस्य और अतिमानवीयता के तत्त्वो से अनुप्राणित एक लीला है, अलौकिक शृगार है, इसी कारण यह शृगार नही, मधुर रस है ।

अन्य अष्टछापी कवियो ने जो सयोग-चित्रण किया हे, और उन्होने प्रमुखतया सयोग-चित्रण ही किया है, उसमे सूर के समान अतिमानवीयता एव रहस्य की व्यजना नही है। वे कृष्ण के अवतारत्व की अभिधा मे चर्चा करते है, व्यजना द्वारा सूर के समान अतिमानवीय वातावरण का जाल सयोग-चित्रो के आसपास प्राय नही बुन पाते । फल यह होता है कि उनके शृगार-चित्रो मे उन पाठको के लिए अधिक सतर्कता की आवश्यकता है जिन्होने अपने सस्कारो को अपेक्षित रूप मे ढाल नही लिया ।

सूर के इन शृगारी चित्रो मे भी, यदि वे अलग से निकालकर पढे जाय तो, वही खतरा है । जिस अलौकिक एव रहस्यपूर्ण अतिमानवीय वातावरण की सृष्टि करके सूर ने कृष्ण शृगार को भक्तिमार्गीय बनाये रखा है, वह सूर की प्रबन्धमयी भावधारा मे ही रखकर आस्वादन करने योग्य है । हम निवेदन कर चुके है कि सूर का काव्य उनकी अभीष्ट अनुभूति

---

१ सूरसागर, दशम स्कध, पू०, पद ९३२ ।

२ वही, पद ९३३ "देखन चली जसोदा मत कों ह्वै गए सुता पराई ।

३ "खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी ।
औचक ही देखी तहँ राधा नैन विसाल भाल दिए रोरी ।" पद १२९० ।
"प्रथम सनेह दुहुन मन जा यौं ।
नैन नैन कीन्ही सब बातैं, गुह्य प्रीति प्रगटा्यौ ।" पद १२९२ ।
"सैननि नागरी समुझाइ ।
गुप्त प्रीति न प्रगट कीन्हीं, हृदय दुहुनि छिपाइ ।" वही, पद १२९४ ।
"भई बरस सात की ।" पद १३१७ ।
"आठ बरस के कुवर कन्हाई ।" पद १३७१ ।
"उतारत है कठनि तै हार ।
हरि हिय मिलत होत है अतर, यह मन कियौ विचार।
भुजा वाम पर कर-छवि लागति, उपमा अत न पार ।
मनहु कमलदल नालमध्य तैं उयो अद्भुत आकार ।
चुबत अग परसपर जनु जुग चद करत हितचार ।
दसननि बसन चापि सुचतुर अति करत रग विस्तार ।
गुनसागर रससागर मिलि कै मानत सुखव्यवहार ।
सूर स्याम स्यामा नव रस रभि रीझें नन्दकुमार ।" पद १३०५ ।

की सफल प्रेषणीयता के लिए समूचे रूप मे ही पढने की वस्तु है।

निम्बार्क, राधावल्लभ और हरिदास सम्प्रदायो की भाव-पद्धति का अवलम्बन करते हुए सभी अष्टछापी कवियो ने युगलरस या निकुजरस का गान भी किया है। इन पदो का सम्बन्ध सयोग शृगार से ही है। नित्य विहार की भावना मे वियोग का तो प्रश्न ही नही उठता अत इनकी धारणा के अनुसार एक सयोग-सुख ही गेय होता है। भक्त मे स्वय प्रेयसीभाव न होकर राधा या युगल के प्रति सखीभाव, सहचरीभाव या खवासीभाव होता है और इन मखी-सहचरियो के युगल के सयोग-सभोग के दर्शन का सुख उपलब्ध होता है। इस प्रकार निकुजरस मे शृगार का वह उन्मुक्त रूप सामने आ जाता है जो सामान्य काव्य-दृष्टि से आकने पर रसाभास तक की कोटि मे रखा जा सके। जो भी हो, सभी अष्टछापियो ने इस निकुजलीला और सहचरीभाव के चित्र दिये है, और ये चित्र परवर्ती काल मे क्रमश बढते गये है।[1] अष्टछाप के लिए हम इसे भक्ति के युगधर्म का प्रभाव कह सकते है।

---

१ क—"खैंचि भुज-बंध बल बिहसि भीतर चली सुनि अधर दुहूनि के नैकु डोलैं।
झूमत झुमत सेज निकट नवतन चढे, मन मनहि मुसुकाइ कोउ न बोले।
सूर सकल सहचरि देखि तजी विकलता, परम फल प्रानपति सुरति आयौ।
आपु आदर कियो, सुमुखि बहु सुख दियौ, एक तैं एक अति मोद पायौ।" सू० १८०८
"नवल नागरि नवल नागर किसोर मिलि कुज कोमल कमल दलनि सज्या रची।
प्र न मन-रसिक ललितादि लोचन-चषक पिवति मकरद सुखरासि अतर सची।" १८०९
ख—पौढे रगमहल गोविन्द।
राधिका सग सरद रजनी उदित पूर्यौ चद।
विविध चित्र-विचित्र चित्रित कोटि कोटिक बद।
निरखि निरखि बिलास बिलसत दपती सुख-कद।
मलय चदन अग लेपन परस्पर आनद।
कुसुम बीजन ब्यार ढोरैं सजनी परमानद।" परमानदसागर पद २४७।
ग—"केलि करि प्यारी-पिय पौढे चारु चादनी में नेह सौं लिपट गए जोवन के जोस में।
अगिया दरक गई मानो प्रात देखिबे कौं चोंच काढि चक्रवाक कामतर रोस कौं।
आरस सौं मोर बाह दोऊ कुच गहे पिय रति के खिलौना माने ढापि दिये ओस में।
रूप के सरोवर में नददास देखे आली चकई के छौना बधे कचन के कोस में।" नददास-ग्रन्थावली पदावली, पद ७०
घ—"राधा के सग पौढे कुज-सदन में सहचरी सबैं मिलि द्वारैं ठाढी।
नदनदन कुवर वृषभानतनया सों करत केलि में जु रुचि बाढी।" कुभनदास ३०१।
ङ—झूलत सुरग हिडोरे मुकुट धरि बैठे है नदलाल।
लाल काछिनी कटि पर बाधे उर शोभित बनमाल।
वामभाग वृषभानु नन्दिनी चचल नैन विशाल।
कृष्णदास दपति छवि निरखत अखिया भईं निहाल।" अष्टछाप० डा० दीनदयालु गुप्त भा० २ पृ० ६४६ फुटनोट से।
च—प्रातसमै नव कुजद्वार ह्वै ललिता ललित बजायौ बीना।
पौढे सुने स्याम-स्यामा दोउ दपति छवि अति प्रवीन प्रवीना।" चतुर्भुजदास, ३३२

सूर और अन्य अष्टछापी कवियो के इन उन्मुक्त शृगारी चित्रो मे एक अन्तर है। सूर भाव-धारा का विकास करते हुए, अतिमानवीयना एव रहस्य का वातावरण सजोते हुए, धीरे-धीरे चढकर उन्मुक्त सयोग के बिन्दु तक पहुँचते है, जबकि अन्य अष्टछापी भावधारा की प्रबन्धात्मकता का लक्ष्य न रखने के कारण सीधे-सीधे उन निकुजलीलादि के प्रसगो को चुनकर मधुर लीला के चित्र देते है, फल यह होता है कि सूर के सयोग-शृगार मे श्लील-सीमाओ का भग उतना खटकने वाला नही रह जाता जितना अन्य कवियो मे। जिन भक्त भावुको ने इस पथ के रहस्य को साम्प्रदायिक निष्ठा के बल समझ लिया है उन्हे तो निर्मल एव गाढ रस की अनुभूति होती ही है।

अन्य कई कृष्णभक्ति-सम्प्रदायो के समान वल्लभ सम्प्रदाय मे भी व्रज को भगवान् कृष्ण का नित्य लीलाधाम माना गया है जिसमे गोपियो के साथ उनकी नित्य लीला, नित्य गोचारण, नित्य माखनचोरी, नित्य रास चलता रहता है। इस मान्यता के अनुसार गोपियो के साथ कृष्ण का व्रज मे नित्य सयोग कहा गया है। भगवान् की लीलाए इस दृष्टि से प्रकट और अप्रकट दो प्रकार की मानी गयी हैं। प्रकट लीला के नाते ही भगवान् का मथुरा-द्वारका आदि का गमन होता है। सामान्य लोग इसे ही देखते-समझते हैं, अत यह प्रकट लीला है। किन्तु अप्रकट रूप से भगवान् का व्रज मे नित्य सयोग उपलब्ध है। सूर की गोपियो ने मथुरा से आये उद्धव को व्रज मे क्रीडा करते श्याम की मधुर झाकी दिखा दी थी, जिसकी चर्चा उद्धव ने मथुरा लौटकर श्रीकृष्ण से बडे आश्चर्य-भरे स्वर मे की थी। अष्टछापी काव्य मे इस नित्य सयोग की परिकल्पना भी मिलती है, और इस धारणा की पृष्ठभूमि मे अष्टछापी कवियो ने प्रकट लीला के भीतर भी जो शृगारी चित्र उतारे हैं वे इस शृगार की अलौकिकता की ही प्रतिष्ठा करते है।[1]

छ—"बैठे दोउ कुज मडप पिय प्यारी।
दूल्है हो नवल लाल गिरिधारी दुलही सग श्रीवृषभानदुलारी।
लाल पाग लालन सिर सोहत नवल सेहरो छवि लागत भारी।
गोविन्द प्रभु पिय इह सुख देखत अपनो तन मन वारी।" गोविन्दस्वामी पद ४०१।

ज—"नदनदन-सग राधिका खेली।
कुज के सदन अति चतुर वर नागरी चतुर नागर मिले करत केली।
नील पट तन लसै पीत कचुकी कसै सकल अग भूपननि रूप रेली।
परम आनद सों लाल गिरिधरन के हृदय सों लागि भुज कठ मेली।
छीतस्वामी नवल वृषभानु-नदिनी करति सुखरास पिय-सग नवेली।
सहचरी मुदित मन जाल-रध्रनि निरखि मानि अपनो भाग कहि महेली।" छीतस्वामी, पद १५३।

१ सूरसागर, दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध,
"सुमिरि तुम्हारी प्रगट लीला कसै उठती गाइ।" पद ४७६२।
"जुग जुग व्रज अवतार लेत प्रभु अखिल लोक ब्रह्माड के नाथ।
येई गोपी येई ग्वाल यहै सुख यह लीला कहु तजत न साथ।
येई कान्हा यहै वृन्दावन यहै, जमुना येई कुन्ज-विहार।" पद ११९५।
"ऊधौ ज्यौं करि कृपा पाउँ धारत हौ, त्यौं तुम्है जनाऊ।
मौन गहे तुम बैठि रहौ हौं मुरली सब्द सुनाऊ।

विरह—वल्लभ सम्प्रदाय और अष्टछाप की दृष्टि मे विरह का जो महत्त्व है हम उसकी चर्चा पीछे कर चुके है। वस्तुत अष्टछापी काव्य मे विरह एक काव्यानुभूति नही, एक भाव-साधना है। अष्टछाप मे विरह के प्रसग मे सूर, परमानन्ददास, नन्ददास और कुम्भनदास चार नाम लिये जा सकते है। इनमे प्रतिनिधि और विरह सम्राट् सूर ही है। स्वय सूर, परमानन्द, नन्ददाम आदि ने विरह का महत्त्व स्वीकार किया है।

काव्यशास्त्र मे विप्रलम्भ शृगार के चार भेद बताये गये है—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। इनमे भगवद्विरह मे करुण की सम्भावना नही होती। रूपगोस्वामी ने मधुर-विप्रलम्भ के ये चार भेद माने है—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्य और प्रवास। प्रेमवैचित्य सयोगावस्था मे होने वाले प्रेम की वह घनीभूत अवस्था है जिसमे प्रेयसी प्रिय के रूप-सौन्दर्य मे इतनी डूब जाती है कि उसे प्रिय पृथक् दिखाई ही नही पडता और वह उसका अभाव अनुभव कर व्याकुल हो उठती है। नन्ददास ने विरहमजरी मे इसी प्रेमवैचिती को 'साक्षात्' विरह नाम दिया है। पर नन्ददास का यह भेदीकरण भिन्न प्रकार से है। उन्होने विरह के प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर और देशान्तर ये चार भेद किये है। अष्टछापी काव्य मे इन सभी विरह-रूपो की परिकल्पना मिलती है।

सूर और परमानन्ददास के काव्य मे पूर्वराग के नाना भावमय चित्र भरे पडे है। सूर

अबहि सिधारे बन गोचारन हौं बैठी जस गाऊ।
निसि आगम श्रीदामा के सग नाचत प्रभुहि दिखाऊ।
को जानै द्विविधा-सकोच-बस तुम डर निकट न आवै।
तब यह दुन्द बढै अति दारुन मखियन प्रान छुडावै।
छिन न रहै नदलाल यहा बिनु जो कोउ कोटि सिखावै।
सूरदास ज्यौं मन तैं मनसा छनत कहूँ नहि धावै।" पद ४६६१।
"मैं ब्रजवासिन की बलिहारी।
जिनके सग सदा क्रीडत है श्रीगोबरधनधारी।
किनहूँ कैं घर माखन चोरत, किनहू कैं सग दानी।
किनहू कैं सग धेनु चरावत, हरि की अकथ कहानी।" पद ४६७१।
"ब्रज में एक अचभो देख्यौ।
मोर मुकुट पीताम्बर धारे तुम गाइन सग पेख्यौ।
गोपबाल सग धावत तुम्हारे तुम घर घर प्रति जात।
दूध दही अरु मही लै ढोंरत चोरी माखन खात।
गोपी सब मिलि पकरति तुमकौ तुम छुडाइ कर भागत।
सूर स्याम नित प्रति यह लीला देखि देखि मन लागत।" पद ४७७१।
"हरेर्लीलाविशेषस्य प्रकटस्यानुसारत।
वर्णिता विरहावस्था गोष्ठवामभ्रुवामसौ॥
वृन्दारण्ये विहरता सदा रासादिविभ्रमै।
हरिणा च ब्रजदेवीना विरहोऽस्ति न कर्हिचित्।" उज्ज्वलनीलमणि पृ० ५६०-२
"अत्र विशेषप्रकटशब्दयोरुपादानाद्वृन्दारण्ये विहरतेत्यत्राप्रकटलीलाविशेषतया विहरतेति गमितम्।" लोचनरोचिनी, जीवगोस्वामी, वही पृ० ५६०-१।

के पूर्वराग के चित्रो मे विरह और मिलन की अद्भुत मिठास है। मान को सूर की अपेक्षा परमानन्ददास ने अधिक महत्त्व दिया है। उनकी दृष्टि मे मान से नारी का स्नेह खिल उठता है।[1] "जुवतिन कौ यह सुभाव मान करतहि सोभा।" खण्डिताओ के चित्र भी मान के एक भेद ईर्ष्यामान के अन्तर्गत आते है। जिन कवियो ने सामान्यत विरह के गीत नही गाये हैं उन्होने भी खण्डिताओ के चित्र दिये है। सयोग परिकल्पना के रसिक गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी आदि मे भी खण्डिताओ के विविध चित्र मिलते है।

प्रवास विरह का जो चित्रण सूर ने प्रस्तुत किया है, विश्व के विरह साहित्य मे बेजोड नमूना है। सूर का विरह वस्तुत पुटपाक-प्रतीकाश है जिसमे प्रेम के काँचे घट पककर 'रस' के अनूठे भाजन बन जाते है। सूर ने वनान्तर और देशान्तर दोनो प्रकार के विरह की कल्पना प्रस्तुत की है। आचार्य शुक्ल ने उनके वनान्तर विरह को, जिसमे कृष्ण के किसी वन-कुज की ओट मे चले जाने पर ही गोपिया व्याकुल हो उठती है, अस्वाभाविक कहकर आलोचना की है। शुक्लजी की आलोचना गोपी प्रेम को लौकिक भाव-भूमि मे रखकर परखते हुए की गयी है, जिसमे परिस्थिति के औचित्य का प्रश्न उठा है। उन्होने भक्ति-क्षेत्रीय प्रेम के विरह की साधनात्मकता की ओर दृष्टि नही रखी है जिसमे वनान्तर ही नही, प्रत्यक्ष और पलकान्तर विरह भी आदर्श विरह के रूप मे स्वीकार किया गया है।

प्रत्यक्ष और पलकान्तर विरह वस्तुत सयोग-कालीन प्रेम की घनीभूत अवस्था के सूचक है। सूर ने पलकान्तर विरह की मधुर परिकल्पना प्रस्तुत की है। एक पद उदाहरण-स्वरूप देखा जा सकता है

"द्वै लौचन साबित नहि तेऊ।
बिनु देखैं कल परत नही छिनु एते पर कीन्ही यह टेऊ।
बार बार छवि देख्यौई चाहत, साथी निमिष मिले है येऊ।
ते तौ ओट करत छिनु ही छिनु देखत ही भरि आवत द्वेऊ।
कैसै मै उनकौ पहिचानौ नैन बिना लखियै क्यो भेऊ।
कहा भई जौ मिली स्याम सौ, तू जानै, जानै सब कोऊ।
सूर स्याम कौ नाम स्रवन सुनि दरसन नीकै देत न वेऊ।"[2]

सयोग-कालीन प्रत्यक्षात्मक विरह की सूर ने विदग्धतापूर्ण परिकल्पना की है जिसमे यह कह सकना कठिन है कि यह सयोग है या विरह

"स्याम सौ काहे की पहिचानि।
निमिष-निमिष यह रूप न, वह छवि, रति कीजै जिय जानि।
इकटक रहति निरतर निसिदिन मन-बुधि सौ चित सानि।
एकौ पल सोभा की सीवा सकति न उर मह आनि।
समुझि न परै प्रगट ही निरखत आनद की निधि खानि।
सखि यह विरह सजोग कि समरस, सुख दुख लाभ कि हानि।
मिटति न घृत तै होम अगिनि रुचि सूर सु लोचन-बानि।
इत लोभी उत रूप परम निधि, कोउ न रहत मिति मानि।"[3]

---

१ परमानन्दसागर, पद २३४।
२ सूरसागर, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, पद २४६८।
३ वही, पद २४७०।

नन्ददास ने यद्यपि स्वय इन विरह-भेदो का सैद्धान्तिक विवेचन किया है किन्तु इनकी काव्यात्मक परिकल्पना वे सूर के समान मर्म-स्पर्शी नही दे सके। नन्ददास के विरह मे सैद्धान्तिक बुद्धिवाद का स्वर सदा ऊचा हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उनका विरह सूर की टक्कर का नही रह जाता। सूर की विरह मार्मिकता को यदि अष्टछाप मे कोई कुछ स्पर्श करता है तो परमानन्ददास। पर परमानन्ददाम और नन्ददास दोनो ही प्रकृत्या सयोग के कवि है, इसीलिए इनका विरह काव्य-मात्रा की दृष्टि से भी सूर की तुलना मे बहुत छोटा है।

जहा तक अष्टछापी काव्य के मधुर रस की सहृदय-परक प्रेषणीयता का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि वह रस अत्यन्त मधुर एव आत्म-निमज्जनकारी है। जो साम्प्रदायिक निष्ठा के अनुरूप सस्कार एव साधनाप्राप्त भावुक भक्त है उनके लिए तो यह रस चरम निर्मल, आत्मोन्नायक एव ब्रह्मानन्द से भी बढकर है। किन्तु जो लोग साम्प्रदायिक निष्ठा न रखकर काव्योचित सहृदयता रखते है उनके लिए भी यह अत्यन्त मधुर है। अष्टछापी विप्रलम्भ की परिकल्पना प्रेम के घनत्व और आत्मविगलन का मधुर उपाय है। सयोग के एक अल्प अश को छोडकर रसानुभूति की दृष्टि से अष्टछापी मधुर रस हृदय की सात्त्विक एव एकतान अवस्थाओ की अनुभूति समर्पित करता है। हाँ, साहित्यिक दृष्टि से खुले शृगार के चित्र अवश्य सामान्य पाठक को रसत्व की सात्त्विक भूमि से नीचे ला सकते है।

अष्टछापी माधुर्य परिकल्पना एक मात्रा तक साम्प्रदायिक सस्पर्श लिए है। किन्तु समकालीन कृष्णभक्ति काव्य मे अष्टछापी मधुर काव्य सर्वाधिक कम साम्प्रदायिक है। सूर के काव्य मे काव्यानुभूति का प्रकृत अवकाश उन्मुक्त है, सम्प्रदाय-निष्ठा का उसमे अनुचित व्याघात नही है। जिन कवियो मे साम्प्रदायिक तत्व अधिक उभरकर आ जाते है वहा उन रचयिताओ की दृष्टि से रसमय रूप मे रचा हुआ काव्य भी काव्य-पाठक के लिए एक भाव-काव्य ही रह जाता है।

निम्बार्क सम्प्रदायी काव्य मे रस परिकल्पना

काल-दृष्टि से निम्बार्क-सम्प्रदाय सबसे प्राचीन कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय है, ऐसा सम्प्रदाय के लोगो का विश्वास है। साहित्यिक विद्वान् भी ऐतिहासिक दृष्टि से उत्तरी भारत मे प्रचलित कृष्णभक्ति-सम्प्रदायो मे इसकी प्राचीनता स्वीकार करते है।

हमारे आलोच्यकाल की परिधि तक इस सम्प्रदाय के पाँच उल्लेखनीय कवि आते है—श्रीभट्टजी, हरिव्यासदेवजी, रूपरसिकदेवजी, परशुरामाचार्यजी एव तत्त्ववेत्ताचार्यजी। साम्प्रदायिक विद्वान् इन भक्त कवियो का उद्भव चौदहवी शती से मानते है, किन्तु साहित्य के विद्यार्थी इन्हे सोलहवी और सत्रहवी शतियो मे ही स्वीकार करते है। इतना निस्सन्देह है कि सम्प्रदाय के प्रथम हिन्दी कवि श्रीभट्टजी व्रजभाषा के प्राथमिक कृष्णभक्त कवियो मे से है।

इन कवियो का उपलब्ध हिन्दी साहित्य मात्रा मे अधिक नही है, पूरा प्रकाशित भी नही है, जो प्रकाशित है उसका भी एक बडा अश सिद्धान्त-प्रतिपादक है। ये भक्त-कवि स्वय सम्प्रदाय की गद्दियो के आचार्य भी थे। अत इन्हे कुछ सिद्धान्त-निरूपण भी करना होता था। परशुरामदेवजी का 'परशुरामसागर' एक वृहत् रचना है। पर उसमे रस-परिकल्पना कम, वस्तु-व्यजना एव तथ्य-निरूपण अधिक है। उसके विषय है ज्ञान, वैराग्य,

गुरु-महत्त्व, उपदेश एव भगवत्प्रेम-महत्त्व। उसकी कुछ वाणियाँ शान्तरस के अन्तर्गत और कुछ सामान्य भक्ति-भाव के अन्तर्गत आती है। तत्त्ववेत्ताचार्यजी की वाणियो मे भी तत्त्वनिरूपण ही अधिक है। इन वाणियो का सम्प्रदाय मे बडा सम्मान है, किन्तु वह सम्मान रस-परिकल्पना की दृष्टि से न होकर सिद्धान्त-प्रकाशन की दृष्टि से है। इस प्रकार हमारे आलोच्य काल मे तीन ही भक्त-कवियो की वाणिया ऐसी रह जाती है जो सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना समझने के लिए विशेषत अध्येय है। ये कवि है श्रीभट्टजी, श्रीहरिव्यासदेवजी, श्रीरूपरसिकदेवजी। इनकी वाणियो मे भाव, भाषा और सगीत का अनूठा समावेश है। अपनी रसात्मकता के बल पर ये कवि अन्य सम्प्रदायो के उच्चकोटि के कवियो की श्रेणी मे रखे जा सकते है।

सम्प्रदाय की रस-दृष्टि

पीछे 'भक्तिदर्शन और रस' अध्याय मे हमने निम्बार्क-दर्शन की मान्यताओ के अनुसार 'रस-तत्त्व' का निरूपण प्रस्तुत किया था। यहाँ सम्प्रदाय की व्यावहारिक भाव-साधना के अनुरूप रस का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर पाचो को सिद्धान्तत स्वीकार करते हुए भी सम्प्रदाय एक रसिक सम्प्रदाय ही है। मधुर के सम्बन्ध मे सम्प्रदाय की अपनी विशिष्ट दृष्टि है। श्रीकृष्ण, राधा, राधा-कृष्ण युगल, उनका विलास-नित्यविहार, धाम-तत्त्व और भक्ति-तत्त्व सभी को रस-रूप स्वीकार किया गया है।

लीलामय श्रीकृष्ण रस-रूप है,[1] उनकी लीला भी रस ही है। उनकी आह्लादिनी शक्ति राधा भी रस ही है। तत्त्वत राधा और कृष्ण एक ही रसमय तत्त्व है।[2] रसाब्धि कृष्ण ही लीला के लिए दो रूपो मे व्यक्त हुआ है।[3] इसीलिए लीलामय पुरुषोत्तम रसरूप श्रीकृष्ण सम्प्रदाय की दृष्टि मे युगल-रूप है। यह युगल स्वरूपत एक और अभिन्न है। इसका दाम्पत्य नित्य एव विलास-क्रीडा भी नित्य ही है, इसीलिए इस क्रीडा को नित्यविहार कहा जाता है।

युगल मे परस्पर आलम्बनआश्रय भाव है। राधा सम्प्रदाय की दृष्टि मे स्वकीया है। वे कृष्ण की आलम्बन है, कृष्ण उनके। इस दृष्टि से किसी को महत्त्व न देकर सम्प्रदाय समभाव से दोनो के सौन्दर्य-गीत गाता है। दोनो एक-दूसरे लिए के आस्वाद्य है, दोनो एक-दूसरे के रसिक है। दोनो के लिए एक-दूसरे के लिए सम्पर्क-विलास से होने वाला सुख एक-दूसरे के लिए 'रस' है। सहचरियो तथा सहचरीभावापन्न भक्तो के लिए यह युगल, उनकी क्रीडा, उनका विलास-विहार, और वे लीला-धाम जहाँ यह लीला-विहार चलता है,

---

१ स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिन ब्रह्म पर वरेण्य ध्यायेम कृष्ण कमलेक्षण हरिम्।" वेदान्तकामधेनु, श्लो० ११

२ एव हि तस्य शक्तयस्त्वनेकधा। आह्लादिनी, सधिनी, ज्ञानेच्छाक्रियाद्या बहुविधा'।
तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमान्तरङ्गभूता राधा, कृष्णेनाराध्यत इति राधा, कृष्ण समाराधयति सदेति राधिका गान्धर्वेति व्यपदिश्यते।" राधिकोपनिषत्, युग्मत० स०, पृ० १७।

३. येय राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहेनैक क्रीडनार्थं द्विधाभूत। ग्युग० त० से०, पृ० १७

सभी कुछ रस है ।[1] यही रस निम्बार्की हिन्दी काव्य का विषय बना है ।

रसेश्वर कृष्ण के लीला धाम भी रसरूप ही है जिन्हे नित्य, अप्राकृत एव विशुद्ध-सत्त्वमय तथा भगवन्मय माना जाता है । निम्बार्क-सम्प्रदायी हिन्दी काव्य मे व्रजरस, वृन्दावनरस और निकुजरस का गान हुआ है । व्रजरस मे भगवान् की बाल-लीला, गोचारण, किशोर-लीला, माखन-चोरी, दान आदि के प्रसग भी आ सकते है, किन्तु वृन्दावनरस और निकुजरस राधाकृष्ण की श्रृगारमयी लीलाओ तक ही सीमित है ।

निम्बार्क सम्प्रदाय मे युगल-भावना पर उत्तरोत्तर बल बढता चला गया है । सम्प्रदाय के प्रारम्भिक आचार्यो एव कवियो मे व्रजरस और वृन्दावनरस का गान मुखर रहा है किन्तु आगे चलकर निकुजरस ही एक गेय बनता चला गया है । विद्वानो का विश्वास है कि सम्प्रदाय मे प्रारम्भ मे केवल युगल-भावना ही एकमात्र आधार न थी । राधा, नित्य-विहार, निकुजरस आदि का महत्त्व एव चर्चा उत्तरोत्तर बढती गयी है ।[2] फिर भी इस मधुर-भावना के सकेत सखीभाव की भूमि मे ही स्वय भगवान् निम्बार्क की दशश्लोकी मे मिलते है । उन्होने जहाँ लीलामय कृष्ण का स्मरण किया है वही साथ ही वामाग मे विराजित सखी-सहस्र-परिसेवित वृषभानुजा का ।[3]

इस प्रकार सम्प्रदाय की धारणा के अनुसार कृष्ण राधा के आस्वाद्य रस है, राधा कृष्ण की आस्वाद्य रस । युगल एव उनका नित्यविहार सहचरियो एव सहचरीभावापन्न भक्तो का आस्वाद्य रस है । सहचरियो के लिए युगलरस, नित्यविहार और धामरस आस्वाद्य, विषयभूत एव विभावरूप रस है, उनका आस्वादनात्मक रस एतद्विषयक आत्मभाव का परिपाक है, वही भक्तिरस है । निम्बार्की मधुर-परिकल्पना को समझने के लिए आस्वाद्य एव आस्वाद्य रूप रसो का वर्गीकरण करके चलना आवश्यक है ।

इस सम्प्रदाय की मूल भाव-चेतना यह है कि राधा-कृष्ण युगल निकुजो मे विविध कामकेलियाँ एव विहार करते है, सखिया उस विहार-विलास को देखकर दर्शन-सुख प्राप्त करती है । सखी भावापन्न भक्त भी उन सखियो से तदात्म होकर दर्शन-सुख प्राप्त करता है । उसके लिए यही रस है । सखियाँ या सखीभावापन्न भक्त युगल मे से किसी के साथ भाव-तादात्म्य स्थापित नही करते । सेवा, सख्य या दर्शन की कामना से युक्त वे आत्म-भाव मे डूबे रहते है। श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने वर्ण्य भाव से अलग सहचरियो के इस निजभावास्वादन का स्पष्ट उल्लेख किया है

"नैनन कौ लाहौ लीजिए ।
गोरी स्याम सलौनी जोरी सरस माधुरी पीजिये ।

---

१ स्वस्थत्वेन रसोद्रेके भोग्यत्वमधिक भवेत् । परनिष्ठरसोद्रेके भोक्तृत्वमधिक भवेत् ।
कदाचिद्भोग्यभावस्य भोक्तृभावस्य चैव हि । कमनीयत्वमधिक रसस्यैव स्वभावत ।
रसिकत्वाय राधाया श्रीकृष्णो रसविग्रह । उभयो रसरूपत्व तदीयजनताकृते ।" वही, पृ० २५४ ।

२ राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, डा० स्नातक पृ० २०८ ।

३ स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिन ब्रह्म पर वरेण्य ध्यायेम कृष्ण कमलेक्षण हरिम् ॥
अङ्गे तु वामे वृषभानुजा मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रै परिवारिता सदा स्मरेम देवी सकलेष्टकामदाम् ।" वेदान्तदशश्लोकी श्लोक ४, ५ ।

छिन-छिन प्रति प्रमुदित चित चावहि निजभावहि मे भीजिए।
श्रीहरिप्रिया निरखि तन मन धन लै न्यौछावर कीजिये ।"[१]
"निज-निज भावन सौ निरखौ री, कैसी विराजत सुन्दर जोरी ।"[२]

इस दृष्टि से सम्प्रदाय की रस परिकल्पना मे रसिक का स्थायी भाव और काव्य मे वर्ण्य रस अलग हो जाते है। भक्त सख्य या दास्य से अनुमिश्रित सहचरी रति का आस्वादन करता है जिसमे उसे नित्यविहार के दर्शन का सुख होता है।

निम्बार्क सम्प्रदाय का सखीभाव एक कान्तारति है। यह भाव मुख्यत राधा की अष्ट सखियो मे पाया जाता है। ये सखियाँ आह्लादिनी राधा की अशभूता शक्तिया ही हे। पर कृष्ण के साथ साक्षात् सभोग का अधिकार राधा का ही है, इन सखियो का नही। पर ये राधा की कृपा से युगल के नित्यविहार मे सम्मिलित होती है, और सेवा-परिचर्या तथा विहार-दर्शन का सुख प्राप्त करती है।[3] इन अगरूपा शक्तियो के सामने राधा कृष्ण को अपने विलास-विहार मे किसी प्रकार के सकोच या लज्जा का प्रश्न नही उठता, न ही राधा को इनके प्रति सपत्नीभाव या ईर्ष्या होती है। विशुद्ध प्रेयसीभाव केवल राधा मे ही होता है सखिया भी भगवान् के प्रति दाम्पत्य भाव की आकाक्षिणी नही होती। वल्लभ सम्प्रदाय की गोपिया भगवान् के प्रति दाम्पत्य भाव की आकाक्षिणी पायी जाती है, यह हम देख चुके है।[४]

यद्यपि इन सखियो मे सेवासुख और दर्शनसुख की ही फलात्मक उपलब्धि स्वीकार की गई है, किन्तु इनकी काम-वृत्ति का भी साथ ही परितर्पण होता है। मधुर भाव मे प्रेम का स्वरूप कामवृत्ति-मूलक ही है, इस मार्ग मे कामवृत्ति का दमन या निरोध न कर उन्नयन एव दिशा-परिवर्तन किया जाता है। यदि कामवृत्ति का परितोषण न होता तो सखियो को भगवान् के इसी शृगारी रूप को आराध्य बनाने की आवश्यकता भी न रहती। श्री भट्टजी तथा हरिव्यास देवजी ने इनमे काम-अश की बात स्वीकार की है।[५] राधा-कृष्ण के निकुज-विहार का साक्षात् दर्शन करते हुए भी सखियो मे किसी भी प्रकार की कामवृत्ति का उदय न मानना और तटस्थतया दास्य या सख्य की अनुभूति और मात्र दर्शन-सुख स्वीकार करना एक दूरी तक अमनोवैज्ञानिक भी होता। अत यह स्वीकार करना ही सगत है कि इन सखियो को दर्शनसुख मे कामवृत्ति का परितोषण भी प्राप्त होता है। किन्तु यह काम-तर्पण सभोगेच्छा-तर्पण के रूप मे नही होता, वृत्ति के एक सामान्य परितोषण के रूप मे ही होता है। साम्प्रदायिक दृष्टि से कहा गया है कि ये सखिया राधा की अशरूपा हैं। जिन क्षणो मे उस अशी राधा की कामवृत्ति का परितर्पण होता है, उन्ही क्षणो मे उसकी अशभूता शक्तियो

---

१ महावाणी, सेवासुख, ४२।

२ वही, उत्साहसुख, १७२।

३ "श्रीभट भट कटाच्छ करन सों युगल-स्वरूप-सुधारस सेवै।" यु० श०, पद १७।
"और काहू कौ जहा नहि प्रवेशा। बिना श्रीहरिप्रिया लहै न लेशा।" महावाणी, पद ३।

४ क्रीडहि तजि क्रीडहि मन मानत नहि जानत कित रजनी भोर।" वही पृ० १७३, पद ३।

५ "श्रीभट देखि देखि दोयन तन सफल करत हौ मैंन।" यु० श०, पद ४७।
"सखी सहेली सहचरि सुन्दरि मजरि महल टहल टग लागि।
केउ आवति केउ जाति जतन जगि अतन अगसगिनि अनुरागि।" महा०, पृ० १७३।

का भी कामवृत्ति-परितोषण हो जाता है। अश-परितोषण के लिए अशी-परितोषण से अलग कोई चीज अपेक्षित नही है।[1] एक बात और ध्यान रखने की हे। स्वय राधा मे भी, कृष्ण के साथ पूरी-पूरी विलास-कामना रहते हुए भी, जो कामवृत्ति स्वीकार की गयी है उसका उद्देश्य स्वसुखित्व नही, तत्सुखित्व ही होता है। अत सखियो की कामवृत्ति का जो भी असाक्षात् परितोषण होता है, वह भी तत्सुखसुखित्व के रूप मे ही स्वत स्वाभाविक होता है।

वास्तविकता यह हे कि इस मान्यता के लिए भागवत के रास-प्रसग ने प्रेरणा दी है। रास मे राधा ही नही, गोपी-मात्र को कृष्ण की प्रेयसी के रूप मे रखते हुए कामसुख की उपलब्धि दिखायी गयी है। निम्बार्की कवियो ने भी जहा रास या कुजो मे होली का चित्रण किया है, सखियो का कृष्ण-प्रेयसीत्व उभर आया है। अत उन स्थलो मे सखियो मे सेवासुख, दर्शनसुख के अतिरिक्त कामसुख की उपलब्धि भी स्वीकार करनी पडती है, फिर चाहे उसे कितना ही असाक्षात् एव तटस्थ क्यो न दिखाया जाए।[2]

इस सखीभाव की रति मे मुख्यत दो भावो का अनुमिश्रण पाया जाता है—कही दास्य का तो कही सख्य का। दास्यानुमिश्रित सखीभाव मे सेवा-परिचर्या की भावना प्रधान रहती है तथा आत्म-लघुत्व का भाव सन्निहित रहता है, सख्यानुमिश्रित कान्तारति मे परिचारिकात्व की अपेक्षा साम्यमूलक सख्य अधिक उभरा रहता है।

सखीभाव को इस सम्प्रदाय के कवियो ने प्राय दो शैलियो मे प्रस्तुत किया है—कही तो विषयात्मक शैली मे अष्ट सखियो या सहचरियो मे युगल-विषयक सखीभाव का चित्रण करके, कही आत्म-प्रधान शैली मे स्वय को ही सखी-सहचरी के रूप मे प्रस्तुत करते हुए। जहा कवि भाव-सुमन लेकर स्वय उपस्थित नही हुआ वहा उसकी प्रतिनिधि वे सखी-सहचरिया समझनी चाहिए जिनकी भावाभिव्यक्ति कवि ने प्रस्तुत की है।

कृष्ण सौदर्य, राधा-सौन्दर्य, युगल-छवि, युगल-विलास एव नित्य-विहार के अनेक

---

१. "बोलै बोल अबोल अबोलै डोलै सग लागि मब तीय।
मन अनुसारिनि आज्ञाकारिनि बिबि तन के तन में मन दीय।" महा० पृ० १७४।
"तत्तादात्म्यादेव तासा प्रेयसीत्व भवेत्सदा" यु० त० स०, एकादश मयूख, का० ४७।

२ श्रीयुग्मस्य रस.व तु सखीभिरनुभूयते। रसिक व चापि ताभि सर्वदैवानुभूयते।" ३
"श्रीतादात्म्यात्सखीना तु रसत्वमपि समतम्। अ यथा रसिकत्व तु प्रकट सर्वथैव हि। ४
"तस्माढवस्थाभेदेन द्विविधत्व हि उध्यताम्। साक्षा मन्मथरूपेण यथा कृष्णोनुभूयते।
तदा सखीजनाना तु प्रेयसी भावमुख्यता। यदातु रसरूपेण युग्मरूप विभाव्यते।
तदा सखीजनाना तु सखीभावप्रधानता।" २३-५।
'प्रेयसीत्वेपि तासा वै सापत्न्य नहि विद्यते। एकात्मत्वाच्च सर्वासामात्मा परातासा रमा।
परमाह्लादिनी राधा कृष्णाधारगरूपिणी। तत्ताढात्म्यादेव तासा प्रेयसीत्वै भवे.सदा।
यथा विद्युत्प्रकाशादावशाशित्वव्यवस्थया। धर्माणा समता दृष्टा तया तत्रापि बुध्यताम्।
अतएव हि कान्तानामनन्तत्वेपि तत्र वै। एककान्तारसो ज्ञेयो रसतत्त्वविवेचकै। ४६ ९
स्वाधीनभर्तृकात्व च श्रीदेव्या नैव भज्यते। वैषम्य निर्घृणत्व च श्री देव्या नैवसस्पृशेत्
सभूय रसभोक्तृत्व सखीत्व युग्मसेविता। असापत्न्य च सर्वत्र विशुद्धप्रेमसतति। ५४
अतएव हि तत्रैव रासलीलाऽनुभूयते ५५।

—युग्मतत्त्वसमीक्षा, एकादश मयूख।

चित्र इस रूप मे भी प्रस्तुत किये गये है कि उनमे सखीभाव का आरोपण नही भी हे। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की जागरूक चेतना रखकर इन चित्रो की रस-कल्पना का आस्वादन करने मे कोई अन्तर नही पडता। साम्प्रदायिक भक्त इन चित्रो को सहचरीभावापन्न होकर ही ग्रहण करता है, किन्तु इस सखीभाव की चेतना को थोडा ओझल करके चलने वाले पाठक के लिए यह आवश्यक नही रह जाता कि वह राधा-माधव की भाव-व्यजना का शृङ्गार-परक आस्वादन न करे। जिन स्थलो मे युगल-विलास के शृगारी चित्र सहचरीरति के विभावरूप मे कवि द्वारा प्रस्तुत किये जाते है उनमे असाम्प्रदायिक पाठक की चेतना शृङ्गार रस की अनुभूति करती तो है किन्तु वह शृगारानुभूति अव्याहृत नही होती, सहचरीरति के परिवेश मे एक मात्रा तक कवि के दृष्टिकोण से प्रभावित भी होती हे। सहचरीभाव एक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है, इसी कारण काव्य मे उसके स्पष्ट और अस्पष्ट रहने के कारण असाम्प्रदायिक पाठक की अनुभूति का स्वरूप भी कुछ भिन्न होता है।

धामरस के अन्तर्गत व्रजरस, वृन्दावनरस एव निकुजरस आते है। वस्तुत ये कोई पृथक् रसरूप नही है। व्रजरस मे भगवान् के व्रजवास से सम्बन्धित बाल और किशोर सभी लीलाए आ जाती है, वृन्दावनरस एव निकुजरस युगल के विलास-विहार तक ही सीमित है। निकुजरस मे केवल केलि-वर्णन ही आता है। पर निम्बार्की कवियो ने कुजो को थोडे-से वृक्षो और लताओ का छोटा-मोटा झुड मात्र कल्पित नही किया, उनमे होली, हिडोले आदि के चित्र भी दिये है। अत इन निकुजो को वृन्दावन मे उपलब्ध 'निधिवन' आदि कुजो के अनुरूप उपवनो के रूप मे समझना चाहिए।

निम्बार्की भक्तो ने लीलाधाम वृन्दावन और व्रज के विषय मे भी अपनी रति भावना व्यजित की है। यह रति स्वतत्र और गौण रूपो मे व्यजित की गयी है।[1] वृन्दावन नित्य एव भगवद्विग्रहरूप है, ऐसा मानकर स्वतन्त्रतया व्यक्त रति के भी चित्र है, और वृन्दावन के प्रति इसलिए प्रेम प्रकट किया गया है कि यहा के वास से युगल की कृपा एव युगलरस के आस्वादन का सौभाग्य मिलता है। ऐसी स्थिति मे धामरस का अर्थ होता है कविगत धामविषयक रति का परिपाक।

शान्त भक्तिरस

सिद्धान्तत भक्तिरस के पाचो रूपो को स्वीकार करते हुए भी सम्प्रदाय मे मधुर की परिकल्पना ही प्रधान रही। केवल परशुरामदेवजी के काव्य मे शान्त और शान्तभक्ति

---

१. "जय जय श्रीवृन्दावन धाम, चिदानदघन पूरन काम।
वहति विमल कल-केलि-रूपिनी श्रीजमना कमना चहु कोद।
अति रसरग तरग उमगनि अग-अंगनि प्रति बढवति मोद।
दिव्य कनकमय अवनि अखडित मृदु मनिमडित मयी मनोज।
विविध भाति तरु वेलिन भेली रतिरेली अलबेली ओज।" महावाणी, पृ० ७३।
"जय जय वृन्दावन आनदमूल।
नाम लेत पावत जु प्रणयरति युगल किशोर देत निज कूल।
शरण आये पाये राधा धव, मिटी अनेक जन्म की भूल।
ऐसेहि जानि वृन्दावन श्रीभट रज पर वारौं कोटि मखतूल।" युगलशतक, पद ३।

की परिकल्पना मिलती हे । उनकी वाणियो मे विवेक एव तत्त्वज्ञानज निर्वेद के स्वतन्त्र तथा भगवद्रति-परक दोनो प्रकार के भाव-चित्र मिलते है । कभी-कभी विवेक-निर्वेद दास्यरति-परक भी परिकल्पित हुआ है । परशुराम के काव्य का एक बडा अश वस्तु-व्यजक है, किन्तु उनके काव्य मे शान्त भक्ति की निर्मल धारा प्रवाहित है जिसका प्रभाव निश्चित रूप से शुभ है ।

"अघ-तिमिर दुरत हरि-नाम तै ।
ज्यो रजनी चलिबे को चचल थिर न रहत रवि-धाम तै ।
सुमिरन सार प्रगट जस जाकौ भव तारन गुन-ग्राम तै ।
जीवन-मरन विघन टारन कोई और नही बड स्याम तै ।"[१]
"हरि विन धृग जीवन व्यौहारा ।
जो लगत न मन गोपाल भजन सौ तजत न विषय विकारा ।
कलि को रस विलसत सुख करि-को, परि गये कठिन ठिकारा ।"[२]

परशुराम को छोड सामान्यत इस सम्प्रदाय के रसिक भक्तो की प्रवृत्ति मधुर की ओर रही, शान्त की ओर नही ।

दास्य भक्तिरस

दास्यभाव की परिकल्पना के दो रूप निम्बार्की काव्य मे मिलते है—एक भगवान् के महत्त्व एव अपने लघुत्व की चेतना वाला स्वतन्त्र दास्य, दूसरा युगल की सेवा-परिचर्या की भावना वाला सहचरी भाव का अगभूत दास्य । प्रथम प्रकार के दास्य मे कान्ताभाव अपेक्षित नही है, दूसरे प्रकार के दास्य मे कान्तात्व की चेतना अनिवार्यत अपेक्षित है । दूसरे प्रकार के अगभूत दास्य की चर्चा तो मधुर रस के अन्तर्गत ही होगी, यहा स्वतन्त्र दास्य की ही चर्चा करनी है । हम यह दिखा चुके है कि यह दास्यभाव जन-सामान्य के लिए अत्यन्त स्वाभाविक एव असाम्प्रदायिक होता है ।

दास्यभक्ति की परिकल्पना हमे दो कवियो मे मिलती है—श्रीभट्ट और परशुरामदेव मे । मात्रा की दृष्टि से श्रीभट्ट के दो-तीन पद ही इस भाव के अन्तर्गत आते है, अत परशु-रामदेवजी का नाम ही दास्य-परिकल्पना की दृष्टि से भी उल्लेखनीय रहता है ।

'युगल-शतक' के इन दो पदो मे दास्य-भावना के दर्शन होते है

"मदनगोपाल शरण तेरी आयो ।
चरणकमल की सेवा दीजै चेरो करि राखो घर जायो ।
धनि धनि मात-पिता सुत बधु धनि जननी जिन गोद खिलायो ।
धनि धनि चरण चलत तीरथ को धनि गुरू जिन हरिनाम सुनायो ।
जे नर विमुख भये गोविन्द सो जन्म अनेक महा दुख पायो ।
श्रीभट के प्रभु दियो अभय पद जम डरप्यो जब दास कहायो ।।"[3]

---

१. श्रीनिम्बार्कमाधुरी परशुरामसागर से उद्धृत पद . पृ० ८४ ।

२. वही, पृ० ८७ ।

३ श्रीयुगलशतक पद १ ।

"युगल किशोर हमारे ठाकुर ।
सदा सर्वदा हम जिनके है जनम जनम घरजाये चाकर ।
चूक परे परिहरहिं न कबहूँ सबही भाति दया के आकर ।
जै श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवन मे प्रणतनि-पोषण परम सुधाकर ॥"[1]

श्रीभट्ट के इन पदो मे से पहले मे आलम्बन अकेले मदनगोपाल है, दूसरे मे युगल किशोर। पर इनमे भाव के आश्रय को स्त्रीलिंग मे नही, पुल्लिग मे ही प्रस्तुत किया गया है। 'शरण तेरी आयो', 'चेरो करि राखो', 'हम जिनके है चाकर' आदि रूप पुरुष-भाव के ही सूचक है। अत यहा की दास्यरति कान्तारति के परिवेश से मुक्त है। 'श्रीकृष्णशरणापत्ति-स्तोत्र' मे श्रीभट्टजी ने श्रीकृष्ण के शक्ति-सम्पन्न, दयालु एव सरक्षक रूपो का स्मरण किया है।[2]

भावावेश, आत्मनिवेदन, दैन्य आदि की दृष्टि से परशुराम के दास्य मे ही रसान्विति के दर्शन होते है। उनके अनेक पदो मे हृदय-निवेदन एव प्रणयानुभूति सूर की टक्कर की मिलती है

"हरि मेरी जारति क्यौ न हरौ ।
मै अनाथ प्रभु अन्तर्यामी सुनि किन कृपा करौ ।
खोट-कमाई गाठ मे बाध्यो दाना डारि खरो ।
लेउ सुधारि सकल पति सति करि खोजो कहा परौ ।
मैं मतिहीन भाव-सेवा बिन पर घर घालि धरौ ।
परशुराम प्रभु भगतबछलता यह जिनि विरद टरौ ।"[3]
"मेरी तुमही कौ सब लाज बडाई।
ज्यौ जानौ त्यौही त्यौ राखौ अपने करि आपन हरिराई ।
दीनदयाल कृपाल कृपानिधि हरि दुखहरन सकल-सुखदाई ।
लै निबहन की परसुराम प्रभु तुम बिन कोउ सूझै न सहाई ।"[4]

रूपरसिकदेवजी के पदो मे भी कही-कही इस भाव की झलक मिलती है

"हो प्रभु, क्षमा करौ मम खोट ।
मैं नहिं जान्यो त्रिभुवननायक, धोष तिहारे ओट ।
रूपरसिक प्रभु मया करी महा परम दया के कोट।"[5]

सख्य भक्तिरस

निम्बार्की काव्य मे सख्यरस की परिकल्पना उपलब्ध नही होती। मधुर रस के अग-रूप मे सखियो मे साम्य-मूलक चेतना के साथ सख्य-भावना के दर्शन अवश्य होते है, किन्तु इस प्रकार की सख्य-भावना सख्य-भक्ति का स्वरूप खडा नही करती।

---

१ श्रीयुगलशतक, पद ७।
२. वही, पृ० ४६-८, श्लो० १६-२०।
३ श्रीनिम्बार्कमाधुरी पृ० ८६।
४ वही, पृ० ८६ परशुरामसागर से उद्धृत।
५ वही, पृ० ११३, पद ५०।

सख्यरस का अवकाश व्रजलीला के अन्तर्गत गोप-बालको के साथ क्रीडा, गोचारण, छाक आदि के प्रसगो मे कृष्णभक्त कवियो ने निकाला है। श्रीभट्टजी ने यद्यपि वृन्दावनरस तक ही परिसीमित न रहकर व्रजरस का गान किया है। उसमे भगवान् के गोचारी रूप की झलक प्रस्तुत की है। किन्तु उन चित्रो मे दर्शक कान्ताभाववाली गोपिया ही है जो कृष्ण की रूपमाधुरी की सुधा का पान करती है। उन चित्रो मे गोपो का नाम भले हो, सख्य-रति नही। एक पद उदाहरणस्वरूप देखा जा सकता है

"सध्या गोरज उडनि मे छवि पावत गोपाल।
श्रीभट्ट मानो व्याहि कै घर आये नन्दलाल॥
गोपाल लाल दूलह, ग्वाल बराती।
गौवन आगे सखिन जूथ मे राधा दुलहिन लाल गवाती।
दुदुभि दूध दोहन की बाजी राजी सब गोप सजाती।
आरति पलक नेह जल मोती श्रीभट रूप पिवाती।"[1]

वात्सल्य भक्तिरस

निम्बार्की काव्य मे वात्सल्य के चित्र भी सामान्यत नही है। श्रीभट्ट ने कृष्ण और राधा के जन्म पर बधाई का एक-एक पद दिया है, एक पद पवित्रा का भी है।[2] इसी प्रकार उत्सव-प्रसग मे पद-रचना करने के कारण रूपरसिकदेवजी ने पवित्रा का पद लिखा है।[3] किन्तु इन पदो मे वात्सल्य का भाव नही है। यशोदा के हृदय की हलकी झलक के कही दर्शन मिले भी, तो भी इनमे वात्सल्य की, न साहित्यिक दृष्टि से और न भक्ति की दृष्टि से ही, रसात्मक स्थिति नही पायी जाती।

मधुर रस

निम्बार्क-सम्प्रदायी कृष्ण-काव्य वस्तुत मधुर-साधना है। इसकी छाया मे इस सम्प्रदाय के कवियो ने उन्मुक्त प्रेम और विलास के आनन्दमय चित्र प्रस्तुत किये है। निम्बार्की मधुर-परिकल्पना मे इसके स्थायीभाव कान्तारति के विविध चित्र मिलते है जिनमे सहचरी भाव सबसे प्रधान है। हम यहा कतिपय विशिष्ट रूपो को लेकर उनका वर्गीकरण करने का प्रयास करेंगे।

१ **सामान्य कान्तारति**—परशुरामदेवजी के अनेक पदो मे कान्तारति के एक सामान्य रूप की झाकी मिलती है जिसमे प्राय सखी-सहचरी भाव का आरोप नही है, सुरत-केलि की चर्चा नही है, केवल कान्तामूलक प्रेम का विशुद्ध अभिव्यजना है। इसे सम्प्रदाय की दृष्टि से राधा-भाव भी नही कह सकते क्योकि सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार राधा का श्रीकृष्ण से नित्य-मिलन नित्य-सयोग रहता है, अत विरह का प्रश्न ही नही उठता। जो विरह है, उसकी हम आगे चर्चा करेंगे। परशुरामदेवजी के इन चित्रो मे कान्तारति के सयोग और वियोग दोनो के भाव चित्र हैं। सयोग और वियोग दोनो मानसिक है अत सयोग मे भी स्थूलता नही है।

---

१. युगलशतक, पद २०।

२. वही, पद ९६, ९५, ९४।

३ श्रीनिम्बार्कमाधुरी श्रीवृहदोत्सवमणिमाल से उद्धृत पद ४४ पृ० ११०।

परशुरामदेवजी पर कबीर का गहरा प्रभाव है। यदि यह ध्यान छोड दिया जाय कि ये पद एक सगुण सम्प्रदाय के आचार्य भक्त कवि द्वारा लिखे गये है, तो इन पदो की भाव-कल्पना कबीर के कान्ताभाव के समकक्ष जा बैठती है। सयोग और वियोग दोनो के निम्न उदाहरण देखे जा सकते है

सयोग—"सुनि प्रीतम तुमसे कहूँ तै मौह्यौ मन मेरी ह्रो मोहन।
हम निरखत चद चकोर ज्यो मुख मगल तेरो हो मोहन।
ज्यौ चातक चित रितु बसै यौ हम उर धरि सुमिरत ह्रो मोहन।
नादलीन मृग ज्यो आपनपौ सौपि दयौ सबही हो मोहन।
मन सुखसिंधु सो मिलि रहै रस-अमृत पावै हो मोहन।
तहा प्रेम पलटि जानै नही, तहा 'परसा' जन जीवै हो मोहन।"[1]
"सखी, हरि परम मगल गाय।
आज तेरे भवन आये **अकल अविगति राय**।"[2]

इस पद मे हरि के अकल अविगति रूप की चर्चा निर्गुणियो के समान है। निम्न पद मे मिलन के उल्लास का चित्र है

"लोचन लोचत है ल्यौ लाए।
हरि-दर्शन कारन अति आतुर उलटि न फिरत फिराए।
पल-भरि पलक न पलटत चितवन समझत नहि समझाए।
उझि-उझि चलत जुगल जग परिहरि सन्मुख सुख पाए।
उमगि मिलन कारन निसि-बासर रहत सजल जल-छाए।
परसुराम' निर्भय रुचि मानत पीव के प्रेम समाए।"[3]

वियोग—"जो तुम अतरजामी जान।
तो क्यो न विचारहु करुनासागर लाग सब्द सुबान।
जल तजि मीन बसै क्यो बाहर मिटत विरह की आन।
जीवै नही नीर बिन पल भरि तलफि तजै तन-प्रान।
पतिवरता पति तजै न कबहू, ज्यो गिरि-नीर निवान।
परसराम प्रभु चरन सरन तजि भजै सु तन पाखान।"[4]

२ **सामान्य गोपीभाव**—श्रीभट्टजी ने व्रज-लीला के प्रसग मे कुछ पद[5] ऐसे भी लिखे है जिनमे युगल-भावना या सहचरीभाव का सस्पर्श नही है, अपितु व्रज लीला के अनुरूप अष्टछापी कवियो का-सा गोपी भाव मिलता है। इस भाव मे वनान्तर विरह की भी झलक है। यशोदा से छाक मागकर वन मे कृष्ण को पहुँचाने के लिए तैयार इस वनान्तर विरहिणी का चित्र देखिए

"कैसै हरि देखे विना राखोरी तन मोर।
गोचारन गोपाल गये लै मेरौ चित चोर।

१, २, ३ श्रीनिम्बार्कमाधुरी, परशुरामसागर से उद्धृत, पद क्रमश २७, ३१, २५।

४ श्रीनिम्बार्कमाधुरी पृ० ६२ परशुरामसागर से उद्धृत।

५ यु० श०, पद १२-१३।

कहि यशुमति सौ छाक दै कब कौ भयौ भोर ।
जै श्रीभट हरि देखन चली जासौं लागी डोर ।"[1]

३ **सखीभाव**—कान्ताभाव का यह रूप सम्प्रदाय की अपनी चेतना है। हम दिखा चुके है कि इसके अन्तर्गत युगल और उनके नित्य विहार के प्रति निज भाव का लगाव होता है। इसके भी कई रूप मिलते हैं

(क) प्रेयसीभाव-मिश्रित—सामान्यत सखिया श्रीकृष्ण की प्रेयसियाँ नही, न ही उनमे भगवान् के साथ विलास-विहार की कामना दिखायी जाती है। किन्तु रास प्रसगो, होली एव दान जैसे अवसरो पर राधा के साथ ही उन पर भी राधा की अभिन्न या सखियो के रूप मे कृष्ण की रस लम्पट दृष्टि पडती है। कृष्ण मधुप के लिए समस्त व्रज सुन्दरियो के उरोज सरोज वृन्द के समान रसास्वादन के लिए चित्रित है

"राजही समाज आज मधुप ज्यौ मुकुन्द चद ।
उद्यत उरोज ब्रज सुन्दरी सरोज वृन्द ।।
जटित फटिक मणि धरासर विविध विद्रुम वीचिकावर
वलित राग वल्लवी कुच चक्रवाक विहग द्वन्द ।
गोपी मडल कमल माल, धमिल खुलित ते सिवाल, नाल जानु,
तन सुपान स्वेद बिन्द ।
नवल बालुका अनूप, लावण्य गुनगन सरूप, दलविकाश विमदतास,
शुद्ध प्रेमता सुगन्ध ।
गम्भीर धीर गान-गुज, भ्रमर निर्त करत मजु, तान मान देत
लेत सरस सुख-सुधा सुछन्द ।"[2]

इस 'शुद्ध प्रेमता' मे सखियो को भी जो कामात्मिका तृप्ति होती है, उसे श्रीभट्ट और हरिव्यासजी मे हम पीछे दिखा चुके है।

(ख) दास्यानुमिश्रित—प्रेयसीभाव-मिश्रित सखीभाव की झलक जहा कही ही दिखायी पडती है, सम्प्रदाय की दृष्टि के अनुकूल जिस सखीभाव का चित्रण प्राय हुआ है वह लीला-विहारी युगल विषयक आत्मभाव है। इसमे कभी तो सेवा-परिचर्या की भावना पायी जाती है, कभी साम्यमूलक सख्य की।

दास्यानुमिश्रित सहचरीभाव के बडे ही मधुर चित्र इस सम्प्रदाय के काव्य मे उतारे गये है। श्रीभट्ट की सहचरिया कही शय्या सजाते, कही भोजन कराते, कही झारी लेकर आचमन कराते, कही बीरी खिलाते दिखायी पडती है। उनकी तो कामना यही है

"श्यामा श्याम भावती जोरी अपने हाथ जिमाऊ।
घृतपक व्यजन मोदक मेवा रुचि सो भोग लगाऊ।
सखिन सहित जैवै पिय प्यारी हरषि हरषि गुन गाऊ।
श्रीभट देत पान की बीरी, युगल चरन चित लाऊ।"[3]

(ग) सख्यानुमिश्रित—अनेक चित्रो मे सखियो मे मुहलगापन, दौत्य एव साम्य की

---

१ युगलशतक, पद १३ ।
२ वही, पद ६७ ।
३ वही, पद १४ ।

झलक मिलेगी। ऐसे चित्र सख्यानुमिश्रित कान्ताभाव के है। पर प्रेयसीत्व इनमे भी नही है। श्रीभट्ट के इन चित्रो मे इसी प्रकार का कान्ताभाव है

"जड जुवती ज्यो जिन करै, होहु बडैती बाल।
हठ तजि, सजि, पहिराउगी फूलन की उर माल।"[1]
"तेरी अरु इनकी जू ए एक मती सब बात।
हूँ न पत्याऊ बहुरि हठ अब पाई हरि घात॥"[2]

हरिव्यासदेवजी ने भी सहचरी-सखी भाव के नानाविध चित्र उतारे है। सख्य के उभार वाला यह चित्र प्रस्तुत है

"या मतवारे मीत सौ मिलि चाचरि खेलौ री।
कोउ रहै न अकेलि अकेली, हेली, सुनौ सब हेलौ री।
होय निशक सुटक करौ जिनि मान अकेलौ री।
बहु दिनन की मनकी रली भलीभाति सकेलौ री।"[3]

वस्तुत सहचरीभाव के नाना भाव-चित्र निम्बार्की काव्य मे उतारे गये है। इन कवियो की यही तो भाव-साधना रही है, इसी मे डूब कर उन्होने अपने भावुक हृदय का सरस उत्स उन्मुक्त कर दिया है। श्रीभट्टजी, हरिव्यासजी और रूपरसिकदेवजी तीनो ही ने इस भाव की मधुरता का विस्तृत अकन किया है।

अब तक हमने इस सम्प्रदाय के काव्य मे निरूपित मधुर रस के स्थायी भाव की विविध कल्पना का परिचय प्राप्त किया है। इसके विभाव रूप मे जिस युगल रस के चित्र उतारे गये है, अब उसकी ओर आना है।

युगल रस

हम पीछे कह चुके है कि युगल रस के चित्र सहचरी-सखी भाव के विभाव रूप मे भी प्रस्तुत किये गये है, तथा इस भाव को बिना सामने लाये भी। एक साम्प्रदायिक सस्कारसम्पन्न भावुक के लिए इन स्थितियो मे कुछ अन्तर नही पडता, पर काव्यानुशीलक सामान्य सहृदय की दृष्टि मे इन निरपेक्ष चित्रो की रस-प्रेषणीयता भिन्न होती है।

राधा और कृष्ण के सौन्दर्य, हास-विलास, क्रीडा एव सुरत-सभोग के चित्रो से श्रीभट्ट हरिव्यासदेव रूपरसिक की वाणियाँ भरी पडी है। परशुरामदेव और तत्त्ववेत्ताचार्य मे इसकी झलक अधिक नही। श्रीभट्ट ने निकुज-लीला और वृन्दावन-लीला से बढकर ब्रजलीला का भी गान किया है। अत गोरस, गोचारण, वन-विहार आदि के प्रसगो मे भी कृष्ण-लीला की मधुर झाँकी प्रस्तुत की है। पर इन प्रसगो मे भी उन्होने अकेले कृष्ण नही, राधा-कृष्ण युगल के मधुर सौन्दर्य का दर्शन किया है।[4] श्रीभट्टजी के अनन्तर प्राय वृन्दावन एव निकुज लीला ही प्रमुख होती गयी है। श्रीहरिव्यासदेवजी का प्रमुख क्षेत्र यही है।

---

१. युगलशतक, पद ३१।
२. वही, पद ३५।
३. महावाणी, पृ० ६१।
४ युगलशतक, पद २०, १६।

राधा और कृष्ण का सिद्धान्तत नित्य मिलन माना गया है।[1] अत उनके शृगार-वर्णन मे वियोग का अवसर नही आता। फिर भी मान के लिए अवसर निकाला गया है। श्रीकृष्ण के शरीर मे अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर राधा ने समझा कि कोई अन्य इनके साथ है।[2] बस राधा को मान हो गया। मान को श्रीभट्ट ने प्रेम मे रस-वर्धन कहा है।[3] सखी ने यह भ्रम दूर करा दिया और राधा का मान छूट भी आसानी से गया। नित्य मिलन की धारणा के अनुसार नित्य विलास और नित्य ही उत्सव है, तब किन्ही उत्सवो, पर्वों आदि के रूप मे नैमित्तिक उल्लासो का अवसर ही नही आता। फिर भी विषय-क्षेत्र को कुछ व्यापकता देने के लिए तथा सरसता की वृद्धि के लिए श्रीहरिव्यासदेवजी ने तथा रूपरसिकदेवजी ने वर्षोत्सवादि नैमित्तिक उल्लासो का गान किया है।

अपने सीमित क्षेत्र मे नूतन प्रसगो एव मौलिक चित्रो की काव्य-चमत्कारपूर्ण उद्भावना मे श्रीभट्ट बडे कुशल है। राधा और कृष्ण एक-दूसरे मे प्रतिबिम्ब-सहित प्रतिबिम्बित हो उठते है, जैसे दर्पण मे नेत्रो का प्रतिबिम्ब पडकर फिर वह प्रतिबिम्बसहित दर्पण नेत्रो मे प्रतिबिम्बित हो उठता है

"प्यारी तन श्याम श्यामा तन प्यारौ।
प्रतिबिम्बित तन अरसि परसि दोउ, एक पलक दिखियत नाहिं न्यारौ।
ज्यौ दर्पन मे नैन, नैन मे नैन सहित दर्पन दिखवारौ।
श्रीभट जो टिकि अति छवि ऊपर तन-मन-धन न्यौछावरि डारौ।[4]

वर्षा का यह चित्र कितना मधुर है

"ठाडे दोउ एकहि खुहिया माही।
वशीवटतट जमुना जल मे निरखत चचल झाही।
कारी कमरिया अन्तर दम्पति श्यामा श्याम लपटाही।
श्रीभट कृष्णकूट मे कचन जल वरषत झलकाही।"[5]

कहते है कि श्रीभटजी को अपनी निम्न कामना के अनुसार अपने आराध्य के साक्षात् दर्शन हुए थे।

"भीजत कब देखौ इन नैना।
श्यामाजू की सुरग चूनरी, मोहन कौ उपरैना।
जुगल किशोर कुज तर ठाडे यतन कियौ कछु मैं ना।
उमडी घटा चहूँ दिशि श्रीभट जुरि आई जल सैना।"[6]

---

१. युगलशतक, पद ५ "मत्त प्रणयबश, सदा एक रस, विविध निकुज निवासी।"
२. वही, पद २६।
३ वही, पद २५ "रसवर्धन यह मान कुवरि को।
मधुर वस्तु जो खात निरन्तर होत महा सुखदानि कुवरि को।
बिच बिच कटुकादिक जै श्रीभट अति रुचि दायक भानुकुवरि को।"
४. वही, पद ६०।
५ वही, पद ६०।
६. वही, पद ८८।

इन कवियो ने सकोच के व्यवधान से मुक्त राधा-कृष्ण के निकुज-विहार के चित्र प्रस्तुत किए है

"सघन घन कुज विहरैं दोऊ।
परम प्रवीन रसल न मृदु भुज भरे गरे लगि वितन तन विहरैं दोऊ।
एक पट ओढि पौढे प्रमुदि प्रानधन महा जगमग मगन मन।
श्रीहरिप्रिया हरषि हिये सेज सुख वरषही सनमुख रुख लिए।"[१]

नित्य-विहार कुजो मे ही नही, कभी-कभी सखी के आँगन मे भी चलता है

"मेरेइ आगन सेज पै अरसि-परसि सुकुवार।
करत सहज सुख से सने श्यामा श्याम विहार।"[२]

युगल-किशोर के इस उद्दाम विहार की झाकी पाना और दर्शन-सुख से चरम तृप्ति पाना ही निम्बार्की भक्तकवि की मन कामना है। इस झाकी और कामना से यह काव्य भरा पडा है। सखी-सहचरियो को यह झाकी अनावृत अनाच्छन्न भी मिलती है, और लता-कुज के बाहर से कुज-छिद्रो मे से भी

"नव निकुज मे पुज सखिन के तिन मे श्यामा श्याम विराजै।
शीतल मद सुगन्ध त्रिविध मारुत सेवत ऋतु राजै।
उझकति जित-तित लता-सुषिर सखि हिये हुलासी साजै।
अन्तर रह्यौ न दपति श्रीभट, देखि भये सब काजै।"[३]
"भये मनोरथ मेरे मन के सजि दपति पौढे इक ठौरी।
नैन ओट ह्वै श्रीभट देखत क्रीडा करत किशोर-किशोरी।"[४]

हरिव्यासजी मे तो इस सुख-दर्शन की इतनी लालसा है कि वे इस मधुरता का पलकान्तर विरह भी सह सकने मे असमर्थ है·

"मेरे सरवस धन स्वामिनी मोहि और न कछू सुहावै री।
पलकान्तर अवलोके बिन मोहि कल्पान्तर हि बिहावै री।
एकटक यहि चित्त चढी रहै बिन देखे अकुलावै री।
श्रीहरिप्रिया प्रानधन-जीवन जोइ जु मोहि जिवावै री।"[५]

इस प्रकार निम्बार्की मधुर-कल्पना का सब-कुछ अद्‌भुत एव साधना की उच्च भूमिका की अपेक्षा रखता है। सम्प्रदाय की निष्ठा के अनुरूप इस उद्दाम काम-शृगार मे डूबकर भी उसका स्वनिष्ठ आस्वादन न कर केवल दास्यानुप्राणित या सख्यानुप्राणित भावना को आगे कर कान्ताभाव की चेतना के साथ मात्र दर्शन सुख मे ही चरम आनन्द अनुभव करना और उस सुख पर ब्रह्म सुख से भी मुह मोड लेना, यही इस सम्प्रदाय की मधुर-परिकल्पना का रहस्य है। इस रहस्य को आत्मसात् न कर सकने वाले व्यक्ति के लिए यह काव्य शृगार की अनुभूति ही देगा, मर्यादावादी औचित्य-दृष्टि-सापेक्ष सहृदय

१ महावाणी श्रीहरिव्यासदेवजी पृ० १२६।
२. युगलशतक पद ३७।
३. वही, पद ७४।
४ वही, पद ५१।
५ महावाणी पृ० १५६।

पाठक के लिए तो इसमे पदे-पदे रसाभास की स्थितिया आ जाएँगी। जिन स्थलो पर सहचरीभाव को सामने रखा गया है और युगल-रस को उसका विभाव बनाया गया है, उनमे भी उस सहचरी-रति के साथ तादात्म्य स्थापित न कर सकने के कारण उसे शृगार की ही अनुभूति होगी, केवल उस रति की भाव-स्तरीय बाधा से थोडी तटस्थता अवश्य अनुभव होगी। पर, उन चित्रो का शृगार इतना सबल, प्रवाही और उद्दाम है कि वह सहचरी रति एक कोने मे पड जाएगी और वह शृगार के लौकिक उभार से बिना प्रभावित हुए न बचेगा। वह लोक मर्यादा और नैतिकता की उपेक्षा करता है। निम्बार्की भाव-साधना जन-सामान्य की इस नैतिकता का लक्ष्य लेकर नही चलती। वह उच्च कोटि के आत्मत्यागी रसिक साधको की भाव-साधना है।

श्रीहरिदास-सम्प्रदायी काव्य मे रस-परिकल्पना

हमारे काल की अवधि मे हरिदास-सम्प्रदाय के प्रमुख भक्त कवि आते है—श्रीहरिदास-जी, श्रीविट्ठलविपुलदेवजी, श्रीविहारिनदासजी, श्रीनागरीदासजी, तथा श्रीसरसदेवजी। इनका साहित्य मात्रा मे अधिक नही है।

सम्प्रदाय की रस-दृष्टि निम्बार्क-सम्प्रदाय की रस-दृष्टि के ही अनुरूप है। राधा का स्वकीयात्व, राधाकृष्ण का स्वरूपत एकत्व, लीलार्थ द्विविध-रूपत्व, नित्य-मिलन, धाम-दृष्टि, सहचरीभाव, तथा मधुरोपासना आदि के सम्बन्ध मे मूलत वही दृष्टि है जो निम्बार्क सम्प्रदाय की है।[1] अन्तर है तो केवल इतना कि स्वामी हरिदासजी ने अपनी भाव-साधना कुज-विहारी राधा-श्याम के नित्यविहार मे ही केन्द्रित की है। निम्बार्क-सम्प्रदाय मे राधा-कृष्ण का कुज-विहारी रूप स्वीकार किए जाते हुए भी उनके ब्रज-विहारी रूप के भी गान हुए हैं, किन्तु हरिदास-सम्प्रदाय ने अपना भाव-क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से परिमित कर निकुज-भावना मे ही प्रेम का घनत्व प्राप्त किया है। इस प्रकार हरिदासी सम्प्रदाय की मधुरपरिकल्पना निरवधि नित्यविहारमयी निकुजलीला मे प्रतिष्ठित है।

सम्प्रदाय की रसदृष्टि मे धीरे-धीरे वे रेखाएँ उभरी है जिनके आधार पर अन्य मधुरोपासको एव निम्बार्कसम्प्रदायियो की मधुर-भावना से इसकी मधुर-भावना को कुछ अलग किया जा सके। किसी सम्प्रदाय की पृथक् प्रतिष्ठा हो जाने पर उसके अनुयायियो द्वारा यह होना स्वाभाविक ही है। हरिदास-सम्प्रदायी मधुर-परिकल्पना की उन रेखाओ को हम समझ ले तो अच्छा है।

सम्प्रदाय के भक्त 'अनन्य रसिक' कहलाते है। यो सभी मधुरोपासक 'रसिक' कहे जाते है किन्तु सखीसम्प्रदायी हरिदासी भक्तो के लिए यह शब्द विशिष्ट रूप से प्रयुक्त होता है। श्रीभगवतरसिकजी ने सम्प्रदाय की छाप 'रसिक' ही बतायी है—"आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप"। हमारे आचार्य ललितासखीरूप श्रीहरिदासजी हैं और हमारी छाप है 'रसिक'। इन रसिको की अनन्यता इस बात मे है कि इनका उपास्य रूप केवल

---

१ आज सम्प्रदाय में दो वर्ग हैं—एक विरक्त सन्तों का, दूसरा गृहस्थ गोस्वामियों का। विरक्त लोग सम्प्रदाय को निम्बार्कमतानुयायी मानते हैं, गृहस्थ गोस्वामी विष्णु-सम्प्रदायानुयायी। अठारहवी शती के श्रीकिशोरदास तक निश्चित रूप से सम्प्रदाय का सम्बन्ध निम्बार्क सम्प्रदाय से ही जोड़ा जाता रहा है।" दे० स्वा० हरिदासजी, प्रभुदयाल मीतल, भू०, पृ० ५१।

कुज-विहारी राधाकृष्ण युगल है, व्रजविहारी या अन्य रूप नही । इस अनन्यता की चर्चा इस साहित्य मे पग-पग मिलती है ।[1]

इस अनन्य-निष्ठा ने कुज-विहारी राधा-कृष्ण को व्रज-कृष्ण से अन्य ही बना दिया है। सामान्यत कृष्ण-लीलाएँ तीन वर्गो मे विभाजित की जाती है—व्रज लीला, मथुरा-लीला एव द्वारका-लीला । व्रजलीलाकारी कृष्ण यशोदा के बालकृष्ण, गोपो के सखा गोचारी एव गोपियो के माखन-चोर, रास-रचयिता, कभी-कभी निकुजो मे राधारस-लपट और मथुरा-गमन द्वारा परम विरह प्रदायक ह। वृन्दावन के कृष्ण का स्वरूप गोपी-परिवेष्टित राधा-केलि-रत सामने आता है। किन्तु हरिदासी अनन्य रसिको की दृष्टि मे निकुज-विहारी राधाकृष्ण ही परात्पर रस तत्त्व है। वे ही अशी हे, राधाकृष्ण के अन्य रूप यहाँ तक कि व्रज-रूप भी उसी प्रकार अशरूप है जिस प्रकार अन्य अवतार एव निर्गुणरूप ब्रह्म ।[2] निकुज-विहारी युगल की काम-प्रेम-मयी नित्यरस-लीलाओ का दर्शन-आस्वादन तो व्रज-कृष्ण को भी उपलब्ध न्ही है । सरसदासजी के शब्दो मे कुजविहारी का नित्यविहार रस, जिसका प्रगटन श्रीहरिदासजी ने किया है, रामादि-अवतारधारी रूपो को ही नही, व्रजराज कृष्ण को भी दुर्लभ है

"कर्मरु धर्म, ज्ञान-विज्ञान, भक्ति न आन हृदय मे आनौ ।
वेद रमापति रामहि आदि दै श्रीव्रजराजहि कोउ बखानौ।
अति दुर्लभ नित्यविहार, हमारे श्रीहरिदासजू प्रगट बखानौ।
सरस सुसार विहार विहारिनिदास विना है विहार ना जानौ ।"[3]

इसीलिए इस नित्यरस के लिए उमा, रमा, शची, सरस्वती देविया ही नही, स्वय व्रज-युवतिया भी ललचाती रहती है, उन्हे भी यह उपलब्ध नही है ।[4] यदि है तो कुज-विहारी की ही कृपापात्र ललितादि अष्ट सखियो को या इन सखियो के कृपापात्र सखी-भावापन्न अनन्य रसिको को ।

'रससार' के रचयिता स्वामी रसिकदेवजी ने तो कुज से परे 'निभृत कुज' की परिकल्पना की है । इनकी केलिया भी 'केलि' और 'महाकेलि' के रूप मे अलग-अलग है । कुज-केलि तक ही अष्ट सखियो का प्रवेश सम्भव है । निभृत-कुज की महाकेलि मे तो किसी का गम नही, अत उसके विषय मे कौन क्या कह सकता है । रसिकदेवजी के अनुसार तो 'कुजो' मे ही भीडभाड का प्रवेश नही, पक्षियो का, मधुपो का वहा नाम नही । 'निभृत कुज' मे नित्य समस्त ऋतुएँ अलग-अलग चौक-खडो मे विकसित रहती हैं जहाँ प्रेमरस मे मग्न राधाकृष्ण विलासक्रीडा करते है। यह क्रीडा काम-क्रीडा नही, पवित्र प्रेम-विलास है ।

---

१ "श्रीहरिदास अनन्यनि कौ धनु ।"

—सिद्धान्त के पद पृ० १५ 'सिद्धान्तरत्नाकर' ।

२ सिद्धान्तरत्नाकर, भूमिका—श्रीगोविन्द शर्मा, पृ० ३३ ।

३ निम्बार्कमाधुरी, श्रीसरसदेवजी, पृ० २८२, पद ४ ।

४. सि० र०, भू०, वही, पृ० ३३, "उमा रमा कौ सची सुरसुती ब्रजजुवती ललचाहि ।" स्वा० विहारिनदेवजी ।

इस लीलारस को भक्तो के लिए ही उन्होने स्वीकार किया है।[१]

रसिकदेवजी की यह कुज-कल्पना इसी बधे रूप मे कवियो मे नही मिलती। स्वामी हरिदासजी, अन्य कवि तथा स्वय रसिकदेवजी ने कुजो मे पक्षियो और मधुपो के कलरव एव गुजन का वर्णन किया है।[२]

कुज-विहारी राधा-कृष्ण को कुज के भीतर ही रखकर देखा गया हो ऐसी बात नही है। सिद्धान्तत तो यही प्रतिपादित किया गया है कि कुज-विहारी कभी कुजो से बाहर जाते ही नही।[३] पर कवियो ने कुजो से बाहर दान, यमुना मे जल-विहार जैसी बातो का भी चित्रण किया है।[४] रास, होली, हिंडोला आदि भी है जो कुजो के भीतर भी हो सकते है बाहर भी। पर प्रमुख चेतना यही रही है कि कुज-लीलाओ का ही रसास्वादन किया जाय।

यो सम्प्रदाय मे राधा और कृष्ण के प्रति समान महत्त्व की भावना है जैसी कि निम्बार्क सम्प्रदाय मे है, फिर भी राधा का महत्त्व उभरता दिखायी पडता है। श्रीभगवत-रसिकजी ने सम्प्रदाय की जो रूप-रेखा बतायी है, उपासना उसमे नित्य किशोर की बतायी है और इष्ट राधा को

"आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किसोर उपासना, जुगल मत्र कौ जाप ।।
जुगल मत्र कौ जाप, वेद रसिकन की बानी।
श्रीवृन्दावन धाम, **इष्ट स्यामा महारानी** ।।
प्रेम-देवता मिले विना सिध होय न कारज।
"भगवत" सब सुखदानि प्रकट भए रसिकाचारज ।।"[५]

स्वय श्रीहरिदासजी के अनेक पदो मे कृष्ण राधा की आराधना और प्रसादन का उपाय करते दिखाये गये है।[६]

---

१ सिद्धान्तरत्नाकर, रससार, पृ० ११-२।
"कुजकेलि सहज ये करैं। महाकेलि न्यारी विस्तरैं।
भीरभार तहाँ जात न कोई। मुहाचुही जिय ज्यावत दोई।
जहाँ पछी कौ नही प्रवेश। मधुकरधुनि कौ तहाँ न लेस।
निभृतकुज की सुनौ अब कथा। तहा सोभा की नाही तथा। इत्यादि।

२ "गहवर बन भीतर जहा बोलें कोइल री।" केलिमाल, पद ४६।
"अचरज नाना मधुप के, इशान गध को सरसै।" श्रीरसिकदेव, निम्बार्क माधुरी, पृ० ३२४।

३ "विहरत जमुना-जल सुखदाई।" सरसदासजी। नि० मा०, पृ० २८६।
"विहरत जमुना-जल जुगराज" "विहरत विपिन भरत रग ढरकी" नागरीदास, वही, पृ० २७८।

४. "नव-नव लाड लडाइ लाडिली, नहि-नहि यह ब्रज-जावरो।" केलिमाल, पद ४४। दान - वही, पद ६२।

५ स्वामी हरिदासजी प्रभुदयाल मीतल भूमिका पृ० ५४।

६. "राधे, दुलारी, मान तजि।
प्रान पायौ जात मेरौ है री, सजि ।।

केलिमाल के अडसठवे पद मे तो कुज-विहारी कृष्ण को स्पष्टत राधा का अश-रूप कह दिया है

"तोकौ प्रिय बोलत ह री, लाल ठाडे कदब तर।
अबकै ऐसौ ज्यौ किये कहा होत हे री, मारि रही कुसुम-सर।
कुजविहारी अपनौ अस, तासो क्यो कीजियै छदम वर।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा ढूढत वन मे, पाई करि करि विषम डर।

राधा और कृष्ण के जिम प्रेम का चित्रण इस सम्प्रदाय के कवियो ने किया है वह नित्य एव एकरस है, फिर भी उसमे नित्य नवीनता हे।[1] नित्य काम केलिया, नित्य सोल्लास विलास। ऐसे नित्य विहार मे वियोग की सम्भावना ही नही उठती। फिर भी प्रेम की प्रैढि और रसत्व की घनना के लिए वियोग की परिकल्पना की गई है। यह विरह दो रूपो मे है—एक तो मान के रूप मे, दूसरे सयोग-दशा मे भी गह्नरी अतृप्ति के रूप मे। कभी-कभी तो "यदि लाडिलीजी के नेत्र अचल-पट की ओट भी हो जाते है तो लाल उसी को महाविरह समझते है और व्याकुल हो उठते है।"[2]

मानिनी राधा के अनेक चित्र है। सखियो के मनावे, कृष्ण द्वारा प्रसादन के भी अनेक पद है। इन पदो मे कृष्ण का राधा के समक्ष कभी-कभी दैन्य एव विरह-कातरता झलक उठती है।

"उत हठ करति बहुत नव नागरि, तैसीए नई ठकुराई है।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुजबिहारी कर जोरे मौन ह्वै,
दूबरे की राधी खीर कहौ कौन खाई है।"[3]

राधा मे यह मान भ्रान्ति-जन्य होता है, कृष्ण का किसी अन्य नायिका से प्रेम-विलास का तो प्रश्न ही नही उठता। अत' खण्डिता जैसी स्थिति नही आती। सखियो के समझाने और कृष्ण द्वारा अनुनय करने से यह भ्रान्ति-जन्य मान दूर हो जाता है।[4]

अपनों हाथ मेरे माथैं धरि, अभैदान दै अजि।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुजबिहारी कहत री प्यारी,
यों बलि रग रुचि सौ लजि।" केलिमाल, पद २२।
"सुघर भए हो विहारी याही छाह तें।
जे जे गटी सुघर जानपनें की, ते-ते याही बाह ते।" वही, पद २४।

१ "प्यारीजू, जब-जब देखौं तेरौ मुख, तब-तब नयौ-नयौ लागत।
ऐसौ भ्रम होत, मैं कबहू देखौ न री, दुति को दुति लेखनी न कागत।" केलि०, पद ३४।
"नवल प्रेम कौ नेम नवल नित नवल सहज आनन्द।
नवल प्रीति रसरीति नवल दोउ दिन दूलह मकरद ॥" नि० मा०, पृ० २६१, नागरीदास।
"सरस रग रसबस भये इक प्रान द्वै देह।" वही, पृ० २८६, सरसदेवजी।

२ सिद्धान्तरत्नाकर, भू०, पृ० ३४, गोविन्द शर्मा।

३ केलिमाल, पद ५१।

४ "राधा रसिक है कुजबिहारी, कहत जु हौं न कहू गयौ,
सुनि सुनि राधे, तेरी सौं।

सयोगावस्था मे मिलकर भी इस प्रेम मे तृप्ति और शान्ति नही है। आभूषण और वस्त्र तो सह्य है ही नही, शरीर-शरीर का अन्तर भी कृष्ण को सह्य नही है। तन से तन और प्राण से प्राण मिला देने को अतृप्ति-पूर्ण लालसा का हरिदासजी ने कृष्ण मे दर्शन किया है

"ऐसी जिय होति जो जिय सो जिय मिलै।
तन सौ तन समाइ ल्यो, तौ देखौ कहा हो प्यारी।
तो ही सो हिलगि, आखिन सो आखे मिली रहे,
जीवत कौ यहै लहा हो प्यारी।
मोकौ इतौ साज कहा री प्यारी, हौ तौ अति दीन तुही बस,
राखि लै बाहुबल, हौ बपुरा काम-दहा हो प्यारी॥"[1]

नित्यविहार का सहज रूप सयोगात्मक है। इस सयोग के विविध चित्र इन भक्तो ने प्रस्तुत किये है। होली, हिंडोला, रास, यमुना-विहार, कुजो मे इधर से उधर आना-जाना इन बातो से लेकर सुरत की उन्मुक्त क्रीडाओ के चित्र मिलेगे। हरिदासजी मे सभोग के उन्मुक्त चित्र सामान्यत अधिक नही है, अधिक है मिलन की लालसा, उल्लास और व्यजना द्वारा मिलन का निरूपण। उनका सा सयत एव शान्त शृगार उनके सम्प्रदाय के अन्य लोगो ने प्रस्तुत नही किया। केवल दो-तीन पदो मे कुछ मुक्त चित्र है।[2] हरिदासजी के पदो मे ही नही, चित्रो मे भी सगीत समाविष्ट है।[3]

हरिदासजी ने उस निभृत-कुज लीला के भी चित्र दिये है जहा न सखिया है, न पक्षी-गण।[4] उनके सुरतान्त के चित्र भी बडे मधुर है। श्रीविट्ठलविपुलदेव जी ने सुरतान्त के ही

मोहि न पत्याहु तौ सग हरिदासी हुती
बूझि देखु भट्ट कहि धौ कहा भयौ, मेरी सौं॥" केलिमाल, पद २५।
"श्री विटठलविपुल विनोदविहारी सभ्रम गयौ, लाय उर लैया।" नि० मा०, पृ० २३२,
श्रीविट्ठल-विपुलदेव।

१ केलिमाल, पद ३५।

२ "आउ लाल ऐसो मद पीजै, तेरौ झगा मेरी अगिया धरि।
कुच की सुराही, नैननि के प्याले, दारू देहुगी यों अकों भरि।" केलिमाल, पद ७४।

३. "नदित मन मृदगी, रासभूमि सुकान्ति अभिनै सु नव गति त्रिभगी।
धापि राधा नदति ललिता रसवती, नागरी गाइ तेथ्रिनाथि तान तुगी।
रसद बिहारी बदे वल्लभा राधिका, निसिदिन रग-रगी।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुजविहारी सगीत-सगी।" वही, पद ९४।

४ "चलि री, भीर तैं न्यारेई खेलें। कुज-निकुंज मजु में झेलैं।
पछिन सहित सखी न सग कोऊ, तिहिं बन चलि, मिलि केलैं।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा प्रेम परस्पर बूका-बदन मेलैं।" केलिमाल, पद १००।
"श्री विट्ठलविपुल विनोद करत मिलि नहिं ललितादिक नीरी।"
नि० मा० पृ० २२८, विट्ठल-विपुलदेव।

अधिक चित्र दिये है।[1] यो सम्प्रदाय के सभी कवियो की गेय निकुज-गत केलि-क्रीडा ही प्रमुखतया रही है।

साम्प्रदायिक भावना के अनुरूप यह निकुज रस भक्तो के लिए तादात्म्य भाव से आस्वाद्य नही, सखीभाव से आस्वाद्य है। वह सखियो के लिए सहचरी भाव का ही विभाव है, प्रेयसीभाव का नही। सखीभाव मे सेवा-परिचर्या वाली भावना भी मिलती है, साथ ही सख्य का खुलापन भी। मान के प्रसगो मे दौत्य कर्म करते हुए इन सहचरियो का सख्य ही उभरकर आया है। यह चेतना निम्बार्क सम्प्रदाय के ही समान है। फिर भी, मात्रा की दृष्टि से निम्बार्की सहचरीभाव मे दास्यानुमिश्रित सहचरीभाव अधिक है, हरिदासी सहचरी-भाव मे सख्यानुमिश्रित। इन सखियो मे वही दर्शन-सुख काम्य है, विलास-तृप्ति नही

"ऐसे ही देखत रहौं, जनम सुफल करि मानो।
प्यारे की भावती, भावतीजू कौ प्यारौ, जुगल किसोरहिं जानौ।
छिनु न टरो, पल होहुँ न इत-उत, रहौं एक ही तानौ।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुजविहारी मन-रानौ।"

मखियो को इमी मे चरम सुख है कि राधा और कृष्ण नित्य-मिलन से सुख-भोग प्राप्त करते रहे। इस रति मे वही तत्सुख-सुखित्व है जो निम्बार्की भाव-साधना मे स्वीकृत है।

हरिदासजी, विट्ठलविपुलदेवजी आदि की रस परिकल्पना मे सखीभाव की तटस्थ कामरति की पग-पग पर वैसी चर्चा नही मिलती जैसी निम्बार्की श्रीभट्ट आदि मे। अत पाठक के समक्ष राधा-कृष्ण का शृगार ही अव्याहृत रूप से उपस्थित होता है। ऐसे काव्य मे सम्प्रदाय की भाव-दृष्टि और सस्कार-साधना का परिचय अधिक अपेक्षित होता है, नही तो उसे लौकिक शृगार की ही काव्यानुभूति होती है।

अन्य रस

हरिदास-सम्प्रदायी काव्य मे प्रमुख रस-परिकल्पना मधुर की ही है जिसका परिचय हम अभी पा चुके है। इसके अतिरिक्त स्वय श्रीहरिदासजी के सिद्धान्त के पदो मे तथा श्रीविहारिनदेवजी के काव्य मे अन्य भावो की परिकल्पना भी उपलब्ध होती है।

शान्त

हरिदासजी के सिद्धान्त के पद सख्या मे अठारह मिलते है। इनमे से कई पदो मे शान्तरस का उज्ज्वल रूप सामने आता है

"हरि भज, हरि भज, छाडि न मान नर तन कौ।
मत बछै, मत बछै तिल-तिल धन कौ।
अनमाग्यौ आगै आवैगौ, ज्यौ पल लागत पलकौ।
कहि हरिदास मीच ज्यौ आवै, त्यौं धन है आपुन कौ।"[2]

---

१. "प्रिया स्याम सग जागी है।
सोभित कनक-कपोल ओप पर दसन-छाप लागी है।
अधरन रग छुटी अलि की बल सुरति रग अनुरागी है।
श्री विट्ठलविपुल कुजकी क्रीडा कामकेलिरस पागी है।" नि० मा०, पृ० २२७, विट्ठल०।

२. केलिमाल, पद ५।

"हरि के नाम कौ आलस कत करत है रे, काल फिरत सर साधैं ।
बेर कुबेर कछू नहिं जानत, चढ्यौ रहत है काधे ।
हीरा बहुत जवाहर सचे कहा भयौ हस्ती दर बाधे ।
कहि हरिदास महल मे बनिता बनि ठाढी भई,
एकौ न चलत जब आवत अत की आँधै ।"[1]

वस्तुत इन सिद्धान्त के पदो मे कुज-विहारी स्यामा-स्याम का नाम भले आ जाय, इनका प्रेषणीय प्रभाव शान्तरस का ही है । जगत् की अनित्यता, वैभव की निस्सारता, मन-प्रबोध एव भक्ति-मार्ग की उपादेयता ही इन पदो का वक्तव्य है । यह शान्त किसी-किसी पद मे स्वतन्त्र रूप से दिखायी पडता हे, किसी मे भगवद्विषयक रति के अग रूप मे ।

श्रीविहारिनदेवजी के काव्य मे भी शान्तरस की प्रचुर कल्पना है । स्वतन्त्र शान्तरस की भी, शान्तभक्तिरस की भी । शान्तभक्ति के रूप मे आया शान्त कभी सामान्यत भगवद्रति के अगरूप मे दिखायी पडता है, कभी सहचरीरति के अगरूप मे । इन सभी रूपो की एक ही प्रमुख प्रेषणीयता है विरक्तिमूलक भगवद्रति ।

"मन मेरे अजहू होहु सयानौ ।
हरि-पदकमल विसारि विषय-रति कहा फिरत बौरानौ ।
सोइ सोइ दाव उपाव करत नित जो अपने चित भानो ।
भयौ बिबस आलस अभिमानी नेकु न हित नियरानौ ।
जीवत मृतक भयो लोभिन सग रहत लोभ लपटानौ ।
विहारीदास विन बहुत बिगूचे कितेक बरन बखानौ ।[2]

विहारिनदासजी के इस प्रकार के पदो मे शान्त युगल-किशोर मे रति का परि-पोषक है

"रे चित, चचल, अनत न जैए ।
जुगलकिसोर चतुर चिंतन विन मुख सतोष न पैए ।
कहु आदर कहुँ होत निरादर, विन विवेक विष खैए ।
मानस किए हौ कित कूकर भडहाई न अघैए ।
कचन लोहनि गढ हठ छूटैं मनसा हू न बधैए ।
पाप पुन्य दोऊ सम सुनियत है डहकाए डहकैए ।
परमारथ विन जे स्वारथ की सबै जानि दुख पैए ।
बिहारीदास प्रभु को आनद नित नागर नैक रिझैए ।।"[3]

विहारिनदासजी के शान्तभक्तिरस की परिकल्पना मे उतनी ही गहरी भावुकता है जितनी उनके मधुर रस की परिकल्पना मे । सम्प्रदाय मे विहारिनदासजी को श्रीहरिदासजी की वाणियो का भावात्मक व्याख्याता समझा जाता है ।

दास्य भक्तिरस

विहारिनदासजी की वाणियो मे ही दास्यभक्ति की भाव-पूर्ण परिकल्पना मिलती है

---

१ केलिमाल, पद ३ ।

२ निम्बार्कमाधुरी, पृ० २४५-६, श्रीविहारीदासजी ।

३. वही, पृ० २४६, श्रीविहारिनदासजी ।

भगवान् के पतितपावन विरुद, आत्म-लघुत्व एव दैन्य की सुन्दर अनुभूतिया उनके वचनो मे मिलती है। दैन्य को उन्होने भगवत्स्नेह-प्राप्ति का प्रमुख साधन माना है।[1]

"हौ तौ आयौ शरन तेरी, तू मया करि स्वामी।
हौ पति तुम पतितपावन, निज जन ताप-नसावन, औसर बड भारी।
अब कैसे मन कपटहिं राचत छिन छिन दिन यह जाचत दीन दास विहारी।"[2]

वस्तुत इस काल के हरिदासी भक्तो मे एक विहारिनदासजी ही ऐसे है जिनमे एक ओर ज्ञान-विराग पर प्रतिष्ठित शम और दास्य की लोकमगलमयी भावनाओ से ओत-प्रोत भगवद्भक्ति के दर्शन होते है, दूसरी ओर श्रीहरिदासजी द्वारा प्रवर्तित सखीभावमयी मधुरा भक्ति के। दोनो के ही पूर्णत विकसित सूत्र हरिदासजी मे हमे मिलते है। इनमे यदि कही साम्प्रदायिकता की कुछ झलक है भी, तो भी वह इन लोक-प्रकृत भावो के बीच जन-सामान्य की अनुभूति के लिए बाधक नही होती।

राधावल्लभ-सम्प्रदायी काव्य मे रस-परिकल्पना

आलोच्य काल का काव्य—हमारे आलोच्य काल की परिधि मे इस सम्प्रदाय के प्रमुख कवि ये है—श्रीहितहरिवशजी, श्रीदामोदर 'सेवकजी', श्रीहरिराम 'व्यासजी', श्री चतुर्भुज दासजी, श्रीध्रुवदासजी, श्रीनेही नागरीदासजी, श्रीकल्याणपुरीजी।[3] यो ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्तनामावली' मे वैष्णवदास, गोपालदास, खरगसेन, गगाबाई, यमुनाबाई आदि भक्तो का उल्लेख किया है, पर इनकी कोई रचना सम्प्रदाय को भी उपलब्ध नही है।[4] ऊपर के लोगो का भी सम्पूर्ण साहित्य प्रकाशित होकर अभी सर्व-सुलभ नही है। मात्रा की दृष्टि से इस सम्प्रदाय का साहित्य सबसे अधिक है।

हमारे आलोच्य काल की परिधि मे आने वाले साहित्य का एक बडा अश ऐसा है जिसका रस-कल्पना से सीधा सम्बन्ध नही। वह सिद्धान्त-प्रतिपादक है, रस-काव्य नही है। फिर भी इस सम्प्रदाय के काव्य की रस-परिकल्पना समझने और इस काव्य मे रसास्वादन करने के लिए उस सिद्धान्ती साहित्य का महत्त्व अपरिहार्य है। इस सम्प्रदाय का रस-काव्य भी अपने मे इतना साम्प्रदायिक है कि यदि सम्प्रदाय की सिद्धान्त दृष्टि को ओझल कर दिया जाय तो यह काव्य उद्दाम शृगार एव ह्रासोन्मुखी वृत्तियो का परिचायक मात्र प्रतीत होगा। सम्प्रदायानुयायियो के लिए तो इस सिद्धान्त-प्रतिपादक अश मे भी एक सिद्धान्त-रस है, जैसा कि व्यासवशीय श्रीराधाकिशोर गोस्वामी ने व्यास-वाणी का वर्गीकरण करते हुए स्वीकार किया है।[5]

परिकल्पित रस—सम्प्रदाय सखीभाव से मधुरोपासक है, जिसका मोटा-मोटा वही रूप है जो हम निम्बार्की एव हरिदासी रस-परिकल्पना मे देख चुके हैं। फिर भी इस विषय मे सम्प्रदाय की अपनी निजी दृष्टि है। मधुर के अतिरिक्त सम्प्रदाय के कई कवियो ने शान्त-

---

१ श्रीनिम्बार्कमाधुरी, पृ० २८१ "विहारीदास यौं भजै दीन ह्वै, दिन दिन बाढै प्रीति नई।"

२ वही, पृ० २४४, पद १३। श्रीविहारिनदास।

३. राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

४ श्रीहितहरिवश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० ३५५।

५. डॉ० स्नातक-रा० व० स० पृ० ३८३।

रस मे डूबी भक्ति-वाणियाँ भी प्रस्तुत की है। अन्य सम्प्रदायो के कवियो के समान गुरु और परम तत्त्व मे अभेद करते हुए गुरु विषयक रति के भी अनेक पद्य रचे गये है। व्यासजी की वाणी मे कही-कही वीर, बीभत्स, अद्भुत, करुण आदि की झलक मिल जाती है। किन्तु रस-परिकल्पना की दृष्टि से ये झलके भक्तिरस-परिपोषक एव अगरूप ही है। आधारभूत रस-परिकल्पना एक मधुर की ही है, जिसे वृन्दावन-रस, नित्यविहार रस, युगल-रस आदि नामो से निरूपित-विवेचित किया गया है।

हम यहा सक्षेप मे सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना समझने का प्रयास करेंगे।

मधुर रस—राधावल्लभीय काव्य मे मधुर रस प्रेम की साधना है। यह प्रेम दो रूपो मे अभिव्यजित हुआ है—एक तो राधा-कृष्ण के पारस्परिक प्रेम के रूप मे, दूसरे इस युगल-प्रेम के प्रति सखीभावमयी आसक्ति के रूप मे। काव्यदृष्टि से दूसरे प्रेम का परिपाक ही भक्त एव सहृदय का रस है जिसके लिए पहला विभाव-रूप है।

पर सम्प्रदाय की दृष्टि मे बात यो ही नही है। वह नित्य-विहार या वृन्दावन रस के चार अग या विधायक तत्त्व मानता है[1]—श्रीराधा, श्रीकृष्ण, श्रीवृन्दावन और सहचरी। रसरूप नित्यविहार के लिए सम्प्रदाय की दृष्टि मे सहचरी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितने कि राधा और कृष्ण रूप दो तत्त्व। इस दृष्टिकोण को समझने के लिए पाठक को सम्प्रदाय का प्रेम-तत्त्व सम्बन्धी दृष्टिकोण समझना आवश्यक है।

प्रेमतत्त्व—इस सम्प्रदाय मे प्रेम-तत्त्व की जैसी व्याख्याएँ की गयी है वैसी अन्यत्र नही मिलती। यहा प्रेम केवल एक सम्बन्ध-रूप नही, तत्त्व-रूप है। वह राधा और कृष्ण के बीच या युगल और सहचरी के बीच का एक चित्तवृत्तिरूप राग या भाव-सम्बन्ध नही, अपितु स्वरूपत एक तत्त्व है, और वह नरव परात्पर तत्त्व है जिसके अधीन चर और अचर समस्त दृश्यादृश्य जगत् है। विश्व उसी का रूप है।[2] अत राधा, कृष्ण, वृन्दावन और सहचरी भी उसी के रूपान्तर है। सम्बन्धात्मक प्रेम उसी प्रेमतत्त्व की अभिव्यक्ति है। प्रेम अभिव्यक्ति के लिए दो की अपेक्षा रखता है। उन दो के बीच मे अभिव्यक्त प्रेमतत्त्व को ही हम सम्बन्धात्मक प्रेम कहते है। अत राधा कृष्ण के बीच या युगल-सहचरी के बीच का सम्बन्धात्मक प्रेम भी उसी परात्पर प्रेम-तत्त्व का व्यक्त रूप है।

'प्रेम', 'आनन्द', 'रस' ये सब शब्द पर्यायवाची है। अत राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय मे 'रसो वै स' श्रुति का प्रतिपाद्य यही प्रेम-तत्त्व माना जाता है न कि भगवान्। भगवान् स्वय उस प्रेम के वश्य है, अथवा कहिए, उसके एक रूप है। प्रेम की एक बडी भारी विशेषता यह है कि वह स्वय को नही, दूसरे को सुखी करना चाहता है। हित-करण उसका आन्तरिक स्वरूप लक्षण है। राधावल्लभ सम्प्रदाय कदाचित् इसी विशेषता के कारण प्रेम को 'हित'

---

१ "चारों मिलि रस-सिन्धु के सार चार वर चन्द।
गौर श्याम सहचरि विपिन विलसत परमानन्द।" सु० बो० ५७। लाडिलीदास, सेवकवाणी की विवृत्ति।

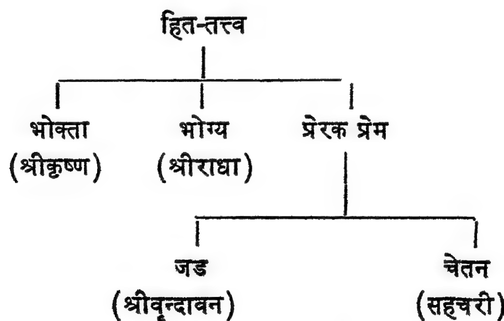
२. "जो रसरीति सबनि तैं दूरि। सो सब विश्व रही भरपूर।
मूरि सजीवनि काढ़ि दई।" सेवकवाणी, २-२।
"जो है नित्य विहार रस वैभव हित अभिलाष।
सोइ खिलारी, खेल सो, आपुहि करतलास।" भजनदि बसा श्रीहितहरिवंश गोस्वामी, ८३।

कहकर चलता है। यो इस सम्प्रदाय को किसी दार्शनिक वाद का प्रवर्तक न होने के कारण सामान्यत दर्शन से दूर कहा जाता है, किन्तु प्रेम या हित तत्त्व का जैसा दार्शनिक पद्धति पर इसके अनुयायियो ने निरूपण किया है उसे देखकर इस सम्प्रदाय का दर्शन 'हित-दर्शन' नाम से स्वीकार किया जा सकता है। सम्प्रदाय की दृष्टि में यह 'हित' ही रस है।

प्रेम-तत्त्व मूलत अद्वय एव अखड है, किन्तु यह एक नित्य प्रकट तत्त्व है। प्रेम स्वय आत्म-रूप की अनुभूति के लिए प्रतिक्षण व्याकुल है,[1] अत वह नित्य प्रकट है। प्रकटन के लिए द्वित्व अपेक्षित है। अत यह प्रेम राधा और कृष्ण के बीच अद्भुत अनगकेलिमय राग-रग-सम्पन्न प्रेमरस के रूप मे नित्य उदित रहता है

"राग-रग जुत प्रेमरस अद्भुत केलि-अनग।
छिन-छिन आनद-सिंधु के उठिबौ करत तरग॥"[2]

अत आत्म-प्रकाशनार्थ हित-तत्त्व भोक्ता और भोग्य या प्रेमी और प्रेमास्पद दो के रूपो मे नित्य प्रकट रहता है। प्रेम-विहार की सहज सम्पन्नता के लिए किसी आधार और प्रेरक की भी आवश्यकता है। प्रेरक-प्रेम को इसी दृष्टि से भोक्ता-भोग्य से अलग तीसरे 'हित-रूप' के रूप मे स्वीकार किया गया है। यह प्रेरक प्रेम दो प्रकार का होता है—जड और चेतन। जड रूप वृन्दावन है जो भोक्ता और भोग्य के बीच प्रेम-विहार को आधार-स्थल बनकर तथा प्रेरणा देकर सहज सम्भव बनाता है, चेतन रूप सहचरि-गण है जो अपनी मरस युक्तियो एव सेवा द्वारा युगल से मिलन एव रस-प्रकाशन का अवसर लाती है। इस प्रकार भोक्ता, भोग्य और प्रेरक त्रिविध प्रेम चार रूपो के सामने आता है।[3]



राधावल्लभ सम्प्रदाय मे भोक्ता या प्रेमी श्रीकृष्ण हैं, राधा भोग्या या प्रेमास्पद हैं। इसीलिए सम्प्रदाय की वाणियो मे प्रेमाभिव्यक्ति श्रीकृष्ण की ओर से राधा के प्रति ही प्राय की जाती है। श्रीकृष्ण राधा के प्रेम मे विवश, उनके नित्य अधीन एव आराधक-प्रसारक के रूप मे सामने आते है। जो महत्त्व अन्य सम्प्रदायो मे श्रीकृष्ण को प्राप्त हैं वह

---

१ "इक हित द्वै बिनु होत नहि दोऊ मिलि इक होइ।"
उद्धृत : श्रीहितहरिवश गोस्वामी : पृ० ८६।

२. ध्रुवदास उद्धृत वही, पृ० १७३।

३ श्रीहितहरिवश गोस्वामी पृ० ८०-८३।

यहा राधा को मिला हुआ है। यह कदाचित् भोग्य-पक्ष के स्वाभाविक महत्त्व के कारण है, ऐसा सम्प्रदाय के लोगो का विश्वास है।[1] फिर भी प्रेम की स्थिनि राधा और कृष्ण दोनो मे समान रूप से मानी जाती है। यह राधावल्लभी प्रेम-पद्धति की प्रमुख विशेषताओ मे से है। जहाँ कृष्ण राधा-प्रेम मे अवश दिखायी पडते है, वहाँ राधा के भी कृष्ण-प्रेम मे व्याकुलता के चित्र स्वय हितहरिवशजी ने दिये है।[2] प्रेम के उभय-निष्ठ होते हुए भी प्रेमी श्रीकृष्ण और प्रेमास्पद राधा को ही मानकर राधावल्लभीय काव्य की रस-परिकल्पना आगे चलती है। यो सूफी प्रेम-पद्धति मे भी प्रेम-प्रयास नायक की ओर से होता है, किन्तु वहाँ रति की उभय-निष्ठता समान रूप से तथा समानकालीनतया नही दिखायी जाती।

इस प्रकार सम्बन्धात्मक प्रेम भी चाहे वह राधा-कृष्ण के बीच हो, चाहे युगल और सहचरी के बीच, उसी प्रेम-तत्त्व का रूप है। प्रेरक प्रेम के दोनो रूपो वृन्दावन और सहचरी को पारिभाषिक रूप मे 'हित-सन्धि' कहा गया है। वह इसलिए कि राधा और कृष्ण की रति इन आधारो मे मिलकर एकाकार एव प्रकट होती है। वृन्दावन मे नित्य प्रकट लीला-विहार के रूप मे, और सहचरी मे भाव-रूप मे। श्रीमोहनजी के शब्दो मे सहचरी राधा-कृष्ण के दो शरीरो की एक परछाई है, दो नेत्रो मे स्थित एक ही दृष्टि है, दिन और रात्रि के बीच उन्ही के योग से बनी सध्या है, मिश्री और जल मिलकर बना हुआ शरबत है[3]

"अद्भुत गीत या प्रेम की या मे रीति अनेक।
दुहुँ तन की काहू सुनी परछाईं है एक॥
दुहुँअन बीच सखी यह नाही, दुहुँ तन की एकै परछाही।
त्यो दुहु बीच सखी सुखदाई, दुहु नैननि ज्यौ दीठ रहाई।
साझ सधि ज्यौ निसि-दिन माही, शरद-वसन्त रितुन मे आही।
मिश्री पानी शरबत ज्यौ कै, सधि सहेली समुझौ त्यौ कै।"

श्री ध्रुवदासजी ने भी सहचरी को युगल की इच्छाशक्ति कहा है जो उनकी रसमय क्रीडाओ का प्रकाशन कराती है

"करवावत सब ख्याल, इच्छाशक्ति सखी तहा।
उपजावत तिहि काल भाव सबनि कै तैसोई।"[4]

इस प्रकार युगल-विषयक सहचरी रति सम्प्रदाय की दृष्टि मे राधा-कृष्ण की पारस्परिक द्विविध रति का मिश्रित प्रकाशन है, कोई अलग पदार्थ नही।

तत्सुखसुखित्व राधावल्लभीय प्रेम की सहज विशेषता है। अत कृष्ण-प्रेम मे राधा

---

१ "राधा-माधव में सब प्रकार से समान रस की स्थिति होते हुए भी श्रीराधा की प्रधानता प्रेम के क्षेत्र में प्रेमपात्र की स्वाभाविक प्रधानता को लेकर है।" श्रीहितहरिवंश गोस्वामी पृ० १२५।

"जद्यपि दोउन की लगन, इक मिलि कहै समान।
पै प्यारी महबूब है, प्यारौ आशिक जान।"

श्री वल्लभरसिक 'बारह बाट अठारह पैंडे' वही, पृ० १२५।

२. "दंपति रस समतूल" श्री हितहरिवंशजी, हितचौरासी, उद्धृत, वही, पृ० १२०।

३. श्रीमोहनजी केलिकल्लोल उद्धृत श्रीहितहरिवंश गोस्वामी . पृ० २२४-५।

४. ध्रुवदास सभा - मण्डल।

को सुखी करने की तथा राधा-प्रेम मे कृष्ण को सुखी करने की भावना व्याप्त रहती है। सहचरियो का तो यह जीवनाधार भाव ही है कि उनके राधा-मोहन केलि-विलास का अबाध आनन्द पाते रहे और सुखी रहे। पर राधा-मोहन भी इसी उद्देश्य को लेकर ये केलिमयी क्रीडाएं रचते हैं कि उनकी हित-सन्धि रूप सहचरिया उसका दर्शन-सुख पा सके।

हम कह चुके है कि इस सम्प्रदाय के काव्य मे प्रेम का दो रूपो मे गान हुआ है—एक रूप है राधा और कृष्ण के बीच का प्रेम, दूसरा है सहचरी-निष्ठ प्रेम। यहा दोनो की अलग-अलग कतिपय ऐसी विशेषताए है जो ध्यान देने योग्य है।

राधा-कृष्ण प्रेम—हम कह चुके है कि इस प्रेम मे कृष्ण प्रेमी है, आश्रय है, राधा प्रेमास्पद है अत आलम्बन है। प्रमुख रूप यही है, वैसे कही-कही राधा-निष्ठ भी प्रेम का चित्रण हुआ है। इस प्रेम की दूसरी विशेषता यह है कि इसका अभिव्यजन कृष्ण की ओर से होते हुए यह उभय-निष्ठ है, सूफियो के समान एक-पक्षीय नही। तत्सुखसुखित्व की चर्चा हम अभी कर ही चुके है।

यह प्रेम नित्य प्रकट एव क्रीडाशील है।[1] जैसे वल्लभादि सम्प्रदायो मे प्रकट और अप्रकट ललीए अलग-अलग मानी गयी है, वैसी मान्यता यहा नही है। यह प्रेम तो नित्य प्रकट ही है। इसकी नित्य क्रीडा चलती है जो काम-केलि के रूप मे होती है। वृन्दावन के निकुजो मे सहचरियो के भाव-रस से सिंचित यह प्रेम नित्य-विहार के रूप मे प्रकाशित होता रहता है।

यह प्रेम-विहार नित्य होते हुए भी नित्य नूतन है। सौन्दर्य को क्षणे-क्षणे नवीन होने वाला कहा गया है। "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया।" इस नूतनता का प्रेम-विहार मे अर्थ है सौन्दर्य का कभी बासी न होना, और प्रेम-विहार का नित्य नूतन आरम्भ होते रहना। ध्रुवदासजी के शब्दो मे यह नित्य नूतनता इस मात्रा तक बढी हुई है कि राधा और कृष्ण के अनादि अनत सयोगात्मक प्रेम-विलास के चलते रहते हुए भी अभी तक दोनो मे पहचान नही हुई है। कान्ति, छवि, विलास, प्रेम सब-कुछ सदा नया-सा ही बना रहता है, नये-नये मिलन-सा उत्साह नित्य रहता है

"न आदि न अत विलास करै दोउ, लाल-प्रिया से भई न चिन्हारी।
है नई भाति नई छवि कान्ति नई नवला नव नेह विहारी।
रहै सुख चाहि दिये चित आहि परे रस प्रीति सु सर्वस हारी।
रहै इक पास, करै मृदु हास, सुनौ ध्रुव प्रेम अकत्थ कथारी।"[2]

राधावल्लभ सम्प्रदाय राधा-कृष्ण प्रेम की एक उल्लेखनीय विशेषता, जो इसकी अपनी मौलिक है, यह है कि यह प्रेम नित्य सयोगात्मक होते हुए विरह के साथ घुला हुआ है। यो साहित्य-शास्त्र ने भी शृगार के सयोग और वियोग दो पक्ष माने है, तथा प्रेमा भक्ति के अनुयायियो ने भी ये दो रूप स्वीकार किये है, किन्तु उन सबमे विरह का अर्थ होता है अलग होना जो सयोग मे नही बनता। कुछ प्रेमवैचित्ती जैसी स्थितियाँ कल्पित की गयीं है, पर राधावल्लभी भावना उससे भी अलग है। सयोग का आदर्श सारस का प्रेम है, पर वह

१ "नित्य किशोरी नित्य किशोर, नित वृन्दावन, नित निशि भोर।
नित्य सहचरी नित्य विनोद, नित आनन्द वरषत चहु ओर।" ध्रुवदास, ब्यालीस लीला, पृ० ३५।

२. ध्रुवदास ब्यालीसलीला : भजनशृंगार सत लीला : पृ० १०२।

विरह के आनन्द को नही जानता। विछोह होते ही प्राण छोड देता है। चकवी सयोग का सुख नही जानती, उसकी दृष्टि मे विरह महत्त्वपूर्ण है। पर राधावल्लभी प्रेम मे ही इतनी प्यास समा दी गयी है कि प्रेमी को निरतिशय अभिलाष रहती है, इतनी तीव्र अभिलाष कि वह विरह की सी घनीभूत वेदना अनुभव करता है।[1]

राधा-कृष्ण के इस सयोग-विरहात्मक प्रेम की दो अवस्थाओ का निरूपण ध्रुवदास जी ने किया है। जब राधा-कृष्ण एक-दूसरे के प्रेम मे एकरस होकर विवश हो डूब जाते है तब उस अवस्था का नाम 'प्रेम' है, और जब कुछ होश मे आकर काम-केलि मे निरत हो जाते है तब उस अवस्था का नाम 'मदन' है

"प्रेम मदन के सिंधु द्वै बहत रहत दिन हीय।
कबहु बिबस, चेतत कबहु, छिन-छिन प्यारी पीय।
छिन-छिन प्यारी पीय मधुर रस बिलसत ऐसे।
सूक्ष्म प्रेम की बात कहौ कोऊ बरनै कैसे।
यह सुख सखियन बट परौ भूलै ध्रुव सब नेम।
इकरस फूली फिरत सग पाइ माधुरी प्रेम॥"[2]

इसी मदनावस्था को प्रेम-यत्रित नेम कहा गया है। 'नेम' वे क्रियाए और चेष्टाए होती है जो क्रिया-निर्वृत्त होती हैं। इस प्रकार काम-केलियाँ भी एक प्रकार का नेम है, और भक्त द्वारा की गयी नवधा भक्ति और कर्म-काण्ड भी नेम है। राधा-कृष्ण के प्रेम से जुडी हुई काम-केलिया प्रेम-यत्रित 'नेम' है। ये उपर्युक्त मदनावस्था के उच्छलन है। सिद्धान्त यह है कि प्रेम के उदय होने पर नेम का विलय हो जाता है। पर यह सिद्धान्त भक्त की दृष्टि से ही प्रतिपादित है कि उसमे प्रेम का उदय होते ही कर्मकाण्ड और नवधा भक्ति प्रेम मे विलीन हो जाती है। राधा-कृष्ण के प्रेम मे मदनात्मक नेम का विलय नही होता। विवशात्मिका प्रेम-दशा मे आलिगनादि क्रियाए क्षण-क्षण विलीन होती रहती है, दूसरे क्षण मदनावस्था मे उच्छालित होती रहती है।[3] इन प्रेम-यत्रित नेम-रूपा मदन-केलियो से ही प्रेम

---

१ चकई प्राण जु घट रहै पिय बिछुरन्त निकज्ज।

सारस मन सन्देह प्राण घट जु रहै चकई॥
सारस सर बिछुरन्त कौं जो पल सहै शरीर।
अगनि अनग जु तिय भखै तौ जानै पर पीर।
.. ..

हितहरिवश विचारि प्रेम-विरहा बिन वारस।
निकट कत नित रहत मरम कहा जानै सारस।" पद ५-६ स्फुटवाणी।
"देखिबौ जहा विरह सम हाई, तहा कौ प्रेम कहा कहि कोई।" ध्रुवदास, रहस्यमजरी।
"मिले अनमिले रहत विवि अग अग अकुलाइ।
प्रेमहि विरह सरूप जह यह रस कह्यौ न जाइ।" म१ . जी उद्धृत • श्रीहितहरिवश गोस्वामी पृ० १११।

२. ध्रुवदास • सिद्धान्तबिचारलीला पृ० ४१।

३. ध्रुवदास सिद्धान्तविचारलीला गद्य पृ० ४१।
डा० स्नातक ' रा० व० स० : सि० और सा० • विहारपरक प्रेम और नेम तथा साधारण प्रेम और नेम पृ० १५२-१६०।

आस्वाद्य बनता है। हम कह चुके है कि राधा-कृष्ण का प्रेम काम-केलिमय एव नित्य प्रकट माना गया है।

इन प्रेम और मदन अवस्थाओ के बडे सुन्दर किन्तु उन्मुक्त चित्र इस सम्प्रदाय के कवियो ने उतारे है जिनमे भाव और कल्पना दोनो का सम्पुट है। राधा और कृष्ण सयोग मे प्रेम की एकरस विवशात्मिका दशा मे डूब गये हैं। उनमे पुन चेतना एव सुध-बुध लाने के लिए सावधान सखियाँ दोनो मे चेष्टात्मक काम-क्रियाओ का सचार करके मदनावस्था सचारित करती हैं

"होत बिबस जबही पिय-प्यारी।
सावधान तहा सखी हितकारी॥
कुवरि अधर पिय-अधरनि लावैं। रूप वदन नैननि दरसावैं॥
पिय के कर लै उरज छुवावैं। मनौ मैन के खेल खिलावैं॥
उर सौ उर मिलि भुजन भरावैं। चरन पलोटि सेज पौढावैं।
ऐसी भाति नव लाड लडावैं। ताही सौ अपनौ जिय ज्यावैं।"[1]

इस नित्य सयोगात्मक प्रेम मे विरह को सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई अवकाश नही है। यह प्रेम मिलने-बिछुडने दोनो से ऊपर अद्भुत है।[2] स्वरूपत इसी सयोगात्मक प्रेम को अतिशय अतृप्ति-परक होने से विरहात्मक रूप मे देखा गया है। इस विरह मे देश, काल और ज्ञान का अन्तर नही। अत यह अत्यन्त सूक्ष्म विरह ही सिद्धान्तत स्वीकृत है। फिर भी इस सम्प्रदाय के वाणीकारो ने कई प्रकार के विरह के चित्र उतारे है। प्रमुख रूप इस प्रकार हैं

सूक्ष्म विरह

१ **अतृप्तिमूलक**—अतृप्तिमूलक सयोग-वियोगात्मक प्रेमानुभूति की हम चर्चा अभी कर चुके है। इस दशा को श्रीहितहरिवशजी ने 'प्रेम-विरहा' नाम दिया है। यह प्रेम-वैचित्य से भिन्न है जिसमे ज्ञान का अन्तर रहता है।

२ **प्रेमवैचित्य**—प्रेमवैचित्यपरक विरह का उदाहरण श्रीहितहरिवशजी कृत राधा-सुधानिधि का यह सस्कृत पद्य लिया जा सकता है

"अकस्थितेपि दयिते किमपि प्रलाप
हा मोहनेति मधुर विदधत्यकस्मात्।
श्यामानुरागमदविह्वलमोहनाङ्गी
श्यामामणिर्जयति कापि निकुजसीम्नि।"[3]

हित-चौरासी के इस पद्याश मे भी कृष्ण मे प्रेम-वैचित्य के दर्शन होते हैं

"सकृदपि मयि अधरामृतमुपनय सुन्दरि सहज सनेह।
तव पद-पकज कौ निजु मन्दिर पालय सखि मम देह।"
प्रिया कहत कहु कहा हुते पिय नव-निकुज-वर-राज।
सुन्दर वचन रचन कत वितरत रति-लम्पट बिनु-काज॥"[4]

---

१ रतिमजरी - उद्धृत श्रीहितहरिवश गोस्वामी पृ० २२८।

२. "तहा न मिलिबौ बिछुरिबौ, जीवत रूपहि चाहि।" ध्रुव० ख्यालहुलासलीला पृ० २३।

३. राधासुधानिधि श्लो० ४६।

४. हि० चौ० - पद ६६।

३ **अगान्तर-विरह**—प्रेम की घनता मे प्रेमियो को अपने शरीरो का दो होना, केशो की लट नेत्रो और रूप के बीच आ जाना तथा स्वय अपने पलको द्वारा दर्शन मे व्याघात उपस्थि करना, अथवा प्रियामुख का अचल की ओट हो जाना अत्यन्त दाहकारी विरह के रूप मे अनुभव होता है। ये दिव्य प्रेमी इतने ही विरह-क्षण मे व्याकुल हो उठते है। इन देहान्तर, लटान्तर, पटान्तर और पलकान्तर विरहो के चित्र उतारकर राधावल्लभी कवियो ने राधाकृष्ण-प्रेम की सघनता की मधुर व्यजना प्रस्तुत की है।

अगान्तर-विरह का एक कल्पना प्रवण चित्र ध्रुवदासजी का यहाँ उदाहरणीय है। जिन क्षणो मे राधा-कृष्ण उर से उर मिलाकर लिपट जाते है, उन क्षणो मे नेत्रो का दर्शन-सुख बद हो जाता है और वे विरह मे डूब जाते है। तथा जब अलग होकर परस्पर रूप-सुधा का पान करने लग जाते है तब अगो मे विरह-व्यथा समा जाती है

"जब ही उर सौ उर लपटाही।
तब नैना विरही ह्वै जाही।
छुटै जबहिं छवि देख्यौ करै।
विरह आनि अगनि सचरै॥"[1]

४ **निकट-मान**—राधावल्लभीय काव्य मे मान के अनेकमुखी चित्र मिलते है। स्वय हरिवशजी की हित-चौरासी मे ही अनेक प्रकार से मान का चित्रण किया गया है। हरिव्यासजी मे तो स्थूल खडिता मान भी मिलता है। देश-दृष्टि से सम्प्रदाय के मान को 'निकट-मान' और 'निकुजान्तर-मान' के दो भेदो मे रखा जा सकता है।[2] सूक्ष्म मान मे निकट मान के दो भेद किये जा सकते है—एक सहज मान, दूसरा सभ्रम मान। श्रीहितहरिवशजी ने राधा को सीधी-साधी गोप-कन्या के रूप मे नही अपितु एक केलि-कला कुशल नागरी के रूप मे चित्रित किया है। राधा स्वभावत केलिरस के गहरे आस्वादन के लिए भीतर भीतर से प्रेम-सिक्त होकर भी कृष्ण से मान करती रहती है और उनकी आतुरता और विनय के अनन्तर उन्हें अपना सर्वस्व समर्पण करती है। मान की यह स्थिति सहज-मान के अन्तर्गत समझनी चाहिए। ध्रुवदासजी की निम्न पक्तियो मे यही सहज मान है

"मानकुज आये जबहिं कुवरि भौह भई भग।
चितै लाल पाइनि परै समुझि मान कौ अग।
ऐसे रस मे हो प्रिये ऐसी जिय न विचार।
तासौं इती न चाहिए तन मन जो रह्यौ हार।"[3]

"राधा प्यारी हौ मान न करु।
अन्तर विरह दहन तन जारत, वरषावहि बिम्बाधर जलधरु।
बिन अपराध कोप न कीजै, दीनै हौ प्यारी।
प्रान दान धन, राधा तेरी हौ अनुचर।
व्यास स्वामिनी मन्द हास करि कण्ठ लगाइ लयौ सुन्दर वर।[4]

---

१ ध्रुवदास रहस्यमजरी पृ० १८६।
२ श्रीहितहरिवश गोस्वामी पृ० ११८।
३ ध्रुवदास उद्धृत वही पृ० ११७।
४ श्रीव्यासवाणी मानरस-प्रकरण - पृ० २४७।

सयोग के अन्तर्गत ही निकट-मान का दूसरा रूप भ्रम-जन्य मान का है। श्रीकृष्ण के उरस्थल मे अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर राधा को भ्रम हो जाता है कि इनके हृदय मे तो कोई और बसी है। बस राधा को मान हो जाता है। यह मान स्वय कृष्ण द्वारा या सखियो द्वारा वस्तु-स्थिति स्पष्ट करते ही दूर हो जाता है

"हरि उर मुकुर विलोकि अपुनपौ विभ्रम विकल मानयुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत पिय प्रतिबिंब जनाय निहोरी।
नेति-नैति वचनामृत सुनि-सुनि ललितादिक देखत दुरि चोरी।
हित हरिवश करत कर-धूनन प्रणय-कोप मालावलि तोरी।"[1]

स्थूल विरह

सिद्धान्तत राधावल्लभीय प्रेम-पद्धति मे स्थूल विरह स्वीकार नही किया गया। फिर भी यत्र-तत्र देशकाल का अन्तर सामने रखते हुए कतिपय स्थूल विरह के चित्र मिल ही जाते हैं। कतिपय रूप ये है

१ **निकुजान्तर मान**—जब राधा प्रणय-कुपित होकर एक निकुज से दूसरे निकुज मे चली जाती है तब निकुजान्तर मान की स्थिति आती है।[2]

२ **खण्डिता मान**—'राधासुधानिधि' के श्लोक दो सौ बत्तीस तथा दो सौ तेतीस मे श्रीहितहरिवशजी ने श्रीकृष्ण की राधा के अतिरिक्त अन्य सखियो के साथ रस-लम्पटता का चित्रण किया है। किन्तु इसके परिणाम-स्वरूप राधा मे किसी प्रकार की ईर्ष्या या खण्डितात्व की बात नही दिखायी। सामान्यत खण्डिता-मान सम्प्रदाय की प्रेम-दृष्टि के अनुरूप नही है। पर श्रीहरिरामजी व्यास की 'व्यासवाणी' मे कुछ चित्र इस प्रकार के भी हैं जो खण्डिता मान के अन्तर्गत आते हैं।[3] सिद्धान्तत उन्होने भी सूक्ष्म मान को ही स्वीकार किया है।

३ **दिन-विरह**—'राधासुधानिधि' मे श्रीहितहरिवशजी ने कई चित्र इस प्रकार के दिये है जिनमे राधा प्रिय के विरह मे डूबी हुई, प्रिय के गुण-गान करती हुई, आँखो से आँसू बहाती हुई कठिनता से दिन पार करती है

"वीणा करे मधुमती मधुरस्वरा ता—
माधाय नागरशिरोमणिभावलीलाम्।
गायन्त्यहो दिनमपारमिवाश्रुवर्षै-
र्दुःखान्नयन्त्यहह सा हृदि मेस्तु राधा।"[4]

सामान्यत ये स्थूल विरह-रूप कम ही मिलते हैं। सम्प्रदाय के कवियो ने सूक्ष्म विरह-रूपो का ही चित्रण किया है। सिद्धान्तरूप मे तो स्थूल रूपो को स्वीकार ही नही किया।

सहचरी-निष्ठ प्रेम—राधावल्लभी काव्य मे प्रेम का दूसरा रूप है सहचरी-निष्ठ प्रेम। इस प्रेम के आलम्बन सामान्यत राधा, कृष्ण एव उनके केलि-विलास है। कहना चाहिए, नित्य-विहार के रूप मे चित्रित राधा-कृष्ण-प्रेम इस प्रेम का विभाव है। इसके

---

१. हितचौरासी पद ७।
२ वही पद ४४।
३ व्यासवाणी। रा० व० स० डा० स्नातक पृ० ३८१।
४ रा० सु० नि० श्लोक ४८।

अतिरिक्त सहचरी-निष्ठ प्रेम श्रीहितहरिवशजी के प्रति भी व्यक्त हुआ है, जिन्हे हित-तत्त्व से अभिन्न माना गया है।

सहचरी प्रेम को तात्त्विक दृष्टि से राधा-कृष्ण की द्विविध रति का एकीकृत अभिव्यजन कहा गया है, यह हम देख चुके है। इस प्रेम की प्रमुख आलम्बन श्रीराधा ही है, श्रीकृष्ण तो इसलिए प्रिय है कि वे राधा के प्रियतम है।

सहचरी-प्रेम कभी सेवा के रूप मे, कभी सख्य के रूप मे, कभी राधा को केलि-शिक्षा के रूप में व्यक्त हुआ है। सभी रूपो मे तत्सुखभावना प्रधान है।

निष्कामता इस प्रेम की अपनी विशेषता है। वल्लभी गोपियो का स्तर इनसे इसी लिए नीचा है कि उनके प्रेम मे सकामता है। सहचरियो मे श्रीकृष्ण के प्रति दाम्पत्य रति का उदय इस सम्प्रदाय में इष्ट नही। श्रीहितहरिवशजी ने कतिपय ऐसी भाव-स्थितियो का चित्रण किया है जिनकी व्याख्या मनोविज्ञान की छाया मे की ही नही जा सकती। ये स्थितियाँ विचित्र है।

श्रीकृष्ण यह मानकर कि ये सहचरियाँ उनकी प्रियतमा राधाजी की कृपा-पात्र है, उनका चुम्बन करते है, आलिंगन करते है, उन्हे सुरत-मदिरा से मतवाला बना देते है। इतना सब होते हुए भी, उन सहचरियो मे कृष्ण के प्रति कामात्मिका रति उद्बुद्ध नही होती, उद्बुद्ध होती है श्रीराधाचरणो में अनन्य रति

"निज प्राणेश्वर्या यदपि दयनीयेयमति मा
मुहुश्चुम्बत्यालिंगति सुरतमाध्व्या मदयति।
विचित्रा स्नेहर्धि रचयति तथाप्यद्भुतगते-
स्तवैव श्रीराधे पदरसविलासे मम मन।"[१]

यह सहचरी-प्रेम की एक विचित्र स्थिति है। चरम कोटि की निर्वासनात्मकता एव राधा के प्रति अनन्यता है। इस चित्र मे जो रति-सचार हुआ वह कृष्ण की ओर से, सहचरी उससे सर्वथा अप्रभावित रही, हाँ सुरत-मदिरा से उसे मतवाला बनाने का प्रयास अवश्य हुआ, किन्तु उसकी अनन्य रति राधा के प्रति ही रही, श्याम के प्रति उसमे कोई प्रतिक्रिया जागरित न हुई। अब एक दूसरा चित्र लीजिए—राधा ने अपने रस-लम्पट प्रिय के प्रति स्नेह-वश अपनी अनन्य-निष्ठ सहचरी को सौप दिया। सहचरी ने मुस्कान के सहित कटाक्षो से कृष्ण को प्रसन्न किया, गाढ आलिंगन भी दिया। कृष्ण भी रोमाचित हो उठे। यह सब दोनो ओर से हुआ, पर विचित्रता यह रही कि सहचरी मे रति जागी श्रीराधाचरणो के प्रति ही, उसमे विकारी काम का उदय नही हुआ अद्भुत भाव-स्थिति है

"यदि स्नेहाद्राधे दिशसि रतिलाम्पट्यपदवी
गत ते स्वप्रेष्ठ, तदपि मम निष्ठ श्रृणु यथा।
कटाक्षैरालोके स्मितसहचरैर्जातपुलक
समाश्लिष्याम्युच्चैरथच रसये त्वत्पदरसम्।।"[२]

श्रीमद्भागवत की प्रेरणा पर सभी सम्प्रदायो के कृष्ण भक्तो ने रास-प्रसग का चित्रण किया है। अन्य सम्प्रदायो के चित्रणो मे, भले ही वे भी सहचरी-भाव की भावना

---

१. राधासुधानिधि ५५।
२. राधासुधानिधि श्लो० ८७।

को लेकर चले हो, राधा के साथ ही सहचरी प्रेम मे भी कृष्ण के प्रति कुछ न कुछ कामात्मक उभार झलक उठता है। किन्तु राधा वल्लभी सहचरी प्रेम की यह विशेषता है कि यहाँ रास मे नृत्य-मग्न कृष्ण-प्रेयसी राधा ही प्राय आराध्या रहती है।[1]

सहचरी-प्रेम मे भक्तो ने पूर्ण नारीत्व का तादात्म्य प्राप्त किया है। स्वय हित-हरिवशजी ने सखी-रूप मे अपनी कल्पना करते हुए अपने मे कुचो आदि की भी कल्पना की है।[2] राधा-परक इस सहचरी प्रेम को ही चरम काम्य माना है।[3] कभी-कभी तो श्रीकृष्ण भी सहचरीभाव की कामना कर उठते है।[4] वृन्दावन के पुष्प और लताएँ, पक्षी और भौरे सहचरी भाव अपनाकर राधा-कृष्ण केलि के प्रेरक एव आस्वादक बनते है।

हम देख चुके है कि राधा-कृष्ण प्रेम मे स्थूल नेमो का तो नही, किन्तु मदन-क्रिया रूप प्रेम-यन्त्रित नेमो का सम्बन्ध बना रहता है। सहचरी प्रेम मे किसी प्रकार का नेम नही रह जाता। कर्म-काण्डरूप नेम इस प्रेम मे ग्राह्य नही। राधावल्लभी भावोपासना मे धर्म के बाह्याचारो को स्थान नही है। नवधा भक्ति साधनाकाल के लिए अवश्य स्वीकार्य है। पर यह नेम भी सहचरी प्रेम के उदित होते ही उसमे विलय हो जाता है। मदनात्मक नेम का इस प्रेम मे उठने का प्रश्न नही। इस प्रकार सहचरी प्रेम ही सर्वथा नेम-रहित पूर्ण शुद्ध प्रेम है, अत राधा-कृष्ण प्रेम से भी सूक्ष्म, सरस एव काम्य है। यह प्रेम-विषयक प्रेम है

"लाल-लाडिली प्रेम तै सरस सखिनु कौ प्रेम।
अटकी है निजु प्रेमरस परसत तिनहिं न नेम ॥"[5]
'सहज प्रेम की सीव दोउ नवल किशोर वर जोर।
प्रेम कौ प्रेम सखीन कै, तिहि सुख कौ नहि छोर ॥"[6]

यह सहचरी-प्रेम अनेक पदो मे धाम-रति के रूप मे व्यक्त हुआ है जिनमे राधा-कृष्ण के केलि-धाम वृन्दावन के प्रति अनन्त आसक्ति प्रकट की गयी है। ऐसे भाव-पूर्ण पद श्रीहरिवशजी सहित सभी अनुयायियो ने लिखे हैं। इनमे धाम-रति राधा-रति की पोषक, अग या प्रेरक के रूप मे ही प्राय आया करती है। नमूने के तौर पर हित चौरासी का एक पद देखा जा सकता है

"प्रथम यथामति प्रणऊ श्रीवृन्दावन अति रम्य।
श्रीराधिका कृपा विनु सबके मननि हगम्य ॥

अति कमनीय विराजत मदिर नवल निकुज।
सेवत सगन प्रीतिजुत दिन मीनध्वज-पुज ॥
रसिक रास तह खेलत श्यामा श्याम किशोर।
उभै बाहु परिरजित उठे उनीदे भोर ॥"[7]

---

१ राधासुधानिधि—श्लो० १५८।
२ वही श्लो० ५२।
३ "तत्कैकर्यरसामृतादिह पर चित्ते न मे रोचते।" वही श्लो० ७७।
४ "तन्मामात्मसखी कुरु।" वही श्लो० २४५।
५. प्रेमलता उद्धृत श्रीहितहरिवश गोस्वामी · पृ० २२५।
६. प्रेमावली उद्धृत वही · पृ० २२५।
७. हितचौरासी पद ५७।

यह वृन्दावन-रति राधा-रति की उद्दीपन, सचारी या अग-रति के रूप मे आती रहती है। इसी प्रकार अनेक चित्रो मे कृष्ण-रति भी राधा-रति की पोषिका के रूप मे आती है। कारण, सम्प्रदाय की मूल भावना राधा-महत्त्व को अपनाकर चली है।

राधा-महत्त्व—श्रीहितहरिवशजी ने राधा के गीत इसी रूप मे गाये है कि उनमे राधा कृष्णाराध्या और कृष्णाधीश्वरी के रूप मे सामने आती है। सम्प्रदाय के इस राधा-विषयक दृष्टिकोण ने सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना के स्वरूप को एक विशेष दिशा दी है।

श्रीहितहरिवशजी ने राधा को परा विद्या, परात्परा स्वतन्त्रा शक्ति के रूप मे स्मरण किया है।[1] वे ब्रह्मादि देवताओ के लिए अगम्य, शची-ईशानी आदि देवी रूपा, और कृष्ण-सेव्या है। वे कृष्ण की न स्वकीया है, न परकीया। कहना चाहिए कृष्ण उनके स्वकीय नायक है। उन्हे शक्ति कहने का अर्थ यह नही कि उनकी अपेक्षा शक्तिमान् का स्थान महत्त्वपूर्ण है और वे वल्लभादि सम्प्रदायो के समान कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है। वे 'स्वतन्त्रा' एव 'परा' शक्ति है।

जिस प्रकार शैव भक्ति के विकास मे उन्ही की प्रेयसी शक्ति को प्राधान्य देकर शाक्त भक्ति का प्रचलन हुआ, वैसे ही कृष्ण भक्ति मे कृष्ण की प्रेयसी को प्राधान्य देकर राधावल्लभ सम्प्रदाय मे राधा-भक्ति का समर्थन किया गया है। इसकी प्रेरणा सीधी शाक्तो से नही है, पर श्रीमद्भागवत से भी नही है। देवी-भागवत जैसे पुराणो मे शक्ति-पक्ष का महत्त्व वैष्णव चेतना के साथ उभर चुका था। देवीभागवत के नवम स्कन्ध के प्रथम श्लोक मे देवी के पाँच रूपो की कल्पना की गयी है[2]—दुर्गा, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री। इनमे राधा-रूप को परमानन्दस्वरूपा माना गया है। देवी भागवत के अन्तिम स्कन्धो मे इन्ही रूपो का गान है। राधावल्लभ सम्प्रदाय की राधा-भावना उसी वैष्णव परम्परा की एक विकसित कडी है।

शाक्त तन्त्रो मे शक्ति के कल्पित अनेक रूपो मे तीन रूप प्रधान है—मातृरूप, असुर-सहारक रूप, शृगारकेलिमय रूप। तन्त्रो मे शृगारमय रूप का भी खूब विकास हुआ है, जिसकी दार्शनिक आधार-भूमि भी बनायी गयी है और एक ऐसा शृगारी रूप भी अपनाया गया है जिसने विकार-पूर्ण साधना-मार्ग का द्वार खोला है। शैव और शाक्त तन्त्रो की इस शृगार-कल्पना ने वैष्णव मधुर-चेतना के लिए पूर्वेतिहास अवश्य तैयार किया है।

श्रीहितहरिवशजी ने राधा के केलिविलासमय रूप के अतिरिक्त वात्सल्यपूर्ण रूप की भी चर्चा की है।[3] उनका वात्सल्य मातृ-निष्ठ वात्सल्य के अतिरिक्त दासी-वात्सल्य के रूप

---

१ "प्रेम्ण. सन्मधु ोज्ज्वलस्य हृदय श्रृगारलीलाकलावैचित्री परमावधिर्भगवत पूज्यैव कापीशता।
ईशानी च शची महासुखतनु शक्ति स्वतन्त्रा परा।श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषी राधैव सेव्या मम।"
रा० सु० श्लो० ७८।

२ "गणेशजननी दुर्गा राधा लक्ष्मी सरस्वती।
सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृति पचधा स्मृता॥" देवीभागवत नवम् स्कन्ध श्लो० १।

३ "वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धु-
वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धु ।

लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धु
श्रीराधिकास्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धु ।" राधासुधानिधि श्लो० १७।

मे भी प्रस्तुत किया गया है। पुत्र-वात्सल्य को तो पल्लवित नही किया गया, किन्तु दासी-वात्सल्य का पर्याप्त पल्लवन हुआ है।[1]

सम्प्रदाय के परवर्ती लोग श्रीहितहरिवश द्वारा प्रतिपादित राधा के इस पक्ष पर या तो मौन है या इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हे। वे राधा के पराविद्या और स्वतन्त्रा परा शक्ति रूप के प्रतिपादन को प्रेमास्पद के स्वाभाविक महत्त्व के रूप मे देखते है।[2]

अब तक हमने राधावल्लभ सम्प्रदाय की मधुर-परिकल्पना का आवश्यक परिचय प्राप्त किया है। इस सम्प्रदाय के कवियो ने इसी मधुरिमा-मय नित्य-विहार रस के गीत गाये है जिनमे उनकी आत्मा सहचरी भाव की भाव-साधना अपनाकर घुली हुई है। सयोग का चित्रण उनकी भाव-साधना के अनुरूप रहा है, पर उस सयोग को नित्य सजीव, नित्य नूतन एव अद्भुत बनाने का उनका सदा प्रयास रहा हे। उनकी साम्प्रदायिक भाव-निष्ठा मिल जाने पर उनके ये गीत मानव-मन के कलुषित से कलुषित लोहे को पारस-स्पर्श से स्वर्ण बनाने की क्षमता रखते है, किन्तु यह भाव-निष्ठा मिलना हर एक के भाग्य की बात नही। तब, लौकिक सस्कार सम्पन्न व्यक्तियो के लिए यह काव्य उन्मुक्त एव उद्दाम शृगार का है, जन-सामान्य के लिए ह्रासोन्मुखी वृत्तियो का द्वारोद्घाटक। इस सत्य को स्वय ये रसिक भक्त भी जानते है और जन-सामान्य के लिए इस साहित्य का द्वार बन्द रखते चले आये है

"महा गोप्य, अद्भुत, सरस, चितत रहै मन माहिं।
या रस के रसिकनि विना सुन ध्रुव कहिबो नाहिं॥"[3]

यहाँ उदाहरण-स्वरूप इन कवियो के कतिपय पद प्रस्तुत किये जाते है जिससे इनकी रस-परिकल्पना ठीक से समझी जा सके

"सुरत नीवी-बध हेत प्रिय मानिनी,
प्रिया की भुजनि मे कलह मोहन रची।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत,
रोष हुकार गर्व दृग-भगि भामिनि लची।
कोक कोटिक रभसि रहसि हरिवश हित,
विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची।
प्रनय मय रसिक ललितादि लोचन चषक,
पिबत मकरद सुखराशि अतर सची॥"[4]

---

१ "लुलितनवलवगोदारकर्पूरपूर
प्रियतममुखचन्द्रोद्गीर्णताम्बूलखण्डम्।
घनपुलककपोला स्वादयन्ती मदास्ये-
पर्यंतु किमपि दासीवत्सला कर्हि राधा।" वही श्लो० १५५।

२ (क) "ईशानी च शची महासुखतनु शक्ति स्वतन्त्रा परा।" वही श्लो० ७८।
"ब्रह्मादिदुर्गमगते।" श्लो० ३६, "चरणारविन्द गोविन्दजीवनधन।" श्लो० २१।
"भगवत पूज्यैव कामीशता।" श्लो० ७८, "विद्या परा" श्लो० ६५। "ज्योतिः पर" ४०।
(ख) "श्रीहितहरिवश गोस्वामी सिद्धान्त खण्ड. पृ० १२५।
"राधामाधव में सब प्रकार से समान रस की स्थिति होते हुए भी श्रीराधा की प्रधानता प्रेम के क्षेत्र में प्रेमपात्र की स्वाभाविक प्रधानता को लेकर है।"

३ ध्रुवदास रसरत्नावली पद ५०।

४ हित-चौरासी श्रीहितहरिवश पद ५०।

"क्रीडत कुज कुटीर किसोर ।
कुसुम पुज रचि सेज हेज मिलि बिछुर न जानत भोर ।
स्याम काम-बस तोरि कचुकी, करजनि गहि कुच-कोर ।
स्यामा मुच-मुच कह, खडित गड अधर की ओर ।
नागर नीबी बधन मोचत चरन गहि करत निहोर ।
नागरि नेति नेति कहि करसौ कर पेलत गहि डोर ।
मत्त मिथुन मैथुन दोऊ प्रगटत वरबट जोबन-जोर ।
व्यास स्वामिनी की छवि निरखति भये सखि-लोचन चोर ।"[1]
"विपिन निर्तत रसिक रस-रासि ।
दपति अति आनद बस पेम-मत्त निश्शक क्रीडत ।
चचल कुण्डल कर चरण नैन लोल रतिरग ब्रीडत ।
झटकत पट, चुटकनि चटक, लटकत लट, मृदु हास ।
पटकत पद, उघटत सबद, भटकत भृकुटि विलास ।"[2]
"रूप की राशि किशोर किशोरी रगे रस-केलि निकुज विहारा ।
माते अनग-प्रवीन सबै, अग फूल सरीरहु ते सुकुमारा ।
बसौ उर नैननि मे दिन रैन, नशौ मन के जिते आहि विकारा ।
जाचत बात न और कछू ध्रुव देहु प्रिये रस-प्रेम की धारा ।"[3]
"मेरौ झूमत हथिया मद कौ ।
पिय हिय हिलग परी पग साकर मैमत अपने सदकौ ।
सुरत नदी मरजादा ढाहत मान गुमान मरजाद जलद कौ ।
नागरीदास बिनोद मोह मृदु आनद वर विहार बेहद कौ ।"[4]
"आजु प्रिया मुख की छवि देखत ह्वै गयौ मोहनलाल लटू ।
पलकै न लगै, उत नैन लगे, इत देह सभारति नाहि लटू ।
अब हाथ से छूटि गई मुरली, अरु आपहिं तै गयौ छूटि पटू ।
धाई प्रिया हिय लाय लये, कहे फूली कली, अली देखे भटू ।"[5]

हमारे आलोच्य काल मे तीन वाणीकार काव्य-दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है—श्रीहितहरिवश जी, ध्रुवदासजी और व्यासजी । व्यासजी सयोग के कलापूर्ण कवि है । उनमे आगामी रीतिकाल का स्वर पोषण पाता दिखायी पडता है । हितजी और ध्रुवदासजी की रस-परिकल्पना पर, मधुरता का पूर्ण आवेश होते हुए भी, सिद्धान्त-प्रतिपादन का एक अज्ञात भार रहता है । उनकी वाणी किसी लक्ष्य धर्म को ध्यान मे रखकर लिखी जाती प्रतीत होती है । फल यह हुआ है कि उनकी वाणियो मे सम्प्रदाय की निष्ठा स्वय उच्छलित है, जबकि व्यासजी आदि के लिए उसे याद रखना पडता है ।

---

१ श्रीहरिराम व्यास व्यासवाणी उत्तरार्द्ध . पद २८० पृ० ३८५ ।
२ श्रीदामोदरदास 'सेवकजी' सेवकवाणी प्रकरण ७ पद ७ ।
३. श्रीध्रुवदास भजनश्रृगार सत लीला तृतीय श्रृखला . ब्यालीसलीला . पृ० १०६ ।
४. श्रीनेही नागरीदास . डा० विजयेन्द्र स्नातक रा० व० स० पृ० ४८२ सकलित पद . स० १०
५. श्रीकल्याणपुजारीजी वही . सकलित पद पृ० ४८७ ।

काव्यशास्त्रीय स्थिति—यहाँ प्रश्न उठ सकता है—राधावल्लभीय इस मधुर-परिकल्पना की काव्यशास्त्रीय स्थिति क्या है ? सम्प्रदाय की दृष्टि मे तो यह रस विगलित-वेद्यान्तर, अखड, स्व-पर-भेद-शून्य, आत्म-क्रीड एव आत्म-रति है। यह एक उपास्य की मधुर-तम एव चरम उपलब्धि है। लौकिक रस एव काव्यरस इसके समकक्षी कदापि नही हो सकते। किन्तु यह दृष्टिकोण केवल उन्ही साधको के लिए स्वीकार किया जा सकता है जो सम्प्रदाय की पूरी भावनिष्ठा के अनुसार इस रस-तत्त्व मे गोते लगा सके। काव्य-सहृदय के लिए वैसी ही स्थिति सहज नही है।

काव्य-दृष्टि से इस रस का स्थायी भाव सहचरी-रति है। इस रति का रूप (Complex) विचित्र एव मिश्रित है। काव्यशास्त्र जिन भावो को स्थायी भाव कहता है उनको मनोविज्ञान की सहायता से समझा जा सकता है। उस भाव-भूमि का प्रकृत सम्बन्ध लोकानुभूति से होता है। किन्तु सहचरी रति को जिस रूप मे स्वीकार किया गया है, उस रूप मे वह लोक के लिए एक बौद्धिक चेतना है। उसकी सहजानुभूति उसे कभी नही हुई है, यदि हुई है तो केवल उस प्रमुख रूप की जिसे कि इस सहचरी-रति के विभाव-रूप मे चित्रित किया गया है। और वह है रति की अनुभूति। अत काव्य-शास्त्र मे इस भाव का वाचक कोई शब्द नही है। इसे 'सहचरी-रति' ही नाम दिया जाना उपयुक्त है।

जब काव्य मे वर्णित प्रधान भाव पाठक के लिए अनुयोगी नही होता तब वह तदात्म भी नही होता और उसकी विभाव-सामग्री को कवि के अभीष्ट रूप मे साधारणीकृत रूप मे भी ग्रहण नही करता। तब वह विभाव सामग्री कवि के अभीष्ट रूप मे नही, उसके सामान्य सस्कारो के अनुरूप उस पर भावात्मक प्रतिक्रिया डालती है, और वह पाठक या सामाजिक जिस स्तर के सस्कारो का व्यक्ति होता है, उसी प्रकार का प्रभाव छोडती है। इस सिद्धान्त के अनुरूप साम्प्रदायिक भाव-निष्ठा को अप्राप्त पाठक इस काव्य मे शृगारी प्रतिक्रिया ही पाता है, जन-सामान्य अनेक स्थलो पर विकृत प्रतिक्रिया। सम्प्रदाय के विद्वान् इसे पहले से ही जानते है, और इसीलिए पहले बिना सिद्धान्त निष्ठा दिये इस काव्य को ऐसे पाठकों से बचाना चाहते हैं।

काव्यशास्त्र की दृष्टि मे उक्त सहचरी रति का विभाव पक्ष राधा-कृष्ण-निष्ठ शृगार से खडा होता है। वृन्दावन जिसमे उद्दीपन के रूप मे है। जब सहचरी रति भी पद्य-स्थल मे साक्षात् रूप से प्रस्तुत नहीं होती तब तो उसके सामने राधा या कृष्ण ही सामान्य काव्य के नायिका-नायक के समान होते है और उन स्थलो की सामग्री की वही काव्य-शास्त्रीय स्थिति होती है जो सामान्य शृगारी काव्य मे होती है। नैतिक पाठक के लिए उन्मुक्त चित्रो मे औचित्य का ह्रास भी यत्र-तत्र सामने आ जाता है।[1]

राधावल्लभीय मधुर परिकल्पना और अन्य सम्प्रदाय

राधावल्लभीय मधुर-परिकल्पना की जिन विशेषताओ को विशेष रूप से इसी सम्प्रदाय का समझा जाता है वे भी समकालीन अन्य-सम्प्रदायी कवियो मे भी हमे उपलब्ध होती हैं।

१ गौर श्याम सहचरि विपिन सम्पति नित्य विहार।
चारनि के उर में लसत हित गुरु परम उदार।
उछरि लडावत तासु कौं, बूडि जात तिहि माहि।
विगलित वेद्यान्तर जु रस सो अखंड विलसाहि।
ऊर्ध्वगति है, आत्मक्रीड है, आत्मरति है।'' उद्धृत डा० स्नातक 'सुधर्मबोधिनी, लाडिलीदास पृ० २१।

सहचरी-भाव से निकुजरस का गान वल्लभ सम्प्रदाय के कवियो मे भी कुछ मिल जाता है। निम्बार्क सम्प्रदाय तथा हरिदासी सम्प्रदाय के कवियो की तो यह प्रमुख चेतना ही है। जैसा शुद्ध नित्यविहार राधावल्लभी सम्प्रदाय की भाव-साधना मे है वैसा ही हरिदासी भाव-साधना का भी लक्ष्य रहा है। इस साम्य को दो प्रकार से व्याख्यात किया जा सकता है—एक तो उन सब पर राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव मानकर, दूसरे उस युग की भक्ति-साधना का इन बातो को एक प्रचलित रूप मानकर। हम दूसरी बात मानते है। सम्प्रदाय के लोग पहली। अन्तर केवल यह रहा है कि किसी सम्प्रदाय ने इस भाव-साधना को प्रमुख रूप से अपनाया है, किसी ने गौण रूप से। अपने-अपने सम्प्रदाय की विशिष्ट धारणाओ के अनुरूप सहचरी भाव की भाव साधना के रूप मे भी अन्तर रहा है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय की मधुर-परिकल्पना मे तीन ऐसी बाते है जो इसकी अपनी विशेषताएँ समझी जाती है, जो इसी की अपनी मानी जाती है। वे है—राधा का कृष्ण से भी अधिक महत्त्व, राधा-कृष्ण प्रेम को सयोगात्मक मानते हुए भी समकालिक रूप से विरहात्मक मानना, तथा सहचरियो को राधा-कृष्ण तत्त्व से किसी प्रकार अभिन्न तत्त्व मानना। हरिदासी सम्प्रदाय मे भी ये बाते प्रमुख चेतना के ही रूप मे मिलती है, हम देख चुके हैं। ध्रुवदासजी ने जैसे सहचरियो को युगल की इच्छाशक्ति रूप माना है उसी प्रकार निम्बार्क-सम्प्रदायी श्रीहरिव्यासदेवजी ने महावाणी मे सहचरियो को इच्छाशक्ति बताया है।[1] राधा के महत्त्व को मुक्त कठ से गाया है। हरिदास-सम्प्रदायी श्रीविट्ठलविपुल-देवजी का यह पद इस दृष्टि से देखने योग्य है

"हमारे भाई स्यामजू कौ राज।
जाके अधीन सदाहि सावरौ या ब्रज कौ सिरताज।"[2]

शान्त भक्तिरस

सम्प्रदाय की प्रमुख चेतना नित्यविहार-रस की होते हुए भी कतिपय कवियो की वाणी मे शान्त रस की भी परिकल्पना मिलती है। श्रीहरिव्यासजी, श्री चतुर्भुजदासजी, श्रीकल्याणपुरी तथा श्रीध्रुवदासजी की कतिपय वाणियो मे शान्त रस मिलता है।

व्यासजी यद्यपि प्रमुखत सयोग के कवि है, तथापि उनकी साखियो मे तथा अनेक पदो मे ज्ञान, विवेक एव निर्वेद के द्वारा भगवद्रति की ओर झुकाव व्यक्त किया गया है। अनेक वाणियो मे स्वतन्त्र शान्तरस की भी कल्पना मिलती है।

मात्रा की दृष्टि से व्यासजी की शान्तरसमयी अनेक वाणियाँ है और सम्प्रदाय के अन्य कवियो की तुलना मे सर्वाधिक है। अभिव्यक्ति और अनुभूति की दृष्टि से भी व्यासजी के शान्तरस मे बडी सबलता है। उनकी वाणियो मे से शान्त-वृत्ति के अनेक प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है, कही स्वतन्त्र शान्त के, तो कही मन की शान्त-वृत्ति

---

१ प्रियाशक्ति आह्लादिनी प्रिय आनन्दसरूप।
तनु वृन्दावन जगमगे इच्छा सखी अनूप।
कोटिन कोटि समूह सुख रूख लिए इच्छाशक्ति।
प्राणेशसिह प्रमुदावहि प्रमदावली अनुरक्ति।" महावाणी सिद्धान्तसुख।

२ श्रीविट्ठलविपुलदेवजी निम्बार्कमाधुरी ' पृ० २३० पद ७६।

को किसी विशेष दिशा की ओर उन्मुख करते हुए जैसे कभी भगवान् के सौन्दर्य की ओर, कभी गुरु-चरणो की ओर, कभी सन्त-समागम की ओर, कभी वृन्दावन की ओर। इन सभी दिशाओ मे रति का कोई न कोई रूप मिलता है जो अनिवार्यत कान्तारति नही है। इन रतिरूपो के गुणीभूत होकर भी शान्त की झलक बडी मनोहर है। व्यासजी की वाणियो से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत है

"भक्ति बिनु मानुष तन खोवै क्यो सोवै, उठि जागु रे।
विषयाग्नि पर भागि उबरियै साधुनि सौ कीजै अनुराग रे।
देह गेह दारा सुख सपत्ति ज्यौ कोकिल सुत कागु रे।
लाज बडाई, गुन चतुराई जैसो फोकट फागु रे।
माया मोह जियत नहिं छूटै, जैसो दुमुँहा नागु रे।
लोक बडाई कौ सुख झूठौ बाजीगर कैसो बागु-रे।[1]"
"हरि बिनु सब सोभा सोभा-सी।
अजन-मजन पति बिनु सीठौ ज्या मटकै मसवासी।"[2]
"जरतु जग अपनै ही अभिमान।
लोभ लहरि तै भागि उबरियै रहियै हरि की आनि।
एकनि विद्या धन कुल कौ मद, एक गुनी गुन खान।
एक रहत जोबन मद माते एक जती तप दान।'[3]
"सबै सुख विमुखन कौ दुखरूप।
जहा न रसिक अनन्य सेईयतु वृन्दावन के भूप।
जहा न जीव दया न दीनता, भाव-भक्ति न अनूप।"[4]
"भगति बिन अगति जाहुगे बीर।
वेगि चितै हरि चरन सरन रहि छाडि विषै की भीर।
कामिनि कनक देखि जन भूलहु मन मे धरयतु धीर।
साधुन की सेवा करि लीजै जौ लगि जियत सरीर।"[5]
"मनहिं नचावै विषय वासना क्यो हिरदै हरि आवै।
हौ असमर्थ अनाथ मारयतु, पाचनि को समुझावै?"[6]
"व्यास कनक और कामिनी ये लाबी तरवारि।
निकसे हे हरि भजन कौ बीचहिं लीने मारि।"[7]
"व्यास विभौ के मीत सब अन्तकाल कोउ नाहिं।"
ताते तुम हरि कौ भजो यम न गहेगे बाह।"[8]

---

१ श्रीव्यासवाणी, पूर्वार्द्ध, पद २१०, पृ० १११।
२ वही, पद १८६, पृ० ९७।
३ वही, पद १९३, पृ० १०१।
४ वही, पद १९५, पृ० १०२।
५ वही, पूर्वार्द्ध, पद १५८, पृ० ८५।
६ वही, पद १९७, पृ० १०३।
७ वही, साखी २१, पृ० १५३।
८ वही, साखी २२, पृ० १५३।

कही-कही जुगुप्सा-व्यजक चित्रो द्वारा निर्वेद मे तीव्रता लायी गयी है

"जूठनि जे न भक्त की खात ।
जिनके मुख सूकर कूकर के भक्षि अभक्षि पोषत गात ।
जिनके वदन सदन नर्कनि के जे हरि-जननि घिनात ।
काम विवस कामिनि के पीवत अधरन लार चुचात ।
भोजन पर माखी मूतति ताहू रुचि सौ खात ।
भक्तनि कौ चरनोदक अचवत अभिमानी जरि जात ।
स्वपच भक्त कौ भोग ग्रहत हरि बाभन ताहि डरात ।
बाजदार की पाँति ब्याह मे जैवत विप्र बरात ।
भेटति सुतनि रेट मुख लागत सुख पावत जड तात ।
अपरस ह्वै भक्तनि छ्वै छुतिहा तेल सचैल न्हात ।"[1]

प्रस्तुत पद मे जगत् के आकर्षण-केन्द्रो के प्रति जुगुप्सा ही नही उभारी गयी है, भक्तो एव भक्ति के प्रति आकर्षण भी जगाया गया है । साथ ही कवि का उन व्यक्तियो के प्रति क्षोभ भी व्यजित हुआ है जो भक्तो के प्रति श्रद्धा रखने, उनका जूठन खाने आदि मे जाति-पाति, शुचिता पवित्रता आदि की बाते करते है । सब मिलाकर व्यासजी की वाणियो मे शान्तरस का परिपाक सबल एव प्रभावोत्पादक है । उसकी अनुभूति मे चोट करने की क्षमता है । अधिकाश शान्त-परक उक्तियाँ रति की अग होकर ही आयी है, और उनके शान्त को व्यापक अर्थ मे शान्तभक्तिरस का रूप प्रदान करती है ।

ध्रुवदासजी की कई रचनाओ मे शान्तभक्ति की झलक मिलती है । ध्रुवदासजी का शान्त मोटे तौर पर भगवद्रति का साधन है । प्रेममय भगवान् की ओर अनन्यता से लग जाने के लिए ससार की ओर से मुँह मोडना भी अनिवार्य है । जीवदशालीला, वैद्यक ज्ञान, मनशिक्षा, वृन्दावन सत, ख्याल हुलास भजन सत, मे शान्त की सुन्दर झलके मिलती है । भजनसत की ये साखियाँ शान्त मे डूबी हुई है

'विषया जल मे मीन ज्यो करत कलोल अग्यान ।
नहि जानत ढिग काल बक रह्यौ ताकि धरि ध्यान ।।
निशि वासर कर कतरनी लिये काल कर बाहि ।
कागद सम भई आयु हो, छिन-छिन कतरत ताहि ।"
पुरुष सोई जो पुरीष सम छाडि भजै ससार ।
विपिन भजन गहि हृदै दृढ तजि कुटुब परिवार ।।"[2]

ध्रुवदासजी का शान्त सिद्धान्त-निरूपण के प्रसग मे पड जाने के कारण उतनी गहरी अनुभूति नही दे पाता जितनी कि व्यासजी का शान्त देता है । व्यासजी की शान्त की परिकल्पना मे स्वानुभूति का गहरा योग है और यही कारण है कि उनकी अभिव्यक्तियाँ भक्ति को गहरी अनुभूति देती है । ध्रुवदासजी सिद्धान्तत शान्त को मधुर भावना से नीची कोटि का और मधुर उपासना की प्रारम्भिक सीढी के रूप मे ही समझते है

१. श्रीव्यासवाणी, पूर्वार्द्ध, पद १६५, पृ० ८८ ।

२. भजनसतलीला, ब्यालीसलीला, दो० १०५, १०७, ११०, पृ० ७७ ।

"ज्ञान शात रस ते अधिक अद्भुत पदवी दास।
सखा भाव तिन ते अधिक जिनके प्रीति प्रकास।
अद्भुत बाल चरित्र को जो जसुदा सुख लेत।
ताते अधिक किशोर रस ब्रज वनितनि के हेत।
सर्वोपरि है मधुर रस जुगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवत तिनहिं मिटत न कबहु हुलास।"[1]

चतुर्भुजदासजी और कल्याणपुरीजी मे भी कही-कही शान्ति की सुन्दर झलक मिलती है।[2] वस्तुत हमारे आलोच्य काल के राधावल्लभी कवियो मे मधुरोपासना ही एक रस-परिकल्पना का रूप रही है। केवल व्यासजी मे रस-परिकल्पना के नाते शान्त कहा जा सकता है। व्यासजी ने ही शान्त की अनुभूति मे डूबकर कुछ रचना इस रस की, की है। अन्यो द्वारा शान्त एक रस-परिकल्पना के रूप मे नही, भक्ति-मार्ग की सामान्य चेतना के रूप मे आया हुआ प्रतीत होता है।

चैतन्य-सम्प्रदायी हिन्दी काव्य मे रस-परिकल्पना

पीछे 'भक्तिकाव्यशास्त्र मे रस' शीर्षक अध्याय मे हम चैतन्य सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक रस-परिकल्पना देख चुके हैं। इस सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना आज भी सैद्धान्तिक रूप से उसी रूप मे मान्य है जिस रूप मे इस सम्प्रदाय के विज्ञ रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी भक्त-आचार्यो ने अपने इन ग्रथो मे निरूपित की है। अत यहाँ हमे यह आवश्यक नही रह जाता कि हम उसके सैद्धान्तिक पक्ष पर फिर से कुछ कहे। यहाँ इस सम्प्रदाय के हिन्दी काव्य मे उस रस-परिकल्पना का व्यावहारिक स्वरूप भर देखना है।

साहित्य—चैतन्य सम्प्रदाय का अधिकाश साहित्य सस्कृत और बगला मे है। हिन्दी का साहित्य मात्रा और महत्त्व की दृष्टि से उस काल के साहित्य मे अपना कोई विशिष्ट स्थान नही रखता। इधर अनेक कवियो के नाम इस सम्प्रदाय की छाया मे सामने आये है, उनकी रचनाएँ भी धीरे-धीरे प्रकाश मे आ रही है। पर ऐसा कोई विशिष्ट रचनाकार या कोई विशिष्ट ग्रथ सामने नही आया जो हिन्दी वैष्णव साहित्य मे चैतन्य सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना की महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा जमा सके।

हमारे आलोच्यकाल मे इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत रचना करने वाले कुछ उल्लेखनीय

---

१ भजनाष्टकलीला, १-३, व्यालीसलीला, पृ० ६३।

२. "माया कौ फल गृह सुत जाया। सब ससार धूरि सी छाया।
बाजीगर की सी सब चौंधी। तन की गति चपला सी कौंधी।"
"अब ही आनि बिचारिये जू।
पुत्र कलत्र सजन सुपनें सों जागे तैं कछु न निहारियै जू।"
"अजहू तजि रे घर कू भरुआ करुपा गहिकें न चलै वन को।
सिर सेत भयौ गयौ खोखरि है समुझावत क्यों नहि या मन को?"
रा० व० स० सि० सा०, पृ० ४२३, ४२२, ४८५ क्रमश, चतुर्भुजदास तथा कल्याणपुजारी से।

कवियो मे ये नाम आते है—श्रीमाधवनाथ जगन्नाथी, श्रीरामरायजी, श्रीसूरदास मदनमोहन, श्रीगदाधर भट्ट, श्रीचन्द्रगोपाल, श्रीभगवानदास, श्रीराधिकानाथ, श्रीरसिकमोहन, श्रीमाधुरीजी, श्रीकृष्णदास, श्रीभगवतमुदित। इनमे से श्रीमाधवनाथ जगन्नाथी और रामरायजी के सम्बन्ध मे वल्लभ सम्प्रदाय का नाम भी लिया जाता है। चैतन्य सम्प्रदाय तथा मध्व सम्प्रदाय के कवि भी अलग-अलग नही किये जा सकते। समान नाम के कवि दूसरे सम्प्रदायो के अन्तर्गत भी हुए है, और एक-दूसरे के पद भी मिले हुए चले आ रहे है। इस प्रकार जो भी थोडा-सा साहित्य आज इस सम्प्रदाय के कहे जाने वाले कवियो का मिलता है, वह शोध और अपेक्षित प्रमाणो की प्रतीक्षा मे है।

रस-परिकल्पना—जहाँ तक इस काव्य मे रस-परिकल्पना का सम्बन्ध है, इसमे कोई ऐसा रूढ साम्प्रदायिक भाव-चित्रण प्राय नही मिलता जिसके आधार पर इसे शुद्ध चैतन्य सम्प्रदायी कहा जा सके। केवल एक बात अवश्य है। अन्य सम्प्रदायो के समान इस सम्प्रदाय के भी कुछ कवियो ने अपने सम्प्रदाय-गुरु श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रति भाव-सुमन प्रस्तुत किये है। यो तो अन्य सम्प्रदाय के लोग भी अपने सम्प्रदाय-गुरुओ को भगवद्रूप मानकर उनके गीत गाते है, किन्तु महाप्रभु गौराग को तो उनके जीवन काल मे ही भावुक जनता के बीच अवतार के रूप मे स्वीकृत कर लिया गया था। महाप्रभु-गौराग-विषयक रति सम्बन्धी पदो को छोडकर उपर्युक्त कवियो की वाणियो मे ऐसी विशेष कोई बात नही मिलती जिससे इस काव्य की रस-परिकल्पना को अलग से छाँटकर चैतन्य-सम्प्रदायी कहा जा सके।

इस काव्य मे सामान्यत सिद्धान्त-निरूपण कम हुआ है। सिद्धान्त-निरूपण का कार्य सस्कृत और बगला मे रहा, हिन्दी मे इस काम को बहुत कम ही लोगो ने उठाया। गौराग विषयक रति[1] एव भक्तिमहत्त्व[2] के विषय मे कतिपय वाणियाँ मिलती है। शेष काव्य कृष्ण लीला का है। रस दृष्टि से उसे शान्त रति, वात्सल्य और मधुर का

---

१ "श्रीचैतन्य दयानिधि धीर।
कलिकालीन मलीन दीन जन, पावन करन परम गभीर।"

आनन्दघन, चैतन्यमत और व्रजसाहित्य, पृ० १४०।

"करहु हे गौर-चद स्नान।
सीतल जल निर्मल सों सुन्दर, सर्वस कृपानिधान।" चन्द्रगोपालकृत अष्टयाम, वही, पृ० १६५।
"श्रीगौराग प्रान आधार।
षोडस कला पूर्न पुरुषोत्तम, प्रगट भये नदिया रस-धार।" राधिकानाथ, वही, पृ० १७६।
"श्रीकृष्ण चैतन्य जै जै बिहारी।
नागरी रूप-गुनागरी विधि सबै, भाग री भक्ति कौ दयाकारी।"

भगवतमुदित, वृन्दावनशतक, वही, पृ० २१०।

२. "भज मन नदनदन चरन।
विजय पजर पोत पद भवसिन्धु तारन-तरन।
जिन भजे तैं अटल टरे मिटे जीवन-मरन।
श्रीजगन्नाथ अनाथ बधु विश्व-पोषन-भरन।
'दास माधव' हरि-भजन तें सोध अन्त करन।" श्रीमाधव जगन्नाथी, वही, पृ० १३८।

कहा जा सकता है। इसमे प्रधानता मधुर की ही है। धाम रति के रूप मे भी कुछ रचना है।[1]

शान्त भक्तिरस

मात्रा मे शान्ता रति की परिकल्पना कम ही है। चैतन्य सम्प्रदाय भी मूलत रसोपासक सम्प्रदाय है, अत इसकी रसपरिकल्पना मे भी शान्त के लिए अवकाश कम ही रहा है। फिर भी यत्र-तत्र उसकी झलक मिलती है। यह शान्त स्वतन्त्र नही, कभी साधारणी कृष्णरति का अग है, कभी मधुरा रति का। इस प्रकार के पदो मे ही शान्त कुछ स्वतन्त्र कहा जा सकता है

"भोग के भोग मे रोग करै, सब जोग डरे बिन बात बुलाये।
सोक कौ सोक गयौ सो भयौ पुनि आयौ न हर्ष-मुखाम्बुज पाये।
राजा के राजा भये बिन ताज समाज के मुख्य भये सुख छाये।
एक प्रताप है त्याग कौ तीरथ कौन नही जाको जो ललचाये॥[2]

विष्णुदासजी का यह पद्य शान्त को युगलरति के अगरूप मे प्रस्तुत करता है

"काम तजो, धन-धाम तजो, गृह-गाम तजो, मनि-दीप अटारी।
लाज तजो, कुल-काज तजो, वनराज के साज-समाज सुखारी।
धाम तजो, सुत-माय तजो, निज भाय तजो जो रजोगुन धारी।
'विष्णु' सबै तजियै, भजियै गुरु राधिका-माधव प्रीतम-प्यारी॥[3]

---

१ "पाच तत्त्व त्रिभुवन विर्मैं जो तू जान्यौ चाह।
तौ निस्चै राधा प्रिया बन गयौ साहसाह॥
प्रथम तत्त्व श्री वृन्दावन धाम।
दूजें श्रीगोवर्द्धन गिरिवर सोभा हिय लोभा अभिराम।
तीजौ तत्त्व दीनजन-जीवन श्रीजमनाजी ललित ललाम।
चौथौ श्रीराधा माधवजू, यावत जहा जीव विश्राम।
पचम श्रीजयदेव महाप्रभु, गीतगोविन्द गान निष्काम।
श्रीराधाप्रिया पाच के जानें है गयौ साहसाह सुनाम।" राधिकानाथ, महावाणी, वही, पृ० १७७।
"मेरौ एक श्रीवृन्दावन विपिन सहाौ।" पद २।
"श्रीजमनाजी मेरे व्रत एक।" पद ६।
"श्रीगोवर्द्धन सब गुन खान।" पद १०, वही, पृ० १७६-७८।
"श्रीराधाकुड की बलि जैयै।" पद ११।
"तीरथ तरि जात सब पूर्वज विना ही तप,
बस में तै एक हू जो पावैं व्रजवास है।" तीर्थराम, वही, व्रजवास, पृ० १८७।
"वृन्दावन की बात कछु कहत बनैं नहि बैन।
नैन समाने विपिन में विपिन समाने नैन।" माधुरी, वृन्दावनमाधुरी, वही, पृ० २०२।

२. तीर्थराम चैतन्यमत और ब्रज साहित्य पृ० १८६।

३ विष्णुदास वही, पृ० १७३।

रसिक भक्तो की दृष्टि मे शान्ता रति का स्थान भक्ति-मार्ग मे सबसे छोटा होता है। यही दृष्टि सामान्यत चैतन्य सम्प्रदायी हिन्दी कवियो की भी सम्भवत रही है।

वात्सल्य रस

चैतन्य-सम्प्रदायी हिन्दी कवि निकुज लीला तक ही परिसीमित न रहकर व्रजलीला का गान भी करते है, अत कुछ कवियो ने किशोरलीला के अतिरिक्त बाल-लीला के भी कुछ पद्य लिखे है। इनमे कृष्ण-राधा की बधाई, बाल क्रीडा एव यशोदा की मातृ-कामनाएँ प्रमुख है। इस दृग्टि से सूरदास मदनमोहनजी का नाम उल्लेखनीय है। उनकी वाणी विषय एव भाव के अनुरूप शब्द-चयन मे भी कुशल है

"झनक-मनक तनक से छगना।
नैन्ही-नैन्ही सोहै दूध की दतिया।
किलकि किलकि लागै छतियाँ,
रज झारत रिझिपगना।
गोद लिये दुलरावै, खिलावै, कठ सोहै सुभ बघना।
श्रीसूरदास मदनमोहन सग लागी-लागी डोलै।
लाल घुटुरुवन चलत री अगना।"[1]
"जसोदा मैया लाल कौ झुलावै।
आछे बारे कान्ह कौं हुलरावै।
कनिया-कनिया अइया-अइया यौ कहि लाड लडावै।
उलुलुलु हुलुलुलु, हा-हा हा-हा कहि गोद लिये खिलावै।
दोउ कर पकर जसोदा रानी ठुमकी पाव धरावै।
घननन घननन घुघरू बाजै, झाँझरिया झमकावै।
'सूरदास मदनमोहन' को याही भाति रिझावै।
म म म म पप् पप् पप् पप् चच् चच् चच् चच् ता ता थेई,
या विधि लाड लडावै।"[2]

चैतन्य सम्प्रदायी कवियो मे वात्सल्य-परिकल्पना जैसी सूरदास मदनमोहन मे मिलती है वैसी सम्प्रदाय के अन्य कवियो मे नही मिलती। पर उनके भी इस भाव के पद इने-गिने ही है।

दास्य भक्ति

महत्त्व-चेतनापूर्वक दास्यरति भी इस काव्य मे सामान्यत नही मिलती। हाँ, धामरति, गौराग-रति और गुरु-रति के अग-रूप मे दास्य-चेतना के अवश्य कही कही दर्शन होते है। उनमे भक्त अवश्य अपने लघुत्व या आराध्य के महत्त्व की चेतना लेकर चलता दिखायी पडता है। कुछ उदाहरण इस दृष्टि से देखे जा सकते है

१ श्रीसूरदास मदनमोहनजी की वाणी पृ० ६, पद १२।
२ सूरदास मदनमोहनजी की वाणी • पद १४।

(क) "रसिक आद्य आचार्य वर महाप्रभु श्रीजयदेव।
प्रगट कियौ निज वस जहॉ श्रीराधा-माधव सेव॥
श्रीराधा-माधव सेव देव-देवन ने मॉगी।
सहज मिली सो आय पाय सेवक अनुरागी।
श्रीप्रभु चन्द्रगोपाल गुरु करुना करि दीनी चसिक।
श्रीवृन्दावन धाम बसि पाये ऐसे गुरु रसिक।"[1]

(ख) "श्री प्रभुचद्रगोपाल लाल पद मेटत बाधा।
'रसिक मोहन' के सेव्य प्रान माधव श्री राधा।"[2]

(ग) "अधम पति-सिरमौर विषय-लपट खल अतिहि जुआरी।
परनिन्दा परदोष खुनस जिद रहत है नित्य खुमारी।
श्रीभगवत इहि विधि सब दोषन भर्यौ वृन्दावन बसि धन हरत।
देखि अति प्रभाव वृन्दाविपिन सु मत्त-प्रेम ताँहू करत।"[3]

सख्य भक्तिरस

प्राप्त साहित्य मे सख्य भक्ति की परिकल्पना भी नही मिलती। सख्य सामान्यत सहचरी भाव के अग रूप मे ही उपलब्ध होता है।

मधुर भक्तिरस

हम कह चुके है कि इस काव्य की प्रमुख रस परिकल्पना शृगार की है। इसमे किशोर राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओ के ही चित्र प्रमुख है। इनमे व्रज-सम्बन्धी दान-लीला, रास, होली आदि के भी चित्र है, और निकुज-गत शुद्ध नित्य-विहार के भी। यो सयोग और वियोग दोनो का वर्णन हुआ है किन्तु प्रधानता सयोग की ही है।

हमने पीछे सकेत किया है कि यदि इस काव्य के कवियो द्वारा श्रीचैतन्य की स्तुतियो वाली बात सामने से हटा दी जाय तो इनके मधुर-चित्रण मे ऐसी कोई विशेष बात सामान्यत नही मिलती जिसके आधार पर इस काव्य को एकान्तत चैतन्य सम्प्रदाय मे सम्बद्ध किया जा सके।

मधुर-भावना के सम्बन्ध मे चैतन्य-सम्प्रदायी रस-परिकल्पना की दो उल्लेखनीय विशेषताएँ है—एक तो राधा की परकीयता, दूसरे वियोग का महत्त्व। प्रगट लीला की राधा ही क्यो, समूचा गोपी-प्रेम चैतन्य सम्प्रदाय की दृष्टि मे परकीया-प्रेम है। रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी ने बडे ऊहापोह के साथ प्रेम की घनता एव आवेश के हेतु परकीयात्व का समर्थन किया है, यह हम 'भक्तिकाव्यशास्त्र मे रस' नामक अध्याय मे देख चुके है। जहा तक विरह का सम्बन्ध है, दो बाते ध्यान देने योग्य है। एक तो इन गोस्वामी आचार्यो ने विरह को सैद्धान्तिक महत्त्व प्रदान किया है, दूसरे हम जानते है कि श्री चैतन्य महाप्रभु

---

१ चैतन्यमत और व्रजसाहि० रसिकमोहनराय पृ० १८८, पद १।

२ वही, पद २ रसिकमोहनराय।

३ भगवतमुदित वही, पृ० २११, पद ३५।

अपनी कीर्तन-मडलियो मे कितने विरह-मग्न होकर प्रेम-गान करते-करते रो निकलते थे, मूर्छित हो जाते थे। उनकी इस विरहानुभूति ने चैतन्य सम्प्रदायी भक्ति मे विरह को व्यावहारिक महत्त्व प्रदान कर दिया था। प्रस्तुत काव्य मे ये दोनो विशेषताएँ उस मात्रा मे नही झलक पाती जिस रूप मे एक सम्प्रदाय-विशेष का काव्य कहलाने के लिए झलकनी चाहिए थी।

परकीयात्व—इन कवियो की वाणियो मे परकीयात्व उसी सामान्य मात्रा मे उभर-कर आया है जिस सामान्य मात्रा मे सूर आदि वल्लभ सम्प्रदायी कवियो मे उभर आता है। वल्लभादि सम्प्रदायो मे राधा को स्वकीया माना गया है, तथा परकीया प्रेम को अवाछित ठहराया गया है। फिर भी, श्रीमद्भागवत के रासादि प्रसगो को महत्त्व देकर सामने रखने के कारण गोपी प्रेम मे परकीयात्व ही झलक उठता है। राधा के परकीयात्व को सिद्धान्तत बचाने के लिए उन्होने प्राय रासादि के प्रसगो मे राधा-कृष्ण के विवाह की योजना की है, और यत्र-तत्र उनके दाम्पत्य का उल्लेख किया है। इन चैतन्य-सम्प्रदायी कवियो की वाणियो मे भी वैसी ही स्थिति हमे मिलती है। राधा-कृष्ण के या गोपी-कृष्ण के प्रेम-प्रसगो मे जहा परकीयात्व झलका है, उसे बचाया नही गया, पर सप्रयास उसे लाया भी नही गया। इसके विपरीत कई कवि तो राधा के विवाह और दाम्पत्य की भी योजना-चर्चा करते हुए चलते हैं

सूरदास मदनमोहन—

"दूलह मदन गोपाल, राधा नव दुलही।"[1]
'श्रीसूरदाम मदनमोहन **दपति** बतरात जात कामरस भोरै।"[2]
"देवी पूत-नद **पति** मेरै। जो पै होई अनुग्रह तेरै।"[3]

निम्न पद मे उन्होने एक प्रकृति-रूपक मे राधा-कृष्ण का विवाह रचाया है

"मधुरितु जो इच्छा वर कियौ स्याम कौ,
ताकौ देखन कौ पठई प्रथम चतुर पिक अली।
रीझे मदन मोहन सग सोहन नवल जाइ कह्यौ।
जैसौ देख्यौ नैनन तैसी बाढी अबला बल्ली लली।
सु नक्षत्र पडित लगन धरी श्रीपचमी सगाई आई,
मोर-वधू रूपवारी, वन उपवन द्रुम।
नव पल्लव वस्त्र पहिरि चली।
आगौनी कारन भवर गुजार नाद सुनि।
पुहुप वाटिका सखी प्रफुलित आनन कमल कली,
उठि चलि वेगि मिलि श्रीसूरदास मदनमोहन,
सीतल मद सुगध पवन चली।"[4]

---

१ श्रीसूरदास मदनमोहनजी की वाणी, पद २५।
२ वही, पद ९९।
३ वही, पद १०१।
४ वही, पद ७७।

श्रीमाधुरीजी—

"माधुरी लता मे अति मधुर विलामन की,
मधुकर आनि लपटानी सब सखिया।
दुलहिन दूलह के फूल के विलास कछू,
बास लै लै जीवति है जैमै मधु मखिया।"[१]

इस सम्प्रदाय मे गिने जाने वाले एकाधिक कवियो का सम्बन्ध अन्य सम्प्रदाय भी अपने से जोडते है। सूरदास मदनमोहन के पद अन्य कई सम्प्रदायो की कीतन-पोथियो मे पहले से सकलित है, और आज भी उनके मदिरो मे गाये जाते है।[२] श्रीरामरायजी को वल्लभ सम्प्रदाय वाले दो सौ वैष्णवन की वार्ता के उल्लेख के आधार पर अपना कहते है।[३] अन्य कई कवियो के विषय मे भी ऐसी ही स्थिति है। श्री भगवत मुदित जी तो कई-कई सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यो के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हे

"श्रीकृष्ण चैतन्य जै जै बिहारी।"[४]
"जै जै श्री हरिवश हस हित-कोविद बानी।"[५]
"श्री सत्य सनातन रूप जै नाना आरति मन हरन।
जै श्री हरिदास अनन्य जै, श्री कुजबिहारी हित करन।"[६]

ये सब बाते बताती है कि इनमे से अधिकाश कवि कट्टर माम्प्रदायिक लोग नही थे और व्रज के वातावरण मे, वृन्दावन की भूमि मे, उम काल मे घुली मधुर-भावना के सामान्यतया प्रचलित रूप से ही प्रभावित थे। वे भक्ति के इस मधुर रूप की मधुरता मे अपने को बहाने मे ही अपनी सार्थकता समझते थे, सम्प्रदाय की रूढियो और अतिवाद की ओर उनका ध्यान नही था। इसका सम्भवत यह भी कारण हो सकता है कि चैतन्य सम्प्रदाय की गद्दियो की प्रभुता सामान्यत इन लोगो के हाथ मे नही रही, और अन्य सम्प्रदायो के गद्दी-आचार्य के समान वे साम्प्रदायिक अतिवाद के लिए रस-परिकल्पना के क्षेत्र मे बाधित नही हुए।

सयोग भावना

इन चैतन्य-सम्प्रदायी हिन्दी कवियो की रचनाओ मे विरह की अपेक्षा सयोग मुखर रहा है। अधिकाश मे निकुज-रस का गान है। मोटे तौर पर वे ही निकुज, वे ही नित्य मिलित राधा और कृष्ण, वे ही सेवा और सख्य-मयी सहचरिया, राधा और कृष्ण का वैसा ही नित्य नूतन अजस्रप्रवाही सौन्दर्य एव काम-विलास, वैसा ही सहचरियो का तत्सुखसुखित्व-पूर्ण सेवा-परायण दर्शन सौख्य, जैसा कि हम निम्बार्की, हरिदासी और राधा-वल्लभी काव्य मे देख चुके है। हा, यहा परकीयात्व की स्वीकृति के कारण खडिताओ के

---

१ माधुरी चैतन्य मत और व्रज साहित्य, पृ० २०३, पद दानमाधुरी से।

२ चैतन्य मत और व्रज साहित्य, पृ० १५२।

३ वही, पृ० १४१।

४ वही, भगवत मुदित, पृ० २१०, पद १।

५ वही, पद ३।

६ वही, पद ३।

चित्र कुछ अधिक उभरे हुए है, कृष्ण की मधुकरी वृत्ति का सौन्दर्य कुछ विशेष है। वैसे यह झलक वल्लभी काव्य मे भी कम नही है।

यो उन्मुक्त शृगार के भी कुछ चित्र है, पर यह उल्लेखनीय है कि अन्य सम्प्रदायो के निकुज रस की तुलना मे इन कवियो के चित्र अधिक सयत है। सूरदास मदनमोहन के चित्रो मे सभोग कुछ उभरा हुआ है

"चलौ किन देखत कुज कुटी।
सुरत सेज पै लरति अगना मुक्ता माल टूटी।
उरज ते कचुकि चुरकुट भई, कटि-तट ग्रथि हटी।"[१]

सामान्यत कवियो ने नित्य विहार को अप्रस्तुतो के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उस समय की भक्ति-भावना ने किसी भी उन्मुक्त चित्र पर किसी प्रकार की रोक नही लगायी थी, और इन कवियो पर भी रोक न थी। सूरदास मदन मोहन, रामराय और चन्द्रगोपालजी के सुरतान्त चित्र अत्यन्त मनोहर है। रामरायजी का एक सुरतान्त चित्र प्रस्तुत है

"आजु किसोरी लेत हिलोर।
नैक समात न ह्रिये रसिकिनी मिली जु नवल किसोर।
सिर सीमत कुसुम लट अटपट, विकिरत चारो ओर।
अरुन नैन आलस बस विथकित, पीक कपोल अथोर।
सुरति रग मे रगी रगीली, लूटे निज चितचोर।
डगमगात पग धरत गहि लई रामराय पट छोर।"[२]

सुरतान्त-चित्रण मे सूरदासजी ने नवीन कल्पनाओ की भी योजना की है। "राधा के नयन मिलन के उपरान्त झुक गये है—लगता है, भीगे हुए मधुकर है, जिन पर उडा नही जाता।"[3] "कृष्ण के नेत्र एक सखी के शब्दो मे इसलिए ऊपर नही उठते कि या तो उन्होने किसी अन्य के न देखने का ही व्रत लिया हुआ है या फिर पलको मे प्यारी को बसा लिया है, और उसके भार से ऊपर को उठते ही नही।"[४] अभी-अभी कुछ पहले जो कृष्ण व्याकुल हो रहे थे, मिलनोपरान्त उनकी व्याकुलता इस प्रकार शान्त हो गयी है जैसे काँसे के बर्तन की चोट से निकलती हुई ठनक हाथ से छू देने से एक दम शान्त हो जाती है।"[५]

श्रीमाधुरीजी का सहचरीभाव से यह रन्ध्र-दर्शन है

"नव केसरि के कुज अनूपा। नव किसोर दोउ सुखद सरूपा।
रजनी सेष रह्यौ जब आई। तब सजनी बैठी अकुलाई।
अपनी सौज सबै कर लीये। झाकत नैन झरोखे दीये।"[६]

---

१ श्री सूर० मदन० की वाणी, पद ३८।

२ चैतन्य मत और व्र० सा० पृ० १४६, रामरायजी।

३, ४, ५ श्रीसूरदास मदनमोहनजी की वाणी, पद स० क्रमश ४०, ४४, ५४।

६ श्रीमाधुरीजी केलिमाधुरी चैतन्य मत और व्रज साहित्य पृ० २०२।

श्री राधिकानाथजी का तो व्रत ही नित्यविहार-गान है

"एक नियम व्रत एक है, एक मेरे आधार।
श्रीजमना जल पीवनौ, निरखन नित्यविहार।।"[1]

श्रीहितहरिवंशजी से प्रभावित श्रीभगवत मुदितजी महारानी राधा के गुण-गायक है

"मेरी प्यारी राधा महारानी।
जाके बल मै सब सो तोरी लोकलाज कुल कानी।
प्रान-जीवन-धन लाला विहारन, वार पिउ तित पानी।
भगवत मुदितन कौ मनमोहन टहल भई मनमानी।"[2]

वियोग—विरह का चित्रण सामान्यत कम है। यो श्रीचन्द्रगोपालजी की 'राधाविरह' और श्रीमाधुरीजी की 'उत्कण्ठा-माधुरी' तथा 'मान-माधुरी' को विरह-रचना कहा जा सकता है। कतिपय स्फुट पद भी विरह से सम्बद्ध है। उत्कण्ठा एव हृदय की वेदना व्यक्त करने वाले विरह की अपेक्षा मान और खण्डितात्व के चित्र प्रधान है। माधुरीजी की उत्कण्ठा-माधुरी मे अवश्य विवृत वेदना की झलक मिलती है

"रोम-रोम तन जो उठै, बरि-बरि उठै सरीर।
कब छिरकौगे आनि कै कृपा कटाच्छनि नीर।।"
"एक बार तौ आय कै नैनन ही मिलि जाउ।
मौह तुम्हे जो सावरे नैक न दरस दिखाउ।"
"नैन दुखी तुव दरस बिन देत छिनहि छिन रोय।
नैनन के दुख हरन कौ तुम बिन नाहिन कोय।।"[3]

श्रीमाधुरीजी ने 'मान-माधुरी' मे मान का सैद्धान्तिक महत्त्व प्रतिपादित किया है। सयोग-रस की गहरी अनुभूति के लिए मान अपेक्षित है

"बिन सनेह नही मान, मान बिना न सनेह कछु।
जैसे रस-मिष्ठान्न नोन सहित रोचक अधिक।।
जैसौ जहा सनेह, मान तहा तैसौ बनै।
ज्यौ बरसै नित मेह सोख न सूर प्रकास बिन।।
मिस्री मान समान, छूवत कर लागत कठिन।
जब कीजै रस-पान, तब जानै रसना सरस।।"[4]

चन्द्रगोपालजी के अरिल्ल छदो में लिखे 'राधाविरह' मे विरह-वेदना को विस्तार नही मिल पाया। मदनमोहन 'सूरदास' के मान मे सखियो द्वारा मान-मनौती, एव हार कर स्वय कृष्ण को ही मनाने के लिए ले जाना अधिक वर्णित है। उनके विरह-चित्रो मे कही-कही परवर्ती रीतिकाल के स्वर गर्भित है

"ससकि-ससकि रही मोरनि की कूक सुनि,
अजहूँ न आये पिया मुरझानी मन मे।

१ राधिकानाथ, वही, पृ० १७७।
२ भगवदमुदित, स्फुट पद १ वही, पृ० २१२।
३ उत्कठामाधुरी श्रीमाधुरीजी, वही, पृ० १६६।
४ चैतन्य मत और व्रज साहित्य, पृ० २०४।

चहुँ ओर बादर तबुआ से छाय रहे,
पावस कौ पेसखानौ आन पर्‌यौ बन मे ।
बालम बिदेस-देस, कैसे राखू बाल बेस,
कोकिला की कूक सुनि हूक उठै तन मे ।
सूरदास मदनमोहन बिन दुख पावै बाम ।
काम करै टूक-टूक सूर जैसे रन मे ॥"[1]

सूरदास मदनमोहनजी का यह चित्र स्थूल कोटि का विरह है, जिसमे प्रिय देश-विदेश चले गए है, प्रकृति के रूढ पदार्थ उद्दीपन दे रहे है। यहा प्रिय 'बालम' भी बन गये है।

चैतन्य सम्प्रदाय की व्यावहारिक भक्ति मे जो विरह की अनुभूति उस काल के उच्च कोटि के भक्त कर रहे थे, उसका प्रकाशन इस काव्य मे श्रीमाधुरीजी की वाणी को छोड अन्यत्र नही मिलता।

इस प्रकार हम देखते है कि चैतन्यसम्प्रदायी मधुर-परिकल्पना का रूप गहरी मात्रा मे चैतन्यीय नही है। उसे सामान्य रूप से उस काल मे वृन्दावन के वातावरण मे घुली हुई मधुर-चेतना की भावात्मक प्रतिक्रिया भर कहा जा सकता है। फिर भी, उसमे मधुरता पर्याप्त मात्रा मे है।

मीराँ के काव्य मे रस-परिकल्पना

मीरा के पदो के आज अनेक सकलन मिलते है, हिन्दी मे भी, गुजराती मे भी, बगला मे भी। पर उनमे निहित सभी सामग्री मौलिक है—इस विषय मे विद्वानो को सदेह है। वस्तुत मीरा के नाम से अनेक पद प्रचलित होते रहे है, उन मे हेर-फेर होती रही है। अन्य कवियो के पदो से पक्तिया, पदावली और पद्याश मीरा के पदो मे मिलते रहे है। अत जो भी विचार-धारा या रस-परिकल्पना इन उपलब्ध पदो मे मिलती है, उसका मौलिक सम्बन्ध मीरा से है, इसमे तब तक कोई निश्चित बात नही कही जा सकती जब तक कि पूर्ण वैज्ञानिक शोध एव ठोस प्रमाणो के आधार पर मीरा की मूल सामग्री छाट कर अलग न की जा सके।

मीरा के नाम से प्रचलित पदो मे तीन प्रकार की विचार-धाराए मिलती है—एक तो कृष्ण-प्रेम के सगुण भक्ति के पद है, दूसरे निर्गुण-प्रेम के कबीर आदि सतो से मिलते-जुलते पद है, तीसरे कुछ ऐसे भी पद है जिनमे त्रिकुटी ऊपर सेज पिया की और सुन्न महल की चर्चा है, इन पदो मे हठयोगी साधना की बाते आ जाती है। हठयोगी प्रक्रिया-योग की चर्चाओं को हम यह मान सकते है कि वे कदाचित् सन्तो के माध्यम से मीरा मे आयी। इस प्रकार मीरा की रस-परिकल्पना का सम्बन्ध दो परस्पर ऐसी धाराओ से जुडता है जिनमे ऊपरी ताल-मेल नही है। अनेक विद्वान् सगुण प्रेम के पदो को ही मीरा की मौलिक रचना मानते है, शेष को मिश्रण।[2] ठोस प्रमाणो के आधार पर दोनो ओर की सभावनाए की जा सकती

१. श्रीसूरदास मदनमोहनजी की वाणी, पद स० ८६।

२ मीरा-स्मृतिग्रन्थ बगीय हिन्दी परिषद् आ० ललिता प्रसाद सुकुल - कृष्णभक्ति परम्परा और मीरा' पृ० १८३-२३७।

है। यह भी सभव हो सकता है कि साधु-सन्तो के साथ सम्प्रदाय और लोक-लाज के झझटो से मुक्त मीरा मिलती रही थी, अत उनमे विविध भाव-साधनाए अपने युग के प्रतिबिम्ब के रूप मे उभरी। यह भी सभव माना जा मकता हे कि मीरा की अपनी भाव-साधना सगुण कृष्ण-प्रेम की ही थी, शेष जो कुछ हे, मीरा की भाव-माधुरी पर मुग्ध परवर्ती पद-गायको द्वारा चाहे-अनचाहे, जाने अनजाने मिलाया गया है। ऐमी स्थिति मे जितने साहित्याश पर प्रश्न-चिह्न लगा है, उतने की रम-परिकल्पना पर भी प्रश्न-चिह्न तब तक लगा ही रहेगा, जब तक मीरा के साहित्य की निर्णयात्मक गवेषणा न हो ले। यदि त्रिमुखी विचार-धाराओ के प्रदर्शक पदो को मीरा का काव्य मानकर चला जाय तो उनकी रस-परिकल्पना मे कुछ विविधता स्वीकार करनी पडेगी। जब तक हम मीरा के मौलिक काव्य तक ठोस प्रामाणिक आधारो पर पहुचे, तब तक एक प्रश्न-चिह्न को स्वीकार करते हुए ही उनकी रस-परिकल्पना पर विचार करना होगा। हम भी यहा यही दृष्टि अपनाकर चल रहे है।

मीरा के काव्य मे बाहर-भीतर भक्ति-रस का ही परिषिचन है। भक्ति रस के दो रूप उनमे मिलते है—एक मधुर, दूमरा शान्त। दोनो प्रकार की परिकल्पना मे मीरा की स्वानुभूति घुली है। समार के वैभव और विलाम को उन्होने बडे पास से देखा था और उसकी असारता का साक्षात्कार करते हुए वे कृष्ण की अनुपमेय माधुरी के प्रति प्रेमाकृष्ट हुई थी। अत उनके मधुर रस मे सर्वत्र एक पवित्रता और उदात्तता मिलती है। उनकी रस-परिकल्पना मे 'सहज विराग'[1] और उत्कट प्रेम मिलकर एकाकार हो गये है।

मीरा के पद दो प्रकार के है—एक तो जिनमे कृष्ण-लीला का गान हुआ है, दूसरे जिनमे स्वानुभूति की विषयि-परक अभिव्यक्ति है। मात्रा मे पहली प्रकार की अभिव्यक्ति कम ही है। उनमे कृष्ण की किशोर-लीलाओ का गान है, गोपी-प्रेम का सगीत है। यो कृष्ण-लीलाओ का गान अनेक कृष्ण-भक्त कवियो ने किया है और यथा-साध्य अपने को कान्ताभाव मे डुबोकर गोपी-भाव से तादात्म्य स्थापित करने का बहुत दूर तक उनका सफल प्रयास भी रहा है, किन्तु इस पार्थिव शरीर से भी नारी होने के कारण गोपी-प्रेम के साथ मीरा का जो सहज तादात्म्य है वह अन्य कृष्णभक्त-कवियो को नही मिल सका है। विषयि-परक भाव व्यजना मे मधुर और शान्त हैं।

मधुर-परिकल्पना के दो वर्ग किये जा सकते हैं—एक निर्गुण-विषयक, दूसरा सगुण-विषयक। प्रथम वर्ग मे कुछ विशुद्ध भावात्मक पद है, कुछ प्रक्रिया-योग के उभारो से मिश्रित। दूसरा सगुण प्रेम के पदो का वर्ग ही मीरा की प्रकृत रस परिकल्पना प्रस्तुत करता है। इस प्रकार मीरा की रस-परिकल्पना को मोटे तौर पर हम निम्न रूप मे रख सकते हैं

१ विषय-परक	कृष्णलीला-गान	मधुर रस, वात्सल्य ?	
२ विषयि-परक	शान्त रस,		
	—मधुर रस		
	निर्गुण-परक	(क) शुद्ध प्रेम परक	मिलन, विरह
		(ख) प्रक्रिया-योग मिश्रित	
	सगुण-परक	मिलन, विरह	
	— दास्य भक्तिरस ?		

---

१ "दास मीरा लाल गिरधर सहज कर वैराग" मीराबाई की पदावली परशुराम चतुर्वेदी पृ० १४८. पद स० १५८।

इस प्रकार सब मिलाकर मीरा की रस-परिकल्पना मे प्रमुख स्थान मधुर का है। मधुर विषयात्मक और विषयि-परक दोनो रूपो मे प्रस्तुत हुआ है। विषयि-परक रूप मे निर्गुण और दोनो ही रूपो मे मधुर की परिकल्पना हे। वात्सल्य, दास्य, सख्य और करुण इसी मधुर मे घुलकर प्रस्तुत हुए है। दूसरा रस शान्तभक्तिरस है। किन्तु वह भी मधुर चेतना से सर्वथा अछूता नही है। फिर भी उसकी स्वतन्त्र झलक स्वीकार की जा सकती है।

मधुर रस

हम कह चुके है कि मीरा के नाम से उपलब्ध साहित्य मे परिकल्पित मधुर रस को हम दो रूपो मे पाते है—एक बिषय-परक लीलागान के रूप मे, दूसरे आत्माभिव्यजन के रूप मे। हम यहा अलग-अलग इस परिकल्पना के निरूपण का प्रयास करेगे।

लीला-गान के रूप मे—मीरा प्रमुखत कृष्ण-चरित की गायिका है, यो उनके नाम से शबरी-प्रेम जैसे इक्के-दुक्के पद भी प्रचलित है।[1] कृष्ण-चरित मे भी व्रज लीला ही गेय है। द्वारका-लीला से सम्बन्धित सुदामा-चरित के पदो मे, यदि वे मौलिक है, सख्य उभार कर नही लाया गया, अपितु प्रियतम गिरधर गोपाल की उदारता सामने की गयी है। यह गुण-कीर्तन स्व-निष्ठ कान्तारति का उद्दीपन-रूप है। व्रज-लीला मे कुछ पद बाल-कृष्ण-सम्बन्धी भी है, अधिकता किशोर कृष्ण सम्बन्धी पदो की ही है। बाल-कृष्ण सम्बन्धी पदो मे भी वात्सल्य रस का परिपाक नही है। न बाल स्वभाव का और न ही मातृ-हृदय का चित्रण है, उनमे कृष्ण की बाल-छवि के प्रति आकर्षण और सामान्य अनुराग की झलक है।[3] इस प्रकार वात्सल्य रस भी मधुर के अन्तर्भून सा ही है।

किशोर लीला के पदो मे वशी-मोहिनी, चीर-हरण, पनघट, फाग, दधि-दान, उद्धव-सवाद सम्बन्धी पद है।[4] इन पदो मे गोपी-प्रेम के सयोग और वियोग दोनो पक्षो की मधुर व्यजना है। इन पदो की गोपियो को सूर की गोपियो के समान समझा जा सकता है। ये अनिवार्यत स्वकीया नही है।[5] कृष्ण की मधुकरी रसिकता की भी यत्र-तत्र झलक है।[6]

---

१ मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १५६, पद १८६।

२ वही, पृ० १५६, पद १८७।

३. "हो काना किन गूथी जुल्फा कारिया।
सुघर कला प्रवीन हाथन सू जसुमतिजू ने सवारिया।
जो तुम आओ मेरी बाखरिया, जरि राखू चदन किंवारिया।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, इन जुल्फन पर वारिया॥" वही, पृ० १४६, पद १६२।
"जागो बसीवारे ललना, जागो मेरे प्यारे।
माखन रोटी हाथ लीनी, गउअन के रखवारे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सरण आया कू तारे॥" वही, पृ० १५०, पद १६५।

४ वही, पृ० १४८-१५६।

५. "आज अनारी ले गयो सारी, बेठी कदम की डारी, हे माय।
सास बुरी और ननद हठीली, लरि लरि दे मोहि गारी, हे माय।" वही, पद १६६।

६ "म्हारी गलिया ना फिरे, वाके अगणा डोले हो।
म्हारी अगुली ना छुवे, बाकी बहिया मोरे हो।
म्हारो अचरा न छुवो, वाको घूघट खोले हो।
मीरा के प्रभु सावरो, रग-रसिया डोले हो।" वही, पृ० १५४, पद १८१।

इन पदो के मधुर रस की सबसे बडी विशेषता यह है कि इनमे राधा और गोपियो के साथ मीरा का अपना व्यक्तित्व घुला हुआ हे। इनके माध्यम मे मीरा की स्वानुभून व्यक्तिगन भावनाए एव अनुभूतिया अभिव्यजित हुई हे। जब मीरा गोपियो और राधा की अनुभूनियो को इन शब्दो मे चित्रित करती हे

"सास बुरी अर नणद हठीली, लरि लरि दे मोहि गारी, हे माय।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल की वारी, हे माय।"[1]
"ऊभी राधा प्यारी अरज करत है, सुणजै किसन मुरारी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल पर वारी।।"[2]

तो लगता है, मीरा अपनी ही बात कह रही हे।

मीरा ने इन पदो मे सयोग-भावना को अत्यन्त शिष्ट और सयत भाषा मे प्रस्तुत किया है। मीरा का-सा शृगार अन्य कृष्ण-भक्तो मे नही मिलता। अधिक-मे-अधिक इस प्रकार का चित्रण मिल जायगा

"केसर चीर दरयाई को लेगो, ऊपर अगिया भारी।
आवत देखी किसन मुरारी, छिप गई राधा प्यारी।"[3]
"स्याम म्हासूँ ऐंडो डोले हो, औरन सूँ खेलै धमाल।
म्हारो अचरा ना छुवो, वाको घूघट खोले, हो।"[4]

और, गोपी-वियोग मे तो मीरा ने आत्मा उडेली है

"कुण बाचै पानी, विना प्रभु कुण बाचै पाती।
कागद लै ऊधौ जी आयो कहा रह्या साथी।
आवत जावत पाव घिस्यारे, अखिया भई राती।
कागद ले राधा बाचण बैठी, भर आई छाती।"[5]

पर यह विषय-परक मधुर मात्रा मे थोडा ही है। मीरा का प्रकृत क्षेत्र है स्वानुभूतियो को विषयि-परक अभिव्यजना के रूप मे प्रस्तुत करना। मीरा की प्रकृत रस-परिकल्पना वही सामने आती है।

आत्माभिव्यजन के रूप मे—आत्माभिव्यजन के रूप मे परिकल्पित मधुर रस के मीरा मे हमे दो रूप मिलते हैं—एक तो निर्गुण-परक, दूसरा सगुण-परक। निर्गुण-परक रतिव्यजना मे कभी-कभी प्रक्रिया-योग के उभार भी मिल जाते हैं। निर्गुणिए पदो की मौलिकता सदिग्ध है।

निर्गुण-परक मधुर-परिकल्पना—निर्गुण-परक पदो मे मधुर-परिकल्पना कबीर आदि सन्तो के ढग की है। इनमे कृष्ण, हरि अविनासी, गिरधर गोपाल ब्रज के अवतारी पुरुष नही रह गये है। इनमे आत्म-परमात्म के अद्वैत की भी झलक मिलती चलती है और 'जोगिया'

---

१ मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १५१, पद १६६।

२ वही, पद १७१।

३ वही, पद १७१।

४. वही, पृ० १५४, पद १८१।

५ वही, पृ० १५५, पद १८५।

प्रियतम से 'जोति मे जोति' मिला देने की साध भी ।[1] प्रिय को अनेक बार घट के भीतर देखा गया है ।[2]

कभी-कभी इन पदो मे प्रक्रिया-योग के उभार आ जाते है । सेली, कथा, मुद्रा, सुन्नि महल आदि की चर्चा हो जाती है । 'नीझर भरने वाले' रस की बात भी आ जाती है ।[3]

कबीर आदि सन्तो के समान, अनेक बार उनसे मिलती-जुलती पदावली मे विरह-वेदना को व्यक्त करने वाले पद भी मिल जाते है । यदि जोगिया आदि की चर्चा न आ गयी हो, तो इन पदा मे भी वैसी ही अनुभृति मिलती है जैसी सगुण पदो मे ।

सामाजिक की अनुभूति की दृष्टि से निर्गुण-प्रेम के पद मधुर होते हुए भी वह रस-मग्नता नही दे पाते, जो सगुण पदो मे मिलती है । सच्ची मीरा यहा नही मिल पाती ।

सगुण-परक मधुर-परिकल्पना—स्वरूप और स्वभाव से कृष्ण-दिवानी मीरा सगुणोपासिका हे । कृष्ण की माधुरी छटा और बकिम शोभा पर रूप लुभाणी मीरा ने अपने को लुटा दिया है ।[4] और फिर पति, कुल और लोक-लाज की बाधाए उनके लिए बेकाम हो

---

१ "तुम बिच हम बिच अतर नाही, जैसे सूरज घामा ।
मीरा के मन और न माने, चाहे सुन्दर स्यामा ।" मीराबाई की पदावली, पद ११४ ।

"जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाइ परू तेरी चेरी हौ ।
प्रेम भगति को पैडो ही न्यारो, हमकू गैल बता जा ।
अगर चदन की चिता बनाऊ, अपणे हाथ जला जा ।
जब बल भई भस्म की ढेरी, अपणे अग लगा जा ।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर जोत में जोत मिला जा ।" वही, पृ० ११६, पद ४६ ।

२ "म्हा गिरधर रग राती, सैया म्हा० ।
पचरग चोला पहर्‌या सखी म्हा, झिरमिट खेलण जाती ।
वा झिरमिट में मिल्यो सावरो, देख्या तण मण राती ।
जिणरो पिया परदेस बस्या री लिख लिख भेज्या पाती ।
म्हारा पिया म्हारे हीयडे बसता, ना आवा ना जाती ।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, मग जोवा दिन-राती ।" वही, पृ० १०८, पद २३ ।
"जोगियाजी निसदिन जोऊ बाट ।
पाव न चालै, पथ दुहेलो, आडा औघट घाट ।
नगर आइ जोगी रम गया रे, मो मन प्रीत न पाइ ।" वही, पद ४४, पृ० ११५ ।
"रोगी अदर बैद बसत है, बैद ही ओखद जाणैहो ।" वही, पृ० १२३, पद ७३ ।

३ "धूतारा जोगी एकरसू हसि बोल ।
जगत बदीत करी मनमोहन, कहा बजावत ढोल ।
अग भभूत गले मृगछाला तू जन गुढिया खोल ।
सेली नाद बभूत न बटवो, अजू सुनी मुख खोल ।" वही, पद ५८, पृ० ११६ ।

४ "निपट बकट छब अटके म्हारे नैणा णिपट बकट छब अटके ।
देख्या रूप मदनमोहन री पियत पियूख ण मटके ।
वारिज भवा अलक मतवारी नैण रूप-रस अटके ।
टेढया कट टेढे कर मुरली टेढ्या पाग लर लटके ।
मीरा प्रभु रे रूप लुभाणी गिरधर नागर नटके ।" मीरास्मृतिग्रन्थ पृ० ३, पदावली ५ ।

गयी है। विष का प्याला उनके लिए सुधा बना है, काला साँप शालिग्राम।[1] मीरा की रचनाओ मे उनकी घनीभूत प्रेमासक्ति साकार हुई है।

मीरा की मधुर-परिकल्पना का स्थायी भाव कान्ता-रति है। किन्तु यह कान्ता-भाव अन्य कृष्ण-भक्तो से इसलिए सर्वाधिक स्वाभाविक है कि जन-सामान्य की दृष्टि मे, न वह कृत्रिम है न आरोपित। पुरुष भक्त जब अपने मे कान्ता-भाव का अभिमान करके प्रेमाभिव्यजन करता है तो सामान्य पाठक के लिए उस भक्त की भाव व्यजना समारोपित लगती है। उस भक्त से भाव-तादात्म्य पाने के लिए पाठक को तदनुरूप सस्कार, निष्ठा या भावाभिमान करना पडता है। और, इस पक्ष मे उन भक्तो की भावानुभूति साम्प्रदायिक हो उठती है। मीरा की प्रेम-व्यजना मे यह गुत्थी नही है।

जिन कवियो ने राधा-कृष्ण या गोपी कृष्ण के प्रेम का चित्रण करते हुए स्वकीयात्व का निर्वाह करना चाहा है, वे भी पूरी तरह से निभा नही सके हैं। यह बात सूर मे ही देखी जा सकती है। इस प्रेम-पद्धति के मूल स्रोत श्रीमद्भागवत मे ही स्वकीयात्व को आध्यात्मिक अधिक माना गया है, भौतिक कम। प्रेम की तीव्रता के लिए आर्य-पथ का परित्याग और परकीयात्व की झलक मधुर कृष्ण-काव्य मे अनिवार्यत आयी है। एक प्रकार से मीरा की कान्ता-रति भी वैसी ही हे। वे विवाहित है, लोक-लाज कुल-मर्यादा के आर्य-पथ को उन्होने तिलाजलि दी है। उनके पति हैं श्रीकृष्ण। फिर भी मीरा की रति मे राधा की रति के समान नैतिकता के व्याघात की समस्या नही है। राधा और कृष्ण एक युग के एक स्थान के प्रेमी जीव हैं। गोपियो की भी यही स्थिति है। अपने पतियो-पुत्रो को छोड कृष्ण की ओर प्रेम-दीवानी होकर दौडने वाली गोपियो के साथ कृष्ण के प्रेम-विलास के चित्रो मे नैतिकता की समस्या उठती है, जिसका समाधान स्वय साम्प्रदायिक भक्तो एव आचार्यो को भी देना पडा है। किन्तु मीरा की स्थिति स्पष्ट है। उनके लोक-सम्बन्धो का आधार भौतिक है, कृष्ण-सम्बन्ध का आध्यात्मिक। अत कृष्ण-दीवानी मीरा के प्रेम मे न मनोवैज्ञानिक ग्रथिया है, न अनैतिकता की सम्भावना। उसकी काव्यानुभूति भी इसीलिए सहज है।

मीराँ की कृष्ण-विषयक रति मे सहज दाम्पत्य-भाव निहित है। अत उसमे एक भारतीय पतिव्रता नारी की रति के सहज अग-भूत दास्य और सख्य दो भाव अनुमिश्रित है। मीरा मे बडी तीव्र दास्य-भावना है। किन्तु उनका दास्य अन्य तुलसी आदि दास्य-प्रवण भक्तो के समान भक्ति का कोई अलग प्रकार नही खडा करता। कान्तारति मे घुलकर मीरा का दास्य भगवान् के प्रति पातिव्रत प्रेम की प्रतिष्ठा करता है। उनका सख्य भी इसी प्रकार पतिव्रता के सहज सख्य के रूप मे है। कृष्ण-भक्ति साहित्य की मधुर-परिकल्पना मे इस दृष्टि से मीरा की रति दूसरो से सर्वथा न्यारी है और अपने मे बेजोड है, जिसमे न कोई ग्रन्थि है, न कुण्ठा, न उद्दामता। सहज दाम्पत्य रति वाली मधुर-परिकल्पना हमे कृष्ण-भक्ति मे यदि कही मिलती है तो मीरा मे। उनकी रति मे सख्य की अपेक्षा दास्य मुखर है।[2]

---

१ मीराबाई की पदावली, पद ३६, ३७, ४०।

२. "मीरा रे प्रभु हरि अविनासी, तुम मेरे ठाकुर मै तेरी दासी।" मी० की पदावली, ५६।

"म्हाणे चाकर राखाजी, गिरधारी ड़ाडा चाकर राखा जी।

मीरा के इस कान्ताभावान्तर्गत दास्य आलम्बन की महत्त्व-चेतना से परिपोषण भी होता है। मीरा के प्रभु भक्त-वत्सल है, पतित-उधारन है, गणिका-गज-गीध को तारने हारे है।[1] यह महत्त्व-चेतना उनके प्रकृत रति-भाव का पोषण ही करती है, हाँ उन स्थलो मे प्राय दास्य का अनुमिश्रण रहता है।

मीरा के कान्ता-भाव मे मिलन एव विरह दोनो के चित्र है, किन्तु अधिकता विरह की ही है। मिलन की विशेषता यह है कि उसमे कही भी स्थूलता नही आयी है। प्रिय-मिलन के उल्लास की सम्भावना मे ही मीरा की प्रकृति का कण-कण मिलनोल्लास से भर जाता है

"सुण्या री म्हारे हरि आवगा आज।
म्हैला चढ-चढ जोवा सजणी कब आवा महाराज।
दादुर इन्द्र पपीया बोल्या, कोल मधुरा साज।
उमग्यों इन्द्र, चहूँ दिस बरसाँ, दामण छोड्या लाज।
धरती रूप नवा नवा धर्‌या इन्द्र मिलण रे काज।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, बेग मिल्यो महाराज।"[2]

मीरा का सयोग-शृगार व्यजना-प्रधान है। इन्द्र मेघो के रूप मे उमग ले कर आया है। दामिनी ने लज्जा छोडकर उसका ममालिंगन किया है। कहिए, प्रेयसी के अचल ने स्पन्दन करते हुए लज्जा छोड दी है। और धरती इन्द्र-मिलन के लिए नया-नया रूप सजाती है। बस, मीरा के सयोग-चित्रण की यही सीमा है।

मीरा की विरह-परिकल्पना वेदना प्रधान है। उसमे सचारियो एव अनुभावो दोनो की रसोपयोगिनी योजना है। वस्तुत मीरा की वेदना ही मीरा का काव्य है।

'हेरी म्हा तो दरद दिवाणी म्हारा दरद णा जाण्या कोय।
घायड री गत घायड जाण्या हिवडो अगण सजोइ।"[3]
"अग खीण व्याकुड भया मुख पिव-पिव बाणी हो।
अण्तर वेदण हो विरह री म्हारी पीड णा जाणी हो।"[4]

मीरा के विरह मे भारी तल्लीनता एव भावावेश है। पाठक इस भावावेश मे डूबता है, भक्त प्रेम की चरम साधना मे लीन होता है। उनका यह भावावेश कृत्रिम नही, स्वानुभूत है। और उसकी स्वानुभूतता ही मीरा की विरह कल्पना के प्रवाही रस का रहस्य है।

शान्त भक्तिरस

मीरा के काव्य मे मधुर के अतिरिक्त दूसरा भक्तिरस शान्त है। हम कह चुके है कि एक प्रकार से मीरा की आसक्ति सहज विरक्ति के ऊपर प्रतिष्ठित है। विराग की उच्च

चाकर रहसू, बाग लगास्यू, नित उठ दरशन पास्यू। इत्यादि।" मी० स्मृ० ग्र० पद ३५।
"मीरा के प्रभु गिरधर नागर सरण गह्या थे दासी।" मी० की पदा० पद १६४।
"मीरा के प्रभु स्याम मनोहर प्रेम पियारा मीत।" वही, पद ५७।

१ मीरा की पदावली पद ६१, ६२।
२ मीराबाई की पदावली पद १४३, पृ० १४४।
३ मीरा स्मृति ग्रथ मीरा पदावली पद १९।
४ वही, पद ३९।

भूमि पर खडे होकर मीरा ने प्रेम-साधना की थी। उनके काव्य मे इसीलिए विरक्ति और आसक्ति एकाकार है। फिर भी अनेक पदो मे लोक की वैभव-सामग्री की उपेक्षा, ससार की असारता, मन प्रबोध एव सच्चे निर्वेद तथा विवेक के दर्शन होते है।

"भज मण चरण कवड अवणासी।
जेताई दीमा धरण गगण मा, तेताई उट्ठ जासी।
तीरथ बरता ग्यान कथता कहा लया करवत कासी।
यो देही रो गरब णा करणा माटी मा मिड जासी।
यो समार चहर रा बाजी, साझ पड्या उठ जासी।
कहा भया था भगवा पहर्या घर तज लया सण्यासी।
जोगी होया जुगत णा जाणा उलट जणम रा फासी।
अरज करा अबडा कर जोड्या, स्याम दासी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, काट्या म्हारी गाँसी।"[1]

मीरा के शान्त की अनुभूति ससार से विरक्ति के साथ भगवदामक्ति की प्रबल भावना जगाती है। वस्तुत उनका शान्त प्रेम का ही एक रूप है।

रसखान

मुसलमान कृष्णभक्त कवियो मे रसखान का स्थान अत्यन्त उच्च है। उनकी वाणी मे प्रेम-रस का अनुपम परिषिंचन है। उनकी रम-परिकल्पना मे मौन्दर्य-मुग्धता की स्वानुभूत माधुरी एव अभिव्यजना की सरलता है।

रसखान का जीवन-चरित अप्रकाश मे है। ममय मत्रहवी शती का मध्य ठहरता है। प्रेम-वाटिका का रचना-काल उसी मे स १६७१ दिया हुआ है।[2] केवल दो रचनाए उपलब्ध है—'प्रेम-वाटिका' और 'सुजान-रसखान'। सुजान-रसखान गोपी-प्रेम का मधुर-काव्य है, किन्तु स्फुट पदो का सकलन प्रतीत होता है। कही-कही शिव, गगा-विषयक रति के दो एक पद है। शिव और कृष्ण को रसखान ने एक पद मे अभिन्न चित्रित कर अपनी प्रेम-भावना की उदारता का परिचय दिया है।[3] रमखान की प्रेम-वाटिका प्रेम-तत्त्व का निरूपण करने वाली लगभग पचाम दोहो की एक छोटी-सी रचना है। है तो रचना छोटी-सी किन्तु इसमे प्रेम-तत्त्व का निरूपण अत्यन्त मुन्दर है। रसखान की रम-परिकल्पना को समझने के लिए उसे समझ लेना आवश्यक है।

प्रेम-तत्त्व—रसखान ने जैसा प्रेम-तत्त्व का निरूपण किया है वैमा केवल राधावल्लभ

---

१ मीरा स्मृति ग्रन्थ मीरा पदावली, पद २।

२ "विधु स गर रम इदु सुभ ब स मरस रमखानि।
प्रेमवाटिका रचि रुचिर चिर हिय हरख रखानि।" प्रेमवाटिका, दो० ५१।

३ "इक ओर करीट लमै दुसरि डिसि नागन के गन गाजत री।
मुरली मधुरी धुनि ओठन पे उत डामर नाद मौं बाजत री।
रसखानि पितबर एक कधा पर एक बघबर राजन री।
कोउ देखहु सगम लै डुबकी निकसे यह भेख विराजत री।" सुजानरसखान, पद १६।

रसखान का अम. काव्य।

सम्प्रदाय के कवियो मे, विशेषत श्रीध्रुवदास मे पाया जाता है। रसखान और ध्रुवदास के निरूपण को मिलाने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि रसखान ध्रुवदासजी से ही प्रेम-तत्त्व का निरूपण लेते है। ध्रुवदासजी का रचना काल डा० विजयेन्द्र स्नातक के द्वारा स० १६५० से १६९८ तक निर्धारित किया गया है।[1] अत अपने वृन्दावन-वास काल मे रसखान का ध्रुवदासजी से प्रभावित होना स्वाभाविक है। किन्तु एक बात उल्लेखनीय है। रसखान ने राधावल्लभीय प्रेम-निरूपण को ग्रहण करके भी उसे उसी रूप मे स्वीकार न कर अपने दृष्टि-कोण से प्रस्तुत किया है। अत उन्हे राधावल्लभीय भक्त नही कहा जा सकता। पर उसकी प्रेम-माधुरी, रसिकता एव प्रेम-दृष्टि का उन पर प्रभाव अवश्य स्वीकार किया जा सकता है।

रसखान का 'प्रेम-तत्त्व' राधावल्लभीय प्रेम-तत्त्व के समान ही परम तत्त्व है। वह कारण-रूप भी है, कार्य-रूप भी। कर्त्ता, कर्म, क्रिया और करण सब-कुछ प्रेम-तत्त्व है। विश्व मे जो कुछ है, जिससे है, जिसमे है, जिसके लिए है, वह सब प्रेम ही है। प्रेम वह बीज है जिससे समस्त प्रेम उत्पन्न होता है। प्रेम वह क्षेत्र है जिसमे समस्त प्रेम उत्पन्न होते है। यह प्रेम-तत्त्व नित्य, एकरस, रसमय, निस्वार्थ, अचल एव स्वाभाविक है। इस प्रकार प्रेम-तत्त्व ही पर-तत्त्व है।[2]

प्रेम और हरि मे तात्त्विक अन्तर नही। प्रेम हरि-रूप है, हरि प्रेम-स्वरूप।[3] यो प्रेम-तत्त्व हरि से भी महान् है। प्रेमी इस तत्त्व को प्राप्त कर बैकुण्ठ और बैकुण्ठवासी हरि की भी कामना नही करता।[4] प्रेम 'रस' है, अलौकिक है, विशुद्ध, काम और कामनाओ से रहित, एव मगलमय है।[5]

प्रेम एक व्यापक तत्त्व है। प्रेम ब्रह्म की व्यापक अभिव्यक्ति ही सब-कुछ है। प्रेमायनी

---

१ डा० विजयेन्द्र स्नातक राधावल्लभ सम्प्रदाय और साहित्य पृ० ४०७।

२ रसखान और घनानन्द सकलनकर्ता स्व० बाबू अमीरसिह प्रेमवाटिका

"रसमय, स्वाभाविक, बिना स्वारथ, अचल महान।
सदा एकरस शुद्ध सोइ प्रेम अहै रसखान ॥४२।
जाते उपजत प्रेम सोइ बीज कहावत प्रेम।
जामें उपजत प्रेम सोइ क्षेत्र कहावत प्रेम ॥ ४३।
जाते पनपत, बढ़त अरु फूलत फलत महान।
सो सब प्रेमहि प्रेम यह कहत रसिक रसखान ॥ ४४।
बीज वही, अकुर वही, सेक वही आधार।
डाल पात फल फूल सब वही प्रेम सुखसार ॥ ४५।
जो, जातें, जामें, बहुरि जाहित कहियत बेस।
सो सब प्रेमहि प्रेम है जग रसखान असेस ॥ ४६।
कारज-कारन रूप यह प्रेम अहै रसखान।
कर्ता, कर्म, क्रिया, करण आपहि प्रेम बखान ॥" ४७।

३ "प्रेम हरी कौ रूप है त्यौ हरि प्रेम सरूप एक होइ द्वै यौ लसैं ज्यों सूरज अरु धूप।" २४

४ "जेहि पाये बैकुण्ठ अरु हरिहू की नहि चाह। सोइ अलौकिक शुद्ध, सुभ, सरस सप्रेम कहाइ।" २८

५ वही, दो० २८।

राधा और प्रेम-वर्ण मे रगे कृष्ण दोनो प्रेम-वाटिका के मालिन और माली है।[१] इससे स्पष्ट है कि प्रेम राधा और कृष्ण से भी ऊपर है।

प्रेम एकत्व की अनुभूति है। मन का एक होना ही प्रेम का रूप नही, तन का एक होना भी

"दो मन एक हुते सुन्यो पै वह प्रेम न आहि।
होइ जबै द्वै तनहुँ इक सोई प्रेम कहाइ॥"[२]

राधा-वल्लभीय ध्रुवदासादि भक्तो ने प्रेम के साथ 'नेम' की चर्चा की है जिसका उल्लेख हम यथा-स्थान कर चुके है। रसखान ने भी उसकी चर्चा की है। रसखान के अनुसार ये नेम दो प्रकार के होते है—शुद्ध और अशुद्ध। स्वार्थ-मूलक, आत्मसुख की कामना से परि-चालित जितने धर्म, कर्म, भक्ति, फल है, सभी अशुद्ध नेम है। ये प्रेम-तत्त्व के उद्भूत होते ही नष्ट हो जाते है, उसमे समा जाते है। प्रेम के स्वभावानुकूल निस्वार्थ प्रेम-विकार विशुद्ध नेम है, वे प्रेम के ही उच्छलन है।[३]

प्रेम मार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन है।[४] पर इसको जान लेने पर कुछ ज्ञेय नही रह जाता। प्रेम जिसे मिल जाता है वह मद छाका मस्त विचरता है।[५] इस प्रेम की उपलब्धि श्रवण, कीर्तन और दर्शन के सहारे होती है।[६] वस्तुत प्रेम से ही प्रेम तत्त्व उपलब्ध होता है।[७]

---

१ "प्रेम अयनि श्रीराधिका प्रेमबरन नदनद। प्रेमबाटिका के दोऊ मालीमालिन-द्व द। १
"प्रेमकठिन सर्वतें सदा नित इकरस भरपूर।" वही, दो० १६।
"शुद्ध कामना ते रहित प्रेम सकल रस-खानि " १५।
"इकअगी, बिनु कारनहि इकरस सदा समान।" २१।

२ दो० ३४ प्रेमवाटिका रसखान 'रसखान और घनानन्द'।
प्रेमवाटिका रसखान रसखान और घनानन्द सकलनकर्ता स्व० बाबू अमीरसिंह

३ "शुद्धाशुद्ध विभेद तें द्वैविध ताके नेम। ४०
स्वारथ-मूल अशुद्ध त्यों शुद्ध स्वभावऽनुकूल।
नारदादि प्रस्तार करि कियौ जाहि को तूल।" ४१
"याही ते सब मुक्ति तै लही बडाई प्रेम।
प्रेम भए नस जाहि सब बधे जगत के नेम।" ३५
"रसमय स्वाभाविक बिना स्वारथ, अचल महान।
सदा एकरस 'शुद्ध' सोई प्रेम अहै रसखान।" ४२

४ "कमलतंतु सों छीन अति, कठिन खडग की धार।
अति सूधो टेढौ बहुरि प्रेमपथ अनिवार।' ६
"कोउ याहि फासी कहत, कोउ कहत तरवारि।
नेजा, भाला, तीर कोउ कहत अनोखी ढार।" २६

५ "जेहि बिनु जाने कछुहि नहि जान्यो जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जानि के रहि न जात कछु सेस।' १८
"पै मिठास या मार के रोम रोम भरपूर।
मरत जियै, झुकनो थिरै, बनै सु चकनाचूर।" ३०

६ "श्रवन, कीरतन, दरसनहि जो उपजत सोइ प्रेम।"४०

७ "प्रेम बिना नहि उपज हिय प्रेम बीज-अकुवार।" १०

किन्तु राधा-वल्लभीय प्रेम-तत्त्व को निकुज-रस के साम्प्रदायिक ढाचे मे ढाला गया है और सहचरी-प्रेम को उसका उच्चतम आदर्श ठहराया गया है। ध्रुवदासजी ने दास्य, सख्य आदि विविध प्रेम-रूपो मे मधुर प्रेम की महत्ता दिखाते हुए उच्च प्रेम गोपी-प्रेम कहा है। श्रीमद्भागवत का यही प्रतिपाद्य है। किन्तु सहचरी-प्रेम गोपी-प्रेम से भी उत्कृष्ट है।[1] किन्तु रसखान ने यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण स्वीकार नही किया। ढाचे एव स्वरूप मे राधावल्लभीय प्रेम-तत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उसका उच्चादर्श गोपियो को ही ठहराया है

"जदपि जसोदानन्द अरु ग्वालबाल सब धन्य।
पै या जग मे प्रेम को गोपी भई अनन्य ॥"[2]
वा रस की कछु माधुरी ऊधो लही सराहि।
पावै बहुरि मिठास अस अब दूजो को आहि ॥"[3]

रसखान की रसिक अनन्य प्रेम-भावना का यही गोपी-प्रेम आदर्श रहा है। इसीलिए उनके काव्य मे जो कृष्ण-रस परिषिचित है वह गोपी-प्रेम का परिपाक है, साम्प्रदायिक सहचरी-प्रेम का नही। इसका कारण सम्भवत यह था कि वे कृष्ण-लीला के मधुर पक्ष के दर्शन मे राधावल्लभीय की अपेक्षा वल्लभीय प्रेम-दर्शन से अधिक प्रभावित थे। रसखान के राधा-कृष्ण निकुज-विहारी श्यामा-श्याम न होकर व्रज-विहारी राधा-कृष्ण है। और, वस्तुत तो राधा उसी प्रकार कही-कही सामने आयी है जैसे सूर के वर्णनो मे आती है। समस्त प्रेम चर्चा गोपी-कृष्ण के बीच की ही प्रधानता है। इम दृष्टिकोण को रसखान ने कदाचित् वल्लभीय सम्प्रदाय के भक्तो से पाया था। कहा जाता है कि उन्होने वल्लभ-सम्प्रदाय मे दीक्षा भी ली थी।[4] कही-कही निकुजो के भीतर 'राधिका-पायन' को पलोटते हुए कृष्ण की जो झाकी रसखान ने दिखायी है वह यद्यपि राधावल्लभियो के निकुजरस के अनुरूप है, किन्तु वैसी ही झाकिया वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तो मे भी स्वीकृत थी, तथा अन्य मधुर सम्प्रदायियो मे भी सामान्यत स्वीकृत थी। वस्तुत रसखान रूढ साम्प्रदायिक सीमाओ से ऊपर उठे हुए अपने युग मे वृन्दावन के वातावरण मे धारा-प्रवाह से बहने वाली रसिक कृष्ण-भक्ति के मधुर आस्वादनकर्त्ता भावुक जीव थे। उनकी रस-परिकल्पना का भी यही स्वरूप रहा है।

रस-परिकल्पना

रस-परिकल्पना की दृष्टि से रसखान मधुर-रस के गायक कवि है। उनके मधुर मे भावो की मधुरता और सहजता ही नही है, भक्ति का सहज आवेश भी है। साथ ही उनकी

---

१. "और जहा ताई भक्त, जनक, उद्धव, सनकादि और लीला द्वारिका मथुरा आदि, तिन सबनि पर अति गरिष्ट सर्वोपरि ब्रज-देविन कौ प्रेम है। ब्रह्मादिक हू जिनकी पद-रज वाछित है। तिनके रस पर महारस अतिदुर्लभ निकुजमाधुरी-विलास ललिता विसाखा आदि इन सखियन को प्रान अधार यहै है। इन सखियन कौ प्रेम सर्वोपरि जानौ।"

सिद्धान्तविचारलीला बयालीसलीला ध्रुवदास पृ० ४५।

२ प्रेमवाटिका रसखान दो० ३८।

३ वही, दो० ३९।

४ चौरासी वैष्णव वार्ता और दो सौ बावन वैष्णव वार्ता के आधार पर श्रीरसखानजी का सक्षिप्त जीवन-चरित्र रसखान और घनानद अमीरसिंह पृ० ६।

अनुरक्ति मे ससार की ओर से एक भारी विरक्ति भी छिपी हुई है। जिस प्रकार प्रेमादर्श गोपियो ने लोक-कुल-धर्म की लाज-कानि छोडी थी, मीरा ने लौकिक सम्बन्धो एव मर्यादाओ का हठ पूर्वक परित्याग किया था, रसखान ने भी अपने समाज और धर्म को तिलाजलि देकर ससारी बादशाहत तक की घोर उपेक्षा करते हुए प्रेम के पवित्र एव सरस मार्ग मे प्रवेश किया था। अत उनकी वेगमयी अनुरक्ति मे लोक-विरक्ति का सहज अनुरजन है।

रसखान प्रमुखत सौन्दर्यात्मक सयोग-भावना के कवि है। उन्होने अधिकाश गोपी-प्रेम के ही गीत गाये है। सामान्यत यह विषयात्मक प्रेम चित्रण है। और इसके आधार पर रसखान का कान्ताभाव गोपियो का कान्ताभाव है। किन्तु गोपियो के इस कान्ताभाव मे रसखान का हृदय घुलता है, उसमे उनकी तदात्म अनुभूति भी मिलती है

"मोर-पखा सिर ऊपर राखिहौ, गुज की माल गरे पहिरौगी।
ओढि पितबर लै लकुटी बन गोधन ग्वारन सग फिरौगी।
भावतो वोहि मेरो रसखानि सो तेरे कहे सब स्वाग करौगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौगी।"[१]

इस प्रकार के पदो मे कान्ताभाव गोपियो का ही नही रह जाता, रसखान की स्वानुभूति के रूप मे सामने आता है।

रसखान की रस-परिकल्पना मे एक ही अगी रस है मधुर। वात्सल्य और शान्त इसी के अगरूप मे कही झलके है। मधुर मे भी सयोग-पक्ष मुखर है। यह सयोग मधुर सम्प्रदायियो के समान उन्मुक्त एव अश्लील-सीमा स्पर्शी नही है। सयोग स्वरूपत कुछ खुला वर्णन चाहता है। किन्तु रसखान के सयोग मे कही-कही खुलापन होते हुए भी व्यजकता ही अधिक है, वर्णनात्मकता की स्थूलता नही है।

रसखान ने केवल निकुजरस के नही, व्रजरस के गीत गाये है, जिसमे कही कही निकुजरस भी है। कृष्ण की व्रजलीला के गान मे दानलीला, मान, चीरहरण, गोचारण-प्रत्यावृत्ति, होली-चाचर आदि के मधुर चित्र है। आर्य-पथ का परित्याग कर वशी की तान पर दौडने वाली गोपियो के प्रेम गान मे परकीयात्व की वैसी ही स्वाभाविक झलक आयी है जैसी सिद्धान्तत स्वकीया-प्रेम को स्वीकार करते हुए भी वल्लभ सम्प्रदाय के सूर आदि कवियो मे मिलती है।

रसखान की गोपियो मे अनेक रूप की गोपिया मिल सकती है। बाल-छवि पर मुग्ध होने वाली भी, सख्य वाली भी, स्वय काम-मूलक कान्तारति से युक्त भी, और राधा की आराधिका-सेविका भी। वस्तुत रसखान ने इन सब भेदो की ओर ध्यान न देकर अपने युग मे प्रचलित कृष्ण-लीला के सामान्य माधुर्य का रसपान किया है।

आत्माभिव्यजन के रूप मे भी रसखान के अनेक सवैगे है। धाम-रति के रूप मे अभिव्यक्त उनका कृष्ण-प्रेम इन सवैयो मे भरा हुआ है

"मानुष हौं तो वही रसखानि बसौ व्रज गोकुल गाव के ग्वारन।

जो खग हौ तो बसेरौ करौ मिलि कालिदी कूल कदब की डारन।"[२]

---

१ सुजान, रसखान, पद ३, अमी सिह।

२ रसखान और घनानन्द सुजान रसखान, पद १।

उनमे व्रज के प्रति अगाध प्रेम है। वे करील की कुजो के ऊपर कोटिन कलधौत के धाम निछावर कर सकते है। उनकी यही लालसा है

"रसखानि कबौ इन आखिन सो व्रज के वन बाग तडाग निहारौ।"

रसखान ने प्रेम की सचारी वृत्तियो के उतने चित्र नही दिये जितने रूपाकर्षण के।[१] वे कृष्ण की माधुरी मूर्ति पर मुग्ध है। उनकी गोपियो मे सबसे अधिक यदि कोई भाव है तो रूपासक्ति। यह रूपासक्ति कही-कही बाल-छवि के प्रति भी व्यक्त हुई है

"आजु गई हुती भोरहि हौ रसखानि रई कहि नन्द के भौनहिं।
वाको जियो जुग लाख करोर जसोमति को सुख जात कह्यो नहिं।
तेल लगाइ, लगाइ कै अजन, भौह बनाइ बनाइ डिठौनहिं।
डालि हमेलनि हार निहारत बारत ज्यौ चुचुकारत छौनहि।"[२]

पर इस प्रकार के स्थलो मे, जो मात्रा मे नगण्य है, वात्सल्य का परिपाक नही है। वस्तुत ऐसे बाल-चित्रण प्रासगिक ही है।

सयाग श्रृगार के अन्तर्गत आने वाले कुछ चित्र उन्मुक्त भी हो गये है

"बागन काहे को जाओ पिया घर बैठेहि बाग लगाय दिखाऊ।
एडी अनार सी मौर रही बहिया दोउ चपे सी डार नवाऊ।
छातिन मे रस के निबुआ अरु घूघट खोलि कै दाख चबाऊ।
ढागन के रस के चसके रति फूलनि की रसखानि लुटाऊ॥[३]

पर इस प्रकार का चित्रण बहुत ही कम है। इनमे आगामी रीतिकाल झलकता है। मधुर-सम्प्रदायी उस काल मे इनसे भी अधिक खुले चित्रण करते हुए भक्ति-भावना की गहराई अनुभव करने का दावा कर रहे थे। एक रसिक मुसलमान और जीवन-भर रसिकता मे बहने वाले अनुरागी कवि मे उस युग मे ऐसी बातें आ जाना कोई आश्चर्य नही है। पर यह रसखान की रस-परिकल्पना का प्रमुख रूप नही है।

कृष्ण के मथुरा चले जाने के कारण गोपियो मे विरह का प्रसग आया है। रसखान के गोपी-विरह मे व्यथा की गम्भीरता अधिक है, तडप उतनी नही जितनी घनानन्द मे। सूर के समान उनके विरह मे व्यापकता एव अगाधता भी नही, पर उनके विरह की मर्मस्पर्शिता कम नही। उसमे सचारियो की योजना तो अधिक नही, पर अनुभाव-योजना, विशेषकर सात्त्विको की सुन्दर है

"उनही के सनेहन सानी रहै, उनही के जू नेह दिवानी रहै।
उनही की सुनै न औ बैन त्यो सैन सो चैन अनेकन ठानी रहै।
उनही सग डोलनि मे रसखानि सबै सुख सिन्धु अघानी रहै।
उनही बिन ज्यो जलहीन ह्वै मीन सी आखि मेरी असुवानी रहै।"[४]
"नव रग अनग भरी छबि सो वह मूरति आख गडी ही रहै।
जिय की नहिं जानत हौ सजनी रजनी असुवान लडी ही रहै।"[५]

---

१ रसखान और घन नन्द सुजान रसखान, १०।

२ "दोउ कानन कुडल मोरपखा सिर सोहै दुकूल नयो चटकौ।" वही, ३४।
"रूप अनूपम वा नट को हियरे अटक्यो अटक्यो अटक्यो।" रसखान का अमर काव्य, ३३।

३ रसखान और घन नन्द, १६।

४ रसखान का अमर काव्य सुजान-रसखान, १०६।

५ वही, १०७।

वस्तुत रमखान के विरह मे सयोग की स्मृतियो एव अनुभूतियो के अभाव की अनुभूति का चित्रण होने के कारण सयोग-कालीन बाते अधिक वर्णित होती है

"काह कहू रतिया की कथा बतिया कहि आवत है न कछूरी।
आय गोपाल लियो भरि अक कियो मन भायो पियो रस कू री।
ताहि दिना सो गडी अखिया रसखानि मेरे अग-अग मे पूरी।
पै न दिखाई परै अब सावरो दै कै वियोग विथा की मजूरी॥[1]

शान्तरस का स्वतन्त्र परिपाक तो नही, किन्तु कही-कही शान्ता रति के अवश्य दर्शन होते है

"कचन के मदिरनि दीठि ठहराति नाहि
सदा दीप माला लाल रतन उजारो सो।
और प्रभुताई कहा लौ बखानौ

प्रतिहारिन की भीर भूप टरत न द्वारे सो।
ऐसे ही भये तो कहा कीन्हौ रसखान जु पै
चित्त दै न कीन्ही प्रीति पीत पट वारे सो।"[2]

वस्तुत उनकी लोक-विरक्ति कृष्णानुरक्ति के रूप मे सामने आती है

"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौ।
आठहु सिद्ध नवौ निधि कौ सुख नद की गाय चराय बिसारौ।

कोटिकहू कलधौत के धाम करील की कुजनि ऊपर वारो।"[3]

परात्पर ब्रह्म तत्त्व श्रीकृष्ण को उन्होने कुजो के भीतर राधा के चरण पलोटते पाया है

"ब्रह्म मै ढूँढ्यो पुरानन गायन वेद रिचा सुनि चौगुने चायनि।
देख्यो दुर्यो वह कुज कुटीर मे बैठो पलोटतु राधिका पायन।"

सब मिलाकर रसखान की रस-परिकल्पना एक मधुर रस की ही है। उसमे सयोग की प्रधानता है। सयोग एकाध स्थलो को छोड सयत है। वियोग सामान्य है। उनका आदर्श गोपी-प्रेम है जिसका चित्रण वल्लभ-सम्प्रदायी कवियो के समान हुआ है।

अब तक हमने प्रस्तुत अध्याय मे कृष्ण-भक्ति काव्य मे रस-परिकल्पना का अध्यनन किया है। यदि मात्रा को मिलाकर देखा जाय तो मधुर रस की ही प्रमुख परिकल्पना कृष्ण-काव्य की विशेषता रही है। कृष्ण-कवियो ने कृष्ण की बाल और किशोर लीलाओ के मधुरिम सगीत मे अपने हृदय की अनुभूतियो को घोला है। उनके सामने प्रेम ही आदर्श था, प्रेम ही मर्यादा। और इस सर्वोपरि प्रेम-मर्यादा के लिए उन्होने लोक-नेम की पूर्णत उपेक्षा ही की।

अब हम अगले अध्याय मे अपने आलोच्य काल के प्रमुख राम काव्य मे निहित रस-परिकल्पना का अध्ययन करने का प्रयास करेंगे।

---

१ 'रसखान का अमर काव्य' सुजान रसखान, ११०।

२ वही, ७ तथा द्रष्टव्य ८, ९, १०।

३ वही, ५।

६
रामभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना

विगत अध्याय मे हम कृष्ण भक्ति-काव्य मे रस-परिकल्पना का अध्ययन कर चुके है, प्रस्तुत अध्याय मे हमे अपने आलोच्य काल के रामभक्ति-काव्य मे रस-परिकल्पना का परिचय प्राप्त करना है।

रामभक्ति शाखा के निम्न कवि हमारे काल की परिधि मे आते है

१ तुलसीदास	२ अग्रदास
३ नाभादास	४ हृदयराम
५ प्राणचन्द चौहान	६ केशवदास
७ सेनापति	

इनके अतिरिक्त दो-चार और छोटे-मोटे कवियो के नामो का उल्लेख मिल जाता है जैसे रायमल्ल पाडे,[1] बलदास, लालदास[2] आदि। पर भक्ति-काव्य की दृष्टि से इनकी रचनाओ का स्थान नगण्य है। उदाहरणस्वरूप बलदास का 'चित्तावबोधन' ब्रह्म-सृष्टि-ज्ञान और योग-साधन वर्णन की एक सामान्य रचना है। किसी रचना को उसमे राम की चर्चा आ जाने या ज्ञान-वैराग्य की बाते दोहा-चौपाई मे लिखे जाने के कारण ही रामभक्ति-साहित्य मे स्थान नही दिया जा सकता। भक्ति-काव्य के भीतर गिने जाने के लिए उसमे भक्ति का परिपाक अपेक्षित है, वैष्णव साहित्य की परिधि मे आने के लिए उसमे वैष्णव चेतना का समावेश आवश्यक है।

ऊपर के सात नामो मे भी हृदयराम और प्राणचन्द चौहान का स्थान रस-परिकल्पना की दृष्टि से अलग अध्येय नही है। प्राणचन्द का 'रामायण महानाटक' एक वर्णनात्मकता-प्रधान साधारण कोटि की रचना है। उसमे न काव्यरस का अच्छा परिपाक है, न भक्ति-रस का। हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' सस्कृत के इसी नाम के एक नाटक पर आधारित कवित्त-सवैयो की रचना है। इन रचनाओ मे नाटक नाम लगे होने पर भी न नाटकीय कथा-विकास है न नाटकीय रस परिपाक। सवादात्मक तत्त्व का अवश्य प्रयोग है। इनके भक्ति-आदर्श तुलसी द्वारा अपनाये लोक-प्रतिष्ठित राम-भक्ति के आदर्शो के अनुरूप ही हैं, फिर भी रस-परिपाक की दृष्टि से इन रचनाओ का विशिष्ट स्थान नही है। वास्तविकता तो यह है कि रामभक्ति की आदर्शवादी धारा मे तुलसी ही एक उज्ज्वल आदर्श

---

१ डा० रामनिरञ्जन पाडे, रामभक्ति-शाखा, पृ० ४५९, आ० रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी सा० का इतिहास, स० २०१४ पृ० १३९ के आधार पर सूचना।

२ डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४७५।

है। उनकी रस-परिकल्पना एव भक्ति-भावना के परिचय-अध्ययन के अनन्तर इस धारा के अन्य कवियो के पृथक् अध्ययन के लिए कुछ शेष नही रह जाता।

दो धाराए—राम-भक्त कवियो को सुविधा के लिए हम दो धाराओ मे विभक्त करके चल सकते है—एक तो उन कवियो की धारा मिलती है जिन्होने राम के लोक-मगल कारी आदर्श-प्रधान चरित्र को सामने रखते हुए उनके अवतारी रूप के वैभव-ऐश्वर्य के अनुरूप ही रामकथा का गान किया है। ऐसे लोगो के प्रतिनिधि तुलसी है। दूसरी धारा उन कवियो की है जो कृष्ण-भक्ति की मधुर-साधना से प्रभावित होकर राम-भक्ति मे भी माधुर्य का समावेश करते हुए राम के आदर्श चरित्र को दृष्टिपथ से ओझल कर डालते है और कृष्ण के विहार-विलास के समान राम के विहार-विलास के भी चित्र उतारते है। पहली धारा को हम आदर्शवादी धारा कह सकते है, दूसरी को रसिक धारा।

रसिक धारा को प्रतिष्ठित साम्प्रदायिक रूप हमारे आलोच्य काल के बाद ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार कृष्णभक्ति के रसिकोपासको ने अपने पक्ष-समर्थन मे अनेक ग्रथो की रचना-व्याख्याए की, वैसे ही रसिकोपासक रामभक्तो के द्वारा भी किया गया। साम्प्रदायिक साहित्य के अनुरूप ही उनकी रचनाओ का एक प्रधान भाग सैद्धान्तिक निरूपण मे खपने लगा। पर यह सब सत्रहवी शती के अनन्तर हुआ, यो उन ग्रथो, टीकाओ, व्याख्याओ को सम्प्रदाय के लोग बहुत प्राचीन मानते है और अपनी रसिक-भावना को कृष्णभक्ति की रसिक-भावना का मूल कहते है। किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत ही है।

हमारे आलोच्य काल मे रसिक धारा का प्रौढ साम्प्रदायिक रूप सामने नही आता। केवल अग्रदास और नाभादास मे यह रसिकोपासना पायी जाती है। इन दो महानुभावो के आधार पर ही हमारे युग मे रसिक भक्ति को धारा के रूप मे नही समझा जा सकता। किन्तु परवर्तिनी रूढ धारा की पूर्ववर्तिनी व्यवस्थित कडी के रूप मे उसे अवश्य समझा जा सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त कवियो को हम इन दो धाराओ मे निम्न रूप मे वर्गीकृत करके चल सकते है

आदर्शवादी धारा	**रसिक धारा**
तुलसीदास	अग्रदास
केशवदास	नाभादास
सेनापति	

ये ही रामभक्ति के हमारे युग के प्रधान कवि है। हम इन्ही की रस-परिकल्पना का अध्ययन प्रस्तुत अध्याय मे करेगे। पहले आदर्शवादी धारा के कवियो को, पीछे रसिक धारा के कवियो को लेना है।

तुलसीदासजी

हम तुलसी की रस-दृष्टि का परिचय 'हिन्दी वैष्णव कवियो की रस-विषयक आचार्य-चेतनाए' शीर्षक अध्याय मे प्राप्त कर चुके है। तुलसी की दृष्टि से उनके काव्य का एक ही विषय है—राम-सुयश का गान, और एक ही रस है—भक्तिरस। काव्यरसो के रूप मे स्वीकृत शृगारादि रस इसी अगी भक्तिरस के आश्रित एव उपजीवी है, इससे स्वतन्त्र

होने पर तुलसी के लिए वे विषय-रस है। तुलसी के काव्य मे रस-परिकल्पना इसी दृष्टिकोण से सर्वत्र परिचालित है।

रस-परिकल्पना की इस आधार-भूत चेतना को सर्वत्र सामने रखते हुए भी यत्किंचित् दृष्टिकोण के रूपान्तर के कारण उनकी रचनाओ मे रस-परिकल्पना का रूप भी बदला है। उनकी विविध रचनाओ मे उनका उपर्युक्त अगी भक्तिरस विविध रूपो मे परिकल्पित हुआ है। पर यह ध्यान रखने की बात है कि यह सब होते हुए भी उनकी समूची रचना राम-गान ही रही है, किसी प्राकृत जन का गुण-गान कर उनकी गिरा को पछतावा कभी नही करना पडा।

रामचरित गान के लिए तुलसी ने हिन्दी के स्वयुगीन सभी रूपो एव शैलियो का उपयोग कर उच्चकोटि के साहित्य की सृष्टि की है। राम-गान को उन्होने विविध ग्रथो मे विविध दृष्टियो से विविध कोणो से प्रस्तुत किया है। इस विविधता के अनुरूप ही रस-परिकल्पना की विविधता भी हमे उनकी रचनाओ मे मिलती है।

तुलसी की अपनी भक्ति-भावना आदर्शमयी दास्यभक्ति की है, इस भक्ति मे उच्च कोटि के ज्ञान-विवेक-विराग का भी योग है। उनका काव्य इसी भक्ति के रसात्मक परिपाक का काव्य है। फिर भी उनके सामने भक्ति की विविध धाराओ को तरगित करते हुए बहने वाला उनका युग भी है। इसमे कृष्ण-भक्ति की रमणीय तरगिणी भी प्रभावित है। वे अपने आदर्श की सीमाओ मे रहते हुए ही कृष्ण-भक्ति की रमणीयता से भी प्रभावित हुए है। कृष्णगीतावली उसी प्रभाव का व्यक्त रूप है। गीतावली की रचना मे वह प्रभाव अव्यक्त रूप मे बोला है। तुलसी की रस-परिकल्पना मे रूपान्तर डालने वाला एक तत्त्व काव्यत्व है, दूसरा है कृष्ण-भक्ति।

यो तुलसी का एक-एक शब्द उत्कृष्ट काव्य का निदर्शन है। साहित्य-रसिको के लिए उसका कही फीकापन अखरे भी, तब भी भावुक भक्तो के लिए तो वह सर्वदा वेद-वाक्य-सा प्रमाण है। पर तुलसी की दृष्टि मे काव्यरसो एव भक्तिरसो की पृथक् स्थिति की चेतना जागरूक रहती है। वे सदा यत्नशील रहते है कि उनके काव्य-रस कभी विषय-रस न बनने पाए। अत काव्यरसो एव भक्ति रस के अन्य रूपो के योग एव समन्वय से उनके काव्य मे रस-परिकल्पना के चार रूप हमारे सामने प्रमुख रूप मे आते है

१ अपने दृष्टिकोण के अनुरूप केवल भक्तिरस की परिकल्पना, जिसमे काव्यरसो के परिपाक की ओर दृष्टि नही, और न ही भक्ति के अन्य किसी रूप की ओर ध्यान है। इसे हम विशुद्ध भक्तिरस की परिकल्पना कह सकते है।
२ अगभूत काव्यरसो के द्वारा परिपुष्ट भक्तिरस अगी की परिकल्पना।
३ भक्तिरस के अगी-रूप मे नही, किन्तु एक व्यापक भावना के रूप मे रखते हुए काव्यरसो का परिपाक।
४ अपने आदर्श भक्ति-रस के साथ अन्य भक्तिरस-रूपो के समन्वय की रस-परिकल्पना।

इन चार रूपो मे प्रथम तीन तो तुलसी के आदर्श भक्तिरस और काव्य-रसो के योग के कारण हैं, चौथा भक्ति-रस के अन्य रूपो के साथ समन्वय दृष्टि का फल है। पहले तीन

रूपो मे काव्यरसो की स्थिति क्रमश नगण्य अगात्मक और प्रधानीभूत है। इन तीनो मे भक्तिरम क्रमश एकमात्र, अगी और गुणीभूत हैं।

तुलसी की इम चर्नुविध रस-परिकल्पना के परिचायक उनके अलग-अलग चार ग्रथ हमारे सामने है। ये ग्रथ है क्रमश —विनयपत्रिका, रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली। विनयपत्रिका शुद्व भक्तिरस का ग्रन्थ है, रामचरितमानस काव्यरम-परिपुष्ट अगी भक्तिरम का काव्य है, कवितावली भक्ति-परिपुष्ट काव्य-रसो की परिकल्पना सामने लाती है, गीतावली भक्तिरस के समन्वय का काव्य है। उनके भक्तिरस की परिकल्पना के चारो रूप हमे इन चार ग्रथो म मिल जाते हैं।

यो तुलसी का साहित्य मात्रा और सख्या म विशाल है। सर्व-सम्मति या अधिक-मति से प्रामाणिक रूप मे स्वीकृत भी उनकी रचनाओ की सख्या पर्याप्त है। पर उनके समूचे साहित्य का सार विनयपत्रिका, रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली मे समाहित हे। अन्य रचनाए इनम निहित भाव-भूमि को ही विविध रूपो-शैलियो आदि के माध्यम से प्रस्तुत करती है। रस परिकल्पना की दृष्टि से तो उनकी ये ही आधार कृतियाँ है। हम तुलसी की रस-परिकल्पना का अध्ययन करने के लिए इन चार कृतियो को ही आधार बना कर चलेगे।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। सूर और तुलसी हमारे साहित्य के सर्वाधिक अधीत महाकवि है। आलोचको, शोधको और भक्तो ने इन महाकवियो के ऊपर न जाने कितना लिखा है, कितना विचार किया है। इनकी रस-परिकल्पना भी किसी न किसी रूप मे बहु-अधीत हो चुकी है। वह अछूती नही, आज अपरिचित नही। उसके अध्ययन मे दृष्टिकोण भेद हो सकता है, कोई नया आविष्कार नही। इन सब वस्तुस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए हम यहाँ उन बातो का पिष्ट-पेषण न करना चाहेगे जो सर्व-परिचित है, विद्वानो के द्वारा बहुत कही जाती रही है। अत, सक्षेप के साथ यहाँ हमे अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करना ही इष्ट है। हा, विद्वानो के अध्ययन का लाभ उठाने का अधिकार भी हम सुरक्षित रखना चाहेगे।

विनयपत्रिका—भक्तिरस के परिपाक की दृष्टि से विनयपत्रिका तुलसी की सर्व-श्रष्ठ कृति है। इसमे तुलसी की गभीर एव प्राजल अनुराग-भावना आत्माभिव्यजन के रूप मे व्यक्त हुई है। अत इसकी रस-परिकल्पना मे जो अनुभूति की तीव्रता है वह अन्यत्र नही मिलती।

विनयपत्रिका भक्तिरस का उत्कृष्ट काव्य है। इस भक्तिरस के उसमे दो रूप दिखायी पडते है—दास्यभक्तिरस, एव शान्तभक्तिरस। कही कही कुछ पदो मे निर्वेद-विवेक-तत्त्वज्ञानादि-मूलक स्वतन्त्र शान्तरस के भी दर्शन होते है। पर यदि पत्रिका की समूची भाव-धारा के बीच उन पदो की रस-परिकल्पना को रखकर परखा जाय तो वे भी शान्त-भक्तिरस के ही अन्तर्गत होगे।

भक्तिरस के इन्ही दो रूपो की अनन्त भाव-रश्मियो का प्रस्फुटन एव अनुरजन विनयपत्रिका मे मिलता है। इन भाव-रश्मियो की विविधता एव रगीनी अपने मे इतनी विचित्र है कि काव्यशास्त्र के स्थूल बधान उन्हे परिगणित करके अपने मे परिसीमित करने मे असमर्थ है। विनय-पत्रिका मे भक्तिरस की छाया मे तरगायित भाव-व्यजना को हम तीन प्रमुख वर्गों मे वर्गीकृत कर सकते है

(क) सचारी रूप मे,

(ख) अग-रूप मे,

(ग) अनुभाव-रूप मे ।

इन रूपो के अतिरिक्त अनेकत्र एक भाव दूसरे भाव को जन्म देता हुआ विभाव-रूप मे भी चित्रित मिलेगा ।

'पत्रिका' की भक्ति स्वरूपत प्रेम-लक्षणा है । उसकी अनन्यता, तल्लीनता एव प्रेमावेश कवियो एव भक्तो के लिए स्पृहणीय है । पर यह भक्ति उच्च कोटि के विराग-विवेक एव तत्त्व ज्ञान पर भी आधारित है । इस निर्मल आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित अनुराग अपने मे आनन्द भी रहा है, मगल भी । इस मणि-काञ्चन योग का प्रभाव रस परिकल्पना पर यह पडा है कि पत्रिका मे भक्ति एव शान्त घुलकर एकाकार हो गये है । उसमे जब आप अनुराग की वेगवती धारा देखेगे, तभी उसके मूल मे गहरा विराग भी आपको मिलेगा । राम-चरण-अनुराग मे ही ससार विराग घुला हुआ है । इसी प्रकार जब शान्त की निस्वन धारा प्रवाहित मिलेगी तो साथ ही उसका मुख अनुराग के अतल उदधि की ओर मिलेगा । इस रूप मे पत्रिका मे भक्ति और शान्त को परस्पर एक-दूसरे से सर्वथा अलग करना असम्भव है । फिर भी स्थल-विशेषो के आधार पर, अभिव्यजना एव परिकल्पना के रूपान्तर के आधार पर तथा भाव-व्यजना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कही भक्ति-रस की प्रधानता है, कही शान्तभक्तिरस की, कही शुद्ध शान्त की । इसी दृष्टि से हम पत्रिका मे दास्यभक्तिरस, शान्तभक्तिरस एव शान्त तीनो की परिकल्पना का अलग-अलग स्वरूप देखेगे ।

यह हम पुन याद दिला दे कि पत्रिका मे उच्च कोटि का कवित्व होते हुए भी काव्य-रसो का परिपाक नही है, न स्वतन्त्र, न अगरूप मे । जो अनेक भावो की झलक मिलती है, वह सब भाव-व्यजना के अन्तर्गत है, रस-परिपाक मे नही आती ।

दास्य भक्तिरस

विनयपत्रिका की भाव-भूमि का केन्द्रबिन्दु निम्न पक्तियो मे समाहित है

"राम सौ बडौ है कौन मोसौ कौन छोटौ ।
राम मो खरो है कौन मोसो कौन खोटो ।"[1]

इस केन्द्रीय भाव की परिधि ही व्यापक होते-होते शक्ति-शील-सौन्दर्य की राशि भगवान् राम के महत्त्व, पतितपावनत्व एव अनन्त भक्तवत्सलत्व तथा तुलसी के लघुत्व, दैन्य एव अनन्यत्व के नाना रूपो मे फैल गयी है ।

देव-रतिया—पत्रिका के प्रारम्भ मे तुलसी ने गणेश, सूर्य, शिव, देवी, गगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता की स्तुतिया की है । इन स्तुतियो मे तत्तद्विषयक रति-भाव की व्यजना है, सामान्यत इनमे वर्ण्य के रूप एव गुणो का विषयात्मक वर्णन आलम्बन एव उद्दीपन रूप मे रति-भाव का विभाव-पक्ष खडा करता है, अनुभावो एव सचारियो की स्थिति दुर्बल है, भाषा सस्कृत-निष्ठ पदावली की आवेगमयी गति लिए हुए

---

१ विनयपत्रिका, पद ७२ ।

है। इन स्तुतियो मे से शिव, हनुमान तथा सीता की स्तुतियो मे ही तुलसी के सहज अनुराग की झलक मिलती है।

इन स्तुतियो मे अभिव्यजित किसी विशिष्ट देवादि के प्रति रति अपने मे साध्य नही है। सभी देवताओ की स्तुति करते हुए प्राय उनमे रामरति प्राप्त कराने की प्रार्थना तुलसी करते है।[1] हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और सीता इन राम-परिकर के लोगो की स्तुतियो मे रामरति की उपलब्धि की सीधी प्रार्थना न होने पर भी तुलसी का उद्देश्य वही है जो अन्य स्तुतियो मे है। यह उद्देश्य विनयपत्रिका के अन्त मे जाकर स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार इन स्तुतियो मे व्यजित तत्तद् रति की काव्यशास्त्रीय स्थिति स्वतन्त्र रस-परिकल्पना या भाव-व्यजना के अन्तर्गत नही आती। इनमे व्यजित रतिया रामरति का अग बन जाती है। अत देवादि-विषयक रति-भाव एक दूसरे राम-विषयक रति-भाव के अग होने के कारण काव्यशास्त्रीय दृष्टि से 'प्रेय' या 'अपराग गुणी-भूत व्यग्य' का विषय है। पर भक्ति को रस मान कर चलने पर ये समस्त विविध रतिया भक्ति-रस के ही अग रूप मे आती है।

इतना होने हुए भी इन पदो मे राम-विषयक भक्तिरस का परिपाक नही हो पाता। रामरति एक भाव के रूप मे ही यहा अन्तर्निहित रह जाती है। ये स्थितिया काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी, और भक्तिशास्त्र की दृष्टि से भी 'भाव' की ही स्थितिया है, रस-स्थितिया नही।

इन देव-स्तुतियो के अनन्तर कई पदो मे उसी प्रकार की स्तोत्र-पद्धति वाली पदावली और छन्द-गति के द्वारा राम की स्तुतिया भी की गयी है। इनमे राम के नाम, रूप, गुणो के वर्णन द्वारा राम-विषयक रति का विभाव पक्ष तो खडा किया गया है किन्तु रस-परिपाक के लिए अपेक्षित सचारी भावो की योजना एव अनुभावो के विधान का प्राय अभाव है। इस प्रकार इन पदो मे भी राम-रति भाव-कोटि की ही रह जाती है, रस कोटि को प्राप्त नही हो पाती।

किन्तु इन स्तुतियो से आगे बढकर नाना सचारियो एव अनुभावो की सुन्दर नियोजना से भक्ति-रस की धारा प्रवाहित हो निकलती है। अनन्यता, दैन्य एव प्रेम-विवशता तुलसी की दास्य-भक्ति की अपनी विशेषताए बन गयी है। भगवान् के महत्त्व की अनुभूति, पतित-पावनत्व के विरद का गान, आत्म-दैन्य एव आत्म-पतितत्व की चेतना के साथ आत्म-निवेदन तुलसी से अधिक किसी अन्य भक्त मे नही मिलेगा। ससार-लिप्सु मानव के कलुषपूर्ण मन को विश्वास और साहस के साथ अनन्त शील-सम्पन्न अहैतुक कृपालु भगवान् राम के समक्ष प्रस्तुत कराने मे जो आश्चर्यपूर्ण कार्य विनय पत्रिका करती है वह अन्य कोई रचना नही

---

१ "मागत तुलसिदास कर जोरे। बसहि रामसिय मानस मोरे।" गणेशस्तुति, पत्रिका, पद १।

"तुलसी रामभगति वर मागे।" सूर्यस्तुति, वही, पद २।

"देहु कामरिपु रामचरन-रति।" वही, शिवस्तुति, पद ३।

"तुलसी बसि हर पुरी रामजपु जो भयो चहै सुपासी" काशीस्तुति, वही, पद २२।

"तुलसी जो रामपद चहिय प्रेम। सेइय करि निरुपाधि प्रेम।" चित्रकूट, वही, पद २३। देवीस्तुति, पद १५। गगास्तुति, पद १७।

करती। इस क्षेत्र मे थोडा सूर के पदो का योग अवश्य है, पर सूर इस क्षेत्र मे जमे नही रहे, तुलसी का यह अपना क्षेत्र ही बना। इस प्रकार की अनुभूतियो का सहज स्रोत तुलसी के हृदय मे निहित है जो विनयपत्रिका के रूप मे व्यक्त हुआ है।

"और मोहि को है, काहि कहिहौ,
रक राज ज्यौ मन कौ मनोरथ केहि सुनाइ सुख लहिहौ।
इतनी जिय लालमा दाम के कहत पानही गहिहौ।
दीजै वचन कि हृदय आनिये "तुलमी को पन निर्बहिहौ"।"[1]

विनयपत्रिका ज्यो-ज्यो आगे बढती जाती है, अगाध प्रेम एव विश्वास की निकटता घनीभून होती जाती है। भगवत्प्रेम सम्बन्धित अनेक भाव पहले के पदो मे सचारी के रूप मे आते है और दास्यरति का पोषण करते है, किन्तु अन्तिम पदो मे प्रेम की तीव्र अनुभूति तीव्र-गति से प्रवाहित सरिता के समान भावो को इस प्रकार उछाल-उछालकर बाहर फेकती चली जाती है कि पाठक का मानम-तट नूतन-नूतन भाव-लहरियो से रमाप्लावित होता चला जाय। रति की गहरी अनुभूति से उत्पन्न इन अनेक प्रकार की भाव-लहरियो को भगवद्रति का अनुभावात्मक भाव ही समझना चाहिए।

"पन करि हौ हठि आजुते रामद्वार पर्यो हौ।
तू मेरो यह बिन कहे उठिहौ न जनम भरि, प्रभु की सौ करि निबर्यो हौ।

हौ मचला लै छाडिहौ जेहि लागि अर्यो हौ।
तुम दयालु, बनिहै दिये, बलि, बिलब न कीजिये, जात गलानि गर्यो हौ।
प्रगट कहत जो सकुचिये, अपराध भर्यो हौ।
तौ मन मे अपनाइये तुलसिहि कृपा करि, कलि विलोकि हहर्यो हौ।"[2]

ये भाव प्रेमानुभूति के उच्छलन है। इन्हे काव्य-शास्त्र के बधे नामो मे चाहे समेटा जाय या नही, पर इनका उभार प्रेम की गहरी अनुभूति के कारण ही हुआ है। अनुवर्तिनी अनुभूतिया होने के कारण ऐसे भाव अनुभाव-रूप ही होते है।

'अब लौ नसानी अब न नसैहो।
रामकृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहो।
पायेउ नाम चारु चिन्तामनि, उर कर ते न खसैहौ।[3]

इस प्रकार के न जाने कितने प्रेम-सिचित भाव विनयपत्रिका मे बिखरे हुए है। विनय-पत्रिका की भक्ति-भावना का मूल स्वर दास्य-भक्ति का होने के कारण ये सब भाव दास्य-भक्तिरस की परिकल्पना के अन्तर्गत आते है।

शान्त भक्तिरस

हम पीछे कह चुके है कि तुलमी की भक्ति मे शान्त सहज रूप से घुला हुआ है। शान्त सम्बन्धी पदो को हम पत्रिका मे दो रूपो मे पाते है—एक तो जहा मन प्रबोध, विवेक, तत्व-ज्ञान आदि की चर्चा एव अनुभूति स्वतन्त्र रूप मे की गयी है। दूसरे जहा यह प्रशान्त अनुभूति भगवद्रति-पर्यवसायिनी हो जाती है। दूसरी प्रकार की स्थितिया शान्तभक्तिरस के

१ विनयपत्रिका, पद २३१।
२. वही, पद २६७।
३ वही, पद १०५।

अन्तर्गत मानी जाती है, प्रथम प्रकार की शान्तरम के अन्तर्गत। शान्तभक्तिरस के निम्न नमूने पत्रिका मे से देखे जा मकते हे

(क) "हे हरि, यह भ्रम की अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत सशय-सदेह न जाई।

तुलसिदास सब बिधि प्रपच जग, जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भगति, सत-सगति बिनु को भव-त्रास मिटावै।"[1]

(ख) 'ऐसी मूढता या मन की।
परिहरि राम-भगति सुरसरिता आस करत ओस कन की।
धूम-समूह निरखि चातक ज्यौ तृषित जानि मति घन की।
नहि तह सीतलता न बारि पुनि हानि होति लोचन की।
कह लो कहौ कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की।"[2]

इस प्रकार के पदो मे मन प्रबोध, विवेक एव शम की गहरी अनुभूति होती है किन्तु इस प्रशान्त अनुभूति का साक्षात् सम्बन्ध भगवत्प्रेम की अनुभूति से होता है। इस प्रकार की अनुभूतिया शान्तभक्तिरस की कही जा सकती है।

शान्त रस

विनय-पत्रिका मे अनेक पद इस प्रकार के भी है जिनका स्वर ज्ञान-विवेक एव तत्त्व-ज्ञान के गहरे अनुभवो से निकला हुआ है। यदि इन पदो को पत्रिका की प्रवाहिनी भाव-धारा मे रख कर न जाचा जाय तो इनमे शान्तरस की तीव्र एव निर्मल अनुभूति सामने आती है। निम्न पद इसी कोटि के है

(क) "जागु जागु जीव जड जोहै जग-जामिनी।
देह-गेह नेह जानि जैसे घन-दामिनी।
सोवत सपनेहू सहै ससृति-सताप रे।
बूड्यौ मृग-वारि, खायो जेवरी को साप रे।
कहै वेद बुध तू तो बूझि मन माहि रे।
दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहि रे।
तुलसी जागे ते जाय ताप तिहू ताय रे।
रामनाम सुचि-रुचि सहज सुभाय रे।"[3]

(ख) "केशव कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिये।

•

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै।"[4]

---

१ विनयपत्रिका, पद १२१।
२. वही, पद ९०।
३. वही, पद ७३।
४. वही, पद १११।

इस प्रकार की अनुभूतिया शुद्ध शान्त रस के अन्तर्गत आती है।

पाठक के लिए विनय-पत्रिका की अनुभूति आत्माभिव्यजन के रूप मे प्रस्तुत किये जाने पर भी सीधी और सरल है, उसमे कोई उलझन 'कम्प्लैक्स' नही है। जिन रसो की जैमी परिकल्पना है वैमी ही पाठक को अनुभूति होती है। उसकी विभाव सामग्री मे साधारणीकृत होने की पूर्ण क्षमता है। क्या भाव-व्यजना और क्या रसानुभूति सभी स्थितियो मे पाठक तुलसी से समानुभूति प्राप्त करता चला जाता है।

विनयपत्रिका की रस-परिकल्पना की विशेषता यह है कि इसमे कवित्व एव भक्ति दोनो की उच्च कोटि की अनुभूति है। सहज अनुभूति, सहज आत्म-निवेदन, सहज भगवत्प्रेम। जन-जन जिन अनुभूतियो को अपना बना सके, दुनिया की चोटो से व्यथित होकर जो भगवान् के सामने खडा होना चाहता हो, और शब्द न पा रहा हो, उसे तुलसी की पत्रिका रसमग्न ही नही करती, जबान भी देती है। जो दुनिया के प्रवाह मे बहा चला जा रहा है उसे झकझोर कर ऐसे प्रेमरस मे गोता लगा देना विनयपत्रिका का काम है जिसके सामने विषय-रस फीके लग निकले। लोक पर सहज रूप से शुभ प्रभाव छोडना विनयपत्रिका की रस-परिकल्पना का सहज गुण है। गहरी भावुकता, व्यापक हृदय-सवाद, अधिकतम साधारणीकरण, उदात्त भावोन्नयन एव मगलमय आवेग लिये हुए विनयपत्रिका की रस-परिकल्पना काव्य एव भक्ति का एक उच्च आदर्श है।

रामचरितमानस

'रामचरितमानस' मे भक्तिरस एव काव्यरस दोनो की परिकल्पना है। भक्तिरस 'मानस' का अगी रस है, काव्यरस उसके अग है। अत काव्यरसो का काव्यात्मक परिपाक भी उसी सीमा तक किया गया है जहा तक वे भक्तिरस के पोषक एव अग बने रहे। हम यहा रामचरितमानस मे रस-परिकल्पना का विवेचन इस अगी और अग रसो की स्थिति को अलग-अलग स्पष्ट करते हुए करेगे।

भक्तिरस—भक्तिरस मानस का अगी रस है, हम यह अभी कह चुके है। तुलसी की भक्ति दास्यभक्ति है, अत यह कहने की आवश्यकता नही कि मानस मे भी भक्तिरस का यही रूप परिकल्पित है।

दास्यभक्तिरस के लिए आलम्बन के महत्त्व और आश्रय के दैन्य-लघुत्व की अनुभूति आवश्यक है। दोनो पक्षो की चरम अनुभूति मे ही यह रस पूर्णत परिपाक पाता है। विनय-पत्रिका मे इसीलिए यह रस चरम कोटि पर है कि इसमे दोनो पक्षो की अनुभूति सघन है। 'मानस' मे आलम्बन के महत्त्व को उभारते हुए इस रस का विभावपक्ष जितना दृढ है उतना दूसरा पक्ष नही है।

'मानस' एक प्रबन्ध काव्य है। उसकी आधिकारिक कथा इसी रूप मे वर्णित है कि वह केवल रामचरित न होकर राम-सुयश-गान हो गयी है। राम-सुयश-गान बनकर ही यह कथा भक्ति की कल्लोलिनी है। अन्य पताका-प्रकरी कथाए इसी भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य मे निरूपित-विकसित है। इन कथाओ का एक ही लक्ष्य है भक्तिरस का परिपाक। सभी कथाए विकसित होकर राम का महत्त्व उभारकर भक्ति के विभावपक्ष को दृढ करती चली जाती है।

मानस के पात्रो के व्यक्तित्व का विकास सस्कृति, आदर्श, मनोविज्ञान और स्वाभाविकता के अनुरूप होते हुए भी उनकी दिशाए और सीमाए भक्तिरस के हाथो निर्धारित

होती है। मानस का कोई पात्र ऐसा न मिलेगा जिसके विकास पर तुलसी की भक्ति-भावना साभार न उतरती हो। नमूने के तौर पर एक उदाहरण लिया जा सकता है।

जनकपुर मे राम, लक्ष्मण और विश्वामित्र पहुँच चुके है। लक्ष्मण नगर-दर्शन के लिए उत्सुक है पर सकोच-वश खुलकर नही कह सकते। राम यह जान गये और उन्होने विश्वामित्रजी से सविनय अनुमति प्राप्त कर नगर देखने-दिखाने की योजना कर ली। इस घटना मे राम के शील, कुशलता एव भ्रातृ-स्नेह की झलक है। पर गोस्वामीजी इस बात को यो ही न रहने देगे। तुलसी के शब्दो मे राम के मन मे भ्रातृ स्नेह नही, 'भक्त-वात्सल्य' जगा है

"राम अनुज हिय की गति जानी।
भगत बछलता हिय हुलसानी।"[१]

राम के निवेदन पर अनुमति देते हुए विश्वामित्रजी की प्रतिक्रिया भी देखने योग्य है

"सुनि मुनीस कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती।
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता।"[२]

जब भाई और गुरु के साथ सामान्य बातो मे राम 'भगत-बछल', 'धरमसेतुपालक' 'प्रेम-बिबस', 'सेवक-सुखदाता' है, तो सामान्य पाठक और भक्तो के लिए तो कोई प्रश्न ही नही उठता। इस प्रकार का उदाहरण यह एक ही नही है, इसके अनेक साथी मानस-यात्रा मे पग-पग पर मिलेगे। ये स्थितियाँ काव्यरस के परिपाक के भले ही अनुकूल न हो, भक्तिरस के लिए तो ये ही परिपोषिका सिद्ध होती है।

तुलसी चार डग नही बढेगे—राम के महत्त्व की चर्चा आ जायगी। शायद, इसीलिए कि कही काव्यरसो का परिपाक अपने मे उभर न उठे। काव्यरसो के अधिक उभरने से भक्ति-रस के व्याहत होने के खतरे से गोस्वामीजी भली भाति परिचित थे। जिन कवियो ने इस महत्त्व चेतना को थोडा भी ओझल करते हुए रामचरित का गान किया है, उनके रामचरित-गान मे काव्यरस उभरे है, भक्तिरस दबा है। केशव और सेनापति के रामचरित-गान मे यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। भक्तिरस की परिकल्पना को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए तुलसी के पास रामचरितमानस मे राम के महत्त्व एव ब्रह्मत्व की चर्चा सबसे प्रमुख उपाय है।

मानस की प्रत्येक घटना, प्रत्येक पात्र, प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया का पर्यवसान राम महत्त्व मे है। उपक्रम, अभ्यास और उपसहार के रूप मे रामचरितमानस का प्रतिपाद्य रस राम-रस ही ठहरता है, यह तथ्य अपने मे इतना स्पष्ट है कि उदाहरणो से समर्थन की अपेक्षा नही रखता।

तुलसी की रति के आलम्बन राम है, दशरथ-सुत राम है। पर इन राम को उन्होने निर्गुण-सगुण की उभयात्मक स्थितियो मे एकाकार करके देखा है। राम की परब्रह्मता और परब्रह्म की रामता मानस का पदे-पदे प्रतिपाद्य है। उन्ही की लीलाओ का गान मानस का अगाध सुधारस है जिसमे प्रेमाभक्ति ने अपनी मधुरता और शीतलता मिला दी है।[3]

---

१ रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा २१७।३।

२ वही, दो० २१७।७-८।

३ "प्रेमभगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई।" मानस, बा० का०, ३५।६।

आलम्बन के विस्मय-पूर्ण कर्म, अनन्त शक्ति, चरम शील इस रति के लिए स्वय आकर्षण का केन्द्र भी है, उद्दीपन भी। शक्ति-शील-सौन्दर्य की निर्गुण-सगुण खनि के प्रति तुलसी के काव्य की रति अधानुरक्ति नही, भले ही उसमे अधानुरक्ति का आवेग-आवेश भरा है। यह रति ज्ञान-विवेक समन्वित है।[1] इस रति की सुरसरि के साथ कर्म की यमुना और ब्रह्म-विचार की सरस्वती का भी तीर्थराजी योग है।[2] इसमे लोक-कामनाओ का सर्वथा परिहार है।[3]

इस रति के लिए अ.लम्बन मे टूटकर गिरने का केन्द्र-बिन्दु राम के चरण है। यो राम का अग अग अनन्त सौन्दर्य सम्पन्न है, जिस पर अनन्त काम न्यौछावर है, पर तुलसी की मानस चित्रित रति मे समर्पण एव साधना का केन्द्र भगवान् के चरण है। यह चेतना ही तुलसी की भक्ति को दास्य मे प्रतिष्ठित करती है। शील की खनि भक्तवत्सल राम के प्रति दास्यमयी यह रति उनके चरण-कमलो के पराग का रस-पान है।[4]

रामचरितमानस मे इस राम-रति का 'कैन्वास' बहुत फैला हुआ है। यो यह रति राम के सगुण रूप के प्रति है, पर इस सगुण मे ही निर्गुण की महिमा भी अन्तर्व्याप्त है। कभी यह रति नामी से नाम को भी अधिक महत्त्व देते हुए नाम रति के रूप मे दिखायी देगी,[5] कभी राम प्रिय सन्तो एव राम के आराध्य शिव का गुण-गान करते हुए सन्त-रति और शिव-रति के रूप मे। शिव को तो तुलसी कभी राम का आराध्य और कभी राम का अनन्य आराधक दिखाकर राम से एकाकार कर देना चाहते है। राम की अभिन्न शक्ति सीता और अनन्य दास हनुमान् के प्रति भी आने वाली रति राम-रति का ही अन्यतम रूप है। नाना देव रतिया इसी राम रति की पोषिका-उद्भाविका के रूप मे चर्चा का विषय है।

तुलसी के मानस की यह राम-रति उनके 'रामचरितमानस' मे उसके प्रबन्ध-काव्य होने पर भी असाक्षात् रूप मे भी व्यक्त हुई है, स्थल-स्थल पर साक्षात् रूप मे भी। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि अन्य पात्रो द्वारा की हुई भाव-व्यजना मे भी तुलसी का अपना दृष्टिकोण ही उभरकर बोला है। इसी के कारण तुलसी के पात्र राम के महत्त्व और परब्रह्मत्व की जागरूक चेतना नही छोड सके। उदाहरण-स्वरूप वात्सल्य की प्रकृत अनुभूति के लिए यह आवश्यक था कि तुलसी की कौसल्या से राम का परब्रह्मत्व सूर की यशोदा के समान ओझल रहता। पर तुलसी के लिए यह कठिन था। कहिए, उन्हे इष्ट न था। कौसल्या, दशरथ, लक्ष्मण, विश्वामित्र, जनक, स्वय सीता सबके सब राम के परमेश्वरत्व के प्रति जगह जगह जागरूक है। इस जागरूकता से लौकिक सम्बन्धो की स्वाभाविकता भले ही कुछ कम होती हो, पर भक्तिरस की परिकल्पना निस्सन्देह पुष्ट होती है।

काव्य-रस—अब हम रामचरितमानस मे काव्यरसो की क्या स्थिति है, यह देखना चाहेगे। रामचरितमानस के बालकाण्ड मे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए तुलसी ने बताया है कि उनके इस ग्रन्थ मे एक भक्तिरस है, काव्यरस तो एक सुन्दर सरोवर की शोभा बढाने

---

१ "ग्य न बिराग भगति रस मानी।" वही, अयो० का०, ६१।३।

२ "रामभक्ति जह सुरसरि धारा। स सइ ब्रह्मविचार प्रचारा।
विधिनिषेधमय कलिमलहरनी। करमकथा रविनदिनि बरनी।" बा० का०, १.७-८।

३ 'सकल कामना हीन जे रामच न-रसलीन।" बा० का०, दो० २२।

४ "पदकमलप ागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना।" बा० का० २२१ छद ३।

५ बा० का० दो० १८-२६ नाम-म ह म्य।

वाले मीनादि कमनीय जलचर के समान है ।[1] यह अपने 'मानम' की तुलसी द्वारा की हुई अत्यन्त सजग समीक्षा है। मानस की रस-परिकल्पना का यही स्वरूप समझना चाहिए। यहा सभी रसो को अलग-अलग लेकर देखना अप्रासगिक न होगा।

शृगार—'मानस' मे तुलसी का शृगार-वर्णन अत्यन्त सीमित, सक्षिप्त एव सर्वत्र मर्यादित है। उनकी दास्यभक्ति-चेतना ने शृगार-परिकल्पना को सर्वत्र प्रभावित किया है। यदि कोई तुलसी से पूछे कि क्या उनके भक्त के लिए सीताराम के शृगारी चित्रो मे साधारणीकरण होता है, तो तुलमी का उत्तर एकदम नकारात्मक होगा। शिव पार्वती के विवाह के अनन्तर उनके शृगार-विलास का अवसर आया था। वर्णन के इस अवसर पर कालिदाम ने सारी मर्यादाओ को तिलाजलि दे दी थी। पर तुलमी के लिए यह असम्भव ही है

"जगत मातु-पितु सभु भवानी। तेहि सिगारु न कहउ बखानी।"[2]

शिव और पार्वती का शृगार ही उनके लिए अवर्ण्य है तो सीताराम के शृगार वर्णन का तो प्रश्न ही नही उठता। गीतावली को छोडकर उन्होने सर्वत्र यही आदर्श अपनाया है।

रामचरितमानस मे सयोग-शृगार के प्रमुखतया निम्न प्रसग आये है

१ पुष्प-वाटिका मे जनकपुर मे राम-सीता का मिलन।

२ वन-प्रसग मे ग्राम-वधुओ द्वारा रामादि के दर्शन पर।

३ उपर्युक्त शिव विबाह के अवसर पर।

शिव-विवाह के अवसर पर उनके शृगार-वर्णन के विषय मे तुलसी ने जो दृष्टिकोण अपनाया है, हम अभी देख चुके है।

जनकपुर मे पुष्पवाटिका के प्रसग मे सीता-राम के मिलन मे उत्पन्न प्रीति को विवाह से पूर्व की होने के कारण पूर्वराग के ढग की समझनी चाहिए। पर तुलसी ने उसके चित्रण को आश्चर्यजनक रूप से मर्यादित किया है। सखी के मुख से सीता को सूचना मिली कि उनकी वाटिका मे वे दोनो कुमार घूमने आये है जिन्होने अपने सौन्दर्य की मोहिनी सारे नगर पर डाल रखी है। मुनकर सीता के नयन दर्शन के लिए अकुलाने लगे। उत्कठा-रूप मे इम रति के उदय को दिखाकर भी तुलसी उसका सम्बन्ध 'पुरातन प्रीति' से जोड देते है

"चली अग्र करि प्रिय मखि सोई।
प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥
सुमिरि सीय नारद वचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित विलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत।"[3]

हृदय मे उत्कण्ठा, नयनो मे आकुलता और देखने मे मृगी शिशु का भय दिखाते हुए तुलसी 'पुरातन प्रीति' और नारद की बात सामने लाकर सीता-राम के अवतारी रूप को सामने ला देते है और यह प्रीत निश्चित रूप से 'पुनीत प्रीति' रह जाती है। सीता के अनिर्वचनीय सौन्दर्य का प्रभाव राम पर भी पडा। उमका चित्रण करने तुलसी बढ़े, पर इनीगिनी चौपाइयो के बाद ही सम्हल गये

---

१ "नव रम जप-तप जोग-बि ागा। ते मब जलचर चार तडागा।" बा० का०, ३६ १० ।

२. बा० कारड १०२।४।

३. बही, २२-।१०, २२६।

"ककन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि ॥
मानहु मदन दुदुभी दीनी । मनसा विस्व विजय कह कीन्ही ॥
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा । सिय मुख ससि भए नयन चकोरा ॥
भए विलोचन चारु अचचल। मनहु सकुचि निमि तजे दिगचल ॥
देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा ॥
जनु बिरचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कह प्रगटि दिखाई ॥
सुदरता कह सुन्दर करई । छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी । केहि पटतरौ बिदेहकुमारी ॥"[1]

इस प्रसग को उद्धृत करने से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी किस प्रकार सीता-राम के श्रृगार-चित्रण से बचते है। इस क्षेत्र की बारीक से बारीक अनुभूति को चित्रित कर सकने की उनमे पूरी-पूरी क्षमता है, पर वे जान-बूझकर बचना चाहते है, इस बात का यह प्रसग निदर्शन है। थोडेसे शब्दो मे व्यजित एव मर्यादित श्रृगार ही तुलसी की भक्ति-भावना मे आ सकता था।

इसी प्रकार वनपथ-प्रसग का श्रृगार सीमित एव व्यजित है। सौन्दर्य-शोभा से आकृष्ट ग्रामवधूटियो ने बडे सकोच एव विनय से सीता से पूछा—"कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे।"[2] सीता ने बडे सकोच के साथ मुस्कराते हुए उत्तर दिया

"सुनि सनेहमय मजुल बानी । सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी।
तिन्हहिं विलोकि विलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन विधु अचल ढाकी। पियतन चितै भौह करि बाकी।
खजन मजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेहु तिन्हहि सिय सयननि।'[3]

इस दाम्पत्य रति के सक्षिप्त किन्तु मनोरम चित्रण के साथ तुलसी ने कान्तारति का एक सामान्य रूप भी चित्रित किया है जिसे काव्य-शास्त्र की भाषा मे नही बाधा जा सकता। जनकपुर पहुचने पर राम लक्ष्मण नगर घूमने निकले। नगर-नारिया इन रूप-निधियो के सौन्दर्य को देखकर प्रेम-विवश हो गयी। वाटिका मे पहले पहल जिम सीता की सखी ने उन्हे देखा था उसकी प्रेम दशा भी अजीब थी।[4] वनपथ मे ग्रामवधुओ मे भी इस सौन्दर्य-राशि के प्रति आकर्षण दिखाया गया है।[5] पुरुष-सौन्दर्य के प्रति नारी का यह आकर्षण कान्तारति के अन्तगत ही आता है। किन्तु यह आकर्षण इतना निर्मल एव सहज है कि इसे

---

१ बा० का०, २२६।१-१०।

२ अयो० का०, ११६।१।

३ ११६।२-८।

४ "तेहि दोउ बधु विलोके जाई। प्रेमविबस सीता पहिं आई।
तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नैन।" बा० का०, दो० २२८।

५ अयो० का०, दो० ११४-५।
"मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा।"
"तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मनु मोहा।"

कान्तारति कहने से इसकी निर्मलता पर आच आती है। किसी अन्य शास्त्रीय शब्द के अभाव मे ही हम इसे 'सामान्य कान्तारति' कहकर चल रहे है। इस निर्मल शृगार का और सुन्दर परिपाक तुलसी ने कवितावली मे किया है।

सक्षेप मे मानस मे तुलसी का शृगार अत्यन्त मर्यादित, वर्णन मे अल्प एव सीमित, व्यजनापूर्ण, अनुभावो एव सचारियो के माध्यम से चित्रित होकर भी अस्थूल है। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और जगन्माता सीता के चरित्र मे तुलसी के भक्तिरस की परिकल्पना के भीतर इससे अधिक खुले शृगार-चित्रण की कोई गुजाइश नही।

सीता-हरण के अनन्तर वियोग के अवसर भी कवि को मिलते रहे है। वन मे राम पशुओ-वृक्षो-लताओ से सीता की खोज पूछते फिरते है, ऋतुए उन्हे दाहक होती हैं, और कुछ परम्परा-भक्त शैली मे किन्तु अत्यन्त सयत रूप मे राम अपनी वेदना अभिव्यक्त करते हैं। किन्तु इससे कोई यह न समझे कि यहा तुलसी के अतिमानवीयत्व की छाया हट गयी है। उनकी भाषा मे यह सब 'मनुज-चरित' है

"एहि विधि बिलपत खोजत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी।
पूरन काम राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अविनासी।"[1]

रावण-द्वारा हरण करते समय, अशोक-वाटिका मे उसके द्वारा यातनाए दिये जाने पर, तथा इसी प्रकार के अवसर निकलने पर तुलसी ने सीता के घनीभूत विरह-दुख का चित्रण किया है। यह विरह परिस्थिति, शील और व्यक्तित्व के अनुरूप अत्यन्त सयत एव सक्षिप्त है। अशोक-वाटिका मे सीता के विरह मे 'उन्माद' की स्थिति भी चित्रित है जब वे जल-मरने के लिए आकाश के अगारमय तारो से, पावकमय शशी से, अनलवर्षी पल्लवो वाले अशोको से अग्नि-कणो की याचना करती फिरती है। पर हनुमान् के साथ भेट मे सीता का विरह मर्यादित एव पुटपाक-व्यथा का सूचक ही चित्रित हुआ है

"बूडत बिरह जलधि हनुमाना। भयहु तात मो कहुँ जलजाना।
अब कहु कुसल जाउ बलिहारी। अनुज सहित सुखभवन खरारी।
कोमल चित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई।
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक।
कबहु नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता।
बचन न आव नयन भरे बारी। अहह नाथ हौ निपट बिसारी।
देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु बचन बिनीता।"[2]

इस प्रकार सब मिलाकर मात्रा मे शृगार सक्षिप्त, व्यजनापूर्ण एव भक्तिरस की सीमाओ मे मर्यादित है।

हास्यरस—गोस्वामी जी की गभीर प्रकृति और आदर्श चरित्र-चित्रण मे हास्य को भी विशेष अवकाश नही है।

नारद-मोह मे एक प्रसग हास्य का आता है जिसमे काम-पीडित नारद हास्य के आलम्बन के रूप मे चित्रित है

---

१ अरण्य काण्ड, दो० २९।१६-७।

२ सुन्दर का० १३।१-७।

'जेहि दिसि बैठे नारद फूली । सो दिसि तेहि न विलोकी भूली ।
पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाही । देखि दसा हरगन मुसुकाही ।"[1]

यह हास्य नारद के रत्याभास से उत्पन्न है। अभिनव ने भरत के 'शृ गाराज्जायते हास' की व्याख्या करते हुए इसी प्रकार के भावाभासो से हास्य की उत्पत्ति दिखायी है।[2]

इसी प्रकार शिव की बेढगी बारात के चित्रण मे भी हलके हास की योजना[3] की गयी है। भगवान् विष्णु सब देवताओ को शिव के अनूठे परिवार से अलग करा देते है। यह सब प्रेम-जन्य हास्य-विनोद है। यहा का हास स्नेह का फल है। अत इसका विभाव शिव-विषयक रति है।

इस प्रकार मानस मे हास्य यत्र-तत्र सचारी स्थितियो मे ही चित्रित है।

करुण—मानस के दो प्रसगो मे करुण की व्यजना अधिक मार्मिक है—एक तो राम के वन-प्रस्थान पर अयोध्या मे विरह-जन्य शोक का वातावरण जिसमे दशरथ की मृत्यु से शोक और घनीभूत हो उठा है, दूसरा है लकाकाण्ड मे लक्ष्मण के शक्ति लगने पर। दोनो ही प्रसगो मे शोक की परिकल्पना मर्मस्पर्शिनी है।

दशरथ की मृत्यु को तुलसी ने शोक के विभाव के रूप मे कम ही चित्रित किया है। दशरथ-मरण उस व्यापक शोक का उद्दीपन ही होकर आया है जो राम के वन चले जाने के कारण अयोध्या के नर-नारियो, पशु-पक्षियो, नदी-घाटो मे भी फैला हुआ हे। यह शोक-धारा चित्र-कूट पर भरत के पहुचने तक बहती चली जाती है।

विरह-जन्य शोक को सामान्यत शोक नही कहा जाता। किन्तु भरत के शोक के विभावो मे न केवल मृत्यु को अपितु इष्ट-विप्रयोग को भी परिगणित किया है।[4] गोस्वामीजी ने भी राम-वियोग को इसी गहरे विप्रयोग के रूप मे चित्रित किया है।

लक्ष्मण-शक्ति के प्रसग मे राम जैसे गम्भीर व्यक्ति को गहरे शोक मे दिखाकर तुलसी ने काव्योचित कार्य ही किया है। राम का यह शोक मर्यादाओ को तोडता दिखायी पडता है। यदि उन्हे ऐसा आभास होता तो वे पिता के वचन टाल देते। दुनिया कहेगी स्त्री के लिए भाई को राम ने खोया।[5]

रस-दृष्टि से तुलसी ने शोक को रस-परिपाक की स्थिति तक पहुँचाया है किन्तु उसे पूर्णत स्वतन्त्र विकसित नही होने दिया। उदाहरणत लक्ष्मण-शक्ति पर राम के शोक को राम के अपौरुषेयत्व की आगे-पीछे जागरूक चेतना दिखाकर पाठक के लिए शोकानुभूति का

---

१ बा० का०, १३४।१-२।

२ अभि० भा०, भा० १, पृ० २९६।

३. बालकाण्ड, शिव-विबाह-प्रसग।

४. ना० शा० अ० ६ पृ० ३१७। "शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघात-व्यसनसयोगादिभिर्विभावै' समुपजायते।"

५ (क) "जौ जनतेउ बन बधु बिछोहू। पिता वचन मनतेउ नहि ओहू।" ल० का०, ६०।६।

(ख) "जैहउ अवध कौन मुह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गवाई।
बरु अपयसु सहतेउ जग माहीं। नारि हानि विसेष छति नाही।
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा।" वही, ६०।१२-४।

स्वरूप कुछ हलका कर दिया है। उस प्रसग के आदि और अन्त इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य है

(क) उहा राम लछिमनहिं निहारी। बोले वचन मनुज अनुसारी।।"[१]

(ख) उमा एक अखड रघुराई। नरगति भगत कृपाल दिखायी।"[२]

इस प्रकार इस शोक-चित्रण मे तुलसी का उद्देश्य पाठक को शोकानुभूति कराना ही नही, अपितु उन राम के महत्त्व के प्रति श्रद्धानत करा देना है जो भाई के लिए नही, अपितु भक्त के लिए अपने आदर्श और मर्यादा को तिलाजलि देकर अपयश भी सहने को तैयार हैं।[3]

वीर और रौद्र—मानस मे उत्साह की व्यजना के तथा क्रोध के आवेग के अनेक प्रसग आये है, यद्यपि इन सबमे वीर और रौद्र का बधा-बधाया परिपाक नही है।

लक्ष्मण-परशुराम सवाद मे इसकी एक झलक मिलती है। दोनो ओर से आवेश का अच्छा चित्रण इस प्रसग मे है। परशुराम मे क्रोध के वाचिक और कायिक अनुभावो की योजना अच्छी है, पर लक्ष्मण मे क्रोध की अपेक्षा व्यग्य और चिढाने की प्रवृत्ति का चित्रण अधिक है। अत रौद्र का रसात्मक परिपाक इस प्रसग मे नही हो पाता।

वस्तुत इस प्रसग की योजना वीर या रौद्र के परिपाक के लिए है ही नही, अपितु परशुराम जैसे क्रोधी और क्षत्रियकुल-घालक गर्वोन्नत व्यक्ति को राम के सामने नत-फन दिखाकर अन्ततोगत्वा राम के महत्त्व की प्रतिष्ठा दिखानी है। इस प्रसग का अन्त तुलसी ने इसी रूप मे किया है

"जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेमु ममात।"[3]

अत इस प्रसग की भाव-व्यजनाओ का उपयोग राम-महत्त्व की दृष्टि से ही किया गया है। भक्तिरस की पुष्टि के लिए जहा तक इन भावो की व्यजना उठायी जा सकती थी, उठायी गयी है।

वीर और रौद्र दोनो की सुन्दर परिकल्पना हमे लका काण्ड मे मिलती है। अगद और रावण के सवाद मे उत्साह और आवेश का सफल उपयोग हुआ है। युद्ध मे तो वीर और रौद्र दोनो मिलकर चले है। युद्ध-प्रसग मे ही दो बार बीभत्स की योजना भी हुई है। साथ ही स्थल-स्थल पर कभी इस पक्ष मे तो कभी उस पक्ष मे भय की योजना करते हुए गोस्वामीजी ने युद्ध वर्णन को सजीव बनाया है। इस प्रसग मे भावो के अनुरूप ही शब्दावली और छन्द की गति ने रस-परिकल्पना को सफल बनाया है।

पर इन सब चित्रणो मे उद्देश्य है राम-महत्त्व की प्रतिष्ठा। अगद-रावण-सवाद मे जो भाव-व्यजना है उसका अवसान अगद के महत्त्व मे होता है। अगद ने सभा मे जाने से पूर्व रावण के एक पुत्र का सहार किया, सभा मे पहुँचकर समस्त सामन्तो के सहित रावण को छकाया, रावण के मुकुटो को उठाकर राम-दल मे फेक दिया। इस प्रकार अगद का महत्त्व गोस्वामीजी पग-पग उभारते चले गये है। किन्तु इस महत्त्व का श्रेय अगद को नही, राम को

---

१ लका काण्ड, ६०।१।

२ वही, ६०।१८।

३. बाल काण्ड, दो० २८४।

है । न स्वय अगद ही अपना महत्त्व समझते है, न कवि ही । समूचे प्रसग को तुलसी शिव के द्वारा इन शब्दो मे राम-महत्त्व मे पर्यवसित कर देते है

"उमा राम की भृकुटि विलासा । होइ विस्व पुनि पावइ नासा ।
तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई । तासु दूत पन कहु किमि टरई ।"[1]

इसी प्रकार युद्ध-प्रसग मे भी तुलसी राम के अलौकिक महत्त्व को बार-बार इस प्रकार सामने लाते रहते है कि रावण-पक्ष का महत्त्व बढकर भी शका आशका की स्थिति नही ला पाता, राम-पक्ष के महत्त्व के कर्म अपनी पूरी महत्ता स्थापित नही कर पाते । यहा तक कि स्वय भगवान् राम के वीरतापूर्ण कर्म भी उनके परमपुरुषत्व के वर्णन के कारण उनकी सामान्य क्रीडा मात्र रह जाते है

"उमा करत रघुपति नर लीला । खेलत गरुड जिमि अहिगन मीला ।
भृकुटि भग जो कालहि खाई । ताहि कि सोहइ ऐसि लराई ।"[2]

राम यदि स-दल नाग-पाश मे बध भी गये तो क्या हुआ ?

"रन-सोभा लगि प्रभुहिं बधायौ । नाग पास देवन भय पायो ।
गिरिजा जासु नाम जपि मुनि क टहिं भव पास ।
सो कि बध तर आवइ व्यापक विस्व निवास ।।"[3]

तो तुलसी के राम का मेघनाद की नाग-पाश मे बधना रण-शोभा के लिए है । तात्पर्य यह कि तुलसी का कवि वीर रौद्रादि रसो की सुन्दर योजना करता है किन्तु तुलसी का भक्त उन रसो के परिपाक को एक निश्चित रेखा से आगे नही बढने देता और उनका उपयोग उसी रूप मे करता है जिस रूप मे वे भगवान् राम का महत्त्व एव गुणानुवाद करते हुए भक्ति रस के अग बन सके ।

भयानक—रस कोटि तक पहुचने वाले भय के चित्र मानस मे कम ही है । लका काण्ड मे ही युद्ध प्रसग मे कभी एक सैन्य दल मे तो कभी दूसरे मे भय की स्थिति का तुलसी ने चित्रण किया है । ये भय की स्थितिया सामान्यत प्रसग व्याप्त रस की पोषक सचारी स्थितिया ही समझनी चाहिए ।

लका-दहन के समय भय विपक्ष-निष्ठ है । इस प्रसग मे भय का जैसा परिपाक कवितावली मे हुआ है वैसा मानस मे नही । विपक्ष-निष्ठ भय की अनुभूति मे पाठक डूबता नही, अपितु अपने मनोनीत पक्ष के महत्त्व मे नत होता है । इसी रूप मे इस प्रसग के भय की कल्पना है

"निबुक चढेउ कपि कनक अटारी । भई सभीत निसाचर नारी ।
हरि-प्रेरित तेहि अवसर चले पवन उनचास ।
अट्टहास करि गरजा कपि बढि लाग अकास ।
देह बिसाल परम हरुआई । मदिर ते मदिर चढि धाई ।
जरइ नगर भा लोग बिहाला । झपट लपट बहु कोटि कराला ।

---

१. लका काण्ड, ३४।८ ।
२ वही, ६५ १-२ ।
३ वही, ७२।१३ ।

तातु मातु हा सुनिय पुकारा । एहि अवसर को हमहि उबारा ।
हम जो कहा यह कपि नहि होई । बानर रूप धरे सुर कोई ।"[1]

इस चित्र मे लका-वासियो मे भय का विधान है । हनुमान् के आकार बढाने अदि मे अद्‌भुत की सृष्टि है । दोनो ही बाते हनुमान के महत्त्व की प्रतिष्ठा करती है । किन्तु वास्तविक महत्ता तो उस 'हरि' की है जिसने सभी वायुओ को प्रेरित किया है । सारी लका जली, विभीषण का घर नही जला । क्यो, यह शिवजी के मुख से सुनिए—

"ताकर दूत, अनल जेहि सिरजा । जरा न सो तेहि कारन गिरिजा ।"[2]

तो मानस मे भय के प्रसग अनेक है । अधिकाश मे तो उसकी स्थिति हलके सचारियो के रूप की है, प्राय इस वर्ग के सचारी भावो की ही । जिन प्रसगो मे इसका कुछ खुलकर परिपाक है भी, उनमे भी या तो यह वीर-रौद्र आदि किसी अन्य वर्ण्य रस का अग है, अथवा विषय-निष्ठ होता हुआ राम वर्ग का महत्त्व स्थापित करता हुआ अन्ततोगत्वा भक्तिरस के परिपाक मे योग देता है ।

बीभत्स—बीभत्स का स्वतन्त्र चित्रण मानस मे कही नही है । लकाकाण्ड मे ही युद्ध के प्रसगो मे दो स्थलो पर तुलसी ने युद्ध का वर्णन विषयानुरूप सजीव करने के लिए बीभत्स की झलक प्रस्तुत की है । अत वह बीभत्स वहाँ के प्रसग-निष्ठ रस का अग है, स्वतन्त्र नही ।

वात्सल्य—रामचरितमानस मे वात्सल्य की परिकल्पना भी राम के महत्त्व की अनावश्यक चेतना से दबी हुई है । यह चेतना उसे भक्तिरस मे ही पर्यवसित करती है, एक स्वतन्त्र रस के रूप मे परिकल्पित नही होने देती । बालक राम के प्रति वात्सल्य रति के अनुभव-कर्त्ता सभी पात्र राम के ब्रह्मत्व की चेतना से आक्रान्त है । राम के जन्म होते ही कौशल्या ने चतुर्भुज रूप के दर्शन कर भक्त के रूप मे स्तुति की । वशिष्ठ ने नामकरण के समय सबको आगाह करते हुए उनके परब्रह्मत्व का परिचय कराते हुए नाम रखे

"जो आनन्द-सिन्धु सुखरासी । सीकर तैं त्रैलोक सुपासी ।
सो सुखधाम राम अस नामा । अखिल लोक दायक विश्रामा ।"[3]

कभी मानो भूल से यदि कौसल्या को कभी वात्सल्य की स्वाभाविक अनुभूति हुई तो तुलसी अगली ही पक्ति मे उस शिशु की परब्रह्मता समझाने के लिए आपको तैयार मिलेगे

"हृदव अनुग्रह इदु प्रकासा । सूचत किरन मनोहर हासा ।
कबहुँ उछग कबहुँ बर पलना । मातु दुलराइ कहहि प्रिय ललना ।
व्यापक ब्रह्म निरजन निर्गुन बिगत विनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या की गोद ।"[4]

इस प्रकार की वात्सल्य-परिकल्पना मे काव्य-निष्ठ आश्रय पात्रो को भी वात्सल्य की

---

१ सुदर काण्ड, २४।१०, दो० २५ ।

२ वही, २५।७ ।

३ बालकाड, १९६।५-६ ।

४. १९७।७-८, १९८ ।

अनुभूति नही होती, पाठक को तो दूर की बात है। वस्तुत शिशु राम की कमनीय बाल-छवि की सुन्दर झलक दिखाते हुए तथा यदा-कदा मातृ-हृदय की झाँकी प्रस्तुत करते हुए भी तुलसी पाठक को भक्तिरस मे ही निमग्न कराना चाहते है। और, इस उद्देश्य के अनुरूप मानस मे उनकी वात्सल्य-परिकल्पना पूर्ण सफल है। ऐसा ही वात्सल्य उनके भक्ति-सरोवर का एक चारु मीन बन सकता था।

अद्भुत—रामचरितमानस मे यदि काव्यरसो मे से किसी का सर्वाधिक चित्रण हुआ है तो वह रस है 'अद्भुत'। मानस मे आदि से लेकर अन्त तक यह रस परिव्याप्त है। राम के विस्मय पूर्ण कर्म ही नही, उनके दासो-आश्रितो के भी विस्मय-पूर्ण कर्मो से मानस भरा पडा है। लकाकाण्ड को ही ले लीजिए। नल-नील ने समुद्र पर पाषाण तैरा दिये। लका मे राम-दल के पहुँचते ही सारे वृक्ष फलो से लद गये और सेना की भोजन समस्या का हल हो गया। राम ने अपने दल मे बैठे ही बैठे रावण के छत्र एव मन्दोदरी के ताटको को काट दिया। अगद ने रावण के चार मुकुट ऐसे फेके कि राम-दल मे ही आकर गिरे। अगद का चरण रावण दल के असख्य योद्धा मिलकर भी टसमसा न सके। युद्ध मे तो राक्षसो द्वारा माया के रूप मे और राम-परिकर द्वारा उनके निराकरण के रूप मे अनेकत्र अद्भुत का चित्रण है। वस्तुत मानस अद्भुत रस से भरी पडी है, कही स्वतन्त्र तो कही दूसरे काव्यरस की प्रतिष्ठा कराते हुए।

पर मानस का अद्भुत भी अपने मे स्वतन्त्र काव्यरस नही है। वह भी प्राय रामरति का एक अग है। जो राम के कृपापात्रो के महत्त्वपूर्ण अद्भुत कर्म है उन सबका आधार राम की महत्ता है, राम की ही सत्ता है। स्वय राम के अद्भुत कर्म, अद्भुत गुण, अद्भुत सौन्दर्य, उनकी क्रीडा एव उनका स्वरूप है। वस्तुत मानस का अद्भुन अन्ततोगत्वा पर्यवसित रूप मे राम के महत्त्व की प्रतिष्ठा करता हुआ राम-विषयक रति के विभाव-पक्ष की प्रतिष्ठा करता है। कभी आलम्बन का स्वाभाविक-स्वरूपात्मक अश बनकर, कभी उद्दीपन रूप मे आकर। नल-नील ने सागर पर पाषाण तैराकर एक आश्चर्य किया

"बूडहि आनहि बोरहि जेई। भये उपल बोहित सम तेही।"[1]

परन्तु ·

"महिमा यह न जलधि कर बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कइ करनी।"[2]

तब इसका रहस्य क्या है, यह आपको शिवजी ही बताएँगे

श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमन्द जे राम तजि भजहि जाइ प्रभु आन।"[3]

शान्तरस—यो मानस मे जिस प्रकार पदे-पदे अद्भुत परिव्याप्त है, उसी प्रकार सहज अनासक्ति, शान्त वृत्ति, निर्मल ज्ञान एव उच्च विवेक पर आधृत तुलसी की भक्ति मे शान्त भी सहज रूप से घुला हुआ है। फिर भी उत्तर काण्ड मे शान्त रस का विशेष परिपाक है।

---

१. लका काण्ड, २।८।

२. वही, ४।६।

३. वही, दो० ३।

हमारे ऊपर के कथन से यह स्पष्ट ही है कि मानस मे शान्त का स्वतन्त्र स्थान नही है, वह भक्ति-योगी शान्त ही है। अत उसे शान्त-भक्तिरस ही कहा जाना चाहिए।

मानस मे शान्त दो रूपो मे मिलेगा—एक पात्र-निष्ठ रूप मे, दूसरा उपदेश के रूप मे। पात्र-निष्ठ शान्त भक्ति की अनुभूति के साथ सहज रूप मे घुला हुआ है। भगवद्रति का स्वाभाविक अर्थ है विमल विवेक, अतुल अनासक्ति और घनीभूत अनन्य प्रीति।

उपदेश रूप मे आये शान्त के दो स्थल उत्तरकाण्ड से उदाहरणस्वरूप लिये जा सकते है। पहला है राम द्वारा भरत को सतो का स्वरूप समझाते हुए, दूसरा है उन्ही के द्वारा नगरवासियो को कर्तव्योपदेश करते हुए

(क) "विषय अलपट सील गुनाकर। पर दुख-दुख सुख-सुख देखे पर।
सम अभूति-रिपु विमद विरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी।"[१]

(ख) एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अत दुखदाई।
नर तनु पाइ विषय मन देही। पलटि सुधा ते सठ विष लेही।"[२]

इस प्रकार हम देखते है कि मानस मे काव्यरसो की स्थिति भक्तिरस की सापेक्षता मे ही है। मानस का तो एक ही प्रतिपाद्य रस है—भक्तिरस, जिसे तुलसी ने एक 'विशेष रस' कहा है।[3] काव्यरस उसी के शोभाधायक उपादान है। इतनी बात अवश्य है कि रामचरितमानस विनयपत्रिका के समान केवल अपने मे ही परिनिष्ठित भक्तिरस का काव्य नही है, उसमे काव्यरसो की चारुता का भी योग है। पर यह योग कवितावली के समान भक्तिरस से अधिक बढ नही जाता।

काव्यरसो मे से मानस मे अद्भुत और शान्त तो सहज रूप मे भक्तिरस के साथ घुलकर एकाकार है। अद्भुत का समावेश भक्तिरस के विभाव-पक्ष मे अधिक है, शान्त का आश्रय-पक्ष और भाव-पक्ष मे। अद्भुत आलम्बन मे एकाकार है, चाहे कर्म के साथ चाहे शक्ति के साथ, चाहे कृपापात्रो के कर्मो के रूप मे। शान्त भक्ति के स्थायी भगवद्रति के साथ सहज स्वभाव से मिला हुआ है।

इन दो रसो के अतिरिक्त काव्यरसो मे से करुण, वीर और रौद्र की परिकल्पना एक पर्याप्त मात्रा तक विकसित और परिरूढ है। राम-वनवास, दशरथ-मरण, सीता-वियोग, लक्ष्मण-शक्ति, कौसल्या का राम-वियोग, इस प्रकार विरह के विविध रूपो एव स्वय शोक स्थायी के सहज और मर्मस्पर्शी विकास के कारण करुण की परिकल्पना अन्य सबसे उत्कृष्ट है। बीभत्स और भयानक अनुयोगी रस होकर ही प्राय आये हैं। हास्य का अभाव-सा है। शृगार सीमित, व्यजित एव अस्थूल होने के साथ मर्यादित है।

ये सभी काव्यरस भक्तिरस के परिवेश को व्यापक और सुन्दर बनाते हुए ही आते है। इनकी अनुभूति मे पाठक यदि कुछ भी भक्ति-सस्कारो से युक्त है तो उसे इनके आस्वादन के साथ पर्यवसित रूप मे भक्तिरस का ही आस्वादन होता है। मानस के भक्तिरस मे कथा

---

१ उत्तर काण्ड, ३७।१-२।

२. वही, ४३।१-२।

३ "जेहि महु आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।" उ० का०, ६०।६।
"रामचरित जे सुनत अघाही। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं।" उ० का०, ५२।१।

और चरित्र का आधार लेने के कारण सामान्य से सामान्य पाठक का प्रवेश है। जन-सामान्य के लिए उसका काव्य-सौन्दर्य चाहे अपरिचित हो, काव्यरसो की चर्वणा चाहे उसे न हो पाये, किन्तु उसका भक्तिरस इतना आवेगमय है कि पाठक इसमे अवश्य डुबकी लगा लेता है।

मानस मे परिकल्पित भक्तिरस आलम्बन की महत्वचेतना से समन्वित गहरी रति पर अवस्थित है। साथ ही उसमे ज्ञान-विवेक का सहज योग है। अत एक ओर तो इस रस-परिकल्पना मे कोई उलझन न होकर सहजता है, दूसरी ओर लोकमगलकारी शुभ प्रभाव है। मानस की कथा परिचित एव सहज सवेद्य है, अत सामान्य जन का उसमे सहज प्रवेश है। उसमे साधारणीकरण की मात्रा उस कोटि की है जिसमे जन-सामान्य को भी बाधा नही है। हिन्दी के किसी भी कथा-काव्य की ऐसी शुभोदर्की रस-परिकल्पना नही जैसी रामचरित-मानस की है। उसमे जन-सामान्य, काव्य-रसिक और भक्त अपनी-अपनी दृष्टि से समान रूप से डूब सकते है। किन्तु उसका भक्तिरस इतना आग्रही है कि पाठक कितना ही तटस्थ क्यो न हो, एक बार को अवश्य उससे आप्लावित होता है।

मानसी रस-परिकल्पना का विभाव-पक्षीय वातावरण अलौकिक एव अनास्था-सम्पन्न व्यक्तियो के लिए एक मात्रा तक अतिशयोक्तिपूर्ण भी है। पर ऐसे लोगो के लिए भी उसमे काव्य रसत्व एव शुभोदर्की प्रभाव ग्रहण करने की पूरी गुजाइश रहती है। इन्ही तत्त्वो के आधार पर मानसी रस-परिकल्पना उसे विश्व-काव्य का अग बनाती है। श्रद्धापूर्ण आस्थामय व्यक्तियो के लिए तो वह अतिशयोक्ति एव अलौकिकता ही काव्यरसत्व के स्तर से उठाकर 'विशेष' भक्तिरस का आस्वादन कराने वाला एकमात्र साधन है।

मानसी रस-परिकल्पना मे कवित्व का पूरा योग है, काव्यरसो का सुन्दर परिपाक है। पर वह सब तुलसी की आत्म-समीक्षा के अनुसार भक्तिरस के परिवेश के भीतर ही है। अत मानस का अगी रस है 'भक्तिरस', अग रस है विविध काव्यरस। इस ग्रन्थ मे काव्यरस काव्य की आत्मा नही, कमनीय, भक्ति-सरोवर के शोभाधायक सुन्दर जलचर मात्र है।

कवितावली

कवितावली की रस-परिकल्पना मे भक्तिरस की अपेक्षा काव्यरसो का उभार अधिक है। मानस से उसकी यही विशेषता है कि मानस मे जहा काव्यरसो के ऊपर भक्तिरस छाया हुआ है, कवितावली मे काव्यरस भक्तिरस का अनुरजन पाते हुए भी पर्याप्त स्वतन्त्र रूप मे विकसित हो सके है।

कवितावली मानस के समान पूर्ण-चरित नही, न ही प्रबन्ध काव्य है। वह समय-समय पर लिखे चुने हुए प्रसगो की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जिसकी बाह्य परिधि भक्ति की ही है, भक्ति भी इस नाते कि उसका सम्बन्ध राम-चरित से है। इस रचना मे सभी काव्यरसो की परिकल्पना नही। उत्तर काण्ड विविध भाव-लहरियो का सकलन है जिसमे कथा-विकास एव कथा-सम्बन्ध का कोई प्रश्न नही है। उत्तर-काण्ड विनयपत्रिका के समान आत्मानुभूति-प्रधान अभिव्यक्तियो का सकलन है, पूर्व के काण्ड राम-कथा से सम्बद्ध है। इस बिखरे उद्देश्य को बटोरकर चलने के कारण कवितावली की रस-परिकल्पना भी तदनुरूप ही है। मानस मे भक्तिरस के अगी रूप से जैसे सभी काव्यरस एकसूत्रता मे सग्रथित है, वैसे सग्रथन का प्रश्न नही उठता। फिर भी इस सबके कहने का यह अर्थ कदापि नही कि कवितावली मे भक्ति के आदर्श ही नही है। रामचरितमानस के समूचे आदर्श तथा उसकी रस-परिकल्पना

को परिचालित करने वाली दृष्टि यहा भी मूलत वैसी ही है। ग्रन्थरूप एव उद्देश्य की यत्किचित् भिन्नता से उसमे यत्किचित् ही रूपान्तर है, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके है।

कवितावली की रस-परिकल्पना की सामान्य विशेषताओ को निम्न रूप मे समझना चाहिए

१ कवितावली मे तुलसी का मूल आदर्श कि राम-चरित से स्वतन्त्र प्राकृतजन-गुणगान नही करना, सुरक्षित है। राम-भक्ति के मूल आदर्श यहा भी उसी प्रकार रखे गये है जैसे वे मानस मे पाये जाते है।

२ मूल आदर्शो को अविक्षत रखते हुए भी यहा की रस-परिकल्पना को राम के महत्त्व की अनावश्यक चेतना एव अलौकिकत्व-प्रदर्शन के द्वारा आच्छादित नही किया गया। मानस मे इन तत्त्वो के अतिमात्र प्रयोग के द्वारा ही काव्यरसो को भक्तिरस के भीतर समेटा गया था। कवितावली मे इस प्रयोग के न होने से काव्यरसो का प्रकृत एव सहज विकास हो सका है।

३ मात्रा की दृष्टि से सभी काव्यरसो का चित्रण समान नही है, न ही सभी काव्यरसो की परिकल्पना है। हास्य और बीभत्स के एक-एक ही छद है तो विस्तृत उत्तर काण्ड मे शान्त के लिए पूरा-पूरा अवकाश दिया गया है।

४ कवितावली मे रौद्र, वीर, भयानक परुष रसो का परिपाक अन्य सब ग्रन्थो से श्रेष्ठ हुआ है। मानस से भी यहा इन रसो के सुन्दर चित्रण का प्रमुख कारण यही है कि यहा काव्यरसो की परिकल्पना को साग्रह भक्तिरस मे डुबा कर राम महत्त्व मे पर्यवसित करने का प्रयास नही है। यहा उनका स्वतन्त्र विकास हुआ है, राम-महत्त्व है तो सहज-व्यजित है।

५ कवितावली की रस-परिकल्पना को उसके छद, भाषा एव नाद, तात्पर्य यह कि कवित्व के सभी उपादानो का विशेष योग प्राप्त है। यहा के कवित्व को न प्रबन्ध-विधान की चिन्ता है, न समानुपात की, न भक्तिरस के बधान की। उसका यहा एक ही प्रमुख उद्देश्य है, रस-व्यजना। अत काव्यरसो का परिपाक यहा अधिक सहज है। भले ही किसी रस का परिपाक एक ही पद मे क्यो न हो ?

६ रस-व्यजना के लिए उपयोगी विभाव-विधान के साथ सचारियो एव अनुभावो की जैसी योजना यहा पायी जाती है वैसी मानस मे भी नही है।

इस सामान्य परिचय के साथ अब हम कवितावली मे परिकल्पित रसो की स्थिति सक्षेप मे समझने का प्रयास करेंगे।

वात्सल्य—कवितावली के प्रारम्भ मे रामादि चारो शिशुओ की माधुरी छवि का चित्रण है। इन पदो मे वात्सल्य वर्णित है। काव्य-निष्ठ वात्सल्य के आश्रय दशरथ और माताओ की अनुभूतियो को अकन करने का विशेष प्रयास नही है। बाल-छवि के प्रति इन पदो मे तुलसी ने अपनी ही रति को प्रस्तुत किया है, अत यहा कवि ही रति का आश्रय है।

कवि की यह रति अपने मे मातृत्व-पितृत्व के अभिमान के साथ नही है, इस रति मे सौन्दर्य की मुग्धता और महत्त्व की चेतना मिली हुई है।

"तुलसी अस बालक सो नहिं नेह कहा जप जोग समाधि किये ?
नर ते खर सूकर स्वान समान कहौ जग मे फल कौन जिये ?"[१]

१ कवितावली, बालकाण्ड, पद ६।

पर इस महत्त्व-चेतना ने सौन्दर्य-बोध को आच्छादित नही किया, बाल-चित्रण ही विभाव रूप मे सामने आता है

"अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौ सोच-विमोचन कौ ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से।
तुलसी मन-रजन रजित-अजन नयन सु खजन जातक से।
सजनी ससि मे समसील उभै नवनील सरोरुह से विकसे।"[1]

"कबहूँ ससि मागत आरि करै, कबहू प्रतिबिम्ब निहारि डरै।
कबहू करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरै।
कबहू रिसियाइ कहै हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरै।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मन्दिर मे बिहरै।।"[2]

कवितावली मे वात्सल्य-चित्रण सूर के समान मनोवैज्ञानिक नही है, उतने विस्तृत रूप मे चित्रण का यहा उद्देश्य भी नही है। वह वर्णित अधिक है। वस्तुत उसमे वात्सल्य-रस का परिपाक नही, तुलसी की अपनी रति का ही परिपाक है जो बाल-छवि से विभावित है और जिसका अपना प्रकृत रूप दास्यभक्ति का ही है।

शृगार—कवितावली मे भी मानस के समान ही शृगार सक्षिप्त, सयत, व्यजित एव मर्यादित है। लगभग उन्ही प्रसगो को यहा भी लिया गया है जो मानस मे वर्णन का अवकाश पा चुके है। फिर भी, यहा एक काव्यरस के रूप मे विकसित होने का उसे कुछ अधिक अवसर मिला है। उसके दाम्पत्य-रति और कान्ता-रति वाले दोनो रूप यहा अधिक सबलता से अकित हुए है।

दाम्पत्य-रति के मधुर परिपाक के दो अवसर है जो अत्यन्त सुन्दरता से निरूपित है। एक है विवाह-प्रसग का, दूसरा है वन को प्रस्थान करते ही सीता की परिश्रान्तावस्था का। दोनो चित्र प्रस्तुत है

(क) "दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मदिर माही।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढाही।
राम कौ रूप निहारति जानकी ककन के नग की परछाही।
यातै सबै सुधि भूलि गई कर टेकी रही पल टारति नाही।"[3]

(ख) "पुर तै निकसी रघुबीर वधू, धरि धीर दये मग मे डग द्वै।
झलकी भरि भालकनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै।
फिरि बूझति है 'चलनौ अब केतिक, पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै'।
तिय की लखि आतुरता पिय की अखिया अति चारु चली जल च्वै।"
जल को गए लक्खन है लरिका, परिखौ पिय, छाह घरीक ह्वै ठाढे।
पोछि पसेउ बयारि करौ, अरु पाय पखारिहौ भूभुरि डाढे।
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि बिलब लौ कटक काढे।
जानकी नाह कौ नेह लख्यौ, पुलको तनु, बारि विलोचन बाढ़े।"[4]

---

१. कवितावली, बाल काण्ड, पद १।
२ वही, पद ४।
३ वही, पद १७।
४ कवितावली, अयोध्याकाड, पद ११-१२।

हम इन अति परिचित उद्धरणो को प्रस्तुत करके तुलमी के शृगार वर्णन की केवल प्रशसा ही नही करना चाहते, अपितु यह दिखाना चाहते है कि दाम्पत्य-रति के परिपाक के लिए सचारियो तथा अनुभावो की जैसी सघन, सजीव एव मधुर योजना यहा है वैसी मानस मे नही है । कुछ ही पहले वन की विपत्तियो से लोहा लेने के लिए तैयार होकर चलने वाली रामचरितमानस की सीता नगर से दो डग चलने पर यह पूछ ही नही सकती थी कि 'चलनो अब केतिक, पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै ?' । न मानस के राम अपना प्रेम-प्रदर्शन 'विलब लौ कटक काढ' कर सकते थे । किसी ब्रह्मसत्ता की मनुज-लीला की याद दिलाकर तुलसी यहा पाठक को काव्यरस के आस्वादन से रोक नही देते, उसे एक मर्यादित, सयत एव उदात्त शृगार का काव्यात्मक आस्वाद करने का पूर्ण अवसर प्रदान करते है ।

ग्राम-वधुओ के साथ सीना के वार्तालाप की योजना यहा भी तुलसी ने की है । दोनो चित्रो को आमने-सामने रख लीजिए, दोनो की वर्ण्य-समानता होने पर भी दृष्टिकोण का सूक्ष्म अतर स्पष्ट हो जायगा । हम यहा दोनो प्रसगो को प्रस्तुत कर रहे है

रामचतिमानस—"सिय समीप ग्रामतिय जाही । पूछत अति सनेह सकुचाही ।
बार बार सब लागहिं पाए । कहहिं बचन मृदु सरल सुभाए ।
राजकुमारि विनय हम करही । तिय सुभाय कछु पूँछत डरही ।
स्वामिनि अविनय छमबि हमारी । बिलगु न मानहु जानि गवारी ।
राजकुअर दोउ सहज सलोने । इन्ह ते लही दुति मरकत सोने ।
स्यामल गौर किसोर बर सुदर सुषमा ऐन ।
सरद सर्बरीनाथ मुखु सरद-सरोरुह नैन ।।
कोटि मनोज लजावनिहारे । सुमुखि कहहु को अहहि तुम्हारे ।
सुनि सनेहमय मजुल बानी । सकुची सिय मन मह मुसुकानी ।
तिन्हहि विलोकि विलोकति धरनी । दुहु सकोच सकुचति बरबरनी ।
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी । बोली मधुर वचन पिकबयनी ।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नामु लखनु लघु देवर मोरे ।।
बहुरि वदन विधु अचल ढाँकी । पिय तन चितै भौह करि बाकौ ।
खजन मजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि ।"[1]

कवितावली—"सीस जटा, उर बाहु विसाल, विलोचन लाल, तिरीछी सी भौहै ।
तून सरासन बान धरे, तुलसी वन-मारग मे सठि सोहै ।
सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यौ हमरो मन मोहै ।
पूछति ग्रामवधू सिय सो 'कहौ, सावरे से सखि रावरे को है ?'
सुनि सुदर बैन सुधारस साने, सयानी है जानकी जानी भली ।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हे समुझाइ कछू मुसुकाइ चली ।
तुलसी तेहि औसर सोहै सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली ।
अनुराग तडाग मे भानु उदै विगसी मनो मजुल कज कली ।"[2]

---

१. मानस, अयो० का०, ११५।२-८, ११६।१-७ ।
२ कवितावली, अयोध्या काण्ड, पद २१-२२ ।

इन दोनो चित्रो को मिलाइए। मानस मे तुलसी इस चित्र को देने से पहले ग्राम-वधुओ मे शिष्टाचार, आतक, भय, सकोच न जाने क्या-क्या भर देना चाहते है। वे बिना बार-बार सीता के पैर छुए, अविनय को क्षमा करने की प्रार्थना किए 'राजकुमारी' सीता से अपनी बात पूछ ही नही सकती। पूछते-पूछते सकुचाती भी है, डरती भी जाती है। पर कवितावली की ग्रामवधुए इस भाव-जजाल से दूर दीख पडती है। 'कहौ सावरे से सखि, रावरे को है ?' मे उनका सख्य बोल रहा है, दासत्व नही। कवितावली की सीता ग्रामवधुओ के लिए राजकुमारी नही, सखी है। मानस की ग्रामिकाए भोली-भाली है, वे सचमुच नही समझ पायी कि इन दोनो मे से सीता के पति कौनसे है, किन्तु कवितावली की सखिया मानो भॉप कर भी सवाल कर रही है, वह सब विनोद के लिए, स्त्रीसुलभ सजीवता के नाते। यह सजीवता इस वाक्य के लहजे से ही टपकती है—'कहौ, सावरे से सखि, रावरे को है ?"

मानस की सीता को शील-जन्य भारी सकोच है। वे एक ओर तो शीलवश इस प्रश्न का उत्तर खुलकर नही देना चाहती है, दूसरी ओर उन्हे उनके राजकुमारीपन की चेतना भी करा दी गयी है। अत सोचती है कि इन सरल ग्रामिकाओ को यदि इस प्रश्न का उत्तर न दिया जायगा तो वे मन मे खिन्न होगी। महारानी सीता यह नही चाहती। उनके इस प्रश्न की सरलता पर उन्हे हसी आती है पर वे खुलकर मुसुका भी नही सकती, मन मे ही मुसुका रही है—'सकुची सिय, मन मह मुसुकानी' और 'दुहु सकोच सकुचति बरबरनी' मे सीता की जो स्थिति है वह कवितावली मे नही है। यहा की जानकी सयानी है, उनके विनोद को समझ रही है—'सयानी है जानकी जानी भली।' यहा दो सकोचो मे से किसी की चर्चा नही है। यहा उनकी मुसकान पर भी बधन नही है—'तिरछे करि नैन, द सैन तिन्है समुझाइ कछू मुसुकाइ चली।' मर्यादित शृगार की सीमाओ मे रहकर भी कवितावली का शृगार-चित्रण रामचरितमानस की अपेक्षा खुला है, यह बात इस प्रसग की तुलना से स्पष्ट हो जाती है। यहा शृगार मर्यादित होते हुए भी एक काव्य-रस के रूप मे आ सकता है, मानस मे उसे भक्तिरस की दृढ सीमाओ मे रहकर उसका ही पोषण करना अनिवार्य है।

इन्ही ग्रामवधुओ मे कवितावली मे सामान्य कान्तारति के मधुर चित्र तुलसी ने दिये है

"धरि धीर कहै, चलु देखिय जाइ जहा सजनी रजनी रहिहै।
कहिहै जग पोच, न सोच कछू, फल लोचन आपन तौ लहिहै।
सुख पाइहै कान सुनै बतिया कल आपुस मे कछु पै कहिहै।"
तुलसी अति प्रेम पगी पलकै पुलकी लखि राम हिये महि है।"[1]

हास्य—प्राधान्येन व्यजित हास्य का एक ही उदाहरण कवितावली मे है,[2] किन्तु वह इस बात का प्रमाण है कि तुलसी इस रस का परिपाक यदि चाहे तो बहुत सफलता से कर सकते है।

कही-कही सचारी हास की भी झलक है। केवट-प्रसग मे हास इसी प्रकार का है

"तुलसी जिनकी धूरि परसि अहिल्या तरी,
गौतम सिधारे गृह गौनो सौ लिबाइ कै।

---

१ कवितावली, अयोध्या काण्ड, पद २३।

२. "विन्ध्य के वासी उदासी महा ।" कवि०, अयोध्या का०, पद २८।

तेई पाय पाइकै चढाइ नाव धोये बिनु
ख्वैहौ न पठावनी कै ह्वैहो न हसाइ कै।"[1]

जो भी थोडा-बहुत हास्य कवितावली मे है उसकी कवित्व-पूर्ण परिकल्पना है। उसकी व्यजना पर भक्तिरस का दबाव नही है।

वीर और रौद्र—वीर और रौद्र रसो का सुन्दर परिपाक कवितावली के लका-काण्ड मे पाया जाता है। वीर, रौद्र और भयानक रसो के परिपाक के लिए कवितावली तुलसी की समस्त रचनाओ मे बेजोड है। कोमल और कठोर दोनो प्रकार की भाषा द्वारा तुलसी ने ओज गुण की सृष्टि करते हुए लका काण्ड मे वीर और रौद्र की व्यजना की है। हनुमान् के युद्ध-कौशल के चित्रो मे से एक चित्र नीचे प्रस्तुत है

"दबकि दबोरे एक, बारिधि मे बोरे एक,
मगन मही मे एक गगन उडात है।
पकरि पछारे कर चरन उखारे एक,
चीरि फारि डारे एक मीजि मारे लात है।
तुलसी लखत राम, रावन विबुध विधि
चक्रपानि चडीपति चडिका सिहात है।
बडे-बडे बानइत बीर बलवान बडे
जातुधान जूथप निपाते बातजात है।"[2]

प्रस्तुत पद मे तुलसी ने कोमल पदावली से ही रसानुरूप ओज की सृष्टि की है। छप्पयो की ओजस्वी पदावली द्वारा भी इन कठोर रसो का सफल चित्रण है।

लका काण्ड तक कवितावली मे सब मिलाकर ओज गुण की प्रधानता है। कही वक्ता के अनुरूप, तो कही वर्ण्य के अनुरूप, तो कही रस के अनुरूप ओज की सृष्टि हुई है। जनकपुर मे धनुर्भग का चित्रण, परशुराम के क्रोध-पूर्ण वचन, हनुमान का सागर-लघन, अगद-रावण सवाद आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। इन प्रसगो मे ओज गुण के बल पर ही प्रसगानुकूल कठोर रसो की सफल अनुभूति होती है। अनेक प्रसगो मे वर्ण्य विषय का ओजस्वी वर्णन स्वय उत्साह-चर्वणा का विभाव बनता है। धनुर्भग का यह कविकृत वर्णन ऐसा ही है

"डिगति उर्वि अति गुर्वि, सब्ब पब्बै समुद्द सर।
व्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर।
दिग्गयद लरखरत, परत दसकठ मुक्ख भर।
सुर विमान हिम-भानु भानु सघटित परस्पर।
चौके विरचि सकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्माड खड कियौ चड धुनि जबहि राम सिवधनु दल्यौ।"[3]

इसमे धनुर्भग का वर्णन ही स्वय राम के शौर्य एव वीरत्व की व्यजना करता है। यह वीरत्व की व्यजना वस्तु-व्यजना के रूप मे नही, अपितु पाठक को रसानुभूति के रूप मे होती है। यहा धनुर्भग का ओज-पूर्ण वर्णन ही विभाव अर्थात् पाठक की रसानुभूति का कारण है।

---

१ कवि०, अयो० का०, पद ९।

२ कवि०, लका काण्ड, पद ४१।

३ कवि०, बा० का०, पद ११।

अत इस प्रकार के स्थल इसी दृष्टि से वीरादि रसो के अन्तर्गत समझने चाहिए ।

भयानक—सुन्दर काण्ड मे लका दहन मे भयानक का चित्रण बेजोड है । इस रस की इतनी सुन्दर योजना अत्यन्त दुर्लभ है । यह वर्णन सक्षेप मे नही, पर्याप्त विस्तार से भी है । यहा भय विपक्ष-निष्ठ है, अत उसका पर्यवसान हनुमान् के महत्त्व एव पराक्रम मे होता है । पर इन प्रसगो मे बलात् राम-गुण गान की प्रवृत्ति नही है । अत रस व्यजना काव्यरस की व्यजना रही है, भक्तिरस की नही बनायी गयी । इस प्रसग से एक उदाहरण प्रस्तुत है

"लपट कराल ज्वालजालमाल दहू दिसि
घूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे ?
पानी को ललात, बिललात, जरे गात जात
परे पाइमाल जात, 'भ्रात, तू पराहि रे ।
प्रिया तू पराहि, नाथ नाथ तू पराहि, बाप
बाप, तू पराहि, पूत पूत, तू पराहि रे ।
तुलसी विलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहै
लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे ।"[1]

बीभत्स—बीभत्स का चित्रण लकादहन और युद्ध-प्रसग मे सहयोगी रस के रूप मे हुआ है । इस रस का विधान अधिक नही, किन्तु योजना बडी साग है । रस-परिपाक रौद्र और भयानक की अनुभूति को और गहरे करने के उद्देश्य मे पूर्ण सफल है ।

शान्तभक्तिरस एव दास्यभक्तिरस—कवितावली के उत्तर काण्ड का रामचरित के उत्तर भाग से कोई विशेष सम्बन्ध नही है । इसमे विनयपत्रिका के जोड पर ही आत्मपरक शैली मे तुलसी की भक्ति-भावना अभिव्यजित हुई है । भगवान् के महत्त्व का गान करते हुए आत्म-दैन्य, निरवलम्बन, विश्वास, अनन्यता, आत्म निवेदन आदि के भाव वैसे ही यहाँ मिलेगे जैसे विनयपत्रिका मे भरे पडे है । यहाँ भक्तिरस का वही दास्यानुभूतिमूलक रूप मिलेगा जो मानस और पत्रिका मे निरूपित है ।

ससार से निर्वेद एव विवेक के आधार पर प्रतिष्ठित रामरति की अनेक-विध भाव-लहरियो का यहा भी चित्रण हुआ है । पर पत्रिका के समान शुद्ध ज्ञान का यहा अति-भार नही है । अत यहा के पदो मे शान्तरस की अपेक्षा प्राय शान्तभक्तिरस की ही परिकल्पना है । दास्य-भक्तिरस एव शान्त के परस्पर मिले और अलग-अलग सभी प्रकार के स्थल इस उत्तरकण्ड मे मिल सकते है । यो सब मिलाकर यह भाव-व्यजना पत्रिका की ऊँचाई को तो नही पहुचती, किन्तु उसे बहुत-कुछ छूती है ।

इस प्रकार कवितावली की रस-परिकल्पना मे लका-काण्ड तक काव्यरसो का सुन्दर एव स्वतन्त्र परिपाक है । यहा के काव्य की आत्मा काव्यरस हैं, भक्तिरस नही । हाँ, ये काव्यरस भक्ति-भावना की सामान्य चेतना से अनुरजित अवश्य है । काव्यरसो का ऐसा सफल परिपाक तुलसी की अन्य कृति मे नही मिल सकता जैसा कवितावली मे है । उत्तरकाण्ड में रस-परिकल्पना का स्वरूप वही है जो हम पत्रिका मे प्रमुखतया देख चुके है । यहाँ कथानक का आधार न होने के कारण रस-परिकल्पना मानस के अनुरूप नही

---

१ कवितावली, सुदर काण्ड, पद १६ ।

अपितु विनयपत्रिका के ही अनुरूप है। इस अश मे दास्यभक्तिरस एव शान्तभक्तिरस का सुन्दर परिपाक है।

कवितावली मे प्रमुखतया वीर, रौद्र, भयानक, शृगार और वात्सल्य ? की काव्यरसो मे से तथा दास्यभक्ति एव शान्तभक्ति की भक्तिरसो मे से परिकल्पना हुई है। काव्यरस और भक्तिरसो की परस्पर अनुरजित किन्तु परस्पर स्वतन्त्र रस-परिकल्पना की दृष्टि से कवितावली तुलसी के अन्य सभी ग्रथो मे विशेष महत्त्व-पूर्ण कृति है। वास्तविक कवितावली तो लकाकाण्ड तक है, उत्तरकाण्ड तो विनयपत्रिका का परिशिष्ट जैसा है। लकाकाण्ड तक की कवितावली मे काव्यरस भक्तिसरोवर के शोभाधायक जलचर मात्र नही है, वे ही यहाँ की सजीवता के आधार है।

गीतावली

गीतावली की रस-परिकल्पना मे गोस्वामीजी ने मानस एव पत्रिका की अपेक्षा एक विशेष मोड स्वीकार किया है। इसकी रस-परिकल्पना पर कृष्ण भक्ति का प्रभाव पडा है—गीतावली की यही एक विशेष बात उल्लेखनीय है। तुलसी के मूल आदर्श यद्यपि यहाँ न तो विकृत हुए है, न त्यक्त, तथापि राम-काव्य और कृष्ण काव्य की दो अलग-थलग प्रवहमान धाराओ की एक विशेष समन्वित भाव-धारा यहाँ बहती हुई मिलती है। इस धारा का रूप कुछ नया-सा लगता है जो तुलसी की अन्यत्र प्राप्त दृष्टि को ध्यान मे रखते हुए कुछ अटपटा-सा है।

गीतावली एक विकसित प्रबन्ध-काव्य नही है। वह एक गीति-काव्य है। अत उसमे राम-चरित के कतिपय कोमल प्रसगो को चुनकर धारावाहिक रूप मे कुछ पद लिखे गये है। बहुत सम्भव है कि वे इन प्रसगो पर अलग-अलग समयो मे धारावाहिक गीतो के रूप मे लिखते रहे हो और पीछे से उनकी कडियो को जोडकर कथा-विकास भी सूचित कर दिया गया है।

गीतावली मे गीतानुरूप रामचरित के कोमल, करुण एव मधुर प्रसगो पर ही पद-रचना प्रमुखत हुई है। थोडे-से प्रसग वीर रस के क्षेत्र के भी हे। इस रस के लिए भी गीति-काव्य की प्रकृति अनुकूल रही है।

गीतावली मे भक्तिरस के तीन रूप वात्सल्य, मधुर और दास्य—तथा काव्य-रस के दो रूप—करुण और वीर—परिकल्पित मिलते है। सामान्यत गीतावली कवितावली के समान काव्यरस-प्रधान रचना नही, भक्तिरस-प्रधान रचना ही है। किन्तु मानस के समान प्रबन्धात्मक रचना न होने तथा विविध कालो मे रचे हुए गीतो का सकलन होने के कारण उसमे करुण और वीर दो रसो का एक दूरी तक स्वतन्त्र परिपाक भी निभ सका है। इन रसो के अतिरिक्त शेष वर्णन भाव-व्यजना के ही अन्तर्गत आते है, रस-कोटि तक नही पहुँचते। उन भाव-व्यजक विविध प्रसगो मे तुलसी की आदर्श भक्ति की भावना के अनुरूप रामचरित का ही गान हुआ है।

यहाँ हम गीतावली मे परिकल्पित रसो का अलग-अलग परिचय प्राप्त करना चाहेगे। पहले भक्तिरस के तीनो रूपो की चर्चा रहेगी—वात्सल्य, मधुर तथा दास्य के क्रम से। पीछे करुण और वीर काव्यरसो की।

वात्सल्य भक्तिरस—तुलसी ने गीतावली मे बाल-वर्णन अपने अन्य सब ग्रथो की

अपेक्षा अधिक किया है। इसके सयोग एव वियोग दोनो पक्षो का चित्रण हुआ है। वात्सल्य का वियोग पक्ष अधिक मार्मिक है और करुण की सीमा को छूता है। वात्सल्य की ओर इस झुकाव का एक प्रमुख कारण कृष्ण-काव्य का, विशेषत सूर-काव्य का प्रभाव है।

सयोग पक्ष मे बाल-वर्णन को गीतावली मे तीन रूपो मे वर्गीकृत किया जा सकता है

१ राम की छवि का सालकार वर्णन,

२ राम की बाल-सुलभ क्रीडाओ का वर्णन,

३ मातृ-हृदय की अनुभूतियाँ।

सब मिलाकर तुलसी का बाल-वर्णन स्वय उनकी ओर से वर्णित अधिक है, विभाव के प्रति अपेक्षित सचारियो एव अनुभावो की योजना द्वारा व्यजित कम है। विभाव-विधान मे भी सूर के समान मनोवैज्ञानिक चित्रण कम ही है। आश्रय-पक्ष मे इस प्रकार की मातृ-हृदय की अनुभूतिया कम ही मिलेगी .

"ह्वै हौ लाल कबहि बडे बलि मैया।
राम लखन भावते भरत रिपुदवन चारु चार्यो भैया।
बाल-विभूषन-वसन मनोहर अग निन विरचि बनैहौ।
सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ वारनै जैहौ।
छगन-मगन अगना खेलिहौ मिलि ठुमुक-ठुमुक कब धैहौ।
कब बल वचन तोतरे मजुल कहि 'माँ' मोहि बुलैहौ।"[1]

प्राय भावाभिव्यजना मे तुलसी का महत्त्व के प्रति जागरूक मन उभरकर आगे आ जाता है और वात्सल्य की काव्यरसात्मक अनुभूति बाधित हो जाती है

"दास तुलसी मुदित, जननी करै आरती,
सहज सुन्दर अजिर पाव धारे।"[2]
"जागिये कृपानिधान जानराय रामचन्द्र,
जननी कहै बार-बार भोर भयो प्यारे।
राजिवलोचन विसाल, प्रीतिवापिका मराल,
ललित कमल दल ऊपर मदन कोटि वारे।
अरुन उदित, विगत सर्वरी, ससाक किरनहीन,
दान दीप-ज्योति, मलिन दुति समूह तारे।
मनहु ग्यान घन प्रकास, बीते सब भव-विलास,
आस-त्रास-तिमिर तोप-तरनि-तेज जारे।"[3]

तुलसी की यह महत्त्व-चेतना कौसल्यादि आश्रय-निष्ठ पात्रो मे भी आरोपित होकर बोलती है। बाल-क्रीडाओ मे भी बाल-सुलभ मनोवैज्ञानिक चित्र मात्रा और स्तर मे सूर की तुलना के नही है। खेल के भीतर यदि कही भरत राम से बाजी जीत जाते हैं तो उन्हे भारी सकोच होता है। यह तो छोटे भाई के आदर्श के अनुरूप नही, अत राम से हार जाने मे उन्हे प्रसन्नता है

---

१ गीतावली, पद ८।

२ वही, पद ३७।

३ वही, पद ३८।

"हारे हरष होत हिय भरतहि, जिते सकुच, सिर नयन नये ।"[१]

वस्तुत गीतावली मे परिकल्पित वात्सल्य एक काव्यरस नही है, यह भक्तिरस है। अत तुलसी को वात्सल्य का रसात्मक परिपाक उतना इष्ट नही जितना अपने इष्ट का बाल-वर्णन करते हुए महत्त्व-ज्ञान-पूर्वक आत्मरति का समर्पण। यह बाल-चरित का गान ही अपने मे उनके लिए रसात्मक है।[२]

राम की बाल-क्रीडाओ पर देवता सुमन-वर्षा करते है, मेघो की ओट से सब देख-देख कर मुग्ध होते रहते है।[३] कौसल्यादि को राम के ब्रह्मत्व की चेतना है, वशिष्ठादि द्वारा और भी स्पष्ट करा दी गयी है।[४] इन स्थितियो मे वात्सल्य की एक काव्य-रस के नाते जिस मात्रा मे क्षति होती है उसी मात्रा मे एक भक्तिरस के नाते उसकी परिकल्पना सबल हो जाती है। तुलसी के वात्सल्य का पाठक-द्वारा आस्वादन कोरे काव्यरस के रूप मे हो नही सकता, यदि उसमे भक्ति सस्कारो की सहृदयता है तो अवश्य वह वात्सल्य-भक्तिरस का ही आस्वादन करेगा। सामान्य रसिक भी भक्ति की भावात्मक अनुभूति, रसात्मक न सही, उपलब्ध करेगा।

राम के वन चले जाने पर वात्सल्य का वियोग-पक्ष सामने आता है। काव्यरस के नाते वियोग वात्सल्य अधिक रसात्मक है। इसमे भी जहाँ तुलसी की कौसल्या तुलसी की महत्त्वचेतना से आच्छादित हो उठी है, वात्सल्य काव्यरस न रह कर भक्तिरस बन जाता है

"सुनहु राम मेरे प्रान-पियारे।
बारौं सत्यवचन श्रुति-सम्मत जाते हौ बिछुरत चरन तिहारे।

मुनिलोचनचकोर-ससि राघव, सिव-जीवन धन सोउ न विचारे।

तदपि हमहिं त्यागहु जनि रघुपति, दीनबन्धु, दयालु मेरे बारे।"[५]

पर सूर की यशोदा के जोड पर कौसल्या के विरह मे भी कतिपय पदो मे काव्यरस के नाते वात्सल्य का सफल चित्रण हुआ है

"हाथ मीजिवौ हाथ रह्यौ।"[६]
"हौ तौ समुझि रही अपनौ सौ।"[७]

---

१ गीतावली, पद ४५।

२ "तुलसी सराहै भाग तिन्हके जिन्हके हिये डिभ राम रूप अनुराग रये है।"
—गीता० बा० का०, पद १०।
"तुलसिदास जे रसिक न यहि रस ते नर जड जीवत जग जाये।" वही, पद ३२।

३ "विधि महेस सुर मुनि सिहात सब, देखत अबुज ओट दिये।" वही, पद ७।

४ "याके चरनसरोज कपट तजि जे भजिहै मन लाई।
ते कुल जुगल सहित तरिहै भव यह न कछू अधिकाई।" वही, पद १६।

५. गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पद २।

६ वही, अयो०, पद ८४।

७ वही, अयो०, पद ८७।

तुलसी ने कौसल्या के विरह को विरह ही कहा है, पर यह विरह शोक की सीमाओ को छूता है, इसका सकेत भी यत्र-तत्र उसे शोक कह कर उन्होने दिया है

"तुलसी राम-वियोगसोग-बस समुझत नही समुझाए।"[१]

सूर और तुलसी के वात्सल्य की परिकल्पना कर तुलनात्मक दृष्टि डालने पर निम्न तथ्य सामने आते है—

१ तुलसी के वात्सल्य-चित्रण पर सूर की छाप है।

२ तुलसी के वात्सल्य-चित्रण मे मनोवैज्ञानिकता एव रसात्मकता सूर के समान नही है।

३ सूर का वात्सल्य एक भक्ति-रस होते हुए भी काव्यरस पहले है, तुलसी का वात्सल्य एक भक्तिरस पहले है, काव्यरस पीछे।

४ तुलसी के वात्सल्य मे सयोग-पक्ष की अपेक्षा वियोग-पक्ष अधिक मार्मिक है। इसी पक्ष का काव्यात्मक परिपाक भी अधिक है।

५ तुलसी के वात्सल्य भक्तिरस मे महत्त्वचेतनामयी आत्मरति स्थायी भाव है, मातृत्व के अभिमान वाली रति नही। उनके वात्सल्य भक्तिरस का अर्थ है आराध्य राम की बाल-छवि पर मुग्ध होना और बाल-चरित का गान करना।

मधुर भक्तिरस—तुलसी की भक्ति की प्रकृति एव प्रवृत्ति आदर्शमयी है जिसका आदर्श दास्य का है। उसमे आराध्य के चरित्र मे शील और आदर्श की चरम कल्पना है। अत तुलसी के काव्य मे सामान्यत शृगार के अवसर आने पर भी तुलसी उनसे कन्नी-सी काटते रहे है।

तुलसी मे शृगार की रसिकता और उसके चित्रण की क्षमता न हो यह बात नही है। उनकी सभी रचनाओ मे उनकी इस क्षमता की झलक हमे मिल ही जाती है। अलबत्ता उस क्षमता पर स्वकृत सयम रहता है। भक्ति-प्रधान मानस और विनयपत्रिका मे यह सयम सबसे अधिक है। पत्रिका मे तो राम-सीता के शृगार का सर्वथा अभाव है। केवल एक पद मे शिव की स्तुति मे 'देखौ आज वन वन्यौ उमाकत' इस एक पद मे शृगार की झलक है, किन्तु वह भी वन-वर्णन के बहाने।

किन्तु गीतावली मे तुलसी की इस रस की रसिकता खुली है। शृगार की रसिकता के खुलने का कोई यह अर्थ न समझ ले कि उन्होने कृष्ण-भक्त मधुरोपासको या परवर्ती मधुर रामोपासको के समान उद्दाम चित्रण किये है। उनका शृगार यहाँ भी व्यजित एव अन्यो की अपेक्षा बहुत मर्यादित है, फिर भी जितना भी खुल कर चित्रित हुआ है, उतना उनकी अन्य रचनाओ मे नही है, तथा तुलसी की अन्यत्र निरूपित भक्ति-पद्धति और आदर्श-भावना के मेल मे नही है।

तुलसी के सामने कृष्ण-भक्ति के विविध मधुर-सम्प्रदायो की मधुरा भक्ति की धारा प्रवाहित हो रही थी। जिन सम्प्रदायो का आदर्श मधुरा भक्ति नही भी थी, वे भी एक बार को इस की चपेट मे आ रहे थे। तुलसी जहाँ वात्सल्य के चित्रण मे कृष्ण-काव्य से प्रभावित हुए, वहाँ माधुर्य चित्रण मे भी कृष्ण-काव्य की मधुर धारा से प्रभावित हुए और गीतावली मे उन्होने राम-सीता के कुछ खुले शृगार के चित्र उतारना सहर्ष स्वीकार किया।

---

१ गीतावली, अयोध्या काण्ड, पद ८८।

इस आकर्षण के दो ही कारण समझ मे आते है । तुलसी कृष्ण-भक्ति के मधुर प्रवाह मे बहक गये, या तुलसी ने जाने-बूझे यह स्वीकार किया ।

तुलसी के समन्वयात्मक दृष्टिकोण से हम परिचित है । समाज, माधना, भक्ति, साहित्य आदि के विविध क्षेत्रो मे उन्होने समन्वयात्मक दृष्टि का परिचय दिया है गीतावली की मधुर परिकल्पना भी राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के दो आदर्शों के बीच समन्वय का फल है । दूसरी विरोधी धारा से समन्वय और समझौता करने के लिए कुछ दूसरे को झुकाना पडता है तो कुछ स्वय भी त्याग करना पडता है । गीतावली की मधुर-परिकल्पना मे यही हुआ है । उसमे जहाँ कृष्ण-भक्ति की मधुरोपासना के उद्दाम चित्रण को जागरूक रहते हुए बचाया गया है वहाँ दूसरी ओर एक सयत सीमा तक जाकर राम-सीता के शृ गार का वर्णन करना भी स्वीकार करना पडा है । जब हम तुलसी के नाना-क्षेत्रीय समन्वय की बात करते है तब इस समन्वय को न जाने क्यो भुला देते है ? तुलसी का यह प्रयास अपने युग की वैष्णवी भक्ति के दो प्रमुख, परस्पर विरोधी, आदर्शों के बीच समन्वायात्मक समझौता ही समझना चाहिये । यह समझौता तुलसी ने अपने रूढ आदर्श से हटकर जान-बूझ कर स्वीकार किया है । इस समन्वय के द्वारा तुलसी ने अपनी शक्ति के भीतर लोक-कल्याण को ही सुरक्षित रखने का प्रयास किया है । उनकी दृष्टि से आदर्श के पथ से विच्युत मधुरोपासको को तुलमी ने मधुर-भावना को व्यक्त करने की वह पद्धति गीतावली मे बतायी है जिससे उनकी उपामना भी चलती रहे और लोक-मगल भी अविक्षत रहे । जो शृ गारी भक्ति उनके युग मे बल पकड चुकी थी उसे वे तोड नही सकते थे, मोड ही सकते थे । व्यक्तिगत साधना के रूप मे सम्भवत यह मार्ग भी किसी के लिए ठीक हो, पर उसकी अभिव्यजना सम्हल कर होनी चाहिए, केवल इस मार्ग-दर्शन के लिए तुलसी ने, प्रतीत होता है, गीतावली मे मधुरा भक्ति की रसात्मक परिकल्पना स्वीकार की ।

गीतावली मे मधुर या शृ गार के दोनो रूप मिलते है—दाम्पत्यरति वाला रूप तथा समान्य कान्तारति वाला रूप । सामान्य कान्तारति अन्यत्र भी उनके ग्रन्थो मे है, किन्तु यहाँ वह सखी-भाव का स्पर्श करती हुई सामने आती है । हम यहाँ दोनो प्रकार की माधुर्य भावना के अर्थात् दोनो प्रकार के शृगार के स्वरूप को समझने का प्रयास करेंगे ।

दाम्पत्य शृगार—गीतावली मे राम-सीता के शृ गार सम्बन्धी तीन प्रसग आये है

१ पुष्प-वाटिका प्रसग,

२ चित्रकूट पर राम-सीता का विहार,

३ राज्याभिषेक के अनन्तर अयोध्या मे राम-सीता का विहार ।

इन तीनो प्रसगो मे माधुर्य-भावना का एक सम्बद्ध विकास सामने आता है । यद्यपि ये प्रसग प्रबन्धात्मक भाव-चेतना के साथ निरूपित नही हुए, किन्तु फिर भी इनमे माधुर्य-चेतना का क्रमश विकास और तुलसी की अपनी आदर्श-चेतना का क्रमश शैथिल्य सामने आता है । प्रथम प्रसग मे तुलसी का चित्रण अपने ग्रन्थ के शृगार-चित्रण के समान आदर्श-सयत है, दूसरे मे माधुर्य को अन्य वर्णनो के बहाने प्रस्तुत किया गया है, तीसरे मे माधुर्य भावना खुल कर आयी है ।

पुष्प-वाटिका प्रसग के दो पद है, और उनमे अपनी आदर्श-भावना के कारण तुलसी ने शृगार-वर्णन से बच कर ही निकलना चाहा है

"सखिन सहित तेहि औसर विधि के सजोग
गिरिजाजू पूजिबे को जानकीजू आई है ।

निरखि लखन-राम जाने ऋतुपति-काम
मोहि मानो मदन मोहिनी मूड नाई है।
राघौजू-श्रीजानकी-लोचन मिलिबे को मोद
कहिबे को जोगु न, मै बाते सी बनाई है।
स्वामी, सीय, सखिन्ह, लखन, तुलसी कौ तैसो
तैसो मन भयो जाकी जैसिये सगाई है।"[1]

तुलसी सचमुच यहाँ राम-सीता के मिलन-दर्शन के उल्लास का चित्रण न कर बाते-सी बना कर चम्पत हो गये है। इसी प्रसग मे अलौकिकता के तत्त्व ने और भी रस-परिपाक को व्याहत किया है। मानस मे गौरी-मूर्ति को माला अर्पित करते समय इतना ही कहा गया है—'खसी माल मूरति मुसुकाई'। किन्तु यहाँ तो वह मूर्ति वार्तालाप भी करती है

"मूरति कृपालु मजु माल दै बोलत भई
पूजो मन कामना भावतो वरु बरिकै।[2]

यहाँ तुलसी अलौकिकता, श्रद्धा और आस्था द्वारा अपनी आदर्श-भावना सुरक्षित रखना चाहते है।

चित्रकूट-प्रसग मे मधुर-भावना खुल कर आना चाहती है, पर तुलसी का आदर्श अभी उसे मुक्त नही करना चाहता। अत तुलसी उसकी अभिव्यजना का एक अमाक्षात् मार्ग निकालते है। राम-सीता के शृगार का चित्रण किया जाय तो प्रकृति के बहाने

"वन-मिस मुनि-तिय मुनि-बालक बरनत रघुवर-विमल-बडाई।"[3]
"तुलसिदास चाचरि-मिस कहे राम-गुनग्रामा।
गावहि सुनहि नारि-नर पावहि सब अभिराम।"[4]

तुलसी ने इस प्रसग मे प्रकृति या चाचर के बहाने सीता-राम के शृगार का ही चित्रण किया है, वे इस बात मे सन्देह नही रहने देते

"माधुरी विलास हास गावत जस तुलसिदास,
बसति हिय जोरी प्रिय परम प्रान की।"[5]

इस प्रसग मे सबसे मुख्य बात ध्यान देने की यह है कि चित्रकूट पर राम के आदर्श चरित्र के अनुरूप उनसे हम तप और सयम की अपेक्षा करते है, माधुरी-हास-विलास की नही। इस प्रकार के चित्र विवाह के अनन्तर अयोध्या लौटने पर दिये जाते तो उनमे प्रसगौचित्य अधिक होता। चित्रकूट मे इन चित्रो का उतरना कवि का मधुर भावना के प्रति विशेष आकर्षण ही कहा जायगा।

पर यहाँ तुलसी ने राम और सीता को साक्षात् केलि-विलास-मग्न न दिखा कर प्रकृति को काम और रति के प्रतिरूप देखा है। स्फटिक-शिला पर बना लता-कुज मानो पच-वाण

---

१ गीतावली, बालकाण्ड, पद ७।

२ वही, बा० का०, पद ७२।

३ वही, अयोध्याकाण्ड, पद ४६।

४ वही, अयोध्याकाण्ड, पद ४७।

५ वही, अयोध्याकाण्ड, पद ४४।

की विहार-वाटिका है।[1] इस सघन लता-कुज मे अपने हाथ से पल्लवशयन बनाकर राम प्रेम-पीयूष-पान की साध लिये सीता के अगो पर धातु-राग से चित्र बनाते है, सुमनो के आभूषण गूँथ कर पहनाते हे।[2] यहा तुलसी बहुत कुछ कहना चाहते है, बहुत कुछ कहते भी है, किन्तु सब अप्रस्तुत विधान के माध्यम से

"जाइ न बरनि रामवन चितवत चित हरि लेत।
ललित लताद्रुम सकुल मनहु मनोज निकेत।
लखन कहेउ रघुनदन देखिय विपिन समाज।
मानहु चयन मयन पुर आयहु प्रिय ऋतुराज।
चित्रकूट पर राउर जानि अधिक अनुरागु।
सखासहित जनु रतिपति आयउ खेलन फागु।"[3]
'चित्र विचित्र विविध मृग डोलत डोगर डाग।
जनु पुर-बीथिन बिहरत छैल सावरे स्वाग।
नचहिं मोर, पिक गावहि, मुर बर राग बुधान।
निलज तरुन-तरुनी जनु खेलहिं समय समान।"[4]

यहाँ तुलसी ने राम के इस विहार को 'नित्य विहार' के रूप मे भी देखा है

"चित्रकूट कानन छवि को कवि बरनै पार।
जह सिय-लखन-सहित नित रघुबर करहि विहार।"
तुलसिदास चाचरि मिस कहे राम-गुनग्राम।
गावहिं, सुनहि नारि-नर, पावहिं सब अभिराम।"[5]
"विरचित जह परनसाल, अति विचित्र लखनलाल
निवसत जहाँ नित कृपालु राम-जानकी।"[6]

वन के मिस राम-विहार का वर्णन इस प्रसग मे करके गोस्वामी जी ने आदर्श और शृगार भावना का समझौता प्रस्तुत किया है

"आजु बन्यौ है विपिन देखो, राम धीर। मानो खेलत फागु मुद मदन बीर।"[7]
"ऋतुपति आए भलो बनो बनसमाज। मानो भए है मदन महाराज आज।"[8]

तीसरा प्रसग उत्तर काण्ड मे राम के राज्याभिषेक हो जाने के अनन्तर अयोध्या मे राम-सीता के विहार-विलास का है। दो लम्बे पदो मे हिंडोले का वर्णन है, एक लम्बे पद मे वसन्त-विहार का। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि मानस-स्थित तुलसी के आदर्श के अनुसार राम का उत्तर जीवन उच्च आदर्शो का निदर्शन है। इसी काल मे लोक-साधना

---

१ गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पद ४४।
२. वही, पद ४४।
३. वही, पद ४७।
४. वही, पद ४७।
५. वही, पद ४७।
६ वही, पद ४४।
७. वही, पद ४८।
८. वही, पद ४९।

करने वाले राम ने अल्प-से अपवाद के परिहार के लिए निष्कल्मषा सीता का परित्याग किया था। यहाँ राम से नैतिकता एव मर्यादा-मार्ग की चरम प्रतिष्ठा अपेक्षित है। ऐसे प्रसग मे राम-सीता का यह विहार-विलास युगीन मधुर भावना का आयात रूप ही कहा जायगा।

हिंडोले और वसन्त मे राम-सीता का विलाम-विहार चित्रकूट की अपेक्षा साक्षात् रूप मे वर्णित है। जिस हिंडोले पर झूलते है उसके खभे मदन-जय के स्तम्भ है। डाडा काम के मस्तक की तिलक-रेखा है। उसकी पटुली रति के हृदय की चौकी है।[1] रूप-यौवन की सीमाएँ सुन्दरियाँ शृगार कर राम-सीता को हिंडोला झुलाती है, स्वय भी झूलती है। नृत्य और गान चलते है और समूचे वातावरण मे शृगार की मधुरता घुली हुई है।[2]

वसन्त-वर्णन तो और भी उन्मुक्त एव मादक है। तुलसी के इस वसन्त-विहार मे कृष्ण-काव्य के वसन्त-विहार की प्रतिध्वनि है। एक ओर सखाओ और अनुजो के सहित राम की टोली है, दूसरी ओर नव किशोरियो के साथ सीता की। ये कामिनियाँ जिस किसी को पकड लेती है, आँखो मे अजन लगाकर, उसे नचा कर, हा हा करवाकर, और फगुआ मना कर ही छोडती है। हसोडे विदूषक गधो पर चढे ऐसे इशारे करते है जिनमे लज्जा किनारा कर गयी है। स्त्रियाँ और पुरुष परस्पर गालियाँ बकते है और राम तथा उनके अनुज और सखा उन्हे देखकर हसते प्रसन्न होते है।[3] ये चित्र निस्सन्देह राम के आदर्श के अनुरूप नही है। ये तुलसी की लेखनी से निकल कर पाठक को स्तभित कर देते है। इनमे उस युग की असयत भक्ति की प्रभाविता ही बोल रही है। यद्यपि इस रस-परिकल्पना मे सखी-सम्प्रदाय कृष्ण-भक्तो के समान सुरतादि के उद्दाम चित्र नही है, तथापि जो भी है, राम के आदर्श के अननुरूप है। भले ही इनमे लोक-जीवन का ही चित्र अकित है, और इस नाते इन चित्रो से लोक-मर्यादा का कोई विशेष विघटन नही होता है, तथापि तुलसी द्वारा प्रतिष्ठित एव परम्परा द्वारा स्वीकृत राम के आदर्श चरित्र पर प्रश्न-चिह्न अवश्य अकित हो जाता है। सौभाग्य इतना ही है कि गोस्वामी जी ने इसको विस्तार नही दिया और बडे ही सधे हाथ इसका चित्रण किया है।

सब मिला कर गीतावली की मधुर-परिकल्पना अपने मे मधुर है। उसमे न मर्यादा-भक्ति की आग्रह-पूर्ण नीरसता है, और न कृष्ण-भक्ति के तथा कतिपय रामभक्ति के मधुर-उपासको की सी उच्छृखल उद्दामता। यह राम-काव्य के लिए, विशेष कर तुलसी के द्वारा, चाहे उपयुक्त न बैठती हो, किन्तु मधुरोपासक कृष्ण-भक्तो के लिए एक आदर्श बन सकती थी। सम्भव है, गोस्वामीजी ने इसी दृष्टि से इसे स्वीकार किया था।

सामान्य-कान्तारति—दाम्पत्यरति के अतिरिक्त सामान्य कान्तारति के भी विविध चित्र तुलसी ने गीतावली मे अकित किये है। जनकपुर मे राम के सौन्दर्य के प्रति नगर नागरियो का आकर्षण तो मानस मे ही अधिक विस्तार से चित्रित है, किन्तु वनपथ मे ग्राम-वधुओ एव किरातिनियो मे तथा राज्याभिषेकोत्तर राम के विलास विहार मे इस प्रकार के रति-भाव की सुन्दर परिकल्पना हुई है।

वनपथ के चित्रो की चर्चा हम अभी ऊपर कर चुके है। ग्रामवधुओ मे जो राम के प्रति सौन्दर्याकर्षण है उसमे किसी प्रकार की वासना या सम्भोग-लालसा नही है। इस प्रकार

---

१. गीतावली, उत्तरकाण्ड, पद १८।

२. वही, पद १९।

के शुद्ध सात्त्विक श्रृगार का चित्रण साहित्य मे तुलसी के सिवा और किसी ने नही किया। यही प्रसग मानस और कवितावली मे भी आया है। यहाँ तुलसी ने उनकी अनुभूति को 'प्रेम-रस' नाम दिया है और इसकी प्रवाहिता और विवशता का कई पदो मे उल्लेख किया है।

"यौ कहि भई मगन बाल, बिथकी सुनि जुवति जाल,
चितवत चले जात सग मधुप-मृग-विहग ।
बरनौ किमि तिनकी दसहि, निगम अगम प्रेम-रसहिं।
तुलसी मन-बसन रगे रुचिर रूप-रग ।"[1]
"दास तुलसी नेह-बिबस बिसरी देह,
जान नहिं आपु तेहि काल धौ को ही ।"[2]
"सखिहि सुमिख दई, प्रेम-मगन भई,
सुरति बिसरि गई आपनी ओही ।
तुलसी रही है ठाढी, पाहन गढी सी काढी,
कौन जानै कहा ते आई, कौन की को ही ।"[3]

अत इस प्रेम-रस मे गहरा आत्म-विगलन एव विवशता है। ग्रामवधुओ के इस प्रेम से सीता मे कोई ईर्ष्या नही। शुद्ध सात्त्विक प्रेम ईर्ष्या का विषय नही होता। सीता उनके प्रति मूर्तिमती प्रभु-कृपा हो जाती है।[4] और वे ग्रामवधुएँ भी प्रेम-मूर्ति सीता के प्रति आकृष्ट है। तुलसी ने उनके इस दर्शन-सुख को 'स्वामी-स्वामिनी' के दर्शन का रस कहा है

"तुलसी स्वामी-स्वामिनी जोहे मोही है भामिनि
सोभा सुधा पिये करि अखियाँ दोनी ।"[5]

कृष्ण-भक्त मधुरोपासक सखी-सहचरियो के दर्शन-सुख को सीता-राम के केलि दर्शन तक ले गये है, तुलसी ने उसे रूप-दर्शन तक ही रख कर मर्यादा का निदर्शन उनके सामने प्रस्तुत किया है।

उत्तर-काण्ड में इसका मधुर-भाव के अनुरूप स्वरूप और अधिक व्यक्त हुआ है। श्रृगार-सज्जा करके नागरी सखियाँ सीता-राम को हिंडोला झुलाने झुडो मे जाती है। बारी-बारी सीता-राम को झुलाती हे, स्वय भी झूलती है, झूलते-झुलाते उनके केश बिथुर जाते है, वस्त्र उडते है, भूषण अगो से खिसक जाते है और इस रूप मे उनकी शोभा बढ जाती है।[6]

---

१ गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पद १७।

२ वही, अयो०, पद २८।

३ वही, अयो०, पद १९।

४ "सनेह-सिथिल सुनि वचन सकल सिया चितई अधिक हित सहित ओही।
तुलसी मनहु प्रभुकृपा की मूरति फिरि हेरि कै हरषि हिये लियो है पोही।" वही, अयो०, पद २०।

५ वही, अयो०, पद २२।

६ "झुड-झुड झूलन चली गज गामिनी बर नारि।
कुसुभि चीर तनु सोहहीं, भूषन विविध सवारि।
•
अति मचत, छूटत कुटिल कच, छबि अधिक सुदरि पावहीं।
पट उडत, भूषन खसत, हसि-हसि अपर सखी झुलावहीं।" वही, उत्तरका०, पद १९।४।

स्वर्ग-दुर्लभ भोग का आस्वादन करते हुए भी इनमे विषयाकर्षण नही है ।[1] इस प्रसग का यह सामान्य कान्ताभाव सखी-भाव के रूप मे ही सामने आता है,[2] किन्तु उनका आस्वाद्य रस कृष्ण-भक्ति की सखियो से अधिक निर्मल है ।

तुलसी ने समन्वय-मार्ग का अवलम्बन कर मधुरोपासको के समक्ष सखी भाव का निर्मल आदर्श प्रस्तुत किया है ।

दास्य-भक्ति—भक्तिरस का तीसरा रूप जो गीतावली मे प्राप्त होता है वह है दास्यभक्तिरस । यह तुलसी की प्रकृत भक्ति वाला ही रूप है ।

तुलसी ने गीतावली मे राम-कथा के कतिपय प्रसगो का अपनी इस भक्ति-भावना के अनुरूप ही गान किया है । अहल्योद्धार, शबरी मिलन, विभीषण शरणागति आदि मे यही भक्ति-रूप उभारा गया है । यो तुलसी मे अपने आराध्य की महत्त्व-चेतना कभी दूर नही होती, पर इन प्रसगो मे भगवान् की भक्त-वत्सलता-उदारता आदि गुणो को उभार कर सामने किया गया है ।

काव्य-दृष्टि से इन प्रसगो मे रस-व्यजना नही हुई, भाव-व्यजना इनमे बहुत ही सुन्दर है इनमे कथाश और भावाश मिले-जुले रहते है, यह स्थिति भाव-व्यजना के अनुकूल पडती है । पर इस स्थिति से न तो किसी काव्य-रस की गहरी सृष्टि हो पाती है और न भक्ति-रस का ही प्रवाही परिपाक होता है । किन्तु पर्यवसित रूप मे यह भाव-व्यजना सामान्यत विभाव के महत्त्व, उदारता आदि गुणो को उभारती हुई भक्ति-रस का ही परिपाक करती है ।

काव्य-रस—भक्तिरस के गीतावली मे उपलब्ध तीन रूपो के परिचय के अनन्तर अब हम काव्य-रसो की ओर आते है । काव्य-रस कहने से यहाँ हमारा तात्पर्य यही है कि इनमे भक्तिरस के परिपाक के लिए अलौकिकत्व, अति महत्त्व आदि का दबाव न होकर भाव-व्यजना प्रकृत रूप मे हुई है । इस प्रकार के दो रसो की व्यजना गीतावली मे मिलती है—एक करुण की दूसरी वीर की ।

करुण—भक्ति-भावना के अतिमात्र दबाव से मुक्त करुण का परिपाक गीतावली मे सुन्दर हुआ है । यहाँ 'करुण' शब्द का प्रयोग अति रूढ मृत्यु-जन्य शोक के अर्थ तक ही परिसीमित नही लेना चाहिए । इसमे गहरे वियोग-शोक की स्थितियाँ भी गिनी जा सकती है । अत इनमे वात्सल्य-विरह, वियोग-शृगार और मृत्यु-शोक तीनो ही स्थायी की स्थितियाँ आ जाती है ।

तुलसी को सर्वाधिक मर्मस्पर्शिनी सफलता गीतावली मे इस व्यापक करुण के ही चित्रण मे मिली है । वियोग वात्सल्य मे कौसल्या के हृदय की व्यापक व्यथा और विरह शृगार मे सीता के मन की पुटपाक वेदना के चित्र है । शोक का परिपाक लक्ष्मण-शक्ति के प्रसग को लेकर है ।[3]

---

१ "नाकेस दुरलभ भोग लोग करहि, न मन विषयनि हरे ।" गीतावली, १६।१ ।

२ "सखि रघुनाथ रूप निहारु ।" वही, उत्तरका०, पद ८ ।
"सखी रघुबीर-मुखछवि देखु ।

नयन सुषमा निरखि नागरि, सफल जीवन लेखु ।" वही, उ० का०, पद ६ ।

३ कौसल्या का विरह—अयो०, पद ५१-५५; ८४-७ । अन्यों के लिए सु० का०, ७, १० । तथा लका०, ६, ७ ।

करुण की इस सफल परिकल्पना के दो रहस्य है। एक तो इनमे कवि की आत्मा डूबी है, दूसरे गीतिकाव्य की कोमल शैली और भावानुरूप भाषा ने भी इसे योग दिया है।

वीर-रस—जिस प्रकार ऊपर हमने करुण को व्यापक अर्थ मे लिया है उसी प्रकार वीर को भी एक व्यापक अर्थ मे यहाँ लेना चाहिए। हनुमान-रावण सवाद, जटायु-रावण युद्ध, हनुमान का सजीवनी लाना, आदि ओजस्वी प्रसग इसकी परिधि मे आते है। अनेक स्थलो पर कोमल पदावली से भी तुलसी गीतावली मे ओज गुण वाले भाव की सफल परिकल्पना प्रस्तुत कर सके है।

जहा तक गीतावली मे पाठक की अनुभूति का प्रश्न है, इसकी अनुभूति सरल, साधारणीकरण की अधिकतम सभावनाए लिए, एव शुभोदर्की है। इसमे मधुर रस की अनुभूति अपने मे अत्यन्त सरस है। केवल उत्तर काण्ड के कुछ मुक्त चित्रो को छोड पाठक तुलसी से सर्वत्र समानुभूति प्राप्त करता है। मधुर के मुक्त चित्रो मे कुछ बाधा इस लिए होती है कि ये चित्र तुलसी के है यह चेतना पाठक नही छोड सकता। यदि किसी दूसरे के ये चित्र होते तो उसकी चेतना इनमे काव्यरस का सहज आस्वादन कर सकती। किन्तु ये केवल दो चित्र है। भक्तिरस के विषय मे एक समन्वयात्मक रस-परिकल्पना प्रस्तुत करने के कारण गीतावली का स्थान तुलसी के साहित्य मे उसका अपना है।

केशवदास

भक्त कवियो की परम्परा से सम्बन्ध जोडने वाली केशव की एक ही रचना कही जा सकती है—"रामचन्द्रिका"। वह भी प्रधानतया इसलिए नही कि उसमे रामचरितमानस के समान भक्तिरस का परिपाक है अथवा विनयपत्रिका के समान वह रामभक्ति के रस मे भीगी हुई है, अपितु इसलिए कि उसमे रामकथा राम-भक्ति के आदर्शो को अपनाते हुए आस्था के साथ वर्णित है।

रसिकप्रिया मे सिद्धान्त-पक्ष मे केशव ने उसमे पारमार्थिकता की ओर सकेत किया है,[1] और उसमे निहित काव्य भी राधा और कृष्ण के नाम पर ही है, किन्तु उसमे भक्ति की चेतना नही है। ग्रन्थ का मूल उद्देश्य एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का प्रणयन है। यो उस युग मे मधुरा भक्ति कृष्ण-काव्य मे पूरा बल पकड चुकी थी, किन्तु रसिकप्रिया के काव्य मे मधुरा भक्ति के आदर्श भी नही पाये जाते और कवि का आत्मानुराग भी नही। अत रसिक-प्रिया के आधार पर केशव को वैष्णव कवि या भक्त कवि नही कहा जा सकता। और, इसी कारण वे कृष्ण-काव्य मे हमारे विवेच्य नही हुए।

केशव का अपना भक्ति-आदर्श राम-भक्ति है। अपने अन्य ग्रन्थो मे भी उन्होने इस आदर्श की यत्र-तत्र चर्चा की है। विज्ञान-गीता मे इस प्रकार की विचार-धारा है किन्तु वह भक्ति-काव्य न बनकर एक विचार-प्रधान नीरस-प्राय रचना हो गयी है। अत भक्ति-काव्य से एक असाक्षात् लगाव होते हुए भी विज्ञानगीता को रस-परिकल्पना के लिए सामने नही रखा जा सकता। वस्तुत विज्ञानगीता काव्य नही, काव्याभासी वैचारिक रचना है।

रामचन्द्रिका एक प्रबन्ध-काव्य है, यद्यपि उसमे प्रबन्ध-धारा विशृंखल है। वह कवि-कौशल-प्रधान एक चमत्कारपूर्ण काव्य-रचना है, अत इसमे रसात्मकता का स्थान प्रधान

१. "स्वारथ परमारथ लहै रसिकप्रिया की प्रीति।" —रसिकप्रिया, प्र० १६। १६।
"केसव श्याम सुजान कौ सुनत होइ बस चित्त।" —वही, १। १४।

नही है। सामान्यत महाकाव्य या प्रबन्ध काव्य का आदर्श रसान्वयिता है। उसमे किसी एक अगी रस की धारा प्रवाहित होनी चाहिए, साथ मे वस्तु-वर्णन और काव्य-चमत्कार भी रसानुयोगी रूप मे बीच-बीच मे चल सकता है। कथा-विकास रसोन्मुखी होना आवश्यक है। इस प्रकार प्रबन्ध-काव्य मे प्रथम स्थान रस का, द्वितीय घटना और वस्तु-वर्णन का तृतीय काव्य-चमत्कार का है। किन्तु रामचन्द्रिका मे काव्य-चमत्कार, वस्तु-वर्णन और रस का स्थान क्रमश न्यून से न्यून हो गया है। इस प्रकार उसमे रस-परिकल्पना पिछाई पड गयी है और अलकार-छद के कवि-कौशल तथा चमत्कारी वस्तु-वर्णनो से आच्छादित हो गयी है। अत हम जो भी रस-परिकल्पना का स्वरूप रामचन्द्रिका मे पाने जा रहे है, इस तथ्य के साथ ही समझना चाहिए।

रामचन्द्रिका मे कवि की प्रवृत्ति चमत्कार एव कौशल द्वारा पाठक को प्रभावित करने की ओर अधिक है, स्वय रस मे डूब कर डुबाने की ओर कम। अत उसमे किसी रस की परिकल्पना धारा-वाही रूप मे नही मिलती। फिर भी रामचन्द्रिका रस-शून्य काव्य नही है। उसकी रस-परिकल्पना समझने के लिए हम भक्तिरस और काव्यरस दोनो की दृष्टि से अलग-अलग विचार करे तो उचित होगा। इस पद्धति से ही हम तुलसी की रस परिकल्पना समझ कर आ रहे है। इस पद्धति को अपनाने से केशव की रस-परिकल्पना का तुलनात्मक स्वरूप भी स्पष्ट हो लेगा।

भक्तिरस—रामचन्द्रिका मे रामचरितमानस के समान भक्तिरस एक अगीरस नही है जिसके सापेक्ष्य मे अन्य रसो एव घटना तथा चरित्रो का विकास होता है। केशव ने राम-कथा को अपने काव्य का विषय एक आस्था और श्रद्धा के साथ चुना है, इसमे सन्देह की गुजायश नही है।[1] रामचन्द्रिका के विविध पात्र स्थान-स्थान पर राम के प्रति श्रद्धा और प्रेम निवेदन करते है।[2] स्वय केशव मे और रामचन्द्रिका के पात्रो मे राम के परब्रह्मत्व, परमैश्वर्य एव लोक-रक्षक रूप की महत्त्वमयी वही चेतना है जो दास्यभक्ति के आदर्श के लिए अपेक्षित है।[3] रसिकप्रिया के शृगारी कवि ने रामचरित मे शृगार के विषय मे वही सयम दिखाया है जो मानस के भक्त कवि ने दिखाया था। रामचरित के लोक-प्रतिष्ठित एव आदर्शवादी भक्ति-धारा मे स्वीकृत आदर्शों को केशव ने जागरूक रह कर सुरक्षित रखा है। २ सब बाते रामचन्द्रिका से उद्धरणो की अपेक्षा नही रखती।

---

१ "जिनको जस हसा, जगतप्रससा, मुनिजनमानस-रता।
लोचन अनुरूपनि स्यामरूपनि अजन अजित सता।
कालत्रयदसा निर्गुन परसी होत बिलम्ब न लागै।
तिनके गुन कहिहौ, सब सुख लहिहौ, पाप पुरातन भागे।" रा० च० प्र० १।२०।

२ विश्वामित्र—३।८, जनक—६।१८, शबरी—१२।४४, गीध—१२।३०, विशिष्ठ—२५।१-२।

३. "पूरन पुरान अरु पुरुष पुरातन परिपूरन बखानै न बतावै और उक्ति कौ।
दरसन देत जिन्हे दरसन समुझै न नेति नेति कहै वेद छाडि भेद-जुक्ति कौ।
जानि यह केसोदास अनुदिन राम राम रटत रहत न डरत पुनरुक्ति कौ।
रूप देहि अनिमाहि गुन देहि गरिमाहि नाम देहि महिमाहि भक्ति देहि मुक्ति कौ।"
—रामचन्द्रिका, प्र० १।३।

"तुम आदि मध्य अवसान एक। अरु जीव जन्म समुझौ अनेक।
तुमही जु रची रचना विचारि। तेहि कौन भाति समुझौ मुरारि।" वही, २५।१।

इतना होते हुए रामचन्द्रिका मे भक्ति की रस-धारा प्रवाहित नही होती। कोई पाठक उसे पढ कर भक्तिरस मे डूब नही सकता। उसमे जो भी भक्ति है, भाव कोटि की है। काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से भी और भक्ति-शास्त्र की दृष्टि से भी। काव्यशास्त्र की दृष्टि से इसलिए कि वह चमत्कार, अलकार, वस्तु-वर्णन आदि से गुणीभूत है, उसकी विभावादि-नियोजन पूर्वक प्रबन्धात्मक भाव-धारा के नाते सर्जना नही हुई, और भक्तिशास्त्र के नाते इसलिए कि उसमे भक्ति सामान्य कोटि की ही है, जिसे भक्तिशास्त्रियो ने प्रेम की प्रथम कोटि 'भाव' कहा है।

रामचन्द्रिका मे राम-विषयक दास्यरति के रस-कोटि तक पहुँच न सकने के चमत्कार-व्याघात के अतिरिक्त कुछ और भी कारण हे। एक तो यह कि कवि को स्वय रामरति की उस कोटि की स्वानुभूति नही जिसके आधार पर वह भक्ति का आत्मरस काव्य मे घोल सके। दूसरे यह कि काव्य-दृष्टि से उसने राम के गुण-गान और महत्ता, परब्रह्मत्व आदि का वर्णन अधिक किया है, इस सबको विभावित कम किया है। इस वर्णन से भी रति का केवल विभाव-पक्ष खडा होता है, आश्रय-पक्ष मे सचारी भावो और भक्ति के अनुरूप अनुभावो की योजना नही हो सकी। फिर भावो को क्रमश विकसमान धारा मे प्रस्तुत न कर यत्र-तत्र बिखरे रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इन कारणो से रामरति रामचन्द्रिका मे भाव-कोटि की ही रह गयी है, वह भी काव्य-चमत्कार एव भाषा की दुरूहता से यदा-कदा यत्र-तत्र व्याहत है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही समझना चाहिए कि रामचन्द्रिका के पाठक पर केशव की भक्ति-भावना का कोई भी अनुभूत्यात्मक प्रभाव नही पडता। रामचन्द्रिका की रामरति आदर्शवादी रामभक्ति के मूल स्वरूप को अपनाने के कारण भक्तिसस्कार-सम्पन्न हृदय मे भगवद्विषयक रत्युन्मेष करने मे सफल है। उसकी अनुभूति आदर्शमयी रामभक्ति के प्रभाव के अनुरूप लोकमगल-मय प्रभाव छोडती है।

कवित्व-चमत्कार से रस-परिकल्पना रामचन्द्रिका मे गौण है, हम यह पीछे कह चुके है। पर रस-परिकल्पना मे काव्यरसो की अपेक्षा भी भक्ति की परिकल्पना भी गौण है। रस-परिकल्पना के भीतर ही देखे तो भी भक्ति का स्थान काव्य-रसो के अनन्तर आता ह।

काव्य रस—रामचन्द्रिका मे रस-परिकल्पना चमत्कार से दबी हुई एव अधारावाही रूप मे है, इस तथ्य को ध्यान मे रख कर कहा जा सकता है कि काव्यरसो का स्थान भक्तिरस की अपेक्षा उभरा हुआ है। केशव पहले कवि है, पीछे भक्त, आलोचको के इस वाक्य को हम भी इस विषय मे यहाँ दुहरा सकते है।

वातावरण की सृष्टि करके कुछ दूरी तक एक भाव-धारा को प्रवाहित करते हुए केशव को रामचन्द्रिका मे वीर, रौद्र, करुण और शान्त के परिपाक मे सफलता मिली है। स्थल-स्थल पर इन रसो का सामग्री-विधान एव वातावरण-सर्जन पूर्वक जो परिपाक केशव ने रामचन्द्रिका मे किया है वह यह बताता है कि इस कवि मे रस-सर्जना की क्षमता तो श्रेष्ठ कोटि की है। यदि यह चमत्कार के फेर मे न पड जाता तो काव्य-जगत् मे बडे पते का आदमी था।

वातावरण-सृष्टि और प्रकरण-वाही धारा-प्रवाह की दृष्टि से रामचन्द्रिका मे अपनी सीमाओ मे सबसे सफल रस वीर है। केशव का सवाद-कौशल प्रसिद्ध है। इन सवादो मे जैसी उत्साह-व्यजना केशव कर सके है, वैसी तुलसी भी नही कर सके। हम उन उद्धरणो को देकर यहाँ कलेवर-वृद्धि नही करना चाहते।

युद्ध के प्रसगो मे, लका-युद्ध मे भी और लव-कुश के युद्ध मे भी उत्साह से परिपुष्ट रौद्र की सुन्दर परिकल्पना मिलेगी। कभी-कभी कोप की व्यजना के अनुरूप परिस्थिति और वातावरण की सृष्टि कर लेने पर भी अभिव्यक्ति के साधन भाषा और छन्द धोखा अवश्य दे जाते है और रस-व्यजना हलकी पड जाती है,[1] किन्तु युद्ध-चित्रो मे इन कठोर रसो की व्यजना मे केशव को बहुत दूरी तक सफलता मिली है।[2] रौद्र की व्यजना के लिए क्रोध एव शक्ति का चित्रण पक्ष और प्रतिपक्ष दोनो मे हुआ है।

भयानक और वीभत्स इन रसो के सहचारी और अग बन कर यत्र-तत्र परिकल्पित हुए हे।[3] परशुराम-प्रसग मे भी भय की हलकी रेखा है।

केशव ने वस्तु-वर्णन मे उन प्रसगो मे अधिक सफलता पायी है जिनमे ओज के विकास का अवकाश था। उदाहरण-स्वरूप धनुर्भग का प्रसग लिया जा सकता है।[4] रामचन्द्रिका मे सब मिला कर ओजस्वी प्रसगो का आधिक्य है। यदि वस्तु-वर्णन, ओजस्वी प्रसग, भयादि की सहकारिता आदि पर सब मिलाकर ध्यान दिया जाय तो रामचन्द्रिका का अगी काव्यरस वीर हो सकता है। पर चमत्कार के व्याघात और अगी-रस के लिए अपेक्षित प्रवाहिता के अभाव मे वैसा नही हो सका है।

वीर और रौद्र परुष रसो के अनन्तर सफलता की दृष्टि से रामचन्द्रिका मे करुण का स्थान है। दशरथ-मरण और लक्ष्मण-शक्ति के चित्रण मे केशव ने इसके परिपाक म

---

१ रावण द्वारा सीता से राम का ध्यान छोडकर उसे वरने का प्रस्ताव सीता के क्रोध के लिए अत्यत उपयुक्त अवसर था। उसकी व्यजना का उचित प्रयास भी निम्न मालिनी छन्द की धीमी गति के कारण मद-फल हो गया है

"तृन बिच देइ बोली सिय गभीर बानी। दसमुख सठ सो तू कौन की राजधानी?
दसरथसुत द्वेषी रुद्र ब्रह्मा न भासै। निसिचर बपुरा तू क्यो न स्यो मूल नासै।
अति तनु धनु रेखा नेक नाकी न जाकी। खल सर-खरधारा क्यो सहै तिच्छ ताकी?
बिडकन घन घूरे भच्छि क्यो बाज जावे। सिव सिर ससि श्री को राहु कैसे सुछावे?
उठि-उठि सठ ह्याते भागु तौला अभागे। मम वचन बिसर्पी सर्प जौ लौ न लागे।
विकल सकुल देखौ आसु ही नास तेरो। निपट मृतक तोको रोष मारै न मेरो।"

—रा० च०, १३ ६१ ३।

२ "करि आदित्य अदृष्ट, नष्ट जम करौ अष्ट बसु।
रुद्रन बोरि समुद्र करौ गधर्व सर्व पसु।
बलित अबेर कुबेर बलिहि गहि देउ इद्र अब।
विद्याधरन अविद्य करौ बिन सिद्धि सिद्ध सब।
निजि होहि दासि दिति को अदिति अनिल अनल मिटि जाइ जल।
सुनि सूरज उवत ही करौ असुर ससार बल।" —रा० च०, १७ ४६।

३. रा० च०, १६।२६ २८, ७ · २।

४ "प्रथम टकारि झुकि भारि ससार मद चड कोदण्ड रह्यौ मडि नव खड कौ।

बाधि बेर स्वर्ग कौ साधि अपवर्ग धनुभग को सब्द गयो भेदि अड कौ।" —रा० च०, ५ . ४३।

अच्छी सफलता प्राप्त की है।[१]

केशव ने विरह-व्यथित सीता के कतिपय चित्र इस रूप मे प्रस्तुत किये है कि वे पाठक की अनुभूति के लिए करुण का विभाव बन कर आते है —

"धरे एक बेनी मिली मैल सारी,
मृनाली मनौ पक ते काढि डारी।
सदा रोमनामै रहै दीन बानी,
चहूँ ओर है राकसी दुक्खदानी।"[२]

शृगार राम-काव्य के अनुरूप सयोग-पक्ष मे सयत एव मर्यादित[3] तथा वियोग पक्ष मे यत्र-तत्र हृदय-स्पर्शी है। वियोग को राम और सीता दोनो मे दिखा कर प्रेम की उभय-पक्षीयता का चित्रण किया गया है।[४]

रामचन्द्रिका मे शान्त की परिकल्पना भी सबल है।[५] वस्तुत' आदर्शवादी रामभक्ति के सस्पर्श के साथ ही शान्त का स्वत समावेश है। केशव ने स्थल-स्थल पर और विशेष कर उत्तर-कथा मे शान्त के लिए अवकाश निकाले है। ओजस्वी प्रसगो के बाद रस-दृष्टि से शान्त का ही नम्बर आता है।

अन्य रसो की स्थिति सामान्य है। यो ढूँढने से सभी रसो के कुछ न कुछ सुन्दर स्थल रामचन्द्रिका मे निकल आते है। वे इस बात के तो प्रमाण है कि केशव मे अपेक्षित भावुकता और रस-परिकल्पना की क्षमता है, किन्तु उनके आधार पर केशव की विशिष्ट रस दृष्टि नही समझी जा सकती।

तुलसी और केशव की रस-परिकल्पना मे सबसे बडा अन्तर यह है कि तुलसी मे जहाँ भक्तिरस की धारा आद्योपान्त प्रवाहित है वहाँ केशव मे भक्ति 'भाव' के स्तर पर ही रह गयी है। तुलसी मे काव्यरस चमत्कार से दूर है, या कहिए चमत्कार उनका अनुयोगी है। केशव मे काव्यरस चमत्कार के अनुयोगी या उससे व्याहत होकर आये है। सामान्यत केशव की रस-परिकल्पना धारा रूप मे नही, झलकियो के रूप मे मिलती है। धारा रूप मे मिलता है कवित्व, चमत्कार, कभी इस रूप मे तो कभी उस रूप मे।

पाठक की अनुभूति की दृष्टि से केशव की रस-परिकल्पना भाषा की अपरिचितता, एव अस्पष्टता के कारण व्याहत है, साथ ही चमत्कार-पूर्ण वर्णनो के कारण आच्छादित है। इससे बच कर पाठक केशव के काव्य मे भक्ति का भी और रसो का भी एक सीमा मे आस्वादन करता है।

सेनापति

सेनापति के कवित्तरत्नाकर के अतिम दो तरग चतुर्थ तथा पचम राम-भक्ति की परिधि मे आते है। प्रारम्भ के तीन तरगो मे श्लेष, शृगार और प्रकृति-वर्णन है। वे न तो वैष्णव-चेतना से सम्बद्ध है न उनका भक्ति से कुछ लगाव है। वे रीतिकालीन प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते है।

---

१ रामचन्द्रिका, १३।५४।
२. वही, १७।४४-५।
३. वही, १।३४।
४ वही, १३।२२, १३।८५, १४।२६।
५ वही, प्रकाश, २४।

अन्तिम दो तरगो मे से चौथे मे तो रामचरित के कतिपय चुने प्रसगो सम्बन्धी कवित्त है, पाचवे मे आत्मपरक अभिव्यजना है। इन दोनो ही तरगो मे राम-भक्ति की गहरी भावना पायी जाती है। दोनो ही तरग राम-काव्य की सुन्दर निधि कहे जा सकते है।

रस-परिकल्पना की दृष्टि से जब अभिव्यजना कथा वर्णन के सहारे से हुई है तब भक्तिरस की अपेक्षा काव्यरसो की अभिव्यक्ति प्रमुख है, और जब अभिव्यक्ति आत्मपरक हुई है तब काव्यरस की अपेक्षा भक्तिरस अधिक उभरा हुआ है। एक बात और उल्लेखनीय है। सेनापति ने काव्य-कौशल के जिन उपादानो का जीवन भर अभ्यास किया है उनको यहाँ भी एकदम छोड नही दिया गया। श्लेष, भाषा और छन्द की सफाई आदि का यहाँ भी उपयोग हुआ है। अतर केवल इतना हो गया है कि जीवन भर ये चमत्कार-साधन उनके साध्य रहे थे, राम-भक्ति के क्षेत्र मे आकर अब वे पूजन-समर्पण की सामग्री बन गये है। अत कही भी चमत्कार ने रस-परिपाक को व्याहत नही किया।

इन तरगो के आधार पर सेनापति की सच्ची भक्ति-भावना का प्रमाण मिलता है। केवल राम-कथा का सहारा पकड कर काव्य-रचना करने से ही किसी कवि को राम-भक्त नही कहा जा सकता। कालिदास ने रघुवश मे कई सर्गो मे राम-चरित कहा है। उसमे रस-परिपाक भी स्थल-स्थल पर कालिदास के अनुरूप है। पर कालिदास इससे रामभक्त नही कहे जाते। सारे रघुवश का चरितगान करके भी कालिदास रामभक्त कवि नही है, यद्यपि उनकी रचना मे रस-परिपाक उच्चकोटि का है। भक्त होने के लिए भगवद्रति की राग एव आवेशमयी स्वानुभूति भी कवि मे अपेक्षित है। सेनापति मे ऐसी ही रागमयी स्वानुभूति राम के प्रति इन तरगो मे पायी जाती है।

सेनापति की भक्ति का आदर्श तुलसी के समान ही मर्यादावादी है। उनकी भक्ति भी स्वरूपत दास्यमूलक है। इस भक्ति के लिए अपेक्षित भगवान् के महत्त्व, भक्त-वत्सलत्व और लोक-रक्षकत्व की चेतना के साथ आत्म-दैन्य, विनय, समर्पण, अनन्याश्रयत्व, एव चित्त की प्रशान्तता की सच्ची अनुभूति सेनापति मे है। यह दूसरी बात है कि इन अनुभूतियो मे तुलसी की कोटि की सघनता न हो, किन्तु सेनापति मे ये अनुभूतियाँ कवि-कल्पना की कृपा से नही आयी है, स्वानुभूति के बल पर आयी है, इस बात का साक्षी स्वय उनका काव्य और पाठक पर उनकी रस-परिकल्पना का पडने वाला प्रभाव है।

कवित्तरत्नाकर के इन तरगो मे प्राथमिक तरगो के सेनापति की भाव-दिशा के परिवर्तन की झाकी है। वहाँ का शृगारी तथा चमत्कारी कवि यहा आकर भक्त बन गया है, अत ये अनुभूतिया निश्चय ही उनके जीवन के पिछले काल की होनी चाहिए। यहाँ कवि अपने काव्य से या तो अपने आराध्य को रिझाना चाहता है या अपने मन की प्रेमाकुलता व्यक्त करना चाहता है। यहाँ उसमे विनय भी इतना है कि उसे सकोच है कि जिस की कृपा से यह दीप की सी ज्योति मिली है उस दीप्त भानु के सामने इस दीप को कैसे रखे

"धाता जाहि गावै, कछू मरम न पावै, ताहि
कैसे कै रिझावै, भलौ मौन ठहराइयै।
रसना कौ पाइ, पाइ बचन सकति, बिन
राम नाम गुन-गाइ तऊ मन अकुलाइयै।
जैसे बिन अनल, सलिल ही कौ दीपक दै,
दीपतिनिधान भान कौ भलौ मनाइयै।

ऐसे, थोरी उकति जुगति करि सेनापति
राजा राम तीनि लोक तिलक रिझाइयै ॥"[1]

दीपक भी हो तब न, यह तो बिना ज्योति का और पानी का दीपक है, फिर दीप्ति-निधान भानु के सामने कैसे रखा जाय ?

सेनापति के इन तरगो मे भक्तिरस के दो रूप उभर कर आये है—दास्यभक्तिरस तथा शान्तभक्तिरस। कथा-गान मे भक्तिरस गौण है और काव्यरस प्रधान। सेनापति ने रामचरित के कुछ ही प्रसग चुने है,[2] ये प्रसग वे ही है जिनमे वे राम के शक्तिमान्, शौर्य-पूर्ण और उदार रूप को उभार सके। अत काव्यरसो की दृष्टि से कथा-गान मे वीर, रौद्र का प्रधान रूप से तथा अद्भुत और भयानक का अनुयोगी रूप से परिपाक हुआ है। रामचरित का कथन करते हुए सेनापति की रस-परिकल्पना का पथ यह होता है कि वर्ण्य विषय के अनुरूप उनका कवित्व पूर्ण सजग हो जाता है, और प्रकृत काव्यरस ही प्रधानतया उभरकर आता है। अन्ततोगत्वा पर्यवसित रूप मे उससे राम के महत्त्वादि की व्यजना होती है और उस वर्णन की परिणति रामरति मे जाकर हो जाती है। किन्तु सेनापति के कवित्त मुक्तक पद होने के नाते और मुक्तक प्रसगो को लेकर रचे हुए होने के नाते, चरित-गान के पदो मे अनुभूति काव्यरसो की ही प्रधान होती है।

चरित-गान के पदो मे काव्यरसो की प्रधानता का कारण है। इनमे भक्तिरस का दूरान्वयी विभाव-पक्ष तो खडा होता है किन्तु भाव-पक्ष चित्रित नही होता। न भक्ति-परिपाक के अनुरूप सचारियो की न अनुभावो की व्यजना उस सम्बद्ध स्थल मे साथ होती है। अत वह प्रसग काव्यरस का परिपाक ही सबलता के साथ उभारता है। पाठक इन पदो मे इन्ही वीरादि रसो की अनुभूति करता है। पर्यवसित रूप मे कही दूर जाकर भक्ति की भावात्मक अनुभूति का अवसर आता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए निम्न स्थल लिया जा सकता है

"हहरि गयौ हरि हिये, धधकि धीरत्तन मुक्किय।
ध्रुव नरिंद थरहर्यौ, मेरु धरनी धसि धुक्किय।
अक्खि पिक्खि नहिं सकइ, सेस नक्खिन लग्गिय तल।
सेनापति जय सद्द सिद्ध उच्चरत बुद्धि बल।
उद्दड चड भुजदड भरि धनुष राम करषत प्रबल।
टुट्टिय पिनाक, निर्घात सुनि लुट्टिय दिगत दिग्गज विकल ॥"[3]

इस पद मे राम द्वारा धनुर्भग का ओजस्वी चित्र है। इसमे राम के वीरतापूर्ण कर्म के सहारे वीर रस की काव्यात्मक व्यजना है। अत पाठक को यहाँ वीर रस की ही अनुभूति पहले होती है। भगवान् राम के शक्ति-वैभव की कल्पना कर उनके प्रति रति मे लीन होने की नौबत पीछे भले आये।

रामचरित-गान मे कवि की वृत्ति वीरोचित ओजस्वी प्रसगो मे ही रमी है। कोमल प्रसगो को उसने लगभग छोड दिया है। इससे उसकी उस रुचि का पता चलता है जिससे वह अपने आराध्य की ओर देखता है। वात्सल्य रस का रसिक जिस प्रकार भगवान् के बाल-

---

१ कवित्तरत्नाकर, तरग ४, पद ५।
२. वही, पद ६।
३. क० र०, पद क्रमश १६-६०-३२, तरग ४।

सौन्दर्य की झाकी देखता है और मधुरोपासक रूप-माधुरी मे शृगारमय झाकी के प्रति अपना आकर्षण व्यक्त करता है, उसी प्रकार वीर-भक्त सेनापति ने राम के तेज-पुज दीप्त रूप की सौन्दर्य-झाकी देखने का प्रयास किया है

"काढत निषग तै न साधत सरासन मे,
खैचत चलावत न बान पेखियत है ।
स्रवन मे हाथ कुडलाकृति धनुष बीच
सुन्दर वदन इकचक लेखियत है ।
सेनापति कोप-ओप-ऐन है अरून नैन
सवर-दलन मैन तै विसेखियत है ।
रह्यौ नत ह्वै कै अग ऊपर कौ सगर मे
चित्र कैसो दिखौ राजा राम देखियत है ।"[१]

काव्यरसो की परिकल्पना का दृष्टि से जिन रसो को सेनापति ने उरेहना चाहा है, उनमे उनका मजा हुआ कवित्व है । यहॉ उनके उदाहरण देना अपेक्षित नही । पर सेनापति की काव्य-साधना रस-परिपाक की दृष्टि से पूर्ण सफल है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है । अद्भुत की व्यजना करता हुआ निम्न पद उनके अनेक पदो मे से एक है, विशेष रूप से छाट कर चुना हुआ नही है

"चल्यौ हनुमान् राम बान के समान, जानि सीता सोध काज दसकधर नगर कौ ।
राम कौ जुहारि, बाहुबल कौ सभारि करि, सब ही के ससै निरवारि डारि उर कौ ।
लागी है न वार, फादि गयौ पारावार पार सेनापति कविता बखानै बेगवर कौ
खोलत पलक जैसे एक ही पलक बीच दृगन कौ तारौ दौरि मिले दिनकर कौ ।"[२]

शृगार का चित्रण राम-विवाह के समय सयत और सक्षिप्त है । भग आनुषगिक और विपक्ष-निष्ठ है । व्यजना की दृष्टि से सभी की व्यजना बडी प्रौढ है ।

इन काव्यरसो के साथ भक्तिरस की स्थिति गौण-रूप मे है, यह ऊपर के निरूपण से स्पष्ट है। किन्तु जहाँ कथाश्रयी अभिव्यक्ति न होकर आत्माभिव्यजन है वहाँ भक्तिरस ही प्रधान है । और उसके दो रूप है दास्य और शान्त ।

पचम तरग के अनेक पदो मे भगतप्रेम की सघनता और अनन्यता के भाव भरे है । इन सहचारी भावो के बल से ही भक्तिरस की व्यजना सफल हुई है । कुछ पदो के अश इस दृष्टि से उद्धृत है

(क) "और हौ न चाहौ, चित चाहत हौ ताही नित,
सेनापति जाकी तीनौ लोक इक नाइकी ।
हूजियौ न दूरि, मेरे जिय की अमर मूरि,
रहौ भरपूरि एक प्रीति हरिराइ की ।"[३]

(ख) "सोवै सुख सेनापति सीतापति के प्रताप,
जाकी सब लागे पीर ताही रघुबीर ही ।"[४]

१, २ क० र०, पद क्रमश १६-६०-३२, तरग ४ ।

३. कवित्तरत्नाकर, तरग ५ ' पद १० ।

४ वही, पद १६ ।

(ग) "कीजै न वहर, वेग मेरौ दुख हर, मेरे
आठहू पहर आस रावरे चरन की।
सूझत न और कोई निरभय ठौर राम
देव सिरमौर तो लौ दौर मेरे मन की।"[१]

इस प्रकार के प्रेमोच्छलन वक्रोक्तिपूर्ण उक्तियो से लिपटे हुए, कभी काव्य-चमत्कार के साथ प्रस्तुत सेनापति के कवित्तो मे भरे है।

सेनापति के इस भक्तिरस मे चित्त की शान्तता, ससार की असारता और भगवद्रति बिना जीवन के बीत जाने का पश्चात्ताप एव निर्वेद भी अनेक पदो मे अकित है। ऐसे पदो मे से जिनमे भगवद्रति का आकर्षण भी मिला हुआ है वे तो शान्तभक्तिरस के अन्तर्गत रखे जा सकते है, जिनमे केवल निर्वेद-विवेक की अभिव्यक्ति है, उन्हे स्वतन्त्र शान्त का कहा जा सकता है उदाहरण के लिए निम्न पद लिए जा सकते है

(क) नीकी मति लेह, रमनी की मति लेह मति
सेनापति चेत कछू पाहन अचेत है।

आवत विराम बैस जात अभिराम तातै
करि बिसराम भजि रामैं किन लेत है।"[२]

(ख) "ऐरे मन मेरे, खोए बासर घनेरे करि
जोष अभिलाष अजहूँ न उह रत है।

कीजिये कहा लौ तेरे मन की बडाई जातै
मरेन के जीवे कौ मनोरथ करत है।"[३]

सेनापति ने उदार-वैष्णवी चेतना के अनुरूप राम के अतिरिक्त भी अन्य देवताओ एव अवतार-रूपो के प्रति प्रेम-व्यजना की है। इनमे कृष्ण-रति, शिव-रति और गगा-रति उल्लेखनीय है। शिव-भक्ति एक प्रकार से तुलसी की कृपा से रामभक्ति का ही अग बन गयी थी। तुलसी ने भी कृष्ण गान गाकर अपनी उदारता का परिचय दिया था। अत इन रतियो के आधार पर सेनापति की राम-निष्ठा पर आँच नही आती, अपितु भक्ति की उदारता ही स्पष्ट होती है। इन रतियो मे भी सेनापति की गहरी आवेशमयी अनुराग-भावना मिलती है।[४] कुछ पदो मे कृष्ण-चरित का भी गान है। चरित-गान का एक ही उद्देश्य है भगवल्लीला

---

१ कवित्तरत्नाकर, तरग ५, पद १५।

२ वही, पद ११।

३. वही, पद ३५।

४ "श्रीवृन्दावनचद सुभग धाराधर सुन्दर।
दनुजवस वनदहन बीर जदुबस पुरन्दर।
अति बिलसति वनमाल चारु सरसीरुह लोचन।
बल विदलित गजराज, विहितवसदेवविमोचन।
सेनापति कमलाह्वदय कालिय-फन भूषन चरन।
करनालय सेवौ सदा गोबर्धन गिरिवर धरन॥" —कवित्तरत्नाकर तरग ५ कवित्त २५।

का गान। मध्यकालीन भक्ति के दोनो ही रूप रहे है—आत्म-निवेदन भी और लीला-गान भी। सेनापति की उदार रामभक्ति मे भी दोनो ही रूप मिलते है। सामान्यत अन्य सभी रतियाँ रामरति का अग या पोषक बन गयी है।[1]

मधुर धारा

पीछे हमने आदर्शवादी रामभक्ति के तीन प्रमुख कवियो की रस-परिकल्पना समझी है। अब हम अपने युग की मधुर-धारा के दो कवियो की ओर आते है।

रामभक्ति की मधुरोपासना मे मोटे तौर पर वे ही बाते स्वीकार की गयी है जैसी कृष्णभक्ति की मधुरोपासना मे है। यहाँ राधा और कृष्ण के स्थान पर सीता और राम को प्रतिष्ठा मिलेगी। उधर जो महत्त्व ब्रज और वृन्दावन का है वह इधर अयोध्या का है। यहाँ राधा-कृष्ण के निकुज-विहार के स्थल पर सीता-राम के निकुज-विहार का चित्रण है। फिर भी एक बात उल्लेखनीय है। १७वी शती तक रामभक्ति का हिन्दी मधुर काव्य उतना उन्मुक्त शृगारी नही है जितना उसी काल का कृष्ण भक्ति का मधुर काव्य। १७वी शती के अनन्तर तो रामभक्ति मधुर-काव्य भी वैसा ही उन्मुक्त शृगारी हुआ। १७वी शती के मधुर काव्य मे रामभक्ति के कवि राम के प्रतिष्ठित आदर्श का कुछ लिहाज करके चले है।

यहाँ रामभक्ति की मधुर भावना की कतिपय प्रमुख बाते सक्षेप मे उल्लेखनीय है। सक्षेप मे इसलिए कि वैसी ही बातो का स्वरूप हम कृष्ण-भक्ति की मधुर धारा का परिचय प्राप्त करते समय जान चुके है। हमारे आलोच्य काल मे अग्रदास और नाभादास दो लोग आते है। इनकी रचनाओ मे विशेष सैद्धान्तिक चर्चा नही मिलती। किन्तु इनके अनन्तर १८वी शती के पूर्वार्द्ध मे प्रादुर्भूत महात्मा बाल अलिजी की रचनाओ मे सैद्धान्तिक चर्चा एव शृगार का उन्मुक्त चित्रण दोनो ही बाते प्रारम्भ हो जाती है। इस दृष्टि से सम्प्रदाय का अथवा कहिए, रामभक्ति मधुरोपासना का हिन्दी मे तो परिनिष्ठित स्वरूप महात्मा बाल-अलिजी से ही सामने आता है। रामभक्ति की मधुरोपासना का सैद्धान्तिक पक्ष समझने के लिए हम महात्मा बालअलिजी का भी उपयोग कर सकते है।

मधुरोपासक रामभक्तो ने अयोध्या में सरयू के तट पर एक अशोक-वन की कल्पना की

"सोहति उतग उत्तमग ससि सग गग।
गौरि अरधग जो अनग प्रतिकूल है।
देवन कौ मूल सेनापति अनुकूल कटि
चाम सारदूल कौं, सदा कर त्रिसूल है।
कहा भटकत, अटकत क्यों न तासौं मन ?
जातैं आठ सिद्धि नव निद्धि रिद्धि तू लहै।
लेत ही चढाइवे कौं जाके एक बेल-पात
चढ़त अगाऊ हाथ चारि फल फूल है।" —कवित्तरत्नाकर, तरग ५, कवित्त ४५।

१ "रामपदसगिनी तरगिनी है गगा तातैं
याहि पकरे तैं पाइ राम के पकरियै।" —कवित्तरत्नाकर, तरग ५, कवित्त ५५।
"वारानसी जाइ मनिकर्निका नहाइ मेरौ
सकर तैं रामनाम पढिवे कौं मन है।" —कवित्तरत्नाकर, तरग ५, कवित्त ४४।

है जिसमे एक कल्प-वृक्ष है। उसी के नीचे एक मणिमय धाम बना हुआ है। उसकी वेदी के बीच एक रत्न-सिंहासन पर रत्न-कमल का आसन है। उसकी कर्णिका के मध्य मे सीता-राम युगल शोभित है। कमल की पखुडिडो पर राम-परिवार और सखियो के निकुज हे। यही रामभक्त मधुरोपासको का निकुज-महल है। अग्रदासजी तथा नाभादासजी दोनो ने इस अत-पुरी निकुज-महल के वैभव विलास और ऐश्वर्य का सोत्साह चित्रण किया है

(क) "कल्पवृक्ष के निकट तहा यह धाम मणिन जुत।
कचन मय सब भूमि परम अति राजत अद्भुत॥
स्वर्णवेदिका मध्य तहा यह रत्न सिंहासन।
सिंहासन के मध्य परम अति पद्म शुभासन॥
ताके मध्य सुदेस कर्णिका सुन्दर राजै।
तामधिशोभित राम नील इन्दीवर ओभा।
अखिल रूप अभोधि सजल घन तन की शोभा॥
शिर पर दिव्य किरीट जटित मजुल मणि मोती।
निरखि रुचिरता लजित निकर दिनकर की जोती।"[1]

(ख) "भीतर कोट वोट अति पावन। चिंतामणिमय भूमि सुहावन।
चहूँ दिशि योजन चार सुहावा। सो अवधैन्द्र भवन श्रुति गावा॥
पच चौक राजत अति नीके। कौशलसुता राजमहिषी के।"[2]

(ग) "कनक दड वर चारि सुहावन। रचित करुणमणि अति मनभावन।
अद्भुत रग काति सुखरासी। कुजमहल छवि प्रभा प्रकासी।
गजमुक्तनि की झालरि झमकै। मणिमय दीप ज्योति मधि चमकै।
झीने पट अति परदा परे। पवन प्रसग व्यजन शिर ढुरे॥[3]

नाभादासजी के शब्दो मे यह निकुज-भवन मगलमय, आनदकर, रसरूप है

"शीतल मधुर सुगध सुख-स्वाद-विशद रसरूप।
तृषाहरन मगलकरन आनदभरन अनूप॥"[4]

इस प्रकार कृष्णकाव्य का वृन्दावन यहाँ अयोध्या है, यमुना सरयू है, कदब अशोक है, पर लता-भवनो के कुजो के स्थान पर यहाँ राजाधिराज राय और राजमहिषी सीता के वैभव के अनुरूप परम ऐश्वर्य की कल्पना है। यो कतिपय कृष्णभक्तो ने वृन्दावन की दिव्यता दिखाने के लिए चिन्तामणियो, रत्नो आदि का चकाचौध चित्रण किया है, पर यहाँ राजा राम के वैभव को ध्यान मे रखकर कुजमहल को विशेष वैभव पूर्ण अकित किया है। है दोनो जगह के धाम नित्य, चिद्रूप, रसमय। यदि वृन्दावन के कुजो के झरोखे लताओ-झुरमुटो के है तो वहाँ के नगो-नगीनो के।[5]

---

१. ध्यानमजरी, अग्रदास, रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १६१।

२. रामाष्टयाम, नाभादासजी, रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १६६।

३ वही, पृ० १६६।

४ वही, पृ० १६५।

५ "चहुदिशि अगणित नगन युत बने झरोखा जाल।" नेह-प्रकाश' बालअलिजी, वही, पृ० २०१।

इस निकुज मे रसिक-शिरोमणि रसरूप राम की विलास-विहारमयी लीलाएँ चलती है।[१] राम ब्रह्म है, सीता उनकी आह्लादिनी शक्ति है।[२] दोनो तत्त्वत अभिन्न है,[३] किन्तु 'एकाकी न रमते' के सिद्धान्त के अनुसार रमण के लिए पति पत्नी के रूप मे व्यक्त हुए है।[४] जो सीता के बिना राम का ध्यान करते है उनका ध्यान अपूर्ण है।[५] सीता-राम का नित्य-दाम्पत्य है, यहाँ परकीयात्व का प्रश्न ही नही उठता।

सीता और राम का मिलन परम प्रेममय, स्वरूपत काममय और नित्य है।[६] उनका यह प्रेम परम आवेशमय और तन्मयता-समर्थक है।[७] उनके मिलन मे नित्य सयोग की भावना है अत उसमे स्थूल विरह का अवकाश नही है। राम के लिए पलको का विरह या प्रेमाश्रुओ की बाधा ही व्याकुलता ला देती है।[८]

सहचरियो-सखियो के लिए सीता-राम का यह रसरूप नित्यविहार ही विभावरूपेण आस्वाद्य है। सहचारियाँ स्वरूपत सीता की ही कला-शक्तियाँ है, रमा आदि तो उनकी कलाए है।[९] सहचरीभाव को बालअलिजी ने इस रूप मे निरूपित किया है

---

१ "युगल लाल प्रिय कुज सख नित नव विमल विहार। रामष्टयाम, नाभादास, वही, पृ० १६६।

२ ध्यामजगी, बालअलिजी, रामभक्ति में मधुर उपासना, पृ० २०१।
"सुद्ध सच्चिदानन्द कन्द वर विग्रह जाको।"
"जयति सिया आह्लादिनी शक्ति शक्ति-गण-भूप।" नेह-प्रकाश, वही, पृ० २१०।

३ "रहे अली इक रूप ह्वै ज्यों जल मिले तरग।" नेह-प्रकाश, बालअली, राम० मे मधुर, पृ० २०१।

४ "पियबस प्रिया, प्रियाबस पीय, उरझे रहत रैनदिन हीय।
सियहिय के जीवन है पीय, पीय के प्राण जीवन धन सीय।" नेह-प्रकाश, वही, पृ० २१०।
"एकाकी नहि रमन ह्वै चहत द्वियाहि सोइ।
रमत एक ही ब्रह्म यह पति पत्नी तनु होइ।" नेह-प्रकाश, वही, पृ० २०१।

५ जा बिनु रघुवर ध्यान कल्प भरि जौ नर करही।
प्रभु नहि होत प्रसन्न वृथा श्रम करि पचि मरही।" ध्यानमजरी, बालअली, वही, पृ० २१३।

६. "चित्र विचित्र अति न रु ति सेज सुमन पचरग।
लाल लाडिली रसभरे सोवत दोउ हित सग।" रामाष्टयाम, नाभादास, रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना, पृ० १६६।
"लखत लडैती लाल दोउ, सिथिल सनेह सुअग।
दपति सपति परसपर समर समर रसरग।" वही, पृ० १६६।
"निसिदिन रहत तहा सुख-भीने।" नेह-प्रकाश, बालअलि, वही, पृ० २०१।
"नेक न न्यारे होत दोउ बधे प्रेम की डोर।" वही, पृ० २०३।

७ "महा प्रेम-आवेश तें भय तन्मय आकार।
हौ प्रीतम हौं ही प्रिया यह रहि गयौ विचार।" वही, पृ० २०५।

८. "असुवन अतर करत लखि पिय दरशन बिच आइ।
निन्दत दोउ आनन्द को ललन हियैं अकुलाइ।" वही, पृ० २०३।

९ "जिनकी कला कला को अस प्रगटि तिय रमादि अवतस।
सिय परिचारि प्रिया पिया री ऐसी सखी अनन्त निहारी।" वही, पृ० २००।

"पिय को निज स्वामी पुनि जानै।
सिय सहचरि अपने कौ मानै।
निसिदिन निरखै रास विलास।
ते सिंगार भक्त नित पास।।"[1]

बालअलीजी ने इस व्यक्त रस की भावात्मक व्याख्या भी की है, भावात्मक इस अर्थ मे कि सखीभाव के भक्तो के हृदय-कुज मे विलासमय सीता-राम प्रादुर्भूत होते हैं

"अस परस्पर भुज धरे निशिदिन पूरन काम।
प्रेमसखी-हिय मे बसे सिया-राम छवि धाम।।[2]

सेवा-सम्पर्कादि के अधिकार के अनुरूप सखियो-सहचरियो-मजरियो-किकरियो आदि के भेद भी प्रतिष्ठित-निरूपित किये गये है। यह साम्प्रदायिक बधान १८वी शती और १९वी शती मे अधिक हुआ। कृष्णभक्ति मधुरोपासना मे जिस प्रकार सहचरियो को दर्शन-सुख ही प्राप्य दिखाया गया है, वैसे ही यहाँ भी माना गया है।[3] कही-कही लीला रसिक राम के साथ सहचरियो मे प्रिया-प्रियतम भाव का उल्लेख भी किया गया है किन्तु उनके साथ साक्षात् काम-विलास की चर्चा नही है।[4]

सखियो की रसानुभूति मे, जो कि मुख्यत सीता-राम के विहार-विलास का दर्शन-सुख है, आत्म-विभोरता, व्यक्तितत्व-विगलन एव विस्मयात्मक आनन्द के मधुर चित्र बालअलिजी ने उतारे है।[5] सिद्धान्तत युगल के प्रति पच-भावात्मिका रति को स्वीकार किया गया है,[6] किन्तु चित्रण का आधार प्रधानत कान्ताभाव की मधुरा-रति ही रही है।

इस सामान्य परिचय के साथ अब हम अग्रदासजी तथा नाभादासजी की रस-परिकल्पना की कतिपय बातो का अलग-अलग उल्लेख करना चाहेगे।

---

१ नेहप्रकाश, बालअलिजी, रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासना, पृ० २००।

२ रामाष्टयाम, नाभादासजी, रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १९८।

३ जेहि जेहि अग की माधुरी मे तन लागयो जास।
सोइ सोइ अग निरखत सकल मन मे परम हुलास।" वही, पृ० १९७।

४ "रग रग के गजरा लीन्हें। प्रीतम मग चितवत चित दीन्हे।" वही, पृ० १९६।
"राम कुवर छवि देखन लागी। अग अग श्याम रूप अनुरागी।
त्रिदश वर्ष मुग्धा कोउ श्यामा। मध्या कामकेलि विश्रामा।
कोउ वयसधि केलिप्रिय नारी। युगल रग रमु रूप बिहारी।
कोउ नित नवल लाल मुख चाहे। यहि प्रीत रीति निरबाहैं।
गदगद कठ रोम सुभगा। लहत अष्ट सात्विक कोउ अगा।
सबकी प्रीति रीति जिय जानत। तन मन वचन लाल सनमानत।"
—रामाष्टयाम, नाभादासजी, रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १९७।

५ "नेह सरोवर कुवर दोउ रहे फूलि नव कज।
अनुरागी अलि अलिन के लपटे लोचन मज्जु।
दम्पति प्रेम पयोधि में जो दग दैन सुभाइ।
सुधि बुधि सब बिसरत तहा रहे सुविस्मै पाइ।" नेहप्रकास, बालअलिजी, वही, पृ० २०५।

६ "पचभाव रति युगल मति वर्णत लहत न पार।" रामाष्टयाम, नाभादासजी, वही, पृ० १९६।

अग्रदासजी

अग्रदासजी की मधुर-परिकल्पना मे शृगार की सयत झाँकी है। ध्यान-मजरी मे उन्होने युगल-विहार की जो भावात्मक चेतना प्रस्तुत की है उसका उल्लेख हम अभी कर चुके है। मुख्यकर उन्होने राम और सीता के सौन्दर्य के अलकृत चित्र अधिक दिये है, उनके केलि-विलास का वर्णन नही। अग्रदासजी ने रूप-सौन्दर्य का अलकृत भाषा मे चित्रण किया है

(क) "मेचक कुटिल सुचारु सरोरुह नयन सुहाए।
मुख पकज के निकट मनहु अलि छौना आये ॥
भृकुटी त्रय पद सगुन मनहु अलि अवलि विराजै।
नासा परम सुदेस बदन सखि पकज राजै ॥"[1]

(ख) "हेमुतन्तु कर रचित अरुण साडी रगझीनी।
कचुकी चित्रित चतुर विविध शोभित रगभीनी।
पद्मराग मणि नील जटित युग ककण राजै।
मनहुँ वनज के फूल दुरेफनि पक्ति विराजै।"[2]

इन दम्पतियो के सौन्दर्य की उपमा दी भी जाय तो कहाँ से ? जितने उपमान है, सभी तो उनकी दीपन शक्ति से भासित होते है।[3]

इस अद्भुत रूप-राशि युगल के ध्यान मे सौभाग्यशाली रसिक भक्त ही निमग्न हो सकते है, अरसिक को तो स्वप्न मे भी यह ध्यान प्राप्य नही।[4]

अग्रदासजी की मधुरोपासना मे कवित्व की प्रधानता है। काव्य-कल्पना के द्वारा उन्होने रूप-सौन्दर्य का ध्यान किया है। उनका युगल-विहार भावात्मक अधिक है जिसमे काम-केलियो का वर्णन अधिक नही। १७वी शती के रामभक्ति मधुर काव्य मे काम-केलि वर्णन अल्प ही है, रूप-वर्णन अधिक है।

नाभादासजी

नाभादासजी के चित्रो मे राम के वैभव और ऐश्वर्य की चेतना अधिक है। मानो इनके युग का दरबारी वैभव-विलास राम के वैभव-विलास के रूप मे चित्रित हो उठा हो।[5]

---

१ ध्यानमजरी, अग्रदास, रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १९१-९२।

२ ध्यानमजरी, अग्रदासजी, रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासन', पृ० १९३।

३ अतुलित युगल स्वरूप कवन अस उपमा जिनकी।
जेतिक उपमा दीप्ति शक्ति करि भासित तिनकी।
यहि विधि राजत राम अ धपुर अवधबिहारी।
दम्पति परम उदार सुयश सेवक सुख कारी ॥" वही, पृ० १९४।

४ "यह दम्पति वर ध्यान रसिकजन नितप्रति पावै।
रसिक बिना यह ध्यान और सपनेहु नहिं पावै।" वही, पृ० १९४।

५ "रत्न जटित बहु धरे कटोरा। बहु मेवन युत स्वाद न थोरा।
पानदान बीरिन ते भरे। अगणित भाति सुरभि कहु धरे।
पुनि तेहि पीछे परदा डारे। तह नृत्यत उठि सखि संवारे।
कोउ ताम्बूल लिये कोउ झारी। कोउ सुमनन शृगार सवारी।
रंग रंग के गजरा लीन्हे। प्रीतम मग चितवत चित दीन्हें।" रामश्याम, वही पृ० १९६।

राम के अन्त पुर मे अनेक सहचरी-परिचारिकाएँ सेवारत हे ।[1] नृत्य, सगीत, भोजन-क्रीडा आदि वैभव और ऐश्वर्य के अनुरूप राजसी-ठाठबाट का सकेत देते हुए नाभादासजी ने चित्रित किये है ।[2]

नाभादासजी ने अन्त पुर के उपर्युक्त कुज-महल मे सीता-राम के सुरत-विलास का भी वर्णन किया है, किन्तु वह वर्णन व्यजनात्मक और सकेतात्मक है, परवर्ती बाल-अलि आदि के समान खुला हुआ नही है

"लसत लडैती लाल दोउ, सिथिल सनेह सुअग।
दम्पति सपति परस्पर समर-समर रसरग ।"[3]

नाभाजी के आराध्य सीताराम युगल भोजन मे, क्रीडा मे, नृत्य मे, सगीत मे एक-दूसरे के रूप-माधुर्य एव सुरत-मिलन का रस-पान करते रहते है, उसी रस मे भीने रहते है ।[4] सखियाँ नाना प्रकार की सेवा-परिचर्या मे लीन होकर ही दर्शन सुख के अवसर पाती हुई अपनी कृतार्थता का अनुभव करती है ।[5] नाभादासजी ने सखियो के साथ राम का प्रिया-प्रियतम भाव भी अकित किया है, उसकी चर्चा हम पीछे कर चुके है ।

नाभादासजी ने अग्रदास की अपेक्षा सुरत-चित्रण को कुछ अधिक उभरा हुआ अकित किया है। नाभाजी की परिकल्पना मे वैभव-विलाम पर दृष्टि अधिक है, अग्रदासजी की रूप-सौन्दर्य पर अधिक ।

रसानुभूति—अग्रदासजी और नाभादासजी के काव्य मे रमानुभूति काव्यरस के रूप मे अधिक है, भक्तिरस के रूप मे कम । उसमे भक्तिरस की अनुभूति की गुजाइश केवल साम्प्रदायिक निष्ठा वाले रसिक पाठको को ही उपलब्ध हो सकती है। किन्तु उसमे शृगार की सरसता एक मात्रा तक पर्याप्त उपलब्ध है ।

एक बात इस विषय मे उल्लेखनीय है। सामान्य पाठक की भाव-भूमि मे राम के प्रति एक आदर्शमयी भावना सुप्रतिष्ठित है । उसकी कल्पना मे उनका एक आदर्शमय चित्र बना हुआ है । श्रीमद्भागवत तथा कृष्ण-गायक मधुर कवियो की कृपा से वैसी आदर्श भावना कृष्ण-चरित के प्रति नही है । पर राम के प्रति उसमे एक विशेष प्रकार के मर्यादा-पूर्ण सस्कार निहित है । राम-काव्य का आस्वादन करते समय वह उन सस्कारो को औचित्य का मानदड बना कर चलता है । जब उस औचित्य के मानदड मे कुछ विक्षति होती है तो उसकी चेतना इस मधुर राम-काव्य मे डूब नही पाती । साधारणीकरण मे कमी रह जाती है, उसकी चेतना

---

१ रामाष्टयाम, रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासना, पृ० १९६-९७-९८ ।

२ वही, पृ० १९७।

३ रामाष्टयाम, नाभादास, रामभक्ति साहित्य में रसिक उपासना, पृ० १९६ ।

४ "युगल रूप रति सरस सनेही । भोजन की सुधि रहत न वेही ।" वही, पृ० १९८ ।
"सगीतादि नृत्य बहु कीने । कला अनेक राग रस भीने ।" वही, पृ० १९८ ।
"जाय पलग बैठे रसभीने । शयन करन की ढिशि रुख कीनै ।" वही, पृ० १९८ ।

५ "यहि विधि सबके नयन थकि रहे माधुरी माही ।
सो लखि दपति कोर दग अरस परस मुस्कयाहि ।
कुज कुज प्रति सहचरी आवत नावत माथ ।
सन्म नत मृदु वचन कहि लखि छवि होत सनाथ ।"

तटस्थ रह जाती है और उसकी अनुभूति उस कोटि मे चली जाती है जिसे आचार्यों ने रसाभास नाम दिया है।

सत्रहवी शती के इन रामभक्त मधुरोपासको के विषय मे गनीमत यह है कि इन्होने कृष्णभक्ति के मधुर सम्प्रदायो अथवा परवर्ती मधुर रामभक्तो के समान सीताराम के शृगार और केलि-विलास के उन्मुक्त चित्र नही उतारे। बालअलि मे ही ये चित्र कुछ-कुछ खुलकर आने लगे है। अग्रदासजी मे यह चित्रण बहुत सक्षिप्त एव सकेतात्मक है, नाभाजी मे उनसे कुछ खुला है। बालअलि मे उसका उभार सामने आ गया है। इस प्रकार उन्मुक्त चित्रण की दिशा मे एक विकास पाया जाता है। अत॰ अग्रदासजी और नाभादासजी के काव्य मे रसाभास की स्थितियाँ प्राय नही आने पाती। उसमे शुद्ध साहित्यिक स्तर पर शृ गार का रसानुभव कहा जा सकता है।

अग्रदासजी के काव्य मे राम और सीता के रूप-चित्रण को ध्यान के लिए प्रस्तुत करने के कारण युगल के माधुर्य के आस्वादन का अवकाश अधिक है। नाभाजी के ऐश्वर्य-चित्रण मे उद्दीपन का पक्ष अधिक खडा होता है, अग्रदासजी के रूप-सौन्दर्य चित्रण मे आलम्बन का। सचारियो और अनुभावो की दोनो मे कमी है। सीता और राम के बीच अवस्थित प्रेम का चित्र तो कतिपय अनुभावो और सचारियो के माध्यम से व्यक्त भी है, किन्तु सहचरियो या भक्तो की भावनाओ, उल्लासो एव निर्मल अनुभूतियो का अकन प्राय नही है। उसका फल यह हुआ है कि शृ गार रस का सामान तो जुटा है किन्तु भक्तिरस का पक्ष सबल नही हो पाया। शुद्ध साम्प्रदायिक आस्था मे परिपक्व होकर काव्य मे प्रविष्ट होने वाले पाठक की बात दूसरी है।

७

उपसंहार

१६वी १७वी शती विक्रमी का वैष्णव हिन्दी-काव्य हिन्दी की गौरव-निधि है। विगत अध्यायो मे हम उसकी रस परिकल्पना का स्वरूप एक व्यापक पृष्ठभूमि के साथ समझ चुके है। यहाँ उपसहार-रूप मे कतिपय बातो की सक्षिप्त चर्चा करते हुए कुछ निष्कर्षों की ओर आना चाहते हैं। मुख्यत दो बाते यहाँ कहनी है—एक तो वैष्णव साहित्य मे निहित रस-परिकल्पना का तुलनात्मक विवेचन, दूसरे परवर्ती साहित्य मे रस परिकल्पना पर इसका प्रभाव।

(क) वैष्णव-साहित्य मे रस-परिकल्पना का तुलनात्मक विवेचन

वैष्णव काव्य की तीन मूल चेतनाएँ है—उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म-रूप मे आस्था, उसके पुराण-प्रतिपादित अवतारी रूप मे श्रद्धा और भारतीय भाव-साधना मे अत्यन्त प्राचीन काल से घुला हुआ अनुराग-तत्त्व। इन्ही समन्वित चेतनाओ को अपना कर विक्रम की १६वी-१७वी शती मे राम और कृष्ण के चरित्रो को आधार बनाकर हिन्दी मे जिस भक्ति-प्रवण साहित्य की सृष्टि हुई वह अपने मे अनुपम है। वह 'रस' का काव्य है।

यो भाव प्रधान काव्य ही उत्कृष्ट काव्य-रूप है। भारतीय काव्य-शास्त्र तो 'रस' ही को काव्य की आत्मा मानता है। किन्तु हिन्दी के उक्त वैष्णव साहित्य मे जिस 'रस' की परिकल्पना है वह वही रस नही है जिसकी रूप-रेखा काव्य-शास्त्र समझाया करता है। उसमे वह रस तत्त्व निहित है जिसका स्वरूप 'रसो वै स' कह कर उपनिषदो ने निरूपित किया है, और जिसकी व्याख्या विभिन्न वैष्णव दर्शनो ने की है। इस शोध-प्रबन्ध के दूसरे-तीसरे-चौथे तीन अध्यायो मे यह बात निरूपित करने का प्रयास हुआ है कि हिन्दी वैष्णव साहित्य मे निहित रस-तत्त्व लीलामय एव मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओ का परिगायन है। यही रस इस वैष्णव काव्य मे परिकल्पित है। स्वय वैष्णव कवियो के उल्लेख भी, जो कि चौथे अध्याय मे प्रस्तुत किये गये है, इस बात के प्रमाण है कि उनके काव्य मे काव्यशास्त्र प्रतिपादित काव्य-रस नही, वैष्णव-दर्शन प्रतिपादित रस-तत्त्व परिकल्पित है। आस्वादयिताओं की दृष्टि से यह रस 'भक्तिरस' है।

यह भक्ति-रस भक्तो का रस है और उनके लिए ब्रह्मानन्द-सहोदर न होकर ब्रह्मानन्द से कही बहुत उत्कृष्ट है। वे इसके सामने ब्रह्मानन्द को अत्यन्त उपेक्षणीय समझते है। यह रस साधना का विषय है, क्रमिक प्रयास एव भगवत्कृपा से प्राप्य है, स्थायी उपलब्धि है। इसके प्रमाता चरम कोटि पर पहुँचे हुए सिद्ध भक्त है। ऐसे ही सिद्ध भावुको की आत्मा घुलकर इस काव्य मे रस के रूप मे अवतरित है।

काव्य-रस के रमिक सहृदयो के लिए भक्त-कवियो द्वारा परिकल्पित यह रस अपने प्रकृत रूप मे प्राप्य नही है, हम अभी कह चुके है कि वह एक भाव-साधना का विषय है। किन्तु इस साहित्य की एक विशेषता है—यह सच्चे अर्थो मे एक उच्च कोटि का प्रकृत काव्य भी है। भक्तो ने इस रस का आस्वादन अनादि-वासना-मय भाव-भूमि पर ही लाकर किया है, इस भाव-भूमि का नाश या निरोध करके कोई नयी भूमि नही तैयार की गयी। दूसरे इसकी अभिव्यक्ति काव्य और सगीत की समस्त उपलब्धियो का अनुयोग लेकर चली है। इन कारणो से वैष्णव भक्तो का अप्राकृत-अलौकिक 'रस' काव्यरसिको के लिए भी आस्वाद्य है, किन्तु कुछ सीमाओ के साथ। वे इसका आस्वादन विशुद्ध भक्ति रस के रूप मे तो नही कर सकते, किन्तु एक काव्य-रस के नाते उनकी इसमे पहुँच है। एक शब्द मे काव्य-रसिको के लिए इस काव्य मे परिकल्पित भक्ति रस एक काव्य-रस के रूप मे आस्वाद्य है।

काव्य-रसिक मे आस्वादनीय भाव के वासनात्मक सस्कारो की अवस्थिति और काव्यानुशीलन-मर्मज्ञता अपेक्षित होती है। भक्ति के सामान्य सस्कार जन-मानस मे प्रतिष्ठित ह, कुछ स्वाभाविक रूप से, कुछ परम्परा से। इन परम्पराओ मे सस्कृति, धर्म और साहित्य सभी का योग रहता है। साथ ही सहृदय काव्य-रसिक भी एक दूरी तक वर्णनीय भाव मे तन्मय हो जाने की एक सामान्य क्षमता भी रखता है। अत यदि उसमे किसी भाव के हलके से भी वासनात्मक सस्कार हो तो वे कवि की सक्षम भाव-प्रवण अभिव्यजना से एक प्ररूढ रूप पा जाते है। अत काव्य रसिक भी एक दूरी तक इस वैष्णव-रस का आस्वादन करता हे, कर सकता है। पर उसका यह आस्वादन होता 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' काव्यरस के रूप मे ही है, 'ब्रह्मानन्दोत्तर' वैष्णव-रस के रूप मे नही। वैष्णव आचार्यों के शब्दो मे वह उनके अप्राकृत-अलौकिक भक्तिरस का आस्वादन एक प्राकृत किन्तु अलौकिक भक्तिरस के रूप मे कर सकता है।

हमारे आलोच्य काल के हिन्दी वैष्णव साहित्य मे इमी रस की परिकल्पना है। यह रस-परिकल्पना राम और कृष्ण इन दो आराध्य रूपो को सामने रख कर चली है, अत इमके दो मोटे रूप है। सब मिला कर इसका अधिकाश साम्प्रदायिक रेखाओ मे अनुरजित हे। इस प्रकार वैष्णव रस हमारे सामने कृष्ण-भक्तिरस और राम-भक्तिरस इन दो रूपो मे आता हे। वैष्णवत्व की तीनो मूल चेतनाओ के समान रूप से निहित रहते हुए भी आराध्य रूपो के अन्तर के कारण वैष्णव-रस के ये दो रूप स्पष्टत अलग-अलग हो गये है। यहाँ हम दोनो पर कुछ तुलनात्मक दृष्टिपात कर सकते है

१ मात्रा की दृष्टि से कृष्ण-भक्तिरस का साहित्य अधिक है। कवियो की सख्या की दृष्टि से भी रामभक्त कवियो की सख्या कृष्ण-भक्तो की तुलना मे न्यून ही है।

२ अभिव्यजना-रूप की दृष्टि से कृष्ण-भक्तिरस प्रमुखत मुक्तक पदो के रूप मे अभिव्यजित है, राम-भक्तिरस का प्रमुख रूप प्रबन्धात्मक है।

३ रामभक्तिरस की अपेक्षा कृष्ण-भक्तिरस अधिक साम्प्रदायिक रहा है। कृष्ण-काव्य तो प्राय. सम्प्रदायो की छाया मे ही पल्लवित हुआ है। राम कवियो की दृष्टि मे विशिष्ट वैष्णव दर्शन तो रहे, किन्तु रूढ साम्प्रदायिकता उतनी नही रही।

४, रामभक्तिरस की आधार-भूमि मे लोक-मर्यादा का समावेश रहा, कृष्ण-भक्तिरस

मे अनन्य एव एकान्त रसिकता की प्रधानता के साथ लोक के आदर्शो के प्रति उपेक्षा रही ।

५ रामभक्तिरस का आदर्श दास्य-भक्ति रही, कृष्ण-भक्तिरस का आदर्श प्रमुखत मधुर-भक्ति । इस युग मे कृष्ण-भक्ति के मधुर पक्ष ने राम-भक्ति को हलका सा स्पर्श अवश्य किया, किन्तु वह रूप अधिक उच्छृखल नही हो पाया । परवर्ती काल मे रामभक्ति मे भी मधुर-भावना का आदर्श सामने रखते हुए कुछ सम्प्रदायो की सृष्टि हुई ।

६ मर्यादावादी एव लोक-रक्षक आदर्शो के बीच परिकल्पित राम-भक्तिरस मे हिन्दू-जनमानस मे स्थायी प्रभाव छोडने और चरित्रोत्कर्ष करने की महती क्षमता हुई, किन्तु हिन्दू-क्षेत्र से बाहर भी धर्म-जाति की सीमाओ को पार करते हुए अपने युग पर छा जाने की प्रभवन-शीलता रसिक कृष्ण-भक्तिरस मे ही आयी । कृष्ण-माधुरी के प्रभाव मे अनेक मुसलमान भावुक जन 'हरिजन' बन गये । उनमे से हमने रसखान को चुना है ।

७ रामभक्तिरस की कवि-कृत परिकल्पना मे भाव-क्षेत्र की व्यापकता हे, कृष्णभक्तिरस की कविकृत परिकल्पना मे सघनता ।

८ रामभक्तिरस के आदर्श कवि तुलसी है । कृष्णभक्तिरस के सूर । कृष्णभक्तिरस के कवियो के व्यक्तित्व सामान्यत साम्प्रदायिक निष्ठाओ के भार से दबे हुए है, अत कृष्णरस की अनुभूति सामाजिक को शुद्ध काव्य के रूप मे उतनी नही हो पाती जितनी साम्प्रदायिक रस के रूप मे । राम-काव्य के कवि की रस-परिकल्पना का रूप बहुत लम्बी दूरी तक साम्प्रदायिक नही है । कृष्ण-कवियो मे एक सूर का ही व्यक्तित्व, कहिए कवि-व्यक्तित्व, इस प्रकार का हे जिसकी रस-परिकल्पना मे कवि साम्प्रदायिकता के भार से तिरोहित नही हुआ, आच्छादित नही हुआ ।

९ फलत यह हुआ है कि कृष्णभक्तिरस की परिकल्पना मे अधिकाश मे केवल काव्य-रसिक को, जो साम्प्रदायिक निष्ठा से युक्त नही, कवि की अभिप्रेत रसानुभूति नही होती । भक्तिरस के स्थान पर प्राय काव्यरसो का अपनी सहृदयता के अनुरूप आस्वादन होता है । रामरस मे प्राय कवि के अनुरूप ।

१० भक्ति की सहज रसात्मक अनुभूति एक काव्य-सामाजिक को तथा जन-सामान्य को जितनी राम-काव्य मे परिकल्पित रस मे होती है उतनी कृष्ण-काव्य मे परिकल्पित रस मे नही हो पाती । इसका एक कारण है । भक्ति के जिस रूप की जन-मानस मे सस्कार-प्रतिष्ठा है उसमे अपने और भगवान् के बीच के अन्तर की स्पष्ट चेतना है । यह चेतना भगवान् के महत्त्व और अपने लघुत्व, भगवान् की ईश्वरता और अपनी अवशता, भगवान् की शुद्ध आनन्दमयता एव कृपालुता और अपनी कल्मष-पूर्णता, दु खिता एव कृपा-पात्रता के रूप मे स्वानुभूत है । इसे हम एक शब्द मे भगवान् के प्रति महत्त्व-चेतना कह सकते है । दास्य-भक्ति रस की परिकल्पना मे यह चेतना अधिकतम मात्रा मे उभारी जाती है । साम्य की एक मध्यवर्ती रेखा से आराध्य की ऊचाई जितनी ले जायी जा सकती है, ले जायी जाती है । दूसरी ओर अपनी लघुता के बिन्दु को जितना नीचे खिसकाया जा सकता है, खिसकाया जाता है । इस रस-रूप मे जन-मानस को स्वाभाविक मग्नता

मिलती है और उसकी मानसी वृत्तियो का स्थायी परिष्कार होता है। अत दास्य-भक्तिरस काव्यानुभूति के रूप मे भी सहज, सरल, स्वाभाविक, एव भक्ति मय होता है, साथ ही उसकी परवर्तिनी प्रतिक्रिया लोक-मगल के विधान मे योग देती है।

दूसरी ओर कृष्ण भक्तिरस के आदर्श मे यथा-साध्य इस महत्त्व-चेतना को घुलाने और तिरोहित करने का प्रयास है। महत्त्वचेतना दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रस-रूपो मे क्रमश क्षीण होती हुई अन्तिम रूप मे तो विलीन हो जाती है। मधुर-परिकल्पना का चरम बिन्दु वहाँ है जहाँ द्वैत की चेतना बनाये रख कर प्रेम की भूमिका मे अद्वैत की घनीभूत अनुभूति की जाती है। इस प्रकार कृष्णभक्ति-रस की परिकल्पना मे प्राय एकान्तता आयी है। उसकी एकान्त, साधना-साध्य अनुभूति भक्तिरस की हो सकती है, काव्यानुभूति प्राय विभिन्न काव्यरसो के रूप मे प्राकृत चित्तवृत्तियो के सूक्ष्म आनद के रूप मे, यत्र-तत्र भक्ति की निर्मलता से सम्पन्न, किन्तु यत्र-तत्र उद्दाम शृ गार-चित्रो मे ह्रासोन्मुखी वृत्तियो का अवकाश उभारती हुई तथा दुरूह है।

ये तो हुई रामभक्तिरस और कृष्णभक्तिरस को सामने रखते हुए कुछ तुलनात्मक बाते। अब हम दोनो रस-परिकल्पनाओ के ऊपर अलग-अलग कुछ तुलनात्मक दृष्टिपात करना चाहेगे। पहले कृष्णभक्तिरस तदनन्तर रामभक्तिरस की परिकल्पना पर विचार करेगे।

हम यह अभी कह चुके है कि कृष्णभक्तिरस की परिकल्पना का प्रमुख रूप साम्प्रदायिक है। उसके कवि किसी सम्प्रदाय-विशेष की रस भावना का आदर्श सामने रख कर काव्य-सर्जन की ओर प्रवृत्त हुए हे। किन्तु कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायो की सीमित परिधियो से फूट-फूट कर भी बहती रही है। उसकी मधुरता अपने युग मे भक्ति और साहित्य के बीच एक युग-धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित हुई है जिसकी लपेट मे ऐसे भी अनेक लोग आये है जिन्होने किसी सम्प्रदाय-विशेष की कण्ठी-मालाएँ नही ली पर कृष्णभक्तिरस की रसात्मक परिकल्पना का इस युग का प्रमुख रूप साम्प्रदायिक ही रहा है।

कृष्ण-भक्त कवियो ने उसी रस-तत्त्व का काव्यात्मक गान किया है जिसकी रूप-रेखा हमने द्वितीय अध्याय मे विभिन्न वैष्णव-दर्शनो के अनुसार समझी है। यह तथ्य चतुर्थ अध्याय मे प्रस्तुत कवियो के निजी दृष्टिकोणो से प्रमाणित है। रूप गोस्वामी और जीव-गोस्वामी ने इन्ही दृष्टिकोणो का एक समन्वित रूप, जिसमे उनके अपने सम्प्रदाय की दृष्टि कुछ प्रधान थी, अपने भक्ति-रसामृत सिन्धु एव उज्ज्वलनीलमणि नामक ग्रन्थो मे प्रस्तुत किया है। हम इस स्वरूप को भक्तिकाव्यशास्त्रीय रस के नाम से समझ चुके है। कृष्ण-काव्य मे यही भक्ति-काव्य-शास्त्रीय रस जिसकी पृष्ठभूमि मे विविध वैष्णव-दर्शन है, परिकल्पित हुआ है, काव्यशास्त्रीय रस नही, भले ही एक काव्य-सामाजिक के नाते हमारी गति उसमे काव्य-शास्त्रीय रस को उपलब्धि के रूप मे ही हो। हम इस तथ्य की ओर स्थान-स्थान पर प्रकाश डाल चुके है।

कृष्णभक्ति का काव्य निम्बार्क सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय, वल्लभ-सम्प्रदाय, राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय और चैतन्य-सम्प्रदाय की छाया मे पल्लवित हुआ है। इनमे से मात्रा की दृष्टि से चैतन्य-सम्प्रदायी हिन्दी-काव्य नगण्य-प्राय है। राधावल्लभीय काव्य मात्रा की दृष्टि मे प्रचुर होते हुए भी अभी पूरा प्रकाश मे नही आया है। प्रकाशित, अधीत एव विवेचित होने के नाते सबसे प्रमुख स्थान वल्लभ-सम्प्रदायी हिन्दी काव्य का है।

यद्यपि इन मम्प्रदायो के कवियो के लिए दर्शन का आग्रह अनिवार्य नही रहा है, फिर भी वे उमी पथ पर चले है जिम पथ की और उनके अमित आचार्यो ने उन्हे चलाया है। इन सम्प्रदायो मे से विशिष्ट दर्शनो की प्रतिष्ठा निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदाय मे हुई। चैतन्य के द्वारा स्वय तो नही, किन्तु उनके अनुयायियो के द्वारा यह अवश्य किया गया। हरिदामी भक्तो और राधावल्लभियो के स्वतन्त्र दर्शन-प्रतिष्ठाएँ नही की। पर उनके लिए दूसरे लोग यह कार्य कर चुके थे। वैष्णव-दर्शनो की प्रतिष्ठाओ मे दो उद्देश्य निहित थे। एक तो शकर के मायावाद के प्रभाव को बुद्धिवादी उच्चस्तरीय व्यक्तियो के ऊपर से हटाना, दूसरे वे जिस प्रेम-मार्ग को प्रमारित करना चाहते थे उसे बुद्धिवादियो द्वारा स्वीकृत कराना। बुद्धिवादी जन-समाज का अल्पाश होते हुए भी उमकी गति का जाने-अनजाने नेता होता है। उमकी स्वीकृति मे जन समाज की स्वीकृति का अनुगमन होता है। इमीलिए वैष्णव-दार्शनिको ने अपने भक्ति-प्राप्य तत्त्व को प्रकाण्ड बौद्धिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। जब यह तत्त्व बौद्धिक एव भावात्मक स्तर पर जन-म्वीकृत हो गया तो पीछे के लोगो को दर्शन-प्रतिष्ठाओ की आवश्यकता नही रह गयी। पीछे के किसी सम्प्रदाय के अनुयायियो को यदि यह कार्य करना भी पडा तो जन स्वीकृति के लिए नही, अन्य सम्प्रदायो की पक्ति मे गौरव से बैठ सकने के लिए।

इन सभी मम्प्रदायो के काव्य मे परिकल्पित रस का स्वरूप वल्लभीय काव्य मे सबसे कम साम्प्रदायिक है। यह बात नही कि वल्लभ-सम्प्रदायी हिन्दी काव्य .जिसे हम अष्ठछापी काव्य कहते है, अपने साम्प्रदायिक आदर्शो के प्रति शिथिल हो गया है, अपितु यह कि उसमे एक ऐसा सुमेरु कवि है जिमका कवि-व्यक्तित्व साम्प्रदायिकता के नीचे आच्छादित नही हुआ। सूर के काव्य मे, और अप्ठछाप मे सूर ही प्राण है, सम्प्रदाय की चेतना का आग्रह बिना लिए हुए भी रसास्वादन की भारी गुजाइश है। उसमे भक्ति का भी आस्वादन होता है, कवित्व का भी। यह गुण थोडी मात्रा तक परमानन्ददाम और नन्ददास मे भी मिलता है। शेष अष्टछापी और अन्य सम्प्रदायी हिन्दी कृष्ण-काव्य की रस-परिकल्पना माम्प्रदायिक चेतना और निष्ठा से ही समझी जा सकती है और कवियो के अभिमत रूप मे कुछ मात्रा तक अनुभव की जा सकती है। नही तो, पाठक वही पहुँचता है जहाँ पहुँचने के लिए इस काव्य के रचयिताओ ने मना किया था, और जहाँ पहुँच जाने की उन्हे आशका थी।

समूचा कृष्ण-काव्य कृष्ण-चरित का गान है। इस कृष्ण-चरित मे मथुरा द्वारका के कृष्ण निहित नही, ब्रज के कृष्ण है। इस नाते वात्सल्य, सख्य और मधुर तीन रसो के परिपाक का अवकाश इस काव्य मे हुआ है। यो कही दास्य या शान्त मिल गया, पर वह प्रमुख चेतना नही। शान्त का जो स्वाभाविक परिपाक राम-काव्य मे है, कृष्ण-काव्य मे नही। कृष्ण-काव्य मे निवृत्ति गहरी प्रवृत्ति मे बदल गयी है। लोक-तृष्णा को यहाँ भी तिलाजलि है, मन की वृत्तियो को प्रशान्त धारा मे यहाँ भी मग्न किया गया है। किन्तु यहाँ वृत्तियो को तोडने के बजाय मोडना ही श्रेयस्कर समझा गया है। उनका अनुयोग एव सर्वग्राही विकास कृष्ण-प्रेम के क्षेत्र मे स्वीकार कर लिया गया है। दास्य का परिपाक उच्च रसात्मक-परिकल्पना के रूप मे हमे प्रमुखत सूर मे मिलता है। यो प्रत्येक सम्प्रदाय के भीतर एक दो नाम लिये जा सकते है—जैसे निम्बार्क सम्प्रदाय मे शान्त के लिए परशुरामदेवजी का। पर यदि सब मिला कर देखा जाय तो प्रथम स्थान मधुर-परिकल्पना का है, दूसरा वात्सल्य का। वह भी अष्ठछापियो की रस-परिकल्पना मे, केवल सूर और परमानन्ददास की बदौलत।

वल्लभ का आदर्श आराध्य रूप बाल और किशोर रूप था। अत अष्टछाप दोनो रसो की परिकल्पना स्वीकार करके चला। किन्तु मधुर रस कृष्ण-भक्ति के युग-धर्म के रूप मे प्रभावशाली बना और वल्लभ-सम्प्रदाय भी उसी रग मे रग गया। इस प्रकार यह बात एक प्रवाद ही रह जाती है कि कृष्ण-भक्ति मे प्रमुखतया सख्य-भक्तिरस की परिकल्पना है। सूर जैसे इने-गिने कवियो मे, वह भी एक सीमित मात्रा मे सख्यभक्ति की परिकल्पना है। हाँ, सख्य यहाँ कान्ताभाव के भीतर सखी के रूप मे घुलकर अवश्य व्यापक धरातल पर परिकल्पित है। पर वह सख्य कान्ताभाव के भीतर तिरोहित है। अत कृष्णकाव्य मे थोडी-सी शान्तभक्ति की परिकल्पना के साथ दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर रसो की परिकल्पना है अवश्य, किन्तु उनमे प्रमुखता एक मधुर को ही मिली है।

मधुर के क्षेत्र मे सयोग और वियोग मे सयोग की ही प्रधानता रही है। विरह का साम्प्रदायिक महत्त्व वल्लभ सम्प्रदाय तथा चैतन्य सम्प्रदाय मे स्वीकृत हुआ है। इनमे चैतन्य सम्प्रदाय के काव्य मे तो विरह-भावना प्रभावशाली रूप मे उभर कर ही नही आ सकी, वल्लभ-सम्प्रदाय मे भी सूर और परमानन्ददास को छोड अन्यो मे इसका रसात्मक परिपाक अधिक नही उभर सका। यो विरह को किसी न किसी रूप मे अन्य सम्प्रदाय के कवि भी अपनाते हैं किन्तु विरह-मूर्ति वल्लभ की आत्मा सच्चे अर्थो मे सूर मे ही आकर उतरी है। सूर मे विरह भावना का साध्य होकर आया है, औरो मे सयोग के सुख की तीव्रता से अनुभव करा देने के लिए। राधावल्लभीय सम्प्रदाय मे विरह के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाया गया है। सयोगावस्था मे ही अतृप्ति-मूलक विरह की कल्पना की गयी है। इस दृष्टिकोण की छाप अन्य सम्प्रदायो के कई कवियो मे भी मिल जाती है।

मधुरोपासना का अधिकाश सयोगात्मक है जिसमे राधा-कृष्ण के नित्य-मिलन, नित्य-विलास एव नित्य विहार की परिकल्पना है। इस भाव-दृष्टि मे स्थूल विरह को अवकाश हो ही नही सकता। किन्तु विरह की मधुरता के सम्पर्श को अनुभव करते हुए पलकान्तर, अगान्तर, वैचित्यात्मक आदि विविध सूक्ष्म विरह रूपो की परिकल्पना की गयी है। पर ये विरह-रूप सयोग-भावना मे घुल जाते है। सामान्यत निम्बार्की, हरिदासी और राधावल्लभीय भक्त-कवि नित्य-विहार के रसिक होने के नाते किसी स्थूल विरह रूप की परिकल्पना स्वीकार कर ही नही सके। यो ब्रज लीला का कभी-कभी गान करते हुए उनके चित्रो मे देशान्तर विरह की झलक मिल भले जाय। देशान्तर-विरह के चित्र अष्टछापी सूरदासादि मे ही काव्यात्मक रूप म सफलता के साथ अकित हो सके है। वहाँ भी इसे 'प्रगट-लीला' कह कर सिद्धान्तत अप्रगट-लीला मे नित्य-मिलन ही स्वीकार किया गया है। पर सूर और परमानन्ददास मे देशान्तर-विरह का बडा ही मार्मिक चित्रण हुआ है, जिसके फलस्वरूप एक उत्कृष्ट कोटि के 'भ्रमरगीत-काव्य' की सर्जना हुई है।

नित्य-विहार वाले निकुजरस की परिकल्पना सामने लेकर चलने वाले तीन सम्प्रदाय है—निम्बार्क सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय और राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय। इन तीनो की रस-परिकल्पना सबसे अधिक साम्प्रदायिक है। इनकी भक्ति-रति अपने मे (Complex) उलझी एव मिश्रित है जिसकी मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्याख्या सम्भव ही नही हे। पुरुष-भाव को अनिवार्यत त्याग कर कान्ताभाव का अभिमान, फिर आराध्य राधा-कृष्ण के घोर शृगारी विलासमय रूप की भावना करना, उन विलाम-लीलाओ मे अपने व्यक्तित्व को समाहित रखते हुए भी काम-भावना से सर्वथा अप्रभावित रहना, उस कान्ताभाव का सहचरी रूप ही अपने

मे उदित होने देना ये सब ऐसी बाते है जो भक्त के इस रत्यात्मक रूप को पूर्णत साम्प्रदायिक, मनोविज्ञान के लिए अगम्य, एव साधना-प्राप्य बना देती हे । सामान्य काव्य-रसिक के लिए इस प्रकार के स्थायी भाव के सस्कार न होने के कारण इन सम्प्रदायो की रस-परिकल्पना मे सहचरी-रति का परिपाक न होकर शृगार की ही अनुभूति होती है। जिन स्थलो पर चित्र उद्दाम है वहाँ वह कभी तटस्थ होना है, कभी रसाभास पाता है।

निकुज-रस की परिकल्पना मे कृष्ण का लीला-चरित क्षेत्र की दृष्टि से और भी परिमित हो गया है। हरिदासी और राधावल्लभीय भक्त-कवि तो निकुज-लीला के गान क्षेत्र की परिधि से बाहर जाना ही नही चाहते। निम्बार्की कवि भी व्यवहारत इसी क्षेत्र मे प्राय रहते है, सिद्धान्तत अन्य भक्तिरूपो को भी स्वीकार करते है। इन सम्प्रदायो के उच्च भाव-साधक की यही कसौटी है कि जो जितना निकुज-सीमा मे रहकर राधा-कृष्ण के विलास-विहार के अधिक-तम रसमय उन्मुक्त चित्र देता हुआ अपनी सहचरी-भावना का समर्पण अधिक कर सके वह उतना ही अनन्य रसिक उच्च कोटि का भक्त है।

इन सम्प्रदायो की इस मधुर चेतना मे कुछ सामान्य बातो के अन्तर है जो सैद्धान्तिक अधिक है, स्वरूपत रस-परिकल्पना पर विशेष अन्तर नही डालते। उनके निर्माण-पक्ष मे सैद्धान्तिक अन्तर अवश्य है किन्तु एक काव्य सामाजिक की अनुभूति मे प्राय उनसे विशेष अन्तर नही पडता। उसे इन तीनो सम्प्रदायो के काव्य मे रसानुभूति के लिए समान भूमिकाओ मे से गुजरना पडता है।

वल्लभीय काव्य भी कुछ मात्रा मे इस निकुज-भावना से प्रभावित हुआ है और उसमे भी राधा-कृष्ण के सयोग के मुक्त चित्रो का अकन हुआ है। किन्तु अष्टछापी काव्य मे एक तो यह भावना उन परवर्ती अष्टछापियो मे अधिक है जिनके कवि-व्यक्तित्व सामान्य है, जो सूर-परमानन्ददास के सामने बौने कवि रह गये है, दूसरी बात यह कि सूर के काव्य मे मात्रा की दृष्टि से इस भावना का स्थान सामान्य है। इस प्रकार अष्टछापी काव्य मे मधुर-परिकल्पना का रूप उतना साम्प्रदायिक नही रह जाता जितना अन्य-सम्प्रदायो की परिकल्पना मे हे।

वल्लभ-सम्प्रदाय की मधुर-परिकल्पना मे आदर्श गोपी-प्रेम रहा, जिससे कवि और भक्त सीधा तादात्म्य अनुभव करते हुए प्रियतम कृष्ण से प्रेम-सम्बन्ध जोड सकता है। इसमे वह अपनी समस्त प्रेम-काम की वृत्तियो का कृष्ण के प्रति सीधा समर्पण कर सकता है। किन्तु उपर्युक्त तीनो रसिक सम्प्रदायो की परिकल्पना मे गोपी भाव आदर्श न होकर सहचरी भाव आदर्श है। जिसमे रति-रूप के 'कम्प्लेक्स' होने के कारण वैसा सीधा समर्पण नही हो सकता, वैसी सीधी और सहज अनुभूति पाठक को भी नही मिल सकती। इस दृष्टि से वल्लभ-सम्प्रदायी कवियो, विशेषत सूर की मधुर-परिकल्पना सहृदय के लिए अधिक सहजता से आस्वाद्य है। सूर के निकुज-रस मे भी उनके काव्य का अभ्यासी गोपी-भाव ही उभरा हुआ पाता है।

प्रेम की सघन अनुभूति के लिए सभी कृष्ण-भक्त लोक-लाज एव कुल-मर्यादादि के साग्रह परित्याग का आदर्श लेकर चले है। चैतन्य सम्प्रदायियो ने तो इस सघनता के लिए राधा मे परकीया-प्रेम को ही सिद्धान्तत आदर्श बनाया है। उनका यह आदर्श चैतन्य-सम्प्रदायी कहे जाने वाले हिन्दी कवियो मे अधिक उभर कर नही आ सका। शेष सम्प्रदायो ने स्वकीया भाव मे ही सघनता लाने का प्रयास किया है। इन चैतन्येतर चारो सम्प्रदायो मे सिद्धान्तत राधा को स्वकीया माना गया है और गोपी-प्रेम मे स्वकीयात्व को समाहित करने की चेष्टा

हुई है किन्तु भागवतानुसारी लीलाओ का वर्णन करते हुए पति-पुत्र-सास-ननद वाली गोपीकाएँ ही चित्रित हुई है। अत प्रगट-लीला मे परकीयात्व ही उभर कर आया है। अष्टछापी कवियो मे यह तथ्य सबसे अधिक उभरा हुआ है, कारण उन्होने ही ब्रज-लीला का सर्वाधिक गान किया है। अन्य सम्प्रदायो के लोग तो वृन्दावन-लीला और निकुज-लीला तक ही अपने को जागरूक रखकर सीमित करते चले गये है।

मधुर-रस की भाव-भूमि लौकिक-शृ गार एव कामोपासना के तत्त्वो से युक्त होती है। अत उसी की अनुभूति मे सामाजिक एव लोक-सामान्य के लिए सबसे अधिक खतरा है। इस रस की लौकिकता को दूर कर इमे भगवदीय बनाने वाले दो ही तत्त्व हो सकते है—एक तो आलम्बन के महत्त्व की चेतना, दूसरे उसके अलौकिकत्व की चेतना। मधुरोपासना मे महत्त्व चेतना को प्रयत्न-पूर्वक दूर रखने का प्रयास किया गया है। कभी-कभी यह चेतना कवि द्वारा अन्तिम पक्ति मे 'सूर के प्रभु', 'परमानन्द के ठाकुर' जैसे शब्दो मे सकेतित कर दी जाती है। निम्बार्क मम्प्रदायी तथा हरिदासी आदि मे प्राय 'जैश्री' या 'जै' का प्रयोग करते हुए कवि अन्तिम पक्ति मे उस महत्त्व-चेतना को उभारना चाहता है। इससे काव्य-रसिक की अनुभूति को शृ गार मे ढूबने से एक हलकी-सी आगाही तो मिलती है, किन्तु उसके कारण वह उन शृगारी चित्रो मे शृगारानुभूति करने से या शृ गारात्मक प्रतिक्रिया ग्रहण करने से रुक नही पाता। जैसे कोई व्यक्ति अत्यन्त तीव्र गति से दौडा चला जा रहा हो, उसके सामने से एक दूसरा व्यक्ति उसी तेजी से अगाई काटकर निकल जाय। इससे उस पहले व्यक्ति की गति मे, एकतानता मे कुछ बाधा तो अवश्य पडती है किन्तु उसकी गति समाप्त नही होती, पथ रुक नही जाता। यही स्थिति इन अतिम पक्तियो की है।

किन्तु सूर की मधुर-परिकल्पना मे विशेष बात है। उन्होने महत्त्व-चेतना को उभारने के लिए सूर-सागर मे नवम स्कन्ध तक एक विशाल भावात्मक पृष्ठभूमि ही तैयार नही की, अपने शृगार-चित्रण मे वे एक अद्भुत अलौकिक वातावरण की सृष्टि भी करते है। चार-पाँच वर्ष के कृष्ण रति-क्षम हो जाते हैं, रूपान्तर मे परिणत हो जाते है, दो-तीन वर्ष के बाल-कृष्ण से गोपियाँ कान्ताभाव का परितर्पण प्राप्त करती है। आठ-सात साल के कृष्ण और राधा उन्मुक्त निकुज-विहार करते है। इस प्रकार का अलौकिक वातावरण बडी समर्थता के साथ काव्य-रसिक को शृगार मे डूबने से बचाये रहता है। जो पाठक सूर-सागर को चुने हुए स्थलो के रूप मे पढते है, उन्हे तो यह वातावरण भी नही बचा पाता। वे उस वातावण को अनुभव ही नही कर पाते। सूर अपनी इस कवित्व-पूर्ण कला द्वारा अपने पाठक को शृगार-रस नही, मधुरा-भक्ति के आस्वादन कराने मे अन्य कृष्ण-कवियो की अपेक्षा सबसे अधिक सफल हुए है। सूर के मधुर मे अन्य सबकी अपेक्षा काव्यरस के नाते भी, भक्तिरस के नाते भी, सामाजिक की अनुभूति के लिए अधिक खुला अवकाश है।

हम कह चुके है कि वात्सल्य की रसात्मक भूमि पर परिकल्पना सूर और परमानन्ददास मे है। सूर तो इस भाव के सम्राट् है। इन कवियो की वात्सल्य भक्ति का अर्थ है भगवान् की बाल-लीलाओं का गान करना। अत वे अपने मे आराध्य बाल-कृष्ण के प्रति अपनी महत्त्व-चेतना को भी साथ ही व्यक्त करते रहे है। विभाव-रूप मे काव्य-निष्ठ आलम्बन और आश्रय, बाल-कृष्ण और यशोदा-नन्द की हार्दिक अनुभूतियो का मनोवैज्ञानिक चित्रण जैसा सूर ने किया है वैसा अन्य कोई नही कर सका। इस बाल-लीला-गान मे कवि-निष्ठ महत्त्व-चेतना ही वात्सल्य रस को वात्सल्य-भक्तिरस के रूप मे अनुभव कराती है। सूर अनेक बार

दूर तक अपनी स्वनिष्ठ महत्त्व-चेतना को बिना सकेतित किये भी कृष्ण और यशोदा के बीच वात्सल्य रस का काव्यात्मक परिपाक प्रस्तुत करते चले जाते है। इससे यह होता है कि उनके वात्सल्य-चित्रण मे पाठक को एक काव्यरस के रूप मे भी वात्सल्य की अनुभूति का पूर्ण अवकाश खुलता है, और अपनी व्यापक परिधि मे वह परिकल्पना भक्तिरस की परिधि से भी बाहर नही जा पाती। विभाव रूप मे काव्य-निष्ठ पक्ष मे बाल-कृष्ण, उनका सौन्दर्य, उनकी चेष्टा-क्रीडाएँ आश्रय-रूपा यशोदा के लिए आलम्बन-उद्दीपन है। सूर ने एक काव्य-कौशल किया है। वे अपनी यशोदा को कृष्ण के प्रति महत्त्व-चेतना से सजग होकर यथा-साध्य बचाते रहे है। इसका परिणाम यह हुआ हे कि उनकी यशोदा ही विशुद्ध वात्सल्य की अनुभूति नही कर सकी, उनका काव्य-पाठक भी काव्यरस के रूप मे वात्सल्य की अनुभूति कर सकता है। अन्य कवियो मे यह अभाव रह गया है। परमानन्ददास आदि वात्सल्य के स्थलो मे स्वनिष्ठ महत्त्व-चेतना के अति-प्रसार को रोक नही पाते और उनकी यशोदा भी उससे आक्रान्त हो जाती है। इससे होता यह है कि वात्सल्य का एक काव्यरस के रूप मे तो अवकाश परिसीमित हो जाता है, हाँ, एक भक्तिरस के रूप मे अवश्य सूर की अपेक्षा अवकाश बढ जाता है। इस प्रकार हम तुलना की दृष्टि से कह सकते है कि सूर की वात्सल्य-परिकल्पना अन्यो से अधिक काव्यात्मक है, अन्यो की अधिक साम्प्रदायिक। काव्य-निष्ठ आश्रयपात्रो मे महत्त्व-चेतना के अतिक्रान्त समारोप को तुलसी भी नही बचा सके। किन्तु हम देख चुके है कि तुलसी इस ओर सोद्देश्य जागरूक है कि उनकी रस-परिकल्पना मे काव्य-रस कही भक्तिरस से अधिक प्रबल न हो उठे। वात्सल्य मुख्यत अष्टछापी कवियो का ही परिकल्पित रस है, उनमे भी विशेषत सूर और परमानन्ददास का ही।

कृष्ण-भक्ति मे आदर्श दास्य का नही रहा। यहाँ दास्य प्रमुखत मधुर भाव मे सहचरियो-सखियो की सेवा-परिचर्या की भावना मे अन्तर्भूत हो गया। इसी प्रकार सख्य भी एक प्रकार से सखियो की सख्य-भावना मे अन्तर्भूत होकर मधुर मे घुल गया। स्वतन्त्र सख्य और दास्य की रसात्मक परिकल्पना सूर मे ही सर्वाधिक मिलती है। गोप सखाओ मे सख्य रति की कल्पना भी कृष्ण की बाल-लीलाओ के गान के रूप मे है। उनके प्रति भी कवि ने अपनी महत्त्व-चेतना जाग्रत रखी है। साथ ही वात्सल्य के समान काव्य-निष्ठ पात्रो मे महत्त्व-चेतना को अलग रखते हुए प्रकृत भाव-परिपाक होने दिया है। सूर का दास्य रसात्मकता मे तुलसी के समीप पहुँच गया है।

राम-काव्य मे रस-परिकल्पना का स्वरूप, जैसा कि हम अभी पीछे कह चुके है, मुख्यत दास्य-परक है। इसमे मर्यादावादी आदर्शमय चेतना प्रधान रही है। इस काव्य के दो ही प्रमुख भक्तिरस-रूप है—दास्य और शान्त। शान्त का जैसा सहज समावेश दास्य-भक्ति के साथ राम-भक्ति-काव्य मे हुआ है वैसा कृष्ण काव्य मे नही हो सका।

राम-काव्य की रस परिकल्पना का आदर्श तुलसी है। कृष्ण-भक्ति की मधुर-भावना ने जो इस क्षेत्र मे भी हलका-सा प्रभाव डाला हे वह हमारे युग मे नगण्य है, और वह राम-भक्ति-काव्य की प्रकृत रस-परिकल्पना नही है। राम-भक्ति-धारा मे तुलसी के समकक्ष कोई व्यक्तित्व काव्य-जगत् मे उभर कर नही आया। अत इस भक्तिधारा की रस-परिकल्पना वस्तुत तुलसी की ही रस-परिकल्पना है। जो भी अन्य कवि राम-भक्ति के भीतर आये, तुलसी की आदर्शमयी महत्त्व-चेतना-सम्पन्न दास्य-भक्ति की परिकल्पना मे ही योग देते रहे। १७वी शती के अनन्तर रामभक्ति मे भी मधुर-परिकल्पना ने कुछ साम्प्रदायिक बल पकडा,

किन्तु वह राम-भक्ति की रस-परिकल्पना का प्रमुख स्वर कभी नही बनी ।

तुलसी की रस-परिकल्पना समन्वयात्मक है । उनके चार ग्रन्थो मे रस-परिकल्पना के चार रूप मिलते है । विनय-पत्रिका मे विशुद्ध भक्ति-रस मिलता है जिसमे काव्यरसो का उभार नही है । उसमे दास्य और शान्त दोनो भक्तिरसो की ही काव्य-रस-निरपेक्ष परिकलपना है । रामचरितमानस एक चरित-काव्य है । उसमे भी उसी आदर्श के साथ दास्य और शान्त भक्तिरसो का परिपाक है । मानस का एक ही अगी रस है 'दास्यभक्तिरस', किन्तु उसमे साथ ही काव्यरसो का भी अनुयोग है । ये काव्यरस सर्वंश भक्तिरस के अग है । इनका परिपाक इसी ढग से, इसी मात्रा तक किया गया है कि वे भक्तिरस के अग बने रहे । तुलसी के ही रूपकात्मक शब्दो मे 'मानस-सरोवर' मे काव्यरस उसके सुन्दर जल-जन्तुओ के समान शोभाधायक तत्त्व तो हो सकते है, उसके आत्म-तत्त्व नही । मानस की रसमयी आत्मा भक्तिरस मे परिकल्पित है । कवितावली मे रस-परिकल्पना का यह रूप मानस से उलट गया है । उसमे भक्तिरस के अनुरजन के साथ काव्य-रस उभर कर आये है । जैसे हम तुलसी के वात्सस्य मे काव्यरस के रूप मे वात्सल्य का अनुभव कम किन्तु भक्तिरस के रूप मे अधिक कर पाते है, किन्तु सूर के वात्सल्य मे भक्तिरस की अपेक्षा उसका आस्वादन काव्यरस के रूप मे अधिक सम्भव है, वैसे ही तुलसी की 'मानस' मे भक्तिरसो का परिपाक प्रमुख है, कवितावली मे काव्यरसो का । तुलसी की चौथी कृति है 'गीतावली' । उसमे तुलसी ने अपने आदर्श मे एक हल्का परिवर्तन स्वीकार करके कृष्णभक्ति की आदर्श-भूत रस-परिकल्पना के साथ समझौता करके एक समन्वयात्मक रस-परिकल्पना प्रस्तुत की है । गीतावली का उत्तर काण्ड तो स्वतन्त्र और विनयपत्रिका के ढग का है । उसमे दास्य और शान्त की ही रस-परिकल्पना है । किन्तु पूर्व के काण्डो मे अपनी अन्यत्र स्वीकृत भक्ति के साथ वात्सल्य और शृगार के चित्रण मे तुलसी ने कृष्ण-भक्ति की रस-परिकल्पना का प्रभाव स्वीकार किया है । इस प्रकार गीतावली मे भक्ति और काव्य के रसो का ही समन्वय नही है, तुलसी के युग की दो भक्ति-धाराओ की प्रमुख रस परिकल्पनाओ का भी समन्वय दिखायी पडता है । तुलसी ने अपने आदर्श को शिथिल न करते हुए भी गीतावली मे कृष्ण-भक्ति की आदर्श रस-परिकल्पना से समझौता करने के लिए कुछ अपना छोडा अवश्य है ।

आदर्शवादी राम-काव्य की धारा के लिए तुलसी की रामचरितमानस और विनय-पत्रिका की रस-परिकल्पना आदर्श बनी है । सेनापति-जैसे कवि-व्यक्ति-प्रधान और लोगो का आदर्श कवितावली की रस-परिकल्पना रही है । केशव की राम-भक्ति की रस-परिकल्पना कवित्व एव कौशल के भार से आक्रान्त है । किन्तु उनके काव्य मे भक्ति-भावना या काव्य-रसो की अनुभूति का अभाव नही है । कवित्व के भार मे गुणीभूत भक्तिरस की परिकल्पना का आदर्श केशव ने तुलसी के समान ही मर्यादावादी अपनाया है ।

दास्य और शान्त रामभक्ति-काव्य के प्रमुख परिकल्पित रस रहे, मधुर और वात्सल्य कृष्णभक्ति काव्य के । यो दोनो ओर के कवि रूढ नही रहे । सूर ने रामचरित का गान किया, तुलसी ने कृष्ण-गीतावली लिखी । सूर ने दास्य की गहरी अनुभूतियाँ दी, तुलसी ने वात्सल्य और मधुरता के क्षेत्र मे भी हाथ लगाया । उधर अपने-अपने क्षेत्र मे भी लोग रूढि-ग्रस्त आग्रही नही रहे । निम्बार्की और कभी-कभी कोई हरिदासी-राधावल्लभीय कवि भी व्रज-रस का गान कर लेते है, तो सूर आदि अष्टछापी निकुज-रस का आस्वादन करते हुए सहचरी-भाव की परिकल्पना प्रस्तुत करते दिखायी पडते है । परवर्ती लोग कुछ रूढ हुए अवश्य,

किन्तु आपको अनेक भक्त ऐसे मिल जायेगे जो अपने सम्प्रदाय-गुरु की आराधना करते हुए अन्य सम्प्रदायो के, प्रमुख भावुक भक्तो एव आचार्यो के प्रति श्रद्धा-रस का आस्वादन किया करते है ।

अनुभूति की दृष्टि से वैष्णव-रस के विविध रूपो पर तुलनात्मक दृष्टि डालने से भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते है । जहाँ तक कवि की अनुभूति का प्रश्न है, इस काव्य मे जितनी सच्ची एव स्वकीय अनुभूति कवि ने प्रस्तुत की है उतनी सम्भवत ही किसी अन्य काव्य मे मिले । इस काव्य मे भाव का गहरा भावावेश हे जिसका उत्स कवि का स्वानुभूति-प्रवण अन्त करण है । यह भावावेश अकृत्रिम, सहज एव निर्मल है—ऐसा निम्सन्देह कहा जा सकता है । किन्तु काव्य-पाठक की अनुभूति इस काव्य मे कवि से तदात्म है, ऐसा नही कहा जा सकता । जहाँ तक एक सम्प्रदाय-निष्ठा-सम्पन्न साम्प्रदायिक पाठक की बात है, उसे इस काव्य मे रसानुभूति निर्मल भक्तिरस की, तथा कवि की अनुभूति के साथ समानुभूतिमयी होनी चाहिए । किन्तु सामान्य काव्य-सहृदय के लिए इस वैष्णव-रस के सभी रूपो मे कवि के साथ तदात्म समानुभूतिमयी अनुभूति स्वीकार नही की जा सकती । वैष्णव-काव्य मे परिकल्पित रसानुभूति के विषय मे यह मिद्धान्त लागू नही होता कि पाठक अनिवार्यत सर्वत्र उसी रूप मे रसानुभूति करता है जिस रूप मे कवि चाहता है या कवि करता है । यहाँ अनेक प्रसगो मे यही सिद्धान्त ठीक बैठता है कि काव्य-पाठक के समक्ष पूर्ण काव्य-चित्र विभाव-रूप मे आता है और समूचा अखण्ड चित्र विभाव बनता हुआ सामाजिक के मन मे लौकिक सस्कारो की वासना के अनुरूप उसमे एक विशुद्ध भूमिका मे भावोदय करता है । जहाँ इन सस्कारो मे औचित्य की परिक्षति होती है, साधारणीकरण मे कमी रह जाती है, सामाजिक की भावात्मक प्रतिक्रिया अपने सस्कारो के अनुरूप विविध-मुखी हो जाती है । यहाँ हम वैष्णव रस के पाँचो रूपो की अनुभूति के विषय मे अलग-अलग तुलनात्मक दृष्टि डाल सकते हे ।

भक्तिरस के स्वीकृत पाँच भेदो मे से दास्य और शान्त रस की अनुभति काव्य-पाठक को सबसे प्रकृत एव उसी दिशा मे होती है जिसमे कि स्वय कवि को होती है । दिशा की बात इसलिए कही गयी कि इन रसो की वैसी घनीभूति जैमी कि कवि को हुई है, केवल सिद्ध भक्तो को ही हो सकती है । इन भावो की वासना से सम्पन्न एक सहृदय तो इनकी अनुभूति काव्यरस के रूप मे ही कर सकता है अत वह भक्ति की रसात्मक अनुभूति दास्य और शान्त मे काव्यरम के अनुरूप ही करता है जिनमे भक्ति-भावना की प्राजलता एव शुभोदर्की प्रभाव होता है ।

सख्य, वात्सल्य और मधुर भक्तिरम क्रमश सामाजिक के लिए साम्प्रदायिक होते जाते है । सख्य और वात्सल्य के लिए आदर्श कवि सूर है । सूर के चित्रो मे काव्य-रसिक की अनुभूति प्रमुखतया काव्यरस के रूप मे होती है । भक्ति का एक भाव के रूप मे ही उभार होता है । पाठक साहित्यिक स्तर पर वात्सल्य की अनुभूति करता है, जहाँ और जिस अश मे जिस मात्रा तक कवि उसमे अपने बाल-चित्रो के प्रति महत्त्व-चेतना जगा पाता है, उसी मात्रा तक उसे भक्ति की अनुभूति होती है । यह भक्ति एक भाव-कोटि की अनुभूति रह जाती है । जिन कवियो मे महत्त्व-चेतना अधिक मुखर है उनके बाल या सख्य के चित्रण मे पाठक को रसानुभूति एक काव्यरस के रूप मे भले ही हलकी हो, किन्तु भक्ति की गहराई को वह अधिक अनुभव अवश्य करता है । ऐसे प्रसगो मे भी भक्ति की अनुभूति का स्तर प्राय भाव-कोटि का ही रह जाता है । इने-गिने प्रसगो की बात दूसरी है । फिर भी, इन

रसो मे अनुभूति पाठक के लिए कवि की अनुभूति की विपरीत दिशा मे नही होती। अधिक से अधिक यही होता है कि कवि की अनुभूति तो भक्ति-प्रवण है किन्तु पाठक उस रस-परिकल्पना को एक काव्यरस के रूप मे ही परिगृहीत करके रह जाता है। या कवि की अनुभूति मे तो काव्यरस से भक्तिरस उभरा हुआ है, किन्तु सामाजिक वहाँ भक्तिरस की अपेक्षा काव्यरस के रूप मे सख्य या वात्सल्य की अनुभूति अधिक कर रहा है और इस प्रकार कवि का भक्तिरस सामाजिक के लिए रस न होकर 'भाव' ही रह गया है।

मधुर रस की सामाजिक की अनुभूति मे कई प्रकार के स्थलो मे कुछ विषमताएँ उठ सकती हे। हम मधुर के प्रसगो को मोटे तौर पर दो वर्गो मे विभक्त कर सकते है— एक तो जिनमे कान्तारति की सीधी अभिव्यक्ति हे। ये स्थल चाहे राधा-प्रेम के हो सक्ते हे, चाहे गोपी-प्रेम के। दूसरे वे जिनमे कान्तारति की अभिव्यक्ति सहचरी या सखीरूप मे है और प्रिय के प्रति या युगल के प्रति विलास-दर्शन के तटस्थ सुख का आस्वाद कहा गया है। इस प्रकार के स्थलो मे प्रश्न उठ सकता है कि सामाजिक को रसानुभूति किस रूप मे होती है।

इन प्रसगो मे, विशेष कर द्वितीय प्रकार के प्रसगो मे काव्य-रसिक की अनुभूति कवि के अनुरूप नही होती। कवि यहाँ भक्ति के चरम स्वरूप की अनुभूति कर रहा है, ऐसा उसका दावा है। उसके दावे के पीछे एक सुदृढ शास्त्र है। अत उसकी अनुभूति और उसके उद्देश्य पर आपत्ति नही की जा सकती। किन्तु सामाजिक की अनुभूति को भी नही झुठलाया जा सकता। वह ऐसे स्थलो मे शृ गार की अनुभूति करता है। यदि कही चित्र अधिक उन्मुक्त हो गया है और औचित्य मे व्याघात प्रतीत होता है तो उसे शृगार रस के स्थान पर रसाभास की अनुभूति होगी। विशेष कर राम-काव्य मे राम के प्रति एक आदर्श-निष्ठा के सस्कार सुसस्कृत जन-मानस मे परिनिष्ठित है। तब सीताराम के उन्मुक्त शृ गार के चित्रो मे रसाभास की अनुभूति की अधिक गुजाइश होती है। ऐसे प्रसगो मे न कवि से तादात्म्य कहा जा सकता है, न ही काव्य-निष्ठ आश्रय पात्र से। साम्प्रदायिक मधुर की अनुभूति मे भक्त को अपने मे आवश्यकीय कान्ताभाव का आरोप करके चलना चाहिए। किन्तु सामाजिक की अनुभूति के लिए यह भी आवश्यक नही होता। यदि पाठक इस प्रकार के सस्कार बना भी ले तो यह उसका व्यक्तिगत राग होगा। काव्यरस की अनुभूति के लिए व्यक्तिगत किसी भी भाव का तिरोधान अपेक्षित है। ऐसे व्यक्तिगत राग के सस्कारो को लेकर भले ही वह 'भक्ति' की अनुभूति कर ले, किन्तु काव्यरस के रूप मे तो भक्तिरस की अनुभूति नही कर सकता।

अत, हम यही सिद्धान्त यहाँ भी पोषित पाते है कि जैसा सामूहिक चित्र पाठक की चेतना के समक्ष आता है उसी के अनुरूप वह भावात्मक प्रतिक्रिया अनुभव करता है। तब चाहे राधा की ओर से प्रेमाभिव्यजन हो, चाहे कृष्ण की ओर से। चाहे गोपी-रति का साक्षात् कान्ताभाव हो, चाहे सहचरी-रति का तटस्थ कान्ताभाव, काव्य-रसिक के भावोद्बोधन के लिए समूचा चित्र विभावन करता है। यह विभावन उसी प्रक्रिया के अनुरूप होता है जैसा कि लोक मे होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि यहाँ न विभाव-सामग्री व्यक्तिगत होती है, न भावोदय व्यक्तिगत होता है। अत इस भावोदय मे सूक्ष्मता एव रसात्मकता होती है। यह रसात्मकता वही है जिसका निरूपण काव्यशास्त्र मे किया गया है।

इस प्रकार के चित्रो मे इस लौकिक ढग की काव्यानुभूति को भगवदीय बनाने के दो ही तत्त्व है—एक आलम्बन के प्रति महत्त्व-चेतना, दूसरे आलम्बन की अलौकिकता। यदि कवि इनमे से किसी का भी सहारा लेकर आया है तो वह पाठक की शृ गारानुभूति मे लोक

लगा कर भगवदीयता ला सकता है और एक मात्रा तक अपने श्रृगार की मधुर भक्ति का रूप अपने सामान्य पाठक को भी आस्वादित करा सकता है। हम देख चुके है कि सूर ने अपने मधुर रस की परिकल्पना मे अलौकिकता का उपयोग किया है, तुलसी ने महत्त्व-चेतना के प्रति सजगता बरती है। इन कवियो की मधुर परिकल्पना किसी हद तक भक्तिभाव की अनुभूति भी कराने मे समर्थ हो सकती है। किन्तु निम्बार्की, हरिदासी और राधावल्लभीय मधुर-काव्य मे प्राय ऐसा नही हुआ, और यही कारण है कि पाठक कभी तो उनमे अमिश्र श्रृगार की अनुभूति पाता है, कभी मिश्रित श्रृगार की। कवि द्वारा अभिव्यक्त सहचरी भाव की ओर तो वह एक क्षेत्र के लिए बौद्धिक द्रष्टा के समान देखता रह जाता है। आस्वादन करता है वह उसी श्रृगार को जिसका विभावन कवि का उभर कर आया चित्र कर रहा है।

यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है। इन मधुरोपासक कवियो के विविध प्रवृत्त्यात्मक चित्रो मे अनेकत्र गहरी लोक-निवृत्ति घुली रहती है। प्रेम की तन्मयता, विशुद्धता एव प्रशान्तता के अनेकत्र दर्शन होते है। ऐसे स्थलो मे लगता है, शान्त ही श्रृगार के आकार मे प्रतिष्ठित हुआ है। ऐसे स्थल सयोग-चित्रण की अपेक्षा वियोग-चित्रण मे आपको अधिक मिलेगे। ये अनुभूतियाँ पाठक को बलवत् एक ऐसे श्रृगार की अनुभूति कराती है जो लौकिक श्रृगार नही, साहित्य मे अन्यत्र अनुभूत श्रृगार रस नही, एक उच्च-स्तरीय श्रृगार है, उज्ज्वल श्रृगार है। महत्त्व-चेतना-सम्पन्न, अलौकिक-विभावना की ओर ले जाने वाला, या प्रशान्तवाही निर्मल श्रृगार निस्सन्देह सामाजिक को मधुर रस की भक्तिमयी काव्यानुभूति देता है। और, यह कहने की आवश्यकता नही कि वैष्णव-रस मे इस प्रकार के उज्ज्वल श्रृगार की मात्रा भी कम नही है।

अब तक हमने वैष्णव-काव्य मे रस-परिकल्पना के ऊपर तुलनात्मक विचार करते हुए उसकी कवि-कृत परिकल्पना, अभिव्यक्ति और सामाजिक की अनुभूति पर दृष्टिपात किया है। अब हम यहाँ एक दूसरे प्रश्न की ओर जाना चाहते है—वह यह कि वैष्णव-साहित्य की इस रस-परिकल्पना का परवर्ती साहित्य की रस परिकल्पना पर क्या प्रभाव पडा है। इस प्रश्न का सम्बन्ध हमारे आलोच्य काल के काव्य की रस-परिकल्पना के मूल्याकन से जुडा हुआ है।

(ख) परवर्ती साहित्य मे रस-परिकल्पना पर प्रभाव

परवर्ती साहित्य मे रसपरिकल्पना हमारे आलोच्य युग के वैष्णव साहित्य की रस-परिकल्पना से किस रूप मे और किस मात्रा मे प्रभावित हुई, इस बात को समझने मे लिए हमे यहा भी राम-काव्य और कृष्ण काव्य की रस-परिकल्पनाओ को अलग-अलग सामने रखना होगा। दोनो को अलग अलग लेने का कारण यही है कि दोनो क्षेत्र की रस-परिकल्पनाएं अलग-अलग आदर्श लेकर चल रही थी।

राम-भक्ति साहित्य की धारा मे परवर्ती युग मे कोई उल्लेखनीय कवि नही हुआ। मानो जो तुलसी कह चुके थे उसके आगे कुछ कहने की गुजाइश ही नही थी। इन अर्थों मे परवर्ती साहित्य मे राम रस की परिकल्पना पर तुलसी व्यक्तित्व का विपरीत प्रभाव पडा है, यह स्वीकार करना पडता है।

तुलसी के व्यक्तित्व की इस महत्ता के अतिरिक्त और भी कारण हो सकते है। आर्थिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियो के परिवर्तन के कारण परवर्ती हिन्दी साहित्य का

प्रमुख स्वर भक्ति से हट कर शृ गार और चमत्कार की ओर परिवर्तित हुआ। इस बदली हुई स्थिति के अनुरूप आदर्शवादी राम-भक्ति की रस-परिकल्पना नही थी। सस्कृत और अपभ्रंश की परम्परा मे से एक शृगारी एव चमत्कार-पूर्ण काव्य की धारा बहुत प्राचीन काल से बहती चली आ रही थी। हिन्दी मे दरबारी कला-कुशल कवियो का आश्रय पाकर वह जोर पकड गयी और उस साहित्य की सृष्टि हुई जिसे हम सामान्यत शृगारी साहित्य या रीति-साहित्य कहते है। इस परवर्ती युग मे काव्य-प्रतिभा का तो अभाव नही रहा। कला-मर्मज्ञता की दृष्टि से अनेक कला-प्रवण कवि-व्यक्तित्व सामने आये, किन्तु उनकी रुचि एव स्थिति-परिस्थिति ने रामरस की आदर्शमयी रस-परिकल्पना की ओर उन्हे आकृष्ट न होने दिया।

परवर्ती हिन्दी साहित्य की रस-परिकल्पना को वैष्णव साहित्य के दूसरे अश कृष्ण काव्य की रस-परिकल्पना ने पूर्णत प्रभावित किया। एक तो कृष्ण-रस की परिकल्पना अपने मधुर रूप के द्वारा अपने युग मे ही राम-काव्य की धारा तक को प्रभावित करने लगी थी। अग्रदास और नाभादास मे तथा एक हलके सस्पर्श के रूप मे गीतावली के तुलसीदास मे हम कृष्ण-भक्ति की मधुरोपासना का प्रभाव देख चुके है। यह रसिकता राम-धारा मे हमारे आलोच्य काल मे तो अत्यन्त सीमित रही, पर परवर्ती युग मे इसने बल पकड कर कुछ सम्प्रदायो की प्रतिष्ठा का भी रूप पाया। इन राम-भक्ति के मधुरोपासको को प्रेरणा कृष्ण-भक्ति की मधुर-परिकल्पना पर ही मिल रही थी। वैसी ही उन्मुक्त रसिकता तथा उसकी पृष्ठभूमि को पुष्ट बनाने के लिए विविध शास्त्रीय ग्रन्थो का सस्कृत मे प्रणयन एव उन्हे प्राचीन काल का कहकर प्राचीन लोगो के नाम से ख्यापन का काम भी हुआ, जो सम्प्रदायो को चलाने के लिए स्वाभाविक था।

कृष्ण-काव्य की रस-परिकल्पना सत्रहवी शती के अन्तिम चरण तक आते-आते एक मधुर रस की परिकल्पना ही रह गयी थी। वल्लभ-सम्प्रदाय पहले तो ब्रज-लीला गान का उद्देश्य लेकर चला था, उसमे वात्सल्य, सख्य और माधुर्य तीनो के लिए पूरा-पूरा अवकाश था। वल्लभ की चेतना के अनुरूप वात्सल्य और विरह-भावना का रसात्मक पोषण सूर ने प्रस्तुत किया था। किन्तु विट्ठलाचार्यजी के प्रभाव से सम्प्रदाय मे शृगार का महत्त्व बढता गया। परवर्ती अष्टछापियो की रस-परिकल्पना एकान्त मधुर की हो गयी थी, यह हम देख चुके है। उसमे से वात्सल्यादि ही तिरोहित नही हुए, आत्मानुभूति-प्रसूत विरह भी निकल गया। सूर को छोड कोई सच्चा विरह-कवि भी अष्टछाप नही दे सका। जब वल्लभ-सम्प्रदाय का ही यह हाल हुआ तो जो सम्प्रदाय मधुर रस की एकान्त साधना का सिद्धान्त अपना कर चल रहे थे, उनके विषय मे तो कुछ कहने की बात ही नही। इस प्रकार हमारे आलोच्य काल के अन्त तक कृष्ण-भक्ति एक प्रकार से एकान्त मधुर की हो चुकी थी।

मधुर-परिकल्पना की अभिव्यजित भाव-भूमि लौकिक काम की भाव-भूमि है। इस स्थूल काम को भगवदीय बनाने के लिए तीन ही तत्त्व थे—भगवान् के महत्त्व के प्रति जागरूक रहना, विभाव-पक्ष की अलौकिकता के प्रति सजग रहना, तथा इस रस-काव्य के निर्माताओ की स्वानुभूत प्रशान्त-वृत्तिता का घुला होना। जहाँ तक महत्त्व-चेतना का प्रश्न था, सभी रसिक-सम्प्रदायी उसे प्रेम के घनत्व की अनुभूति के लिए अनिवार्यत परिहार्य समझ कर जान-बूझ कर छोड चुके थे। मधुर-परिकल्पना का यह आदर्श ही बन गया था कि जिस भक्ति-रूप मे जितनी महत्त्वानुभूति सजग रहेगी वह भक्तिरूप उतना ही हीन कोटि का होगा। इस नाते दास्य को मधुर से बहुत हीन कहा गया था शान्त-भक्तिरस को भक्तिरस के पाँच रूपो मे

सबसे नीचा स्थान प्रदान किया गया था। ये आदर्श भक्ति-काल मे प्रतिष्ठित हो चुके थे। दूसरी चीज थी अलौकिकता की प्रतिष्ठा। यह तत्त्व कृष्ण-काव्य मे सूर के अतिरिक्त कुशलता से कोई नही निहित कर सका। तब वृन्दावन की रसमयी भूमि मे पनपने वाले मधुर कृष्ण-काव्य के उदात्त रहने का एक ही आधार बच रहा था कि वह उन लोगो की आत्माभिव्यक्ति के रूप मे सामने आ रहा था जो ससार के वैभव को तिलाजलि दे चुके थे, अपनी वृत्तियो मे चरम उदात्तीकरण प्राप्त कर चुके थे, अपने मानस की समूची विषय-वासनाओ को भाव-साधना के सहारे निश्चित रूप से भगवदीय बना चुके थे।

कृष्ण-भक्ति साहित्य की धाराएँ विविध सम्प्रदायो की छाया मे वृन्दावन की भूमि मे परवर्ती युग मे भी प्रवाहित होती रही। निम्बार्क सम्प्रदाय तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायो की गद्दियाँ उच्च कोटि के रसिक कवियो की वाणियाँ देती रही। वल्लभ सम्प्रदाय मे भी परवर्ती युग मे कुछ अच्छे भक्त कवि हुए, यद्यपि उनमे अष्टछाप की टक्कर का कोई नही था।

ब्रज-भूमि मे पल्लवित यह परवर्ती कृष्ण-भक्ति साहित्य मात्रा और गुण दोनो ही दृष्टियो से सुन्दर है। किन्तु इसमे रस-परिकल्पना की दृष्टि से कोई विशेष उल्लेखनीय बात नही है। साम्प्रदायिक रूढता ज्यो-ज्यो बढती गयी है, इस काव्य की रस-परिकल्पना पिटी-पिटाई और उन्मुक्त शृगार की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होती गयी है। फिर भी राधावल्लभ सम्प्रदाय और निम्बार्क सम्प्रदाय की परवर्ती परम्परा मे कई नाम उल्लेखनीय कवियो के है। पर एक बात हे, इन परवर्ती वृन्दावनी कवियो को राधा-कृष्ण के शृगार-चित्रण मे निकुज-रस के गान के नाम पर सब कुछ कहने का 'लाइसेस' मिल गया था। उनके पीछे एक विशाल साहित्य था, उच्चकोटि के भक्तो का आदर्श जीवन था। इन तत्त्वो के आधार पर वे इस परम्परा को निभाये चले जा रहे थे, और एक दबती-उभरती धारा के रूप मे आज भी निभाये चले जा रहे है, भले ही जीवन की स्वानुभूति-मयी प्रशान्तवृत्तिता का उसमे ह्रास हो गया है। पर इसी धारा मे कभी कभी उच्चकोटि के भावुक भक्त और कवियो के भी दर्शन हो जाते हे। यदि शतियो मे जाकर भी ये सम्प्रदाय किसी सच्चे भक्त को प्रस्तुत कर सके तो उनकी यह सम्प्रदाय को सुरक्षित रखने की साधना सफल हो जाएगी।

पर एक बात उल्लेखनीय हे। सत्रहवी शती के अनन्तर यह वृन्दावनी कृष्ण-साहित्य हिन्दी-साहित्य के एक कोने मे पड गया। उसमे जन-मानस को प्रभावित करने की क्षमता वैसी नही रही जैसी सोलहवी-सत्रहवी शती तक रही थी। एक प्रकार से उसकी प्रभाविनी पवित्र आत्मा तिरोहित हो गयी। परवर्ती साहित्य मे जो प्रभावशाली स्थान पाया वह इस वृन्दावनी साहित्य ने नही, प्रमुखतया उस साहित्य ने जो प्रमुखतया दरबारो की छाया मे लिखा जा रहा था।

दरबारी साहित्य को कृष्ण काव्य की रस-परिकल्पना का रूढ ढाँचा ही हाथ पडा, उसकी आत्मा तक पहुँचने की उसकी क्षमता नही थी। हमारे आलोच्य काल के अन्तिम चरण तक आते-आते कृष्णरस-परिकल्पना के पास तीन तत्त्वो मे से एक ही बात बच रही थी कि उसके स्रष्टाओ के जीवन मे प्रशान्तवृत्तिता घुली थी। दरबारी कवियो के हाथ पड़ते ही कृष्ण-काव्य का वह तत्त्व भी समाप्त हुआ। और परवर्ती दरबारी काव्य अन्य अनुकूल कारणो एव परिस्थितियो के सहयोग से चमत्कार-प्रवण एव शृगारी काव्य के रूप मे परिणत हुआ।

इस दरबारी काव्य को हमारे आलोच्य युग के कृष्ण काव्य मे निहित रस-परिकल्पना ने एक नैतिक साहस प्रदान किया था। जिस उन्मुक्त मधुर काव्य की व्याख्या मे विशाल भक्तिशास्त्रीय ग्रन्थ विद्यमान थे, जिसकी सृष्टि निरन्तर कई शताब्दियो से भक्त कवियो द्वारा हो रही थी, जिसे जनता नैतिक साहस के साथ भक्ति-भावना के गीत कह कर गा रही थी, उसी के ढग का साहित्य दरबारी कवि भी देने का साहस क्यो नही कर सकते थे ? वे अपनी शास्त्र-दक्षता और चमत्कारी रुचि के अनुसार कवित्त और सवैयो मे राधा-कृष्ण का नाम लेकर उन्मुक्त शृगार के चित्र देने मे वैष्णवरस की परिकल्पना से नैतिक साहस पा सके। कहा जाता है कि मैक्समूलर ने एक बार वैदिक ऋषियो के अनुकरण पर कतिपय सूक्तो की रचना का प्रयास किया था। वह यह दिखाना चाहते थे कि ऋग्वेद कोई अलौकिक ज्ञान-सम्पन्न ऋषियो की रचना नही है, वैसी रचना आज भी की जा सकती है। पर पीछे उन्हे यह भान कराया गया कि उनके सूक्तो मे उसी वैदिक भाषा के शब्द उसी व्याकरण एव छद-नियमो तथा स्वर-नियमो के सहित होते हुए भी ऋग्वेद की आत्मा नही है। और तब उन्होने अपना यह प्रयास छोड दिया था। किन्तु इन दरबारी 'कृष्ण-भक्तो' को जो कविता कर पाये तो ठीक, नही तो राधा कन्हाई के सुमिरन का बहाना ही सही, यह उद्देश्य लेकर चल रहे थे, उन्हे यह समझाने वाला कोई नही था कि राधा-कृष्ण के मधुर शृगार का चित्रण राजसी महलो मे बैठ कर नही होता, वृन्दावन के कुजो मे ही जाकर हो सके तो हो सके। जो भी हो, परवर्ती रीतिकालीन कवियो को साहित्य के क्षेत्र मे उन्मुक्त शृगार को, और वह भी राधा-कृष्ण का नाम लेकर, प्रस्तुत करने का नैतिक साहस अपने पूर्व के वैष्णव काव्य मे निहित रस-परिकल्पना से मिला, यह स्वीकार करना ही पडता है।

तो, परवर्ती साहित्यकार ने उन्मुक्त शृगार के चित्रण का नैतिक साहस हमारे काल की मधुर रस की परिकल्पना से पाया, परवर्ती वृन्दावनी साम्प्रदायिक साहित्यकार ने भी और दरबारी साहित्यकार ने भी। कृष्ण-भक्ति की मधुर-परिकल्पना ने साम्प्रदायिक क्षेत्र को भी आच्छन्न किया, साहित्यिक क्षेत्र को भी। साम्प्रदायिक क्षेत्र मे न केवल कृष्ण-भक्ति के ही क्षेत्र को अपितु राम-भक्ति के क्षेत्र को भी। परवर्ती साहित्य मे निहित रस-परिकल्पना को दिशा और नैतिक साहस देने के रूप मे १६वी-१७वी शती के मधुर भक्ति काव्य की रस-परिकल्पना का प्रभाव उल्लेखनीय है।

अपने आलोच्यकाल के वैष्णव साहित्य मे रस-परिकल्पना के तुलनात्मक विवेचन और परवर्ती साहित्य मे रस-परिकल्पना पर इसके प्रभाव के निरूपण के अनन्तर अब हम इस स्थिति मे है कि अपने समूचे अध्यन के आधार पर कुछ निष्कर्षात्मक बाते कर सके।

(ग) निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते है कि १६वी-१७वी विक्रमी शताब्दियो मे निर्मित हिन्दी वैष्णव साहित्य रस-परिकल्पना की दृष्टि से एक अत्यन्त उच्च कोटि का साहित्य है। भक्त-कवियो ने इसमे उस अप्राकृत एव दिव्य रस की अनुभूति को वाणी दी है जिसका निरूपण उपनिषदे परात्पर तत्त्व कह कर करती है और 'रसो वै स' कह कर उसका स्वरूप बताती है। इसी तत्त्व की व्याख्या विभिन्न वैष्णव-दर्शनो ने बुद्धि के परितोषण के लिए नही, भाव-साधना के लिए की है। इस वैष्णव-साहित्य के स्रष्टा कवि उन्ही के आदर्श को अपना कर अपने काव्य मे रस की सृष्टि करते है। अत इस काव्य मे वह

रस परिकल्पित नही है जो सामान्यत अन्यत्र काव्य मे पाया जाता है ।

इस वैष्णव-रस के सच्चे आस्वादयिता तो साधक भक्त ही हो सकते हे, काव्य-रसिको को इसकी अनुभूति हो ही नही सकती । यह रस अपने मूल रूप मे साधना एव सस्कार-सम्पन्नता का विषय है । एक काव्यानुशीलन-समर्थ सहृदय पाठक इसमे केवल काव्यरस का ही आस्वादन कर सकता है । उसे भक्ति-रस की अनुभूति भी एक काव्यरस-रूप भक्ति-रस के रूप मे ही हो सकती है ।

वैष्णव रस के दो रूप हे—एक रामभक्तिरस, दूसरा कृष्ण भक्तिरस । रामभक्तिरस का स्वरूप आदर्शमय, मर्यादा-पूर्ण, लोक कल्याण सम्पन्न एव शुभोदर्की है । सहृदय को भक्ति की अनुभूति इसी की परिकल्पना मे सबसे अधिक, सबसे सहज, एव सबसे प्रकृत होती है । कृष्ण-भक्तिरस की परिकल्पना का अधिकाश साम्प्रदायिक है । उसमे प्रमुखतया वात्सल्य, सख्य और मधुर की परिकल्पना आती है । इन तीनो मे भी मधुर की प्रधानता है, जो सब भक्ति-रूपो से अधिक साम्प्रदायिक है । मधुरोपासना भक्तिमार्ग की एकान्त-साधना है । उसमे लोक-निरपेक्षता एव मर्यादोल्लघन है । भावुक रसिको के लिए उसमे सान्द्रता अधिक अनुभव होती है, किन्तु सामान्य सहृदय उस सान्द्र अनुभूति तक पहुँच नही पाता । उसे इस काव्य के अधिकाश मे शृगारमयी अनुभूति ही होती है ।

सब मिला कर वैष्णव साहित्य भाव, भाषा, सगीत, कल्पना और मर्म-स्पर्शिता की दृष्टि से ही एक उच्च कोटि का साहित्य नही है, रस-परिकल्पना की दृष्टि से भी अत्यन्त उच्च-कोटि का साहित्य है । एक अश को छोडकर इस साहित्य मे मगलमयी अनुभूतियो का समावेश है जिनके आस्वादन से सामाजिक को दिव्य पवित्रता की अनुभूति होती है । इस दृष्टि से तुलसी और सूर दोनो ही भक्त-प्रवरो की रस-परिकल्पना उल्लेखनीय है ।

हिन्दी साहित्य मे यदि कही आत्मा का निश्छल साहित्य है, यदि कही स्वानुभूति-मूलक सहज रस-कल्पना है, तो वह वैष्णव-साहित्य मे । वैष्णव-साहित्य की १६वी-१७वी शतियाँ अपनी इस उत्कृष्ट रस-परिकल्पना के कारण ही हिन्दी-साहित्य ही नही, विश्व साहित्य के इतिहास मे उल्लेखनीय रहेगी । इस साहित्य की रस परिकल्पना मे भाव-साधना के सहारे चरम आत्मोत्कर्ष की सम्भावना निहित है । ऐसे भाव-साधको के लिए यह रस-परिकल्पना मात्र काव्य-रस की परिकल्पना नही हे, वह मात्र ब्रह्मानन्द-सहोदर रस की ही उपलब्धि नही करायेगी, ब्रह्मानन्दोत्तीर्ण रस का आस्वादन कराती हुई जीवन का लक्ष्य भी सफल बनायेगी । अब भी साम्प्रदायिकता की शैवाल के नीचे उसका अमृत पेय सुरक्षित है । आवश्यकता है, आस्वादन करने वाले मे उसके आस्वादन की क्षमता और पात्रता की । कहते है, सिंहिनी का दूध स्वर्ण-पात्र मे ही ठहरता हे । वैष्णवरस के मूल रूप मे ठहराने के लिए ऐसा ही स्वर्ण-पात्र चाहिए ।

यह पात्रता उसी की कृपा से मिल सकती है जिसका इस काव्य मे गान गाया है ।

परिशिष्ट (क)

कबीर-काव्य में रस-परिकल्पना

जिस प्रकार राम-काव्य की धारा मे आदर्श कवि तुलसी है उसी प्रकार सन्त काव्य की धारा मे आदर्श-स्थान कबीर का है। एक प्रकार से कबीर की काव्य-प्रवृत्तियो के अध्ययन मे ही सन्त-काव्य का अध्ययन हो जाता है। अत हम उन सन्तो के प्रतीक रूप मे कबीर को यहाँ ले रहे है जिनमे राम-कृष्ण का नाम लेकर प्रेमाभिव्यक्ति पायी जाती है। कबीर की रस-परिकल्पना के विवेचन से हम इस प्रकार के सन्तो की रस-परिकल्पना समझने मे सहायता ले सकते है।

कबीर ने भी राम-कृष्ण-हरि-गोविन्द आदि वैष्णव नामो को स्वीकार करते हुए अपने निर्मल प्रेम की अभिव्यक्ति की हे। किन्तु हम उन्हे तथा उनके अनुयायियो को अपने शोध-प्रबन्ध की परिधि मे इस कारण नही ला सके कि उनमे वैष्णवत्व की चेतना का मूल स्वर नही है। यो कबीर ने अपने को वैष्णवनुरागी प्रदर्शित किया हे और वैष्णवो की यत्र-तत्र प्रशसा भी की है—'वैष्णव की छपरी भली, ना साकत बड गाऊ' ये उनके शब्द प्रसिद्ध हे। फिर भी उन्हे वैष्णव कवि नही कहा जा सकता। हमने वैष्णवत्व की तीन प्रमुख चेतनाएँ निर्धारित की हे

१ उपनिषत्प्रतिपादित गुणातीत ब्रह्म-रूप के प्रति आस्था।

२ उसके पुराण-प्रतिपादित सगुण-साकार रूप मे अधिक श्रद्धा।

३. भारतीय भाव-साधना मे अत्यन्त प्राचीन काल से घुला हुआ अनुराग-तत्त्व।

कबीर मे इनमे से केवल पहली और तीसरी चेतनाएँ मिलती ह। हम पुराण-प्रतिपादित सगुण रूप मे श्रद्धा न होने के कारण उन्हे वैष्णव नही कह सकते। किन्तु राम-कृष्ण का नाम लेकर प्रेमाभिव्यजन करने तथा वैष्णवो के प्रति अनुराग प्रकट करने के कारण कबीर मे जो वैष्णवता का सस्पर्श प्रतीत होता है उसी के आग्रह से हम यहाँ परिशिष्ट-रूप मे उनके काव्य मे रस-परिकल्पना का निरूपण करने का प्रयास कर रहे हे।

जहाँ तक 'रस' शब्द के प्रयोग का प्रश्न है कबीर ने इसे भौतिक सुख, मायाजन्य आकर्षण, रसनेन्द्रिय-आस्वाद्य मधुर-आदि से लेकर हरि, हरि-नाम, प्रेम-तत्त्व, अद्वैतानुभूति तथा हठयोगी-प्रक्रिया से उपलब्ध आदि विविध अर्थो मे प्रयुक्त किया है। फिर भी उनका प्राप्तव्य 'रस-तत्त्व' आत्मानुभूति-मूलक आनन्द ही है जिसका उल्लेख प्राय तीन शब्दो से किया है—'रस', रसाइण', 'महारस'।

कबीर का यह रस-तत्त्व उनके काव्य मे मुख्य-रूप से चार रूपो मे निरूपित हुआ हे

१ **अद्वैत आत्म-तत्त्व**—यह 'रस' आनन्द स्वरूप, गुणातीत, अकल, एव निरजन है। यह ज्ञान-योग की चरम उपलब्धि है।

२ **हठयोगी साधन मार्ग से उपलब्ध 'रस'**—इसकी चर्चा सामान्यत दो रूपो मे है

(क) ब्रह्म-रन्ध्र से झरने वाले अजस्र द्रव के रूप मे।

(ख) हठयोग से उपलब्ध आनन्दानुभूति के रूप मे।

३ ***हरि या राम तत्त्व***—वैष्णव भक्तो के समान ही कबीर ने भी राम को 'रस-रूप' कहा है। यह प्रेम-योग की चरम उपलब्धि है।

४ **प्रेम-तत्त्व**—भक्तो की भावना मे प्रकाशित प्रेम-तत्व स्वय ही 'रस' है। यह परम-तत्व की उपलब्धि का साधन होते हुए अपनी मधुरता और महत्ता के कारण साध्य समझा जाता है।

इस प्रकार कबीर की रस-दृष्टि ज्ञानमार्ग, साधनामार्ग, तथा भक्तिमार्ग की त्रिमुखी चेतनाओ से आकलित है। इन त्रिमुखी चेतनाओ का केन्द्र-बिन्दु एक है—आत्मा के निष्कल एव परिपूर्ण स्वरूप की अनुभूति। हठयोगी साधना के प्रक्रिया-योग से उपलब्ध आनन्द-तत्त्व तथा ज्ञानयोग से उपलब्ध आनन्द-तत्व तो एक है ही, भाव योग से उपलब्ध आनन्दमय परम-तत्त्व भी स्वरूपत निर्गुण, निराकार एव अद्वैत है। केन्द्र-बिन्दु की इस एकता के कारण कबीर की रस-परिकल्पना बिखरी नही है।

कबीर के काव्य मे उनकी अनुभूति की दो दिशाएँ निर्धारित की जा सकती है—एक तथ्यानुभूति की, दूसरी भावानुभूति की। तथ्यानुभूति मे उन्होने आत्मा के अद्वैतत्व को साक्षात्कार किया है, ऐसा उनका दावा है। और, उनकी वाणी अपने पाठक के मन पर जो विश्वसनीय प्रभाव छोडती है, उसे देखते हुए उनके इस दावे को झुठलाने का हमारे पास कोई आधार भी नही है। भावानुभूति मे एक ओर तो गुणातीत राम-तत्त्व के प्रति गहरी प्रेमानुभूति आती है, दूसरी ओर लोक के प्रति। लोक-प्रेम की कबीर की अनुभूति को दो रूपो मे हम पाते हे—कभी तो सीधे-सीधे जीव-दया, करुणा आदि के रूप मे, कभी लोक-मगल के विघातक तत्त्वो के प्रति रोष-आक्रोश के रूप मे। उनकी अनुभूति को इस विवेचन के आधार पर इस रूप मे वर्गीकृत किया जा सकता है

१ **तथ्यानुभूति**

(क) आत्मा के अद्वैतत्व और जगत् के मिथ्यात्व की अनुभूति।

(ख) प्रक्रिया-योग से उपलब्ध सत्य की अनुभूति।

२ **भावानुभूति**

(क) निर्गुण परम-तत्व के प्रति प्रेमानुभूति।

(ख) लोक के प्रति प्रेमानुभूति

१ लोक-परक शुभ भावो के रूप मे।

२ लोक-मगल विघातक तत्त्वो के प्रति रोष-आक्रोश के रूप मे।

तथ्यानुभुति मे आत्मा के अद्वैतत्व और जगत् के मिथ्यात्व की अनुभूतिया ज्ञानयोग-मूलक है। अद्वैत की ज्ञानात्मक अनुभूति और प्रक्रिया-योग से उपलब्ध सत्य की अनुभूति के अलग-अलग रूप निम्न स्थलो पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाते है

(क) "पाणी ही तै हिम भया, हिम ह्वै गया विलाइ।
जो कछु था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ॥"[1]

---

१ कबीर-ग्रन्थावली का० ना० प्र० स० ' स० २०१३, पृ० १४।

"जल मे कुभ कुभ मे जल हे बाहरि भीतर पानी ।
फूटा कुभ जल जलहि समाना यहु तथ कथौ गियानी ।।"[१]

(ख) "अगनि जु लागी नीर मे कन्दू जलिया झार ।
उतर दखिन के पडिता रहे विचारि विचारि ।।"[२]

"गगन गरजि अमृत चुवै, कदली कवल प्रकास ।
तहा कबीरा बन्दिगी, कै कोई निज दास ।"

पहले प्रकार की वाणिया ज्ञान-मूलक है, इस की ओर स्वय कबीर ने 'यहु तथ कथौ गियानी' कह कर सकेत किया है । इस कोटि की वाणियाँ प्राय सीधी, सरल एव काव्यात्मक है । उनके प्रतीक बडे स्वाभाविक है । दूसरे प्रकार की वाणियाँ हठयोग द्वारा उपलब्ध सत्यो के अनुभव प्रस्तुत करती है । इस कोटि की वाणियाँ प्राय दुरूह, टेढी और अपरिचित प्रतीको वाली है जिनमे कवित्व दब गया है ।

तथ्यानुभूति-परक इस उभय-विध काव्य को रस-व्यजक नही, वस्तु-व्यजक ही समझना चाहिए । यह वस्तु-व्यजना एक मे तो प्राय अभिधा के द्वारा काव्योपयोगी प्रतीको के माध्यम से हुई है, दूसरे मे कबीर के अपने युग मे प्रचलित, लक्षणा के अतिभार से दबे, उलटवासियो के कतिपय प्रतीक-रूपको के माध्यम से ।

उलटवासियो के प्रकार की उक्तियाँ कबीर-जैसे लोगो के लिए उस युग का एक प्रचलित माध्यम थी । हो सकता है, रहस्यात्मक सत्यो की अनुभूतियाँ अभिव्यक्त होते-होते कुछ बकिम हो उठे, किन्तु इनमे तो सप्रयास और सोद्देश्य टेढा-मेढा रास्ता अपनाया जाता था । कहने वाला अपने श्रोता के मन मे आश्चर्य और चमत्कार उत्पन्न कराते हुए अपनी बात उतारना चाहता था । कहना चाहिए, अद्भुत रस की सृष्टि द्वारा वस्तु-व्यजना करना चाहता था । तब यह स्वाभाविक ही था कि ऐसी उक्तियो मे रस-व्यजना वस्तु-व्यजना के प्रति गौण हो जाय । और वह भी उस वस्तु-व्यजना के प्रति जो स्वय दुरूह लक्षणाओ के टेढे-बकुचे मार्ग से आ रही हो । यही कारण है कि इस काव्य-रूप मे अभिव्यजना जटिल है । ऐसे स्थलो पर कवि तो रस-व्यजना और वस्तु-व्यजना दोनो देना चाहता है, किन्तु उसकी प्रेषणीयता मन-चाहे रूप मे नही होती । वस्तु-व्यजना के प्रति गौण इस रस-व्यजना का प्रभाव भी शैली की दुरूहता मे खो जाता है । सिद्धान्तत भी शैली का अति-भार रसानुभूति के लिए घातक होता है । अत उलट-बासियो मे कबीर की रस परिकल्पना का स्वरूप उत्कृष्ट नही है, केवल लडखडाती वस्तु-व्यजनाएँ भर हे ।

कबीर की वाणियो मे सच्ची रस-परिकल्पना के दर्शन उनकी तथ्यानुभूति परक वाणियो मे नही, भावानुभूति-परक वाणियो मे होते है । यह भावानुभूति निर्गुण परमसत्ता के प्रति तथा लोक के प्रति दो रूपो मे सामने आती हे ।

परम तत्त्व के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति

परम तत्त्व के प्रति प्रेमानुभूति के क्षेत्र मे कबीर का प्रेमी रूप वहाँ सामने आता है जहाँ उनका अद्वैतवाद शिथिल पड जाता है । अद्वैत की अनुभूति बुद्धि-मार्ग की चरम उपलब्धि है

---

१ कबीर-ग्रन्थावली का० ना० प्र० स० स० २०१३, पृ० १०३ ।

२ वही, पृ० ११ ।

जिमे हृदय का विश्वास बनाते-बनाते कुछ न कुछ द्वैत-छाया आ ही जाती है, साथ ही कुछ रहस्य की झलक आना भी स्वाभाविक है।

कबीर ने अपने प्रिय को रामादि वैष्णव नामो से स्मरण किया है, पर उसे पौराणिक चेतना का जामा नही पहनने दिया। उसे द्वैत की भूमिका मे लाकर उसके प्रति मधुर कान्ताभाव की अनुभूति उन्होने की है जो भारतीय चेतना के अनुरूप होते हुए सूफियो से बहुत-कुछ मेल खाती है।

माधुर्य-मूलक कान्तारति का आश्रय कबीर की प्रेमिका आत्मा स्वकीया एकव्रता और पतिव्रता है। दूसरी ओर उसका आलम्बन प्रियतम स्थूलता से परे है। फल यह हुआ है कि कबीर के कान्ताभाव मे लोक-मर्यादा एव लोकानुभूति पर किसी प्रकार से अशुभ प्रभाव पडने की सम्भावना नही है, जैसी कि कतिपय मधुर-मार्गी वैष्णवो के कान्ताभाव मे हो जाती है। एकागी पातिव्रत मे डूबी कबीर की प्रेयसी आत्मा की भावानुभूतियाँ लोकानुभूति पर गहरा शुभ प्रभाव छोडती है।

कबीर के कान्ताभाव की अभिव्यजना सयोग तथा वियोग दोनो रूपो मे हुई है। यो तो सयोग के चित्र भी कम रसान्वयी नही है किन्तु विरह मे तो कबीर की आत्मा ही नाना भाव-चित्रो के रूप मे व्यक्त हुई है।

कबीर की सयोग-भावना की दो विशेषताएँ है—एक स्थूल दैहिकता का अभाव, दूसरे यदा-कदा ज्ञानयोग और प्रक्रियायोग के उभार। उदाहरण के लिए उनका निम्न पद लिया जा सकता है

"मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहि रे।
चरन कवल मन मानिया, और न भावै मोहि रे।
पटदल कवल प्रकासिया, चहु कौ फेरि निबाहि रे।
दहु के बीच समाधियाँ, तहाँ काल न पासै आइ रे।

इस पद मे पहले भाव-स्वर पर प्रिय के प्रति प्रनुभूति है, फिर शेष पद मे प्रक्रिया-योग की बाते उभर आयी हे। इन उभारो का कारण है—कबीर आत्म-दर्शन के आनन्द की अभिव्यजना तीन प्रकार से करते है—कभी शुद्ध ज्ञान के सहारे, कभी प्रक्रियायोग के सहारे, कभी शुद्ध प्रेम के सहारे। इन तीनो का अवलम्ब लेने के कारण कभी-कभी एक प्रकार से बात कहते-कहते दूसरो की बाते उभर आती है, जो उनके लिए अस्वाभाविक नही है। पर प्रेषणीयता की दृप्टि से उनका मुख रस-व्यजना से वस्तु-व्यजना की ओर हो जाता है।

कबीर के कतिपय सयोग-रूपको मे सयोग-भावना अभिव्यजना के स्तर पर ही रह जाती है। उदाहरण के लिए उनका यह प्रसिद्ध पद लिया जा सकता है

"दुलहिनि गावहु मगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रत करि हौ मन रत करिहौ, पच तत्त्व बाराती।
रामदेव मोरे पाहुने आये, मै जोबन मदमाती।
सरीर सरोवर वेदी करिहौ ब्रह्मा वेद उचारा।
रामदेव सग भावरि लेहूँ धनि धनि भाग हमारा।

इस पद मे आत्मा और परमात्मा के बीच मिलन की बात एक विवाह के रूपक द्वारा कही गयी है। रूपक सयोग-परक है, पर उसका स्थान अभिव्यजना शैली के भीतर है। आत्मा

और परमात्मा के मिलन की बात एक वस्तु-व्यजना के रूप मे ही प्रस्तुत की गयी है। फिर भी औत्सुक्य, हर्ष आदि सचारियो के माध्यम मे पर्यवमित भाव-चित्र सयोग-परक माधुर्य-भाव का बनता है।

जिन पदो मे प्रक्रियायोगादि की बाते उभर कर नही आयी है उन सयोग-परक चित्रो मे बडी प्राजलता और मधुरता है। इम प्रकार के अनेक स्थल मिल सकते है

"बहुत दिनन मे प्रीतम पाये।
भाग बडे घर बैठे आये।"
"अब तोहि जान न दैहू रॉक पियारे
ज्यू भावै त्यू होहु हमारे।"

फिर भी सब मिला कर ऐसे पदो की सख्या कम ही है। सामान्यत कबीर मे सयोग के चित्र भी अधिक नही है।

कबीर की विरहिणी आत्मा के भाव-सचार बडे ही मार्मिक है। उनमे हठयोगी प्रक्रिया के उभार सामान्यत दिखाई नही पडते। फल यह हुआ है कि उनकी वियोग-मूलक रस-कल्पना शुद्ध भावात्मक रही है। उसमे वेदना की गहरी विवृति पायी जाती है। विरहिणी प्रिय की प्रतीक्षा मे पथ पर खडी है। आने वाले पथिको से दौड-दौडकर पूछती है, उसके प्रिय कब आएगे ? उसने बडी लम्बी प्रतीक्षा की है, प्रिय-मिलन के लिए उसका जी तरस उठा है। कभी वह निराशा मे भर जाती है, मरने के पीछे प्रिय आये तो क्या ? पाहन न रहेगा तब क्या होगा पारस का ? प्रिय का नाम रटते-रटते उसकी जीभ मे छाले पड गये है, आखे भीगी हो उठी है।[1] वस्तुत कबीर ने वियोग-पक्ष मे कान्तारति की बडी ही वेदनापूर्ण अनुभूतियाँ दी है जिनमे सामान्यत ऊहाओ का अभाव है। कही यदि ऊहाएँ हे भी तो उनके मूल मे भाव की तीव्रता निहित है और यह ऊहा प्राय सवेदनात्मक है

"यह तन जालौ मसि करौ, ज्यू धूआ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै करसि बुझावै अग्गि।"[2]

कबीर ने विरह को सैद्धान्तिक रूप मे महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया है

"विरहा बुरहा जिनि कहौ, विरहा हे सुलितान।
जिस घट विरह न सचरै, मो घट सदा मसान।"[3]

भगवत्प्रेम के अन्य रूप

कान्ताभाव के अतिरिक्त कबीर ने भगवान् के प्रति दो अन्य भावो को और अपनाया है—दास्यभाव और पुत्रभाव। तीनो मे मधुरता की दृष्टि से कान्तारति का स्थान सर्वोत्कृष्ट है, किन्तु अन्य दोनो रतिरूपो की अनुभूति और अभिव्यजना भी निर्बल नही है, हाँ मात्रा मे अवश्य कम है।

दास्य-भाव मे अन्यत्र के अक्खड कबीर अपने प्रभु के सामने कितने सरल और विनम्र है, यह देखने की बात है। वे अपने को राम के कुत्ते के रूप मे प्रस्तुत करते है

---

१. कबीरग्रन्थावली विरह कौ अग साखी ५, ६, ७, ८, २०।
२ वही, पृ० ८।
३. वही, पृ० ६।

"कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नॉव ।
गले राम की जेबडी जित खेचै नित जाव ।"[1]

निम्न मखियो मे कबीर का पुत्र-भाव अत्यन्त भावुकता के साथ व्यक्त हुआ है

"पूत पियारौ पिता कौ गौहनि लागा जाइ ।
लोभ मिठाई हाथ दै आपण गया भुलाइ ।।
डारी खाड पटकि करि अन्तर रोम उपाइ ।
रोवत रोवत मिलि गया पिता पियारे जाइ ।।"[2]

दास्यभाव और पुत्रभाव दोनो प्रकार की अनुभूतियो मे राम के महत्व और आत्म-लघुत्व की सहज स्वीकृति है । दोनो मे प्रेम का बडा ही सरल, स्वाभाविक एव लोकानुभूत रूप अकित हुआ है । इस कोटि की उक्तिया मात्ना मे कम ही है किन्तु उनकी भाव-व्यजना बडी प्रकृत है ।

निर्वेद

निर्वेद के आधार पर कबीर की दो प्रकार की रस-कल्पना हमारे सामने आती है—शान्तरस की और शान्त भक्तिरस की । स्वतन्त्र शान्त मे जगत् की अनित्यता, निस्सारता एव अतात्त्विकता का बडे ही शक्तिशाली ढग से निरूपण हुआ है । अद्वैत तत्त्व की अनुभूति के तत्त्वज्ञानमूलक कुछ वचन भी इसके अन्तर्गत रखे जा सकते है । दूसरे प्रकार की शान्त भक्तिरस की उक्तियाँ है जिनमे निर्वद रामरति का अग पोषक या उभारने वाला होकर आया है । दोनो के अन्तर को निम्न रूपो मे स्पष्ट देखा जा मकता है

(क) 'कबीर नौबति आपनी दिन दस लेहु बजाइ ।
ए पुर पाटन ए गली बहुरि न देखौ आइ ।"
(ख) "जिनकै नौबति बाजती मगल बजते बारि ।
एकै सरि के नाव बिन गए जन्म मब हारि ।"

लोक के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति

कबीर काव्य का एक बडा अश लोक-प्रेम की अनुभूति से भरा हुआ है । कबीर के सम्बन्ध मे यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि वे एक चरम सीमा पर पहुँचे अद्वैतवादी होते हुए भी बडे भारी लोक-प्रेमी थे । अद्वैतवाद सामान्यत जगत् के प्रति मिथ्यात्व की चेतना देता है, अत ज्ञानी मे लोक से उदासीनता ही जागती है । यही कारण है कि शकर की परम्परा मे बडे-बडे ज्ञानी हुए, किन्तु समाज की समस्याओ ने उनमे से कम को ही सताया । पर कबीर एक ज्ञानी नही, एक भावुक भक्त भी थे । उनका उदार हृदय लोक-प्रेम से परिसिंचित था ।

अपने निजि दु ख-सुख की सकुचित परिधि के बाहर आकर जन-सामान्य के दु ख-सुख मे नि स्वार्थ भाग लेना और इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ को एकाकार कर लेना लोक-परायणता की एक उत्कृष्ट कसौटी है । ऐसे लोक-हृदय व्यक्तियो मे लोक-प्रेम की अनुभूति प्राय दो रूपो मे उदित होती है। कभी तो प्रेम, दया, करुणा आदि के रूप मे, कभी लोक-

---

१-२. कबीर ग्रथावली, पृ० १०।

मगल-विघातक तत्त्वो के प्रति रोष-आक्रोश के रूप मे। इस दूसरी स्थिति मे उनमे पीडित के प्रति करुणा एव सहानुभूति होती है, पीडक के प्रति गहरा रोष। इन सभी प्रकार की भावाभिव्यक्तियो का बीज-भाव या मूल-भाव लोक-प्रेम ही होता है। कबीर के काव्य मे इस लोक-प्रेम के विविध चित्र है जिनकी अभिव्यक्ति बडी समर्थ है और प्रेषणीयता बडी सफल।

कबीर की लोकरति के इस प्रकार दो रूप है—एक तो आर्त, पीडित के प्रति प्रेम-सहानुभूति-करुणा का, दूसरा शोषक-पीडक तत्त्वो के प्रति रोष-आक्रोश का। पहले मे लोक-मगल मे सम्बद्ध शुभ भाव और रूढि-मजहब-समाज के शिकार दुखी प्राणियो के प्रति व्यथा और करुणा के दर्शन होते है, दूसरे मे उन तत्त्वो के प्रति क्षुब्ध प्रतिक्रिया के जिन्हे वे लोक-मगल के विपरीत समझते है। कबीर ने रीति-रिवाज, जाति-पाँति, छुआ-छूत, भेद-भाव सब के प्रति गहरा आक्रोश सजोकर मुल्ला और पाडे दोनो को फटकारा है। वेद-कतेब, माला-तसबीह, नमाज-रोजा, छापा-तिलक और मूर्तिपूजा जैसे बाह्य आचारो के ऊपर उन्होने एकबारगी कठोर चोट की है। हिसा उन्हे भारी व्यथा देती है और वे हिंसक के प्रति बडे ही कठोर है। ये सब अभिव्यक्तियाँ कबीर की लोक-रति की अनुभूति की विविध उच्छलनाएँ है।

मात्रा की दृष्टि से लोक-प्रेम की सीधी अभिव्यक्तियो की अपेक्षा लोक-विरोधी तत्त्वो के प्रति रोष-आक्रोश वाली अभिव्यक्तियाँ अधिक है। इन अभिव्यक्तियो मे अपनी मिठास है। इनमे प्राय 'रस-व्यजना' न होकर 'भाव-व्यजना' है। किन्तु इन भाव-व्यजनाओ के विषय मे विशेष बात यह है कि ये कवि की स्वानुभूति और अकृतक भावावेश से उद्भूत है। अकृतक भावावेश से निसृत साहित्य मे ही स्थायी प्रभवन-शीलता होती है। मध्यकाल के अनेक भावुक भक्तो की समर्थ प्रभवनशीलता का यही रहस्य है कि उनके मूल मे निहित भावावेश कवियो का स्वानुभूत एव अकृतक है।

कबीर की इस कोटि की भाव-व्यजना केवल काव्य-रचना के लिए नही है, उसका उद्देश्य है। वे अपनी समर्थ वाणी के द्वारा सामाजिक अमगल पर निर्मम आघात करके उसके जीर्ण अस्थि-पजरो को एकबारगी चूर्ण कर देना चाहते है। उनकी ये अभिव्यक्तियाँ लोक-प्रेम से प्रेरित होने के कारण व्यक्तिगत न रहकर लोक-सामान्य के हृदय को सस्पर्श करने की क्षमता से सम्पन्न है। इनमे पाठक की लोक-विरोधी तत्त्वो के प्रति विक्षुब्ध चेतना को परितोष मिलता है।

इस प्रकार कबीर-काव्य मे निहित रस-परिकल्पना को रसो की दृष्टि से निम्न रूप मे वर्गीकृत किया जा सकता है

१ तथ्यानुभूति मूलक अभिव्यक्तिया

(क) अद्वैत-तत्त्व के साक्षात्कार से सम्बन्धित उक्तिया — वस्तु-व्यजनाएँ, शान्त-रस

(ख) जगन्मिथ्यात्व-मूलक निर्वेद-मयी उक्तियाँ — वस्तु-व्यजनाएँ, शान्तरस

२ प्रेमानुभूतिमूलक अभिव्यक्तिया

(क) परमात्मप्रेम-मूलक

१ निर्वेद-पुष्ट भगवद्रति की व्यजनाएँ।

२ आत्मलघुतापरक दास्यरति की व्यजना।

३ सरलता-लघुता-परक पुत्र-भाव की व्यजना।
४ माधुर्यमूलक कान्तारति की व्यजनाएँ।

कबीर की इन अभिव्यजनाओ मे प्रेषणीयता की दृष्टि से पूरी सफलता हे। केवल प्रक्रिया-योग पर आधारित उलटबासियो आदि मे अभीष्ट प्रेषणीयता नही है। इनमे कबीर का उद्देश्य है विस्मय की सृष्टि करते हुए कतिपय तथ्यो को प्रभावशाली ढग से श्रोता के हृदय मे उतारना। यह उद्देश्य अभिव्यजना शैली की दुरूहता के कारण असफल हो गया है। चमत्कार के फेर मे पडकर इनमे सवेद्य खो गया है। शेष अभिव्यजनाओ मे प्रेषणीयता की दृष्टि से कबीर को पूरी-पूरी सफलता मिली हे।

अद्वैत-तत्त्व के साक्षात्कार-सम्बन्धी वस्तु व्यजनाओ मे सहृदय-गत प्रेषणीयता भावोद्बोध के रूप मे न होकर प्राय तथ्य-बोध के रूप मे होती हे। इन उक्तियो मे जहाँ अभिव्यजना काव्योपयोगिनी है वहा पाठक अभिव्यजना सौन्दर्य से अवश्य प्रभावित होता है। जगन्मिथ्यात्वमूलक शान्तरस की अभिव्यक्तियो का प्रभाव पाठक पर इन से गहरा पडता है। इन की अभिव्यजना सरल एव परिचित प्रतीको के माध्यम से हुई है। इनमे जीवन के गभीर एव चिरन्तन सत्य निहित है। इनका कवित्व जनसामान्योपयोगी एव सर्वांगीण होने के कारण साधारणीकरण की पूर्ण सभावनाओ से युक्त है।

प्रेमाभिव्यजक अभिव्यजनाओ मे सहृदय पाठक को प्रभावित करने की सफल क्षमता है। निर्वेद-परिपुष्ट रामरति की उक्तियाँ पाठक पर शुभ प्रभाव अकित करती है। दास्य-मूलक एव पुत्रभाव-मूलक वाणियो मे भी अभीष्ट सवेदन-शीलता भरी है। कबीर की प्रेम-मूलक उक्तियो मे द्वैत-चेतना बाधक नही होती। वस्तुत वही सरसता की सच्ची समर्पक सिद्ध होती है।

कबीर की रस-परिकल्पना का चरम सौन्दर्य कान्ताभाव की अभिव्यक्तियो मे ही उपलब्ध होता हे। सयोग और वियोग दोनो ही मे प्रिय की निराकारता के कारण रहस्य की गुजाइश हुई है, किन्तु उनकी मधुरिमा एक बडी दूरी तक अक्षत रही हे। सयोग उदात्त है और उसकी परिणति प्राय बौद्धिक हो जाती हे। उसमे कभी-कभी ज्ञानयोग और प्रक्रियायोग के उभार झलक आते है। किन्तु वियोग शुद्ध भावात्मक रहा है। सयोग मे स्थूलता नही है, वियोग मे भावुकतापूर्ण वेदना है। वियोग की अभिव्यक्तियाँ पाठक की चेतना को आप्लावित करती है और सच्चे अर्थो मे रसकोटि मे आती हे।

इस प्रकार कबीर के काव्य मे निम्न रसो की परिकल्पना पायी जाती है

१ शान्तरस जगन्मिथ्यात्वमूलक निर्वेद-परक एव तत्त्वज्ञानमूलक उक्तियो मे।
२ शान्तभक्तिरस निर्वेद के रामरति-समन्वित होने पर।
३ दास्यभक्तिरस आत्मलघुता-परक प्रेमानुभूतियो मे।
४ मधुरभक्तिरस माधुर्यमूलक कान्तारति की सयोग-परक एव वियोगपरक वाणियो मे।
५ अद्भुतरस उलटबासियो मे दुरूह वस्तु-व्यजनाओ द्वारा व्याहृत।
६ लोक-रति लोक-परक करुणा, प्रेम, सहानुभूति के रूप मे।
लोक-मल के विघातक तत्त्वो के प्रति रोष आक्रोश के रूप मे।

इन रस-व्यजनाओ एव भाव व्यजनाओ को छोड शेष कबीर का काव्य सामान्यत

वस्तु-व्यजना-परक है। उसमे रस-सृष्टि नही होती। रस-परिकल्पना से उनका बहुत दूर का सम्बन्ध है।

कबीर के काव्य मे वस्तुत दो भक्तिरसो की ही रस-परिकल्पना ही उल्लेखनीय है—एक शान्त की दूसरी मधुर की। मधुर रस मे यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। वैष्णव भक्तो के समान उसका आलम्बन सगुण-साकार नही है। अत भक्त के पक्ष मे रति का रूप बहुत कुछ एक ही दिशा का होते हुए भी वही रूप नही रह गया जो वैष्णव मधुरा भक्ति का है। यह मधुर रस भक्तिकाव्यशास्त्र के ग्रन्थो मे भी निरूपित नही किया गया। इस प्रकार की भाव-चेतना को वैष्णव भक्तो के लिए प्रकृत समझने की नौबत ही नही आयी। केवल कान्ताभाव के कारण इस परिकल्पना को हमने यहाँ मधुर रस नाम दिया है। इस मधुर-परिकल्पना मे रसस्य का समावेश हुआ है, अत इसे यदि अलग करना ही चाहे ता रहस्यवादी मधुर रस कह सकते है।

परिशिष्ट (ख)

सहायक-ग्रन्थ-सूची

सस्कृत ग्रन्थ

नाट्य-शास्त्र, भरत, गायकवाड, स० सी०, भा० १, द्वितीय स० १९५६ ई०, भा० २ प्रथम स० १९३४ ई०, भा० ३ प्रथम स० १९५४ ई०

—अभिनवभारती, अभिनवगुप्त

—हिन्दी अभिनवभारती, आ० विश्वेश्वर

काव्यालकार, भामह, वैलेस प्रिंटिंग हाउस तजोर, १९२७ ई०

काव्यादर्श, दण्डी, खेलाडीलाल एण्ड सन्स, काशी, १९८८ वि०

काव्यालकारसारसग्रह, उद्भट, भडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९५२ ई०

— लघुवृत्ति, भट्टेन्दुराज

काव्यालकारसूत्रवृत्ति, वामन, विद्याविलास प्रेस, बनारस, १९०७ ई०

काव्यालकार, रुद्रट, काव्यमाला, १९०९ ई०

ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, चौखम्बा, काशी, १९४० ई०

—लोचन, अभिनवगुप्त

— हिन्दी ध्वन्यालोक, आ० विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो दिल्ली, १९५२ ई०

काव्यप्रकाश, मम्मट, भण्डारकर रिसर्च इ०, १९५० ई०

—वामन झलकीकर टीका

— सकेत, माणिक्यचन्द्र, आनन्दाश्रम, १९२१ ई०

व्यक्ति-विवेक, महिमभट्ट, चौखम्बा स० सी०, १९९३ वि०

—व्यक्तिविवेकव्याख्यान, रुय्यक

—मधुसूदनी विवृति, मधुसूदन शास्त्री

शृ गारप्रकाश, भोज, भा० १, प्रकाश २२-२४, प्रथम प्रकाश भूमिका, ला प्रिं० हाऊस, बम्बई, १९२६ ई०

दशरूपक, धनजय, गुजराती प्रिं० प्रेस, बम्बई, १९२७ ई०

—अवलोक, धनिक

साहित्य-दर्पण, विश्वनाथ, सिद्धान्त-प्रेस, कलकत्ता, १८६७ शक

रसगगाधर, पडितराज जगन्नाथ की काव्यमाला, १९३० ई०

—गुरुमर्मप्रकाश, नागेश

सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, काव्यमाला, १९१५ ई०

सर्वदर्शनसग्रह, सायण-माधव, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९२४ ई०
ब्रह्मसूत्र, शाकर भाष्य, शकराचार्य, निर्णयसागर प्रे०, १९६८ ई०
—भामती, वाचस्पति मिश्र
वेदान्तसार, सदानन्द, ओरियेण्टल बुक डिपो, १९२९ ई०
श्रीमद्भगवद्रामानुजग्रन्थमाला, श्रीरामानुजाचार्य, अण्णगराचार्य द्वारा प्रकाशित, काचीपुर ग्रन्थ-माला आफिस, १९५६ ई०
—वेदार्थसग्रह, शारीरकमीमासा भाष्य 'श्रीभाष्य' वेदान्तदीप, वेदान्तमार, गीताभाष्य, शरणागतिमय, श्रीरगगद्य, श्रीवैकुण्ठगद्य, नित्यग्रन्थ
वेदान्तसूत्र मध्वभाष्य, श्रीमध्वाचार्य
वेदान्त दर्शन, द्वैताद्वैत-सिद्धान्त, 'वेदान्तपारिजातसौरभ' ब्रह्मसूत्र-भाष्य श्रीनिम्बार्काचार्य, विद्याविलाम प्रेस, १९२७ ई०
—वेदान्तसिद्धान्तरत्नमजूषा, पुरुषोत्तमाचार्य
—वेदान्तसुबोधिनी भाषा-व्याख्या, श्रीस्वामी सन्तदासजी
—ब्र० सू० द्वैताद्वैतदर्शनम्, सिद्धान्तसेतु, सुन्दर भट्ट, विद्याविलासप्रेस बनारस,
वेदान्त-दशश्लोकी, श्रीनिम्बार्काचार्य, विद्याविलाम प्रेस बनारस, १९२७ ई०
—वेदान्तसिद्धान्तरत्नमजूषा, पुरुषोत्तमाचार्य
ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य, श्रीवल्लभाचार्य जी, भाग १-१०, निर्णय मागर प्रेस, १९८३-१९९७
—भाष्यप्रकाश, गो० पुरुषोत्तमजी
—भाष्यप्रकाशरश्मि, श्रीगोपेश्वरजी
—विवरण, श्रीगिरिधरजी, निर्णयसागर प्रे०, स० १९४२
तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, सर्वनिर्णय प्रकारण श्री वल्लभाचार्यजी, सेठ नारायनदास तथा जेठानन्द आसनमल ग्रन्थमाला १२, स० १९९९
तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, प्रथम शास्त्रार्थ-प्रकरण, स० १९९९
—आवरण-भग
—योजना
श्रीमत्प्रस्थानरत्नाकर, पुरुषोत्तमाचार्यजी, निर्णयसागर, वल्लभाचार्य ४३५
वृहत्स्तोत्रसरित्सागर, न्यूज मुद्रणयन्त्रालय, वि० १९८३
—श्रीवल्लभाचार्य पुरुपोत्तमनामसहस्र, यमुनाष्टक, सिद्धान्तमुक्तावली, पुष्टिप्रवाह, मर्यादाभेद, सिद्धान्तरहस्य, सन्यासनिर्णय, निरोधलक्षणम्, परिवृढाष्टकम् श्रीमधुराष्टकम्, गायत्रीभाष्यम्
—श्रीविट्ठलाचार्य सर्वोत्तमस्तोत्र, राधाप्रार्थनाचतु श्लोकी, श्रीस्वामिनीप्रार्थन रस-सर्वस्वम् गुप्तरस, नव-विज्ञप्ति
— श्रीहरिरायजी, वल्लभशरणाष्टकम्
श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु, रूपगोस्वामी, अच्युत ग्रन्थमाला-कार्यालय काशी, वि० १९८८
—दुर्गम-सगमनी, श्रीजीवगोस्वामी
उज्ज्वलनीलमणि, श्रीरूपगोस्वामी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३२ ई०
—लोचनरोचनी, श्रीजीवगोस्वामी
—आनन्दचन्द्रिका, श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती

न्याय-दर्शन, 'न्याय-सूत्र', गौतम
—न्याय भाष्य वात्स्यायन
वैशेषिक-दर्शन, कणाद
—प्रशस्तपादभाष्य, विजयनगर सस्कृत सी०, १८५६ ई०
मीमासा-दर्शन, जैमिनि
—शाबर भाष्य, शाबरस्वामी
—वार्तिक, कुमारिल
—सुचरितमिश्र टीका
अर्थ-सग्रह, ल ्रभास्कर, निर्णय सा० प्रे०, बम्बई, १६५० ई०
न्यायबिन्दु, धर्मकीर्ति, चौखम्बा स० सी०, द्वि० स०, १६५४ ई०
—धर्मोत्तराचार्य-कृत टीका
प्रमाणवार्तिक, धर्मकीर्ति, स्वार्थानुमान-परिच्छेद, किताब महल इलाहाबाद, स० राहुलजी
—कर्णिकगोमिन् टीका
वार्तिकालकार, धर्मकीर्ति,
साख्य कारिका, ईश्वरकृष्ण, स० पुस्तकालय बनारस, १६५७ ई०
—तत्त्वकौमुदी, वाचस्पति मिश्र, सत्यप्रकाशन मन्दिर प्रयाग, १६५६ ई०
ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, भा० १, २, काश्मीर स सी०, अभिनवगुप्त, १६१८, २१ ई०
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी, अभिनवगुप्त, का० स० सी०, १६३८, ४१, ४३
तन्त्रलोक, अभिनवगुप्त, का० स० सी०
तन्त्र-सार, अभिनवगुप्त, १६४३ ई०
परमार्थसार, अभिनवगुप्त, का० स० सी०, १६१६ ई०
पराविशिका, का० स० सी०, १६१८, अभिनवगुप्त
प्रत्यभिज्ञाहृदय,
शिवदृष्टि, सोमानन्द, का० स० सी०
—उत्पल-वृत्ति, उत्पलाचार्य
साख्यकारिका, माठर वृत्ति, माठर आचार्य
मध्वतन्त्रमुखमर्दनम् अप्पय्य दीक्षित, हितचिन्तक प्रेस, बनारस, १६४१ ई०
भक्ति-विष्णुप्रियम्, जतीन्द्रविमल चौधरी, कलकत्ता, १६५८
काव्यानुशासन, हेमचन्द्र महावीर जैन विद्यालय, बबई, १६३८ ई०
तत्त्व-सन्दर्भ, श्रीजीवगोस्वामी, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, २०१४ वि०
श्रीमद् देवीभागवत, भा० १-२
शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, गीताप्रेस गोरखपुर, स० २०१२
नारदभक्तिसूत्र, गी० प्रे० गोरखपुर, वि० २००६
भक्ति-रसायन, श्रीमधुसूदन सरस्वती, भाग १, धनंजय प्रेस, खानापूर, १८५६ शक०
—मराठी अनुवाद सहित, अनु० सदाशिव रामकृष्ण देशपाडे
राधासुधानिधि, श्रीहितहरिवशजी, रा० व० आनन्दभवन, झगरहूटा विलासपुर, १६५० ई०
युग्मतत्त्वसमीक्षा, प० भागीरथ शर्मा, प्रेमधाम प्रेस वृन्दावन,
शक्तिवाद, गदाधर भट्ट, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६७० वि०

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, विश्वनाथ, नागेश्वर पाठशाला, बनारस, १९४० ई०
श्रीमद्भागवत,
—अष्टटीका-सहित, स० नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, देवकीनन्दन प्रेस, वृन्दावन
अभिज्ञान शाकुन्तल, कालिदास
शिशुपालवध, माघकवि

गुजराती ग्रन्थ

पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त, रणछोडदास वृदावनदास, गुज० प्रि० प्रेस, अहमदाबाद
श्रीमहाप्रभुस्तुतिमुक्तावली—२, पुष्टिमार्गीय पुस्तकालय नडियाद, वि० १९९८
श्रीसर्वोत्तमस्तोत, गुजराती टीका, लल्लुभाई छगनभाई देसाई, वि० १९९९, अहमदाबाद

अग्रेजी ग्रन्थ

"हिस्ट्री आफ सस्कृत पोइटिक्स", एस० के० डे०, १९६०
"हिस्ट्री आफ स० पोइटिक्स", पी० वी० काणे, १९५१
'दी नम्बर आफ रसाज", वी० राघवन, अडयार, १९४०
"सम् कन्सेप्ट्स आफ अलकार शास्त्र", वी० राघवन्, अडयार, १९४२
"कम्पेरैटिव-एस्थेटिक्स", के० सी० पाडे, चा० स० सी० बनारस, १९५०
"साइकलौजीकल स्टडीज इन रस", राकेश, १९५०
"भोज"स श्रृगारप्रकाश" वी० राघवन्, कर्नाटक प० हा० बबई, १९४०
"दी थियरीज आफ रस एण्ड ध्वनि", ए० साकरन, १९२९, मद्रास वि० वि०
"हिस्ट्री आफ इण्डियन् फिलास्फी, दास गुप्ता
"काश्मीर शैविज्म" जे० सी० चटर्जी, १९१४
"इण्डियन फिलास्फी", राधाकृष्णन
"हिस्ट्री आफ इण्डि० लाजिक", सतीशचन्द्र विद्याभूषण

हिन्दी ग्रन्थ

सूर-सागर, सूरदास, नागरी प्रचारणी सभा, भा० १-२, भा० १, द्वि० स० २००९ वि०
भा० २ प्रथम स०, २००७ वि०
परमानन्दसागर, परमानन्ददासजी, स० डा० गोवर्धननाथ शुक्ल, भारत प्र० मन्दिर, अलीग...
साहित्यलहरी, सूरदास, साहित्य सस्थान मथुरा, स० प्रभुदयाल मीतल, १९६१ ई०
नन्ददास-ग्रन्थावली, नन्ददासजी, स० ब्रजरत्नदास, ना० प्र० सभा काशी, स० २००६
कुभनदास, कुभनदास, काकरौली वि० वि० प्रेस
चतुर्भुजदास, चतुर्भुजदास, काकरौली, वि० वि० प्रेस
गोविन्दस्वामी, गो० स्वामी, काकरोली वि० वि० प्रेस
छीतस्वामी, छीतस्वामी, काकरौली, वि० वि० प्रेस
गो० हरिरायज का पद साहित्य, साहित्य सस्थान मथुरा, प्रभुदयाल मीतल, २०१८ वि०
आचार्य महाप्रभुजी की प्राकट्य वार्ता, श्रीद्वारकादास पुरुषोत्तमदास परिख विद्याविभा...
काकरौली, वि० २००१

अनुग्रहमार्ग, व्याख्यात' देवर्षि रमानाथ शास्त्री, पुष्टिमार्ग सिद्धान्तभवन, नाथद्वार, १९३९ ई०
युगलशतक, श्रीभट्टजी, स० ब्रजवल्लभशरणजी, वृन्दावन, वि० २००९
श्रीनिम्बार्कमाधुरी, स० ब्रह्मचारी विहारीशरणजी, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, वि० १९९७
सिद्धान्त-रत्नाकर, स० विश्वेश्वरशरणजी नि० शोध मडल, वृन्दावन, वि० २०१३
महावाणी, श्रीहरिव्यासदेवजी, प्र० ब्रह्मचारी विहारीशरणजी, स० २००८, वृन्दावन
वृहदुत्सवमणिमाल, श्रीरूपरसिकदेवजी, स० ब्रजवल्लभशरणजी, वि० २०१८
श्रीभक्तमाल, नाभादासजी, स० ब्रजवल्लभशरणजी, वृन्दावन, वि० २०१७
वृन्दावनाक, सर्वेश्वर, वि० २०१४
केलिमाल, श्रीहरिदासजी,
स्वामी हरिदासजी जीवनी और वाणी तथा अष्टाचार्यों एव भक्त कवियो की जीवनी और रचनाए, स० प्रभुदयाल मीतल, साहित्य सस्थान मथुरा, २०१८
हित-चौरासी, श्रीहितहरिवशजी, सेवकवाणी, श्री दामोदर सेवकजी, स० बनमालीलाल, गोस्वामी, वृन्दावन
व्यासवाणी, हरिरामजी व्यास, प्र० राधाकिशोर गोस्वामी, स० १०९४
भक्तकवि व्यासजी, श्रीवासुदेव गोस्वामी, स० प्रभुदयाल मीतल, वि० २००९ .
बयालीसलीला, ध्रुवदासजी, रसिकग्रन्थमाला बृन्दावन, २०१९
राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, स० २०१४
श्रीहितहरिवश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, श्रीललिताचरण गोस्वामी, वेणु प्रकाशन वृन्दावन, वि० २०१४
भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, नागरी प्र० सभा० काशी, २०१०
श्रीराधा का क्रमिक विकास-दर्शन और साहित्य मे, डा० शशिभूषण दास गुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५६ ई०
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त
श्रीचैतन्य चरितामृत, स० श्रीश्यामदास, श्रीधाम वृन्दावन, स० २०१८
श्रीचैतन्य महाप्रभु, ठा० भक्तिविनोद, श्री गौडीय मठ, कलकत्ता, वि० २०१७
श्रीमद्वैष्णवसिद्धान्तरत्नसग्रह, श्रीधाम वृन्दावन, वि० २०१०
चैतन्य-मत और ब्रज-साहित्य, प्रभुदयाल मीतल, साहित्य सस्थान मथुरा, वि० २०१९
अष्टयाम, वृन्दावनचन्द्रदास, प्र० कृष्णदास बावाजी, वि० २०१७
कहानी रहसि तथा कुवरि-केलि, लाडिलीदासजी, प्र० कृष्णदास बावाजी, वि० २०१७
रामभक्ति-शाखा, रामनिरजन पाडेय, नवहिन्द पब्लिकेशन्स, हैदराबाद, १९६० ई०
रामभक्तिसाहित्य मे मधुर भावना, भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, माधव, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५७ ई०
रामभक्ति मे रसिक-सम्प्रदाय, भगवतीप्रसाद सिंह, अवध साहित्य मदिर, बलरामपुर
रामचरितमानस, तुलसीदासजी, गी० प्रेस गोरखपुर, वि० २०१७, स० ११
तुलसी ग्रन्थावली, पहला, दूसरा खड, नागरी प्रचा० स०, काशी, द्वि० स० २००४ वि०
विनय-पत्रिका, गी० प्रे० गोरखपुर, तुलसीदास जी
गीतावली, तुलसीदासजी, गी० प्रे०, गोरखपर

केशव-ग्रन्थावली, खण्ड १-२, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, स० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, १९५४-५
कवित्त-रत्नाकर, सेनापति, हिन्दी परिषद्, वि० वि० प्रयाग, १९३६ ई०
मीरा स्मृति ग्रन्थ, बगीय हिन्दी परिषद् कलकत्ता, वि० २०००
मीराबाई की पदावली, श्रीपरशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी सा० सम्मेलन प्रयाग, वि० २०१४
रसखान और घनानन्द, स्व० बाबू अमीरसिंह, इडियन प्रेस, प्रयाग, १९२९ ई०
रसखान का अमर काव्य, आचार्य दुर्गाशकर मिश्र, नवयुग ग्रन्थागार लखनऊ, १९५९ ई०
सत साहित्य, भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र माधव, ग्रन्थमाला कार्यालय बाकीपुर, १९०१ ई०
कबीर-ग्रन्थावली, स० डा० श्यामसुन्दरदास, का० न० प्र० सभा काशी
ब्रजमाधुरीसार, स० वियोगी हरि, हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, चतु० स०, १९९९
पोद्दार अभिनदन ग्रन्थ
हिन्दी साहित्य का आलोचनामक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, चतु० स० १९५८ ई०
हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ० रामचन्द्रशुक्ल, का० ना० प्र० स०
रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, प्रेमस्वरूप गुप्त, भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ, '६२ ई०
शैवमत, डा० यदुवशी, बिहार रा० भा० परि०, १९५५ ई०
सूरदास मदनमोहनजी की वाणी, स० बाबा कृष्णदासजी, द्वि स०, २०१५ वि०, वृन्दावन
श्रीगदाधर भट्टजी की वाणी, स० बाबा कृष्णदासजी, वृन्दावन, वि० २०१५, द्वि० स०
काव्यतत्त्व-समीक्षा, डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी, मोतीलाल बनारसी०, १९५९ ई०

लेखक की प्रकाशित सामग्री

'रस सिद्धान्त की भरत-पूर्ववर्ती रूप-रेखा'—सपरिशिष्ट, 'जन-भारती' रस-अक, कलकत्ता, स० २०१७, वर्ष ८, अक ४
'चार मूल रस', 'अभिनवभारती', अलीगढ वि० वि० शोध-पत्रिका, अक
'आचार्य शकुक के अनुमानवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि', हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १४, अक १
'अभिनवभारती मे शकुक का रस-विवेचन—एक व्याख्या'
'भट्टनायक का साधारणीकरण', 'समालोचक', आगरा
'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, १९६२
'शकुक-ए बुद्धिस्ट लाजीशियन', आल इडिया आरियेण्टल कान्फ्रेस भुवनेश्वर अधिवेशन मे प्रस्तुत शोध-पत्र